जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूं–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (पूर्वार्द्ध)

विषय : राजनीति विज्ञान

चतुर्थ पत्र : लोकतंत्र और विकास

संवर्ग

संवर्ग–1 राजनीतिक सिद्धान्त, लोकतंत्र, अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, न्याय, कर्त्तव्य बोध, नागरिकता।

संवर्ग–2 सम्प्रभुता, राज्य और नागरिक समाज, सत्ता और प्राधिकार, वैद्यीकरण या बाध्यीकरण, सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह, राजनीतिक हिंसा

संवर्ग–3 क्लासिकी उदारवाद, कल्याणकारी राज्य, स्वतंत्रतावाद, मार्क्सवाद–1, मार्क्सवाद–2, समाजवाद

संवर्ग–4 रूढ़िवाद, कट्टरतावाद, राष्ट्रवाद, बहुसांस्कृतिवाद, फासीवाद, नारीवाद

संवर्ग–5 गांधीवाद तथा शांतिवाद, जनसमुदाय तथा गणतंत्रवाद, भूमण्डलीकृत विश्व में राजनीतिक सिद्धान्त

Expert Committee

Sr.No.	Name	Designation	Organization
1.	Prof. K.S. Saxena	Retd. Professor	Rajasthan University, Jaipur
2.	Prof. Kanta Katariya	Professor	Jai Narayan Vyas University, Jodhpur
3.	Dr. Rajesh Sharma	Associate Professor	Rajasthan University, Jaipur
4.	Prof. Anil Dhar	Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
5.	Dr. Jugal Kishore Dadhich	Associate Professor	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun
6.	Prof. A.P. Tripathi	Professor,	Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

ISBN No. 978-93-83634-57-6

लेखक

डॉ. शेफाली जैन

जैन सुबोध कॉलेज, रामबाग सर्किल
जयपुर (राजस्थान)

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2019

मुद्रित प्रतियां : 750

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं - 341306 (राजस्थान)

मुद्रक :
आदित्य प्रिन्टर्स एवं स्टेशनर्स, जयपुर

विषय-सूची

इकाई–1

अध्याय–1 : राष्ट्रीय आन्दोलन की बपौती विकास, अधिकारों व भागीदारी के संदर्भ में 1–6

अध्याय–2 : विकास प्रतिमान विषयक बहस 7–11

अध्याय–3 : संविधान और सामाजिक परिवर्तन 12–16

अध्याय–4 : विविधता और बहुलवाद 17–25

अध्याय–5 : असमानता–जाति और वर्ग 26–32

अध्याय–6 : विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था 33–51

इकाई–2

अध्याय–1 : अर्थव्यवस्था की संरचना एवं वृद्धि (ग़रीबी, अधिशेष और विषमता) 52–61

अध्याय–2 : विधायिका 62–69

अध्याय–3 : नौकरशाही, पुलिस और सेना 70–78

अध्याय 4 : कानून–व्यवस्था और न्यायपालिका 79–86

इकाई–3

अध्याय–1 : संघवाद 87–98

अध्याय–2 : सत्ता–हस्तांतरण एवं स्थानीय स्वशासन 99–105

अध्याय–3 : राजनैतिक दल एवं राजनैतिक सहभागिता 106–117

अध्याय–4 : भारत में श्रमिक वर्ग एवं कृषक आन्दोलन 118–129

अध्याय–5 : संचार माध्यम और जन नीतियां 130–137

अध्याय–6 : हित समूह एवं नीति निर्माण 138–145

इकाई–4

अध्याय–1 : भारत में अभेदवाद की राजनीति (जाति, धर्म, भाषा तथा संरचना) 146–150

अध्याय–2 : नागरिक समाजः सामाजिक आंदोलन, गैर–सरकारी संगठन एवं स्वैच्छिक कार्य 151–156

अध्याय–3 : मानव विकास–स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा 157–169

अध्याय–4 : लिंगभेद और विकास 170–179

अध्याय–5 : प्रवसन और विकास 180–186

इकाई–5

अध्याय–1 : पर्यावरण एवं सतत विकास	187–196
अध्याय–2 : आर्थिक सुधार और भूमण्डलीकरण	197–203
अध्याय–3 : धार्मिक राजनीति	204–210
अध्याय–4 : नृजातीयता तथा राष्ट्र–राज्य	211–217
अध्याय–5 : भारत में लोकतंत्र और विकास : एक मूल्यांकन	218–222

अध्याय–1

राष्ट्रीय आन्दोलन की बपौती विकास, अधिकारों व भागीदारी के संदर्भ में

संरचना इकाई

1.1.1 उददे्श्य
1.1.2 प्रस्तावना
1.1.3 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि
1.1.4 गाँधीजी का योगदान
1.4.1 गाँधीजी का ''स्वराज–सार''
1.1.5 कांग्रेस का कराची संकल्प
1.1.6 समाजवाद का बोध
1.6.1 योजना का विचार
1.1.7 गाँधीवादी अर्थशास्त्र की प्रकृति
1.1.8 गाँधीवादी सामाजिक दर्शन
1.1.9 सर्वसम्मति
1.1.10 सारांश
1.1.11 अभ्यास प्रश्नावाली

1.1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना है। राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना है राष्ट्रीय आन्दोलन हमार स्वतन्त्रता सेनानियों ने विकार और अधिकारो के सन्दर्भ में अपने स्पष्ट विचार रखे। कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य और उसके माध्यम से लडा गया राष्ट्रीय आन्दोलन किस तरह गॉधीवादी मूल्यों के साथ समाहित हुआ। इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य स्वतन्त्रता आंदोलन में जन भागीदारी का स्पष्ट आकलन करना भी है।

प्रस्तावना

भारतवासियों की विकासात्मक अभिलाषाएँ स्वतंत्रता आन्दोलन के विभिन्न चरणों के माध्यम से स्वमेव उभरकर आयीं। 1857 में ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीयों का हिंसक विरोध और तदोपरांत जनजातीय लहरें विदेशी शासन के खिलाफ़ रक्षात्मक आन्दोलन थे। वे प्रायः सम्पूर्णतः राजनीतिक थे। परन्तु कृषक संघर्ष जो उन्नीसवीं शति–अंत से शुरू हुए, एक स्पष्ट आर्थिक पहलू रखते थे। वे उस दमनकारी लगान व्यवस्था के खिलाफ़ थे जो विदेशी हुकूमत के साथ ही आयी यद्यपि ये किसान औपनिवेशिक क्रियाविधि के प्रति हमेशा जागरूक नहीं रहे और उन्होंने अक्सर अपना गुस्सा ज़मीदारों व मौज़दारों जैसे मध्यस्थ भूस्वामियों पर उतारा।

1858 में ब्रिटिश शासन के दृढ़ीकरण के उपरांत लोगों के नए संगठन एवं आन्दोलन 'संविधानवादी' रणनीतियाँ चुनते हुए सामने आए। भूमि–मालिकों ने सरकारी लगान दावे घटाने की माँग करने हेतु अपने खुद के संगठन बना लिए।

इसी समय दादाभाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे एवं आर.सी. दत्त जैसे राष्ट्रवादी नेताओं ने औपनिवेशिक आर्थिक शोषण की आलोचना करनी शुरू कर दी। उनका तर्क था कि भारत में ग़रीबी का मुख्य कारण औपनिवेशिक शोषण है। औपनिवेशिक शासन का अंत भारत में दरिद्रता उपशमन हेतु आवश्यक था।

1.1.2 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की स्थापना

1885 में, वरिष्ठ सरकारी नौकरियों एवं भारतीय शासन सभा अधिनियम, 1861 द्वारा बनाए गए विधायी निकायों में भारतीयों के समुचित प्रतिनिधित्व हेतु माँग से शुरू कर शिक्षित अभिजात वर्ग ने भारतीय जनता के सभी वर्गों के एक संरक्षा–संगठन के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बना ली। वस्तुतः मूल रूप से उन्होंने कामगारों व खेतिहरों का पक्ष यह कहते हुए नहीं लिया कि वे 'स्थानीय मुद्दे' हैं। परन्तु वैयक्तिक राष्ट्रवादी जन कामगारों व खेतिहरों के बीच 'लोकोपकारी कार्यों' में व्यस्त थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एक संतुलित संविधानवादी दृष्टिकोण से की गई थी और उसने अनुचित दबाव व आन्दोलन की बजाय याचिकाओं व अनुनय की रणनीति को चुना। उसके द्वारा सरकार से किया गया पूर्वतम निवेदन था भारतीय सिविल सेवा हेतु भारतीयों की पहुँच का सुसाध्यीकरण, जो कि वस्तुतः एक संभ्रांतवादी माँग थी। दूसरी ओर, यह संगठन बाग़ान व औद्योगिक श्रमिक वर्ग की दशा संबंधी मुद्दे को लेने से पीछे हट गया, जो कि उसे 'स्थानीय' मुद्दे लगते थे, हालाँकि लोकोपकारवादी एवं श्रमिक नेताओं को स्थान दिया गया। 1893 में कांग्रेस ने सरकार द्वारा संतापन से भूधारकों को बचाने हेतु भूमि के स्थायी बंदोबस्त संबंधी एकरूप प्रचलितीकरण की माँग की।

सन् 1895 की शुरुआत में ही इण्डियन होम रूम लीग की संस्थापक एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नेता डॉ॰ एनी बेसैण्ट ने एक संविधान की संभावना पर विचारार्थ भारतीय संविधान विधेयक का एक प्रारूप तैयार कर लिया जो हर नागरिक को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, उसके घर की अनुल्लंघनीयता, स्वामित्व का अधिकार, कानून के समक्ष और सार्वजनिक पदों हेतु प्रवेश के संबंध में समानता, दावे, याचिका व शिकायतें पेश करने का अधिकार तथा निजी सम्पत्ति का अधिकार आदि की गारण्टी देता था। 1918 में बम्बई में एक विशेष सत्र में मॉण्टेग्यू–चैम्सफोर्ड रिपोर्ट पर कांग्रेस ने माँग की कि नए भारत सरकार अधिनियम में भारतीयों के अधिकारों की घोषणा हो जिसमें, अन्य बातों के अलावा, कानून के समक्ष समानता, स्वच्छंदता, जीवन व स्वामित्व के संबंध में संरक्षण, भाषण व प्रैस की स्वतंत्रता तथा सम्बद्धता का अधिकार भी हों।

सन् 1925 में मोहनदास गाँधी की अध्यक्षता में सर्व–दलीय सम्मेलन द्वारा स्थापित एक उप–समिति ने एक भारतीय राष्ट्रकुल विधेयक तैयार किया जिसने भारतीयों के लिए ग्राम–स्तर से ऊपर तक स्व–शासन की माँग की दृ गाँव, तालुका, ज़िला, प्रान्त और भारत। उसने स्वतंत्रता के अधिकार, वासस्थान एवं सम्पत्ति की सुरक्षा, सद्विवेक तथा धर्म में विश्वास रखने व अपनाने की स्वतंत्रता, मत व्यक्त करने, शांतिपूर्वक और निःशस्त्र एकत्र होने और समिति व संघ बनाने की स्वतंत्रता, निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा, सड़कों, सार्वजनिक स्थलों, न्यायालयों इत्यादि का प्रयोग, राष्ट्रीयता पर ध्यान दिए बग़ैर कानून के समक्ष समानता तथा लिंगों की स्वतंत्रता आदि की माँग की।

सन् 1928 की मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट ने इन सभी माँगों को समाविष्ट किया और सभी नागरिक अधिकारों को बन्दी–प्रत्ययीकरण परमादेश, कार्योत्तर विधि अधीन दण्ड के सम्बन्ध में संरक्षण, सार्वजनिक रोज़गार, सत्ता अथवा सम्मान संबंधी पद के मामले में और किसी व्यापार अथवा व्यवसाय को चलाने में जाति, धर्म अथवा संप्रदाय के आधार पर सभी व्यक्तियों के प्रति निष्पक्षभाव रखने, सार्वजनिक मार्ग,

सार्वजनिक कुओं एवं आम सैरगाहों में सभी नागरिकों के समान प्रवेश, श्रम एवं आर्थिक दशाओं के अनुरक्षण एवं उन्नयन हेतु संयोजन एवं सम्मिलन की स्वतंत्रता तथा नियमानुसार हथियार रखने व ले जाने हेतु अधिकार से जोड़ा।

यद्यपि उपर्युक्त माँगों के कुछ निश्चित आर्थिक निहितार्थ थे, ये माँगें अनिवार्यतः राजनीतिक और संभ्रांतवादी थीं। गाँधीजी के परिदृश्य पर उभरने से पूर्व आम आदमी की सामाजिक–आर्थिक समस्याएँ नज़र में नहीं आयी थीं। गाँधीजी आम आदमी को राष्ट्रीय राजनीति में लाए। उन्हें उनकी अभिलाषाओं को प्रकट करना पड़ा।

1.1.3 गाँधीजी का योगदान

सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र में पूर्वतम गाँधीवादी गतिविधियों में थे ब्रिटिश नील–उत्पादकों के शोषण से किसानों को बचाने के लिए बिहार के चम्पारण में उनका प्रवास, सरकार की ऊँची लगान माँगों के ख़िलाफ़ गुजरात के खैड़ा में किसान सत्याग्रह का आरम्भ और अहमदाबाद में साराभाई कपड़ा मिल में श्रमिक विवाद में उनका हस्तक्षेप। प्रथम दो आन्दोलन देश की कृषक अर्थव्यवस्था से जुड़े थे जिनमें बीसवीं सदी के दूसरे दशक में लगभग 95 प्रतिशत भारतीय जनता शामिल थी और वह स्पष्टतः एक साम्राज्यवाद–विरोधी रुख रखती थी। तीसरा आन्दोलन एक भारतीय–स्वीकृत उत्तरदायित्व में औद्योगिक संबंध से जुड़ा था। गाँधीजी की मध्यस्थता और नैतिक दबाव उक्त विवाद के एक सुखद अंत में परिणत हुए।

गाँधीजी के शुरुआती जीवन में तीन घटनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि, जहाँ गाँधीजी ने एक स्पष्ट साम्राज्यवाद– विरोधी रुख़ अख़्तियार किया, वह वर्ग विचार–भिन्नता को अनुनय के माध्यम से भारतीय परिप्रेक्ष्य में थे। वह भारतीय समाज में वर्ग संघर्ष के पक्ष में नहीं थे। वस्तुतः लगता है कि अहमदाबाद अनुभव ने उन्हें अपना प्रसिद्ध 'न्यासिता सिद्धांत' घोषित करने हेतु प्रवृत्त किया जिसने धारक वर्ग को सलाह दी कि वे कामगार वर्ग के हित में राष्ट्रीय धन–सम्पदा के न्यासियों के रूप में व्यवहार करें। दरअसल, यह संभवतः उनके प्रभाव की वजह से ही था कि अहमदाबाद कपड़ा–मिल मज़दूर संघ 1920 में अखिल भारतीय

श्रमिक संघ कांग्रेस की स्थापना के दौरान उससे दूर रहा। यहाँ तक कि कांग्रेस नेतागण भी इसमें शामिल नहीं हुए जब तक 1922 में पार्टी का गया सम्मेलन नहीं हो गया।

जबकि कांग्रेस उन किसानों व खेतिहरों के हित के लिए लड़ी जिनमें से अनेक ने उसके सत्याग्रह में सक्रिय रूप से भाग लिया, स्वतंत्रता आन्दोलन की समाप्ति के आसपास ही उसने भूमि सुधार हेतु माँग उठायी, यथा, ज़मींदारी एवं भूमि में अन्य मध्यस्थकारी अधिकारों का उन्मूलन तथा भूमि के हरवारों को स्वामित्व प्रदान करना। वस्तुतः, 1893 के शुरू

होते–होते भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भूमि के स्थायी बन्दोबस्त की माँग कर दी (जैसा कि बंगाल में) ताकि रैयतबाड़ी क्षेत्रों में भूमि मालिकों की परेशान करने वाली लूट–खसोट से भूमि– धारकों की रक्षा जा सके।

1.1.3.1 गाँधीजी का "स्वराज–सार"

26 जनवरी, 1930 को कांग्रेसजनों ने देशभर में सम्पूर्ण स्वतंत्रताा व्रत लिया जैसा कि दिसम्बर 1929 के लाहौर प्रस्ताव में माँग की गई थी। 30 जनवरी, 1930 को 'यंग इण्डिया' में गाँधीजी ने 'स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ' के रूप में अपने अवबोधन को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया :

1) सम्पूर्ण निषेध
2) पाउण्ड–रुपया विनिमय अनुपात को 1 शिलिंग 6 पेन्स से 1 शिलिंग 4 पेन्स तक घटाना।
3) भूमि लगान को कम से कम 50 प्रतिशत घटाना और उसे विधायी नियंत्रण के अधीन लाना।
4) नमक–कर की समाप्ति।
5) आरम्भ में सैन्य खर्चों को कम से कम 50 प्रतिशत तक घटाना।
6) उच्चतम–श्रेणी सेवाओं के वेतनों में आधी अथवा कम कटौती, ताकि घटे लगान से मेल खा सके।
7) विदेशी कपड़े पर संरक्षणात्मक शुल्क दर।
8) तटीय शुल्क–दर आरक्षण विधेयक का अधिनियमन।
9) सभी राजनीतिक क़ैदियों को मुक्त करना, हत्या अथवा हत्या–प्रयास के दोषियों को बचाना, अथवा आम न्यायिक अदालतों द्वारा सुनवाई, तथा सभी राजनीतिक अभियोजनों का प्रत्याहरण।
10) सी.आई.डी. अथवा उसके सर्व–साधारण संबंधी नियंत्रण की समाप्ति।
11) आत्म–रक्षा के लिए बन्दूक, पिस्तौल आदि के प्रयोगार्थ लाइसेन्सों का निर्गमन, सर्व–साधारण संबंधी नियंत्रण के अधीन।
12) इन माँगों ने, दृष्टव्य है, कांग्रेस के लाहौर प्रस्ताव द्वारा परिकल्पित सम्पूर्ण स्वतंत्रता की संकल्पना

को सींचा। दूसरी ओर, वे सभी, प्रथम को छोड़कर, एक साम्राज्यवाद–विरोधी रुख रखती थीं। इसके अतिरिक्त, 9वीं तथा 10वीं माँग को छोड़कर, वे सभी एक आर्थिक संबंध रखती थीं।

इन गाँवों ने, दृष्टव्य है, कांग्रेस के लाहौर प्रस्ताव द्वारा परिकल्पित सम्पूर्ण स्वतंत्रता की संकल्पना को खींचा। दूसरी ओर, वे सभी, प्रथम को छोड़कर एक साम्राज्यवाद–विरोधी रुख रखती थीं। इसके अतिरिक्त, 9वीं तथा 10वीं को छोड़कर, वे सभी एक आर्थिक आधार रखती थीं।

1.1.4 कांग्रेस का कराची संकल्प

अखिल–भारतीय कांग्रेस समिति के कराची अधिवेशन का प्रस्ताव जो 1931 में पास किया गया था, स्वतंत्रता आन्दोलन के सामाजिक–आर्थिक वर्ण्य विषयों का प्रथम स्पष्ट वक्तव्य था। इसमें कहा गया कि आर्थिक जीवन का संगठन न्याय–सिद्धांत के अनुरूप होना चाहिए, इस उद्देश्य से कि वह जीवन का एक उचित स्तर सुनिश्चित करे।

राज्य कामगारों के हितों की रक्षा करेगा और उनके लिए उपयुक्त विधान द्वारा एवं अन्य तरीकों से, एक निर्वाह योग्य वेतन, कार्य की स्वास्थ्य–प्रद दशाएँ, श्रम के नियत घण्टे, औद्योगिक विवादों को निपटाने के लिए उपयुक्त कार्यप्रणाली तथा सामाजिक बीमा सुनिश्चित करेगा। दासता प्रथा की दशाओं से कृषि–श्रमिकों की मुक्ति और महिला कर्मियों की हितरक्षा का वायदा किया गया। कारखानों एवं खदानों में बाल–श्रम पर प्रतिबंध लगाया जायेगा। किसान व मज़दूर संघ बनाने के लिए स्वतंत्र होंगे।

भूमि धारणाधिकार व्यवस्था सुधारी जाएगी। किसानों को कृषि भूमि पर बोझ के एक उचित सम जन, लगान व राजस्व की पर्याप्त कमी के माध्यम से छोटे किसानों को तुरंत राहत, अनार्थिक जोत के मामलों में छूट तथा श्रमिक कृषि आयकर को लागू करने का आश्वासन दिया गया। एक निश्चित सीमा से ऊपर सम्पत्ति पर एक क्रम–विन्यस्त दर से मृत्यु–करों पर विचार किया गया। कृषिक ऋणग्रस्तता तथा सूदखोरी पर काबू प्रत्यक्ष व परोक्ष का वायदा किया गया। सैन्य खर्च को घटाया जाएगा। राज्य अपने नागरिकों को सैन्य प्रशिक्षण भी प्रदान करेगा। असैनिक सेवाकर्मियों के वेतन की अधिकतम सीमा 500 रुपये होगी।

राज्य विदेशी कपड़े के मुकाबले देशी कपड़े को संरक्षण देगा। अन्य देशज उद्योगों की इसी भाँति विदेशी प्रतिस्पर्धा के खिलाफ़ रक्षा की जाएगी। मद्य पेयों तथा मादक द्रव्य का पूर्णतया निषेध किया जाएगा। मुद्रा व विनिमय का राष्ट्र हित में नियमन किया जाएगा। राज्य मुख्य उद्योगों व सेवाओं खनिज संसाधनों, रेलवे, जलमार्गों, जहाजरानी व जन परिवहन के अन्य साधनों पर अधिकार अथवा नियंत्रण रखेगा।

1937 में जब कांग्रेस पार्टी अनेक प्रांतों में सत्ता में आयी, उसने इन वायदों में से कुछ को पूरा करने का प्रयास किया। परन्तु वह सत्ता में दो वर्ष से कुछ ही अधिक समय तक रही। इसके अलावा, उन पर यूरोपियन व जन्मजात निहित हितों का दबाव था। ये वायदे नाममात्र को ही पूरे हुए। कराची सत्र के लगभग बीस वर्षों बाद, 1931 में भारतीय संविधान ने दिए गए वचनों को आमतौर पर पोषित किया।

समाजवाद का बोध

अक्तूबर 1917 में बोल्शेविक क्रांति ने भारत में समाजवाद के प्रति रुचि पैदा कर दी और छोटे समाजवादी समूह शहरी केन्द्रों में उभरे।

1934 में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजना के समापन ने भारत में नियोजन हेतु एक उमंग भर दी। 1934 में ही एम. विश्वेश्वरैया, एक महान् इंजीनियर, ने *प्लैन्ड इकॉन्मी इन इण्डिया इन एप्रिल 1936* नामक एक पुस्तक प्रकाशित की। विश्वेश्वरैया योजना को, हालाँकि, किसी भी तरह एक समाजवादी योजना नहीं कहा जा सकता है। 1934 में ही कांग्रेस के भीतर समाजवादी पार्टी का गठन हुआ और गाँधीजी ने इसे एक कारण बताते हुए और इस समूह को जवाहरलाल नेहरू की खुली सहानुभूति का आरोप लगाते हुए कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। 1935 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनाई गई और तुरंत ही ब्रिटिश सरकार द्वारा इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अधिकांश कम्युनिस्टों ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में काम करना शुरू कर दिया।

जवाहरलाल नेहरू, जिन्होंने 1928 की शुरुआत में समाजवाद के प्रति बड़ी श्रद्धा दर्शायी थी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में अपने दृढ़ विभावक को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'विश्व की समस्याओं का और भारत की समस्याओं का एकमात्र हल समाजवाद में ही निहित है।' इस वक्तव्य ने कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्व में एक वैचारिक दरार पैदा कर दी और सरदार वल्लभभाई पटेल ने इस आशय का एक वक्तव्य जारी किया कि पूँजीवाद की प्रकृति जैसे मुद्दों पर नेहरू से उनके मतभेद हैं। पटेल फ़ैज़पुर में आगामी सत्र में कांग्रेस के अध्यक्षपद हेतु नेहरू से प्रतिस्पर्द्धा करना चाहते थे। नेहरू ने यह कहते हुए अपनी स्थिति की पुनर्व्याख्या की कि समाजवाद अध्यक्षीय चुनाव हेतु उनका सैद्धांतिक घोषणापत्र नहीं है और फिर पटेल प्रतिस्पर्धा से हट गए। फ़ैज़पुर में अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने संगठित कामगारों व किसानों समेत देश में सभी साम्राज्य–विरोधी ताकतों का एक शक्तिशाली संयुक्त मोरचा बनाने का आह्वान किया। ब्रिटिश भारत में आम (प्रांतीय) चुनावों के पृष्ठपट में यह वैचारिक बहस महत्त्वपूर्ण है।

1.1.6 योजना का विचार

ऐसा प्रतीत होता है कि नियोजन के विचार को 1934 में लोकप्रियता मिली। जवाहरलाल नेहरू के बाद कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में एक और उग्र उन्मूलनवादी युवक सामने आया, सुभाषचंद्र बोस। उन्होंने एक राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया, जवाहरलाल नेहरू जिसके अध्यक्ष थे और प्रोफ़ेसर के.टी. शाह सचिव। वैचारिक तनाव जो कांग्रेस में घटित होने को तत्पर था, अगले ही वर्ष बोस के उसकी अध्यक्षता से त्यागपत्र देने में परिणत हुआ। तथापि इसके बाद एक अन्य वर्ष प्रांतों में कांग्रेस सरकारों ने द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटिश भारत की भागीदारी की घोषणा के मुद्दे पर इस्तीफ़ा दे दिया। राष्ट्रीय योजना समिति का कार्य बाधित हुआ परन्तु राष्ट्रीय योजना समिति के अनेक उप–समितियों ने अपनी रिपोर्टें तैयार कीं।

1940 में जी.डी. बिरला के नेतृत्व वाले उद्योगपतियों के एक समूह ने 'बम्बई योजना' नाम से एक योजना को कार्यरूप दिया। इस योजना ने 15 वर्षों में प्रति व्यक्ति आय को दुगुना और राष्ट्रीय आय को तिगुना करने की कल्पना की। इसने उद्योगों को मूल और उपभोक्ता–वस्तु उद्योगों में विभाजित किया और धन–संपत्ति की असमानताओं को कम करने की आवश्यकता को स्वीकार किया। इस उद्देश्य की दिशा में सुझावित उपायों में थेदृ मृत्यु–करों को लागू करना, भूधारणाधिकार व्यवस्था का सुधार तथा लघु व कुटीर उद्योगों के लिए पूर्णतम कार्यक्षेत्र का प्रावधान, साथ ही, जन–सेवाओं व मूल उद्योगों के राज्य स्वामित्व के साथ–साथ अर्थव्यवस्था का राज्य नियंत्रण। आर्थिक नियंत्रण, तथापि राज्य द्वारा स्वामित्व अथवा प्रबंधन की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था, जैसा कि बम्बई योजना ने तर्क दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के आसपास एम.एन. राय, भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के एक नेता और अब एक उग्र मानवतावादी, ने एक 'जनता योजना' प्रकाशित की। बम्बई योजना से भिन्न इसने मुख्यतः कृषि पर ज़ोर दिया और भूमि के राष्ट्रीयकरण एवं ग्रामीण ऋणग्रस्तता के समापन हेतु तर्क रखा। भावी औद्योगीकरण मुख्यतः राज्य द्वारा ही वित्त–पोषित एवं नियंत्रित किया जाना था। उत्पादन विस्तार समुदाय द्वारा कुल खपत विस्तार का अवसर देते हुए आम जनता के पक्ष में वितरण परिवर्तनों के साथ ही किया जाना था। अधिशेष उत्पादन का रोज़गार बढ़ाने तथा जीवन–स्तर को ऊँचा उठाने के लिए पुनर्निवेशित किया जाना चाहिए।

1.1.5 गाँधीवादी अर्थशास्त्रा की प्रकृति

1930 के 'स्वतंत्रता सारांश' संबंधी गाँधीजी के कथन को उनके आर्थिक विचारों के समग्र अथवा सार रूप में देखना गलत होगा। इस इकाई में गाँधीजी के आर्थिक विचारों पर पूरी तरह चर्चा नहीं की जा सकती है। इतना कहना ही काफी होगा

कि यह परिवर्तनात्मक था और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उनके नेतृत्व के एक लम्बे दौर से गुज़र कर 1907 में लिखे गए 'हिन्द स्वराज' विषयक उनकी एक छोटी–सी पुस्तक से जन्मा था।

मूलतः वह राष्ट्र के जन–साधारण के साम्राज्यवादी शोषण एवं वंचना के हथियारों के रूप में विरोध करते थे। तदोपरांत उन्होंने अपने मशीन विरोध को सिंचित किया। अपने पूरे जीवन में, बहरहाल, वह चर्खे पर ज़ोर देते रहे जो ग़रीब से ग़रीब भारतीय ग्रामवासी, खासकर महिलाओं, को एक स्वतंत्र उपार्जन– साधन उपलब्ध करा सकता था।

प्रारम्भतः वह षोषण की समस्या को हल करने के लिए अपने न्यासिता सिद्धांत और मालिकों के हृदय–परिवर्तन के माध्यम से वर्ग–अन्तर्विरोध के खिलाफ़ थे। अपने अन्तिम दिनों में वह हृदय–परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में मोहमुक्त हो गए लगते थे। यहाँ तक कि उन्होंने ग्राम्य आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय के पुनरुत्थान हेतु आवश्यकता पर ज़ोर देना भी बंद कर दिया था। परन्तु उन्होंने कभी भी आम आदमी की उपेक्षा नहीं की और लघु व कुटीर उद्योग के पुनरुथान हेतु आवश्यकता पर बल देते रहे। यह ग़ौर करना दिलचस्प होगा कि एक गाँधीवादी, जे.सी. कुमारप्पा, के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय योजना समिति की कृषि विषयक उप–समिति ने एक एकीकृत भूमि–सुधार नीति की सिफ़ारिश की जो ज़मींदारी व अन्य माध्यमिक अधिकारों की समाप्ति से शुरू होकर खेतिहर किसानों को कब्जा दिलाने और कृषि भूधारण विषयक उच्चतम सीमा लागू किए जाने तक बढ़ायी जानी थी।

1.1.6 गाँधीवादी सामाजिक दर्शन

यह याद रखना ज़रूरी है कि गाँधीजी की आर्थिक सोच सर्वोदय (सभी का उत्थान) संबंधी उनके विस्तृत सामाजिक दृष्टिकोण का एक भाग थी, जो मूल रूप से अंत्योदय (अंतिम तक) के रूप में समझी गई थी। इसी उद्देश्य को लेकर उन्होंने अपने 'रचनात्मक कार्यक्रम' का एक अहम हिस्सा समर्पित कर दिया, जो अस्पृश्यता निवारण एवं उन लोगों के उत्थान की दिशा में था जिन्हें वे 'हरिजन' (अब 'दलित' कहा जाता है) कहते थे। यद्यपि उन्होंने उनके लिए कोई अलग आर्थिक कार्यक्रम सामने नहीं रखा, डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर के साथ हुए उनके 'पूजा समझौते' ने ब्रिटिश भारत की चुनाव प्रणाली में उन्हें ऐसी राजनीतिक प्रतिष्ठा दिलाई जो स्वतंत्र भारत में बरकरार रखी गई।

यह पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि चर्खे ने महिलाओं को उनके अपने श्रम के माध्यम से काफ़ी आर्थिक आज़ादी दिलाई। यह भी उल्लेखनीय है कि गाँधीजी का सत्याग्रह ही महिलाओं को राजनीति के अखाड़े में लाया और उन्हें उनके घरेलू बंधनों से मुक्त किया।

1.1.7 सर्वसम्मति

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, किसी भी चीज़ से पहले, राजनीतिक स्वतंत्रता हेतु एक आन्दोलन था। इसको विभिन्न समूहों व हितों को संघटित करना था। ऐसे विवादग्रस्त मुद्दों से परहेज़ करना आवश्यक था जो लोगों को बाँट सकते थे और उनके पृथक्त भागों को विमुख कर सकते थे। किन्तु कोई भी राजनीति अर्थशास्त्र के बग़ैर नहीं होती और, लोगों के वृहत्तम हिस्से को संगठित करने के लिए, उनकी सामाजिक–आर्थिक आकांक्षाओं को प्रकट करना आवश्यक था। इस प्रकार, एक स्वतंत्र भारत की अर्थव्यवस्था के विषय में तीन विस्तृत आकांक्षाओं ने आकार लिया प्रतीत होता है : (1) न्यूनतम राज्य–नियंत्रण एवं राज्य–समर्थन के अधीन एक औद्योगीकृत भारत का पूँजीवादी स्वप्न; (2) न्यूनतम राज्य–नियंत्रण एवं वृहद उद्योग वाली मूल रूप से ग्रामीण एवं आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का गाँधीवादी दृष्टिकोण; और (3) सशक्त राज्य–नियंत्रण एवं नेतृत्व के अधीन एक औद्योगीकृत भारत का एक समाजवादी दृष्टिकोण। वैचारिक तर्क–वितर्कों के परिणामस्वरूप भारत की आर्थिक विकास प्रक्रिया पर एक आधारीय न्यूनतम सर्व–सम्मत्ति व्यक्त हुई।

i) राजनीतिक स्वतंत्रता के बग़ैर कोई विकास नहीं हो सकता।

ii) कुछ मात्रा में राज्य–नियंत्रण अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक था।

iii) आधारभूत प्राकृतिक संसाधन राष्ट्रीकृत होने चाहिए।

iv) एक भारी जनमत यह भी था कि ज़मींदारी एवं अन्य कुछ भूमि में मध्यवर्ती अधिकारों को समाप्त किया जाए।

यह आधारभूत सर्वसम्मति, किंचित अपर्याप्त, 1946 के आरंभ में प्रान्तीय विधानसभा चुनावों की पूर्वसन्ध्या पर कांग्रेस के घोषणापत्र में प्रकट हुई। हम इसे 'अपर्याप्त' कहते हैं क्योंकि 1946 के चुनाव ब्रिटिश भारतीय जनसंख्या के मात्र 15ः के अधिकार–गुणों द्वारा निर्धारित एक मताधिकार के आधार पर कराये गए थे और यह लोगों के ग़रीब से ग़रीब तबकों की उम्मीदों को उजागर नहीं करता था, जो कि जनसंख्या के 85ः का निर्माण करते थे।

तथापि, कांग्रेस सभी ग़ैर–मुस्लिम–बहुल प्रांतों तथा उत्तर–पश्चिम सीमान्त प्रान्त के मुस्लिम–बहुत प्रांत में भी चुनाव जीत ले गई।

उस घोषणापत्र में पार्टी ने उद्योग, कृषि सामाजिक सेवाओं तथा जन उपयोगिताओं को प्रोत्साहन देने, आधुनिकीकृत करने एवं तेजी से विस्तीर्ण करने का वायदा किया था। 'इस उद्देश्य से', घोषणापत्र में कहा गया, 'आवश्यक होगा कि अपने सभी

अनेक क्षेत्रों में सामाजिक प्रगति को नियोजित एवं समन्वित करें, व्यक्तियों एवं समूहों के हाथों में सम्पत्ति व सत्ता का संकेन्द्रण रोकें, समाज के प्रति अपकारी निहित स्वार्थों को रोकें, तथा खनिज संसाधनों, परिवहन साधनों एवं भूमि, उद्योग व राष्ट्रीय गतिविधि की अन्य शाखाओं में उत्पादन व वितरण के प्रमुख साधनों पर सामाजिक नियंत्रण रखें।'

राज्य को, इसी कारण, मुख्य व आधारभूत उद्योगों व सेवाओं, खनिज संसाधनों, रेलमार्गों, जलमार्गों, जहाजरानी तथा जन परिवहन के अन्य साधनों का अधिकार अथवा नियंत्रण अपने पास रखना चाहिए। मुद्रा एवं विनिमय, बैंकिंग एवं बीमा राष्ट्र–हित में नियमित किए जाने चाहिए।

इस प्रकार, भारत में राज्य पूँजीवाद की नींव रखी गई। किसी कारण से इस प्रकार की आर्थिक सोच कई लोगों द्वारा समाजवाद मानी जाने लगी।

1.1.8 सारांश

अतः स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को राजनीतिक व आर्थिक विरोध विरासत में मिले थे। यह बदले में स्वतंत्र भारत की विरासत बन गए। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, दादाभाई नौरोजी, एम.जी. रानाडे एवं आर.सी. दत्त जैसे राष्ट्रवादी नेताओं ने औपनिवेशक शोषण की एक समालोचना प्रस्तुत की। प्रारम्भतः कांग्रेस उच्च सरकारी सेवाओं एवं विधायी निकायों में भारतीयों के प्रतिनिधित्व सरीखी संभ्रांतों की समस्याओं के प्रति गंभीर थी। परन्तु राजनीतिक परिदृश्य पर मोहनदास गाँधी के उभरने के साथ ही, उसने आम आदमी किसान वर्ग व कामगारों की समस्या को उठाया। कुछ धारणाएँ व अवधारणाएँ जो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान उभरीं स्वातंत्र्योत्तर भारत में नीति पहलकारियों की बपौती बन गईं। ये मुख्यतः थीं स्वराज, राजनीतिक व आर्थिक अधिकार, समाजवाद, योजना एवं सर्वसम्मति।

अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1) भारत में आरम्भिक राष्ट्रीय आन्दोलन का क्या कोई आर्थिक पहलू था?
2) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में आर्थिक सोच के प्रति गाँधीजी का क्या योगदान था?
3) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवादी सोच के विकास–क्रम पर चर्चा करें।
4) भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में आर्थिक सोच ने अन्त में किस प्रकार नियत व स्पष्ट आकार ले लिया?
5) भारत से राष्ट्रवाद के उदय व विकास को स्पष्ट कीजिए।

अध्याय–2
विकास प्रतिमान विषयक बहस

संरचना

1.1.12 उददे्श्य
1.1.13 प्रस्तावना
1.1.14 पृष्ठभूमि
1.1.15 भ्रमकारी अधिव्यापन
1.1.16 भू–नीति विषयक बहस
1.1.17 नियंत्रण प्रणाली
1.1.18 राष्ट्रीयकरण का मुद्दा
1.1.19 योजना का मुद्दा
1.1.20 औद्योगिक संबंध
1.1.21 राजनीतिक बहस
1.1.22 भारतीय संविधान सभा का लक्ष्य–संकल्प
1.1.23 सारांश
1.1.24 अभ्यास प्रश्नावली

1.2.1 उददेश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य स्वतन्त्रता प्रास्ति के समय भारत में सामाजिक और आर्थिक विकास की समस्या की तरफ ध्यान आकर्षित करना है। इसके साथ ही विकास के कौन–कौन से प्रतिभान हमारे सामने थे जिन्हें तत्कालीन राजनेताओं द्वारा अपनाया गया। राष्ट्रीयकरण, नियंत्रण प्रणाली और भू–नीति विषयक वहस पर प्रकाश डाला गया है। इन विषयों से संबंधित वहस का परिणाम राष्ट्रहित है यह भी इस अध्याय में लक्षित किया गया है।

प्रस्तावना

किसी भी लोंकतंत्र ं विकास का कोई आदर्श प्रतिमान रखना एक अनिवार्य पूर्वशर्त है। नीतियों का प्रतिपादन व परिपालन इस उद्देश्य से अपनाये गए विकास प्रतिमान पर बहुत अधिक निर्भर होता है। भारतीय राजनीति व व्यापार क्षेत्रों में, भारत मं स्वतत्रताप्राप्ति के समय एवं संविधान निर्माण के विषय में भारत की विकास संबंधी भावी प्रगति विषयक तमाम बहसें चलीं। वस्तुतः किसी एकल अस्तित्व के रू में भारत की उत्तरजीविता का नितांत महत्व उसके संस्थापकों के दिमाग में सबसे उपर था। एक आदर्श प्रतिरू विकसित करने का उद्देश्य न सिर्फ लोकतांत्रिक सिद्धान्तों की रक्षा करना था बल्कि एक व्यापक विकास सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक सामाजिक व राजनीतिक परिस्थियॉ पैदा करना भी था। विकास के मुद्दों पर बहसें भू–नीतियों से लेकर औद्योगिक विकास व योजना तक जटिल एवं विविध थी।

1.2.2 पृष्ठभूमि

स्वतत्रता प्राप्ति के समय, भारत के सामाजिक–आर्थिक विकास विषयक विचार की तीन मुख्यधाराएँ फूटी : अल्प राज्य –नियंत्रण एवं समर्थन के साथ पूँजीवादी औद्योगीकरण राज्य के मार्गदर्शन में समाजवादी औद्योगीकरण और धारणात्मक रू से राज्य सत्ता की अनास्था पर आधारित गाँधीवादी 'सर्वोदय' दृष्टिकोण।

वैचारिक बहस द्वितीय विश्वयुद्ध तथा देश–विभाजन से पैदा हुई राजनीतिक व आर्थिक समस्याओं द्वारा और जटिल बना दी गई। इस प्रकार, खाद्यपूर्ति पर नियंत्रण का सवाल जो युद्ध के दौरान थोपा गया था, एक ऐसे देश के लिए संकटपूर्ण बन गया जिसके उर्वरतम खाद्य–उत्पादक प्रात अब पाकिस्तान में चले गए थे और जो शरणार्थियों के अंतर्वहन की बाढ़ झेल रहा था। गांधीजी ने नैतिक आधार पर नियंत्रण का विरोध किया क्योंकि इसने भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया था, और नियंत्रण उठा लिया गया। परिणामतः खाद्य–मूल्य तेजी से बढ़े और नियंत्रण दोबारा लागू करना पड़ा।

1.2.3 भ्रमकारी अधिव्यापन

उपरोल्लिखित तीन मुख्य विचारधाराएँ एक दूसरे से स्पष्ट तथा पृथक्त नहीं थीं। गरीब से गरीब लोगों के प्रति कोई भी भारतीय राजनेता गाँधीजी से अधिक दृढ़प्रतिज्ञ नहीं था। इस बात ने उनको समाजवादी स्थिति के करीब रखा। परन्तु कोई भी भारतीय राज्य सत्ता हेतु इतनी अनास्था नहीं रखता था जितना कि गाँधीजी, और इस बात ने उन्हें नैतिक रूप से आर्थिक गतिविधियों संबंधी राज्य नियंत्रण के खिलाफ कर दिया। इस बात ने उन्हे भारतीय पूँजीवादी वर्ग का प्रिय व्यक्ति बना दिया। तथापि भारतीय पूँजीपतियों ने लघु व कुटीर उद्योगों पर गाँधीजी द्वारा बल दिए जाने को निरस्त कर दिया जिनकों, उनके अनुसार, अल्पकालिक रूप से स्थान तो दिया जाना चाहिए परन्तु सिर्फ देश में बेरोजगारी की समस्या से निबटने के लिए ही। पूँजीवादियों की ही भाँति ये समाजवादी नए–नए अनौपनिवेशित अल्पविकसित देशों की आर्थिक समस्याओं को हल करने में मुख्य रणनीति के रूप में वृहद–स्तरीय उद्योगों में विश्वास रखते थें, और स्वभावतः लघु व कुटीर अद्योग की प्रभावोत्पादकता को निरस्त करते थें परन्तु पूँजीवादियों से भिन्न वे राज्य नियंत्रण में दृढ़ विश्वास रखते थें।

इस बहस का एक पक्ष राष्ट्रीकरण की परम्परागत समाजवादी नीति को महत्त्व देता था जैसा कि सोवियत गणराज्य संघ में अमल में था। स्वतंत्रतापूर्व नेहरू के कथनों और स्वतंत्र भारत की सरकार के प्रधानमंत्री के रूप मं उनके अधिष्ठापन ने भारतीय पूँजीपतियों के बीच एक खतरे का संकेत किया । भारत में औद्योगिक श्रमजीवी वर्ग के बीच बढ़ती युद्ध–प्रियता से जुडा यही कारण था जिसने औद्योगिक संबंधों के विषय में आलोचनात्मक प्रश्न उठाये। भारतीय पूँजीपतिजन स्वभावतः श्रमिक संघवाद एवं श्रम सिद्धान्त हेतु राज्य समर्थन को पसंद नहीं करते थे। गाँधीजी ने श्रमिक संघवाद का तब तक पद्वा लिया जब तक कि वह उद्योग–मालिकों के साथ मित्रतापूर्वक काम करता रहा और इस प्रकार वर्ग–विरोध की धारणा को बचा रखा। समाजवादी सिऋांत वर्ग–विरोध पर ही आधारित था। इसने भारत के औद्योगिक पूँजीपतियों के लिए यह संभव बना दिया कि वे अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए गाँधी के नाम का प्रयोग कर सके।

ऐसा सिर्फ भूमि–सुधार के प्रश्न पर ही हुआ कि सर्वाधिक राष्ट्रीय सर्वसम्मति प्राप्त हुई। यह अंशतः इस कारण था कि भूमि का स्थायी बंदोबस्त पूरे देश में नहीं फैला था और स्थायी बंदोबस्त का बड़ा टुकड़ा–पूर्वी बंगाल पाकिस्तान को चला गया था। फिर भी जागीरदार तथा शेष ब्रिटिश भारत में अन्य मध्यवर्ती अधिकारधारक इस नए रूझान से नाखुश थे।

1.2.4 भू–नीति विषयक बहस

भूमिसुधार के उस प्रशन से ही शुरूआत करना सुविधाजनक रहेगा जिस पर सर्वाधिक मर्तक्य था। भारत के बड़े उद्योगपतियों की 'बम्बई योजना' भी भूमि–सुधारों को समझती थी। 28 जून 1946 को बिड़ताओं के गृह–पत्र ईस्टन इकनॉमिक्ट ने यह घोषित करते हुए भूमि सुधार हेतु एक मजबूत पक्ष तैया किया कि 'जमीदारों के पास अपने अस्तित्व के लिए कोई आर्थिक औचित्य प्रतिपादन नहीं है।' दिसम्बर 1946 में जे.सी. कुमारप्पा, एक सच्चे गाँधीवादी, के नेतृत्व में कांग्रेस की राष्ट्रीय योजना समिति की भूमि–सुधार संबंधी उप–समिति ने भूमि सुधार की तीन अवस्थाएँ सामने रखीःजमीदारी व अन्य मध्यवर्ती अधिकारों का अंत, वास्तविक किसानों की अधिभोक्ता अधिकार दिलाना और भूमि धारण पर अधिकतम सीमा।

ज्मीदारी और मध्यवर्ती अधिकारों की नियति इस प्रकार तय थी। इस बहस में, इसी कारण क्षतिपूर्ति पर ध्यान केन्द्रित किया गया। भारत की संविधान सभा मे सम्पत्ति के अधिकार पर चर्चा के दौरान यह विषय तीक्षण हो गया। 2 मई 1947 को राजा जगन्नाथ बक्श सिंह ने सम्पत्ति के अधिकार विषय प्रारूप अनुच्छेद में एक संशोधन का प्रस्ताव रखा जो ('क्षतिपूर्ति' से पहले) 'उचित' शब्द लिखकर मुआवजा दिए जाने पर , सार्वजनिक उद्देश्य से राज्य द्वारा निजी सम्पत्ति के अधिग्रहण किए जाने को अनुमति देता था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने यह स्पष्ट करते हुए इस संशोधन प्रस्ताव को खारिज कर दिया कि जमींदार लोग अथवा अनके कुछ प्रतिनिधि इस तरीकें से भूमि–सुधार कार्यक्रम को निष्फल नहीं कर सकते। उन्हें उन्मूलन के लिए प्रांतों में विधान पहले ही लागू किए जा रहे थे और इस आशय के कानून संविधान लागू होने के पहले से ही बनाए जाते रहे थे। 'अधिग्रहण प्रक्रिया यहाँ पहले से ही मौजूद है और विधायिका जमींदारियों को खत्म करने हेतु कदम पहले ही उठाती रही है' पटेल ने बयान दिया।

1.2.5 नियंत्रण प्रणाली

खाद्य–आपूर्ति पर नियंत्रण एवं राशन व्यवस्था द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान आवश्यक हो गई थी ताकि साम्राज्वादी सरकार खाद्य की आपूर्ति युद्ध मोरचों पर कर सके। युद्ध समाप्ति पर बाजार की निरन्तर अनिश्चिता के मद्देनजर यह जारी रखी गई। विभाजन ने खाद्य मोरचे पर अभाव को सिर्फ बदतर ही किया।

14 जनवरी 1944 के ईस्टर्न इकनॉमिस्ट ने सुझाया कि 'कार्यक्षेत्र व लक्षण में, नियंत्रणों की वर्तमान व्यवस्था का क्रमिक सुदृढ़ीकरण किया जाए ताकि वह न सिर्फ शान्ति अर्थव्यवस्था के सहज संक्रमण का मजबूती प्रदान करें, बल्कि हमारे देश में दीर्घावधि आर्थिक योजना का साधन भी बन सके।' 1946 में, हालाँकि, यह मुद्दा विवादास्पद हो गया।

उस वर्ष जल्द ही जाने–माने अर्थशास्त्रियों, ए.डी. गोरवाला और डी.आर. गाड़गिल, को लेकर जिन्स मूल्य बोर्ड' नियुक्त कर दिया गया । इसने उसी वर्ष एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें सिफारिश की गई थी कि नियंत्रण व्यवस्था का सुधार हो न कि उसकी समाप्ति।' दूसरी ओर, सदस्यों के रूप में अधिकतर औद्योगिक आर्कषक व्यक्तियों वाली सितम्बर 1947 में नियुक्त 'खाद्यान्न नीति कमेंटी' द्वारा उसी वर्ष दिसम्बर में खाद्य–नियंत्रण की वर्तमान व्यवस्था के तहत सरकारकी वचनबद्धता को घटाने की सिफारिश करती एक अंतरिम रिपोर्ट बहुमत क्षरा अंगकृत की गई और प्रस्तुत की गई। जैसा कि हमनें पिछली इकाई मे देखा, गाँधीजी ने अपना नैतिक समर्थन विनियंत्रण माँग को दिया और नियंत्रण एक अवधि–विशेष के लिए हटा लिया गया। जब दाम ज्यादा चढ़ गए, नियंत्रण फिर से लागू कर दिया गया।

1.2.6 राष्ट्रीकरण का मुद्दा

भारतीय व्यापारीगण समाजवादियों एवं वाम उग्रपन्थियों से जन्म रहे राष्ट्रीयकरण की बात से भयभीत थे। 14 जून 1946 कों ईस्टर्न इकनॉमिस्ट ने घोषणा की : 'हम अर्थव्यवस्था की पूरी श्रृंख्ला के समग्र एवं तत्काल समाजीकरण के सोवियत आदर्श को निष्कपट रू॰ से निरस्त करते है।' भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग महासंघ (फिक्की) के बीसवें वार्षिक सत्र में जवाहरलाल नेहरू को व्यापारियों को आश्वस्त करना पड़ा। ऐसी कल्पना करना गलत है', उन्होंने कहा, कि यह सरकार उद्योग को नुकसान पहुँचने की राह पर है। यह हमारी बेवकूफी होगी। हम उद्योग के लिए सुविधाएँ तथा उत्पादन हेतु सुविधाएँ तकनीकी, वैज्ञानिक एवं विद्युत संसाधन, यथासम्भव मुहैया कराना चाहते है।' 4 अप्रैल 1947 को, अखिल–भारतीय विनिर्माता संगठन को एक सम्बोधन में उन्होंने यह आश्वासन फिर दोहराया।

1.2.7 योजना का मुद्दा

यद्यपि भारतीय जनता के सभी वर्गों के बीच योजना के विचार का आमतौर पर स्वागत हुआ, योजना के लक्षण विषयक उनके विचारों में भिन्नता थी। भारतीय व्यापारियों ने 'सोवियत–रूपी' योजना को दृढ़ता से ठुकरा दिया और राज्य निर्देशन की एक अस्पष्ट व्यवस्था का स्वागत किया। वें उन मूल व गुरू उद्योगों के विस्तार में राज्य की भूमिका का भी स्वागत करते थे जिनके लिए उनके पास ज्यादा संसाधन नहीं थें। परन्तु राज्य की भूमिका, उनके अनुसार, कम से कम रहेगी। समाजवादी व वाम उग्रपंथियों ने राष्ट्रीय आर्थिक गतिविधियों मे राज्य की और अधिक भूमिका की सम्भावना पर विचार किया।

ऐसा माना जाता है कि सरदार वल्लभभाई पटेल प्रथम दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूतिशील थे और जवाहरलाल नेहरू दूसरे के प्रति। तथापि, पटेल को माना जाता है कि उन्होंने सरकार द्वारा उस योजना आयोग की स्थापना का सशक्त विरोध किया था जिसको वह समझते थे कि सोवियत संघ की आर्थिक विचारधारा को ही प्रकट करेगी और सरकार के अधिकारक्षेत्र का अतिक्रमण करेगी। यह पटेल की मृत्यु के बाद ही हुआ कि एक ऐसा भारतीय योजना आयोग स्थापित किया जा सका जो मंत्रिमण्डल के अधीन हो और प्रधानमंत्री उसका अध्यक्ष हो।

1.2.8 औद्योगिक संबंध

श्रमिक संघ के मोरचे पर सबसे तीक्षण विवाद उठा। 1920 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुरोध पर जब अखिल–भारतीय संघ कांग्रेस (ऐटक) की स्थापना हुई, कांग्रेसजनों ने आमतौर पर स्वयं को इससे अलग रखा। वे इसमें 1922 में हुए अखिल–भारतीय कांग्रेस कमेटी के गया अधिवेशन के बाद ही सम्मिलित हुए। गाँधी के प्रत्यक्ष संरक्षण वाले अहमदाबाद वस्त्रोद्योग कर्मचारी संघ ने इसमें कभी शिरकत नहीं की। परिणामतः 'ऐटक' साम्यवादियों के ही कड़े प्रभाव में रहा। जब, 1942 में और उसके बाद, 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के चलते, कांग्रेसजन, कांग्रेसी समाजवादियों समेत, बड़ी संख्या में जेल गए, यह क्षेत्र पूरी तरह से साम्यवादियों के लिए छोड़ दिया गया।

ये भेद दो मुख्य कारकों द्वारा गंभीर बना दिया गए। 1942 कम्युनिस्ट पार्टी ने भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया था जिसके आधार पर अखिल–भारतीय कांग्रेस कमेटी के साम्यवादी सदस्यों को निष्कासित कर दिया गया। दूसरे, द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद, मजदूर मोरचे में साम्यवादी युयुत्सा बहुत बढ़ गयी। सत्ता के सहज हस्तांतरण की दृष्टि से , जो अनेक ब्रिटिश उद्योगों को भारतीय हाथों में सहज ही सौपें जाने के साथ हुआ, यह श्रमिक युद्ध–प्रियता कांग्रेस नेतृत्व द्वारा नापसंद की गई जिसे भारतीय वृहद् व्यापार का समर्थन प्राप्त था। कांग्रेसी नेताओं ने औद्योगिक विवादों का अनिवार्य विवाचन निधार्रित किया और कर्मचारियों के हड़तालाधिकार का विरोध किया।

1947 के आरम्भ में, एक हिन्दुस्तान मजदूर सेवक संघ की स्थापना की गई जिसके केन्द्र मं था अहमदाबाद वस्त्रोद्योग कर्मचारी संघ। जनशक्ति जुटाने में हिन्दूस्तान मजदूर सेवक संघ की असफलता के मद्देनजर, मई 1947 में पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस के शीर्ष नेताओं ने नई दिल्ली में एक उच्च–स्तरीय सम्मेलन किया और एक पृथक् श्रम संगठन बनाने का फैसला किया। परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय संघ कांग्रेस (इन्टक) की स्थापना हुई। एक अन्य वर्ष के अन्दर–अन्दर दो और केन्द्रीय श्रम संगठनों ने जन्म लिया– हिन्द मजदूर सभा (इन्टक से टूटकर)।

सत्ता हस्तांतरण के समय , जब भारतीय पूँजीवाद पनप रहा था, इसी कारण, वर्ग–विवाद के मुद्दे ने तीव्रता प्राप्त कर ली और इसने औद्योगिक संबंधों को सहज ही प्रभावित किया। पूँजीवादियों के लिए औद्योगिक विकासार्थ औद्योगिक शान्ति जरूरी थी और युद्धप्रिय श्रमिक संघवाद औद्योगिक शान्ति के प्रति अपकारी था। चूँकि स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी थीं, साम्यवादी व समाजवादी चाहते थे कि अर्थव्यवस्था के भीतर वर्ग–संबंध शीघ्रतिशीघ्र कायम किए जाएँ।

1.2.9 राजनीतिक बहस

स्वतंत्रता प्राप्ति की अवधि के आसपास वैचारिक बहस ने राजनीति पर अपना प्रभाव छोड़ा।

प्रथम युद्धोपरांत बजट स्फीतिविषयक था। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्फीतिकारी प्रवृत्ति का सामना करने के लिए अंतरिम सरकार के वित्त मंत्री, लियाकत अली खान ने, एक बजट प्रस्तुत किया जिसमें एक लाख रूपये से अधिक सभी व्यापार लाभों पर 25 प्रतिशत कर का प्रस्ताव था। इस कर का अभिप्राय था दौलतमंद भारतीयों की खर्चीली आदतों पर रोक लगाना और यह समाजवादी रंग में रँगा था। परन्तु उसने उन कांग्रेसियों के बीच तीव्र उत्तेजना पैदा कर दी जो यह आरोप लगाते थे कि यह बजट उन व्यापारियों के हितों को नुकसान पहुँचाने पर अभिलक्षित था जो अधिकतर कांग्रेस समर्थक थे। इस बजट ने व्यवहारतः कांग्रेस–लीग सहयोग का अंत सुनिश्चित कर दिया और देश के विभाजन की ओर ले जाते मुख्य कारकों में एक रहा।

स्वतंताप्राप्ति की पूर्वसंध्या पर, जून 1947 में, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि स्वतंत्रता आन्दोलन बलों ने साम्राज्यवादी शासकों को मजबेर किया कि वे भारतीय नेताओं के साथ खुला समझौता करें, पूर्ववर्ती भारत के राजाओं, बड़े जमीदारों व वृहद व्यापार के साथ नया गठबंधन करने का प्रयास कर रहे थे। फिर भी, पार्टी का दावा था कि 3 जून 1947 के माउण्टनबेटन प्रस्ताव में शामिल करार ब्रिटिश भारत के विभाजन हेतु मे राष्ट्रीय उन्नति के लिए नई सम्भावनाओं का प्रस्ताव किया और ये दो लोकप्रिय सरकारें व संविधान सभाएँ राष्ट्रीय नेतृत्व के हाथों में रणनीतिक शास्त्र थी। इसने 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता का स्वागत किया। दिसम्बर 1947 में हालाँकि, उसने पैतरा बदला और माउण्टबैटन योजना की स्वीकृति को एक साम्राज्यवादी–सामंतवादी–बुर्जआ संयोजन के आधार पर कायरपूर्ण आत्म–समर्पण कहा। इस संकल्प ने 1948–49 में साम्यवादी युयुत्सा की ओर प्रवृत्त किया।

1947 में फॉरवर्ड ब्लॉक ने कांग्रेस छोड़ दी। 28 फरवरी 1947 को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने अपने नाम से 'काग्रेस' शब्द हटाने का फैसला किया। राममनोहर लोहिया, एक समाजवादी नेता, ने कांग्रेस पर निहित स्वार्थों से समझौता करने का आरोप लगाया। मार्च में पार्टी ने गैर–कांग्रेसियों के लिए सदस्यता खोल दी। मार्च 1948 में, सरदार वल्लभभाई पटेल ने महात्मा गाँधी जिनकी जनवरी 1948 में हत्या कर दी गई थी, की सुरक्षा की उपेक्षा का आरोप लगाये जाने के बाद, कांग्रेस छोड़ने का फैसला कर लिया। जयप्रकाश नारायण ने बताया कि भारतीय संविधान सभा द्वारा बनाया गया प्रारूप संविधान बेढंगा है और प्रेरक नहीं है। उत्तर प्रदेश में पार्टी के विधानसभा सदस्यों ने, जो कांग्रेस के टिकट से चुने गए थें, इस्तीफा दे दिया और पुनर्चुनाव का सहारा लिया परन्तु हार गए।

स्वतंत्रता के आसपार की अवधि में, इसी कारण, भारत के विकास की भावी दिशा–विषयक तीखी वैचारिक बहस देखी गई। कोई कौतुक नहीं कि इस वैचारिक वाद–विवाद ने भारतीय संविधान सभा की उन कार्यवाहियों को अंशतः प्रकट किया जिन्होंने संविधान की रचना की थी।

1.2.10 भारतीय संविधान सभा का लक्ष्य–संकल्प

इन सभी मुद्दो को 'लक्ष्य संकल्प' में व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया, जो भारतीय संविधान सभा में उसकी कार्यवाहियों के एक काफी शुरूआती चरण में पारित किया गया। उस संकल्प ने एक स्वतंत्र भारतीय अधिगणतंत्र की स्थापना का वचन दिया जो, अपने घटक भागों के साथ, समग्र सत्ता व अधिकार भारत की जनता से ही व्युत्पन्न करेगा। यह भारत के सभी लोगों को इन बातों की गारण्टी देता है:–

न्याय, सामाजिक, आर्थिक व राजनीति, सामाजिक स्थिति की, अवसर की व कानून के समक्ष समानता, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, पूजा, व्यवसाय, कानून व सार्वजनिक नैतिकता के अधीन संघ व कार्रवाई की स्वतंत्रता। इसके अतिरिक्त, अल्पसंख्यकों, पिछड़े व जनजातिय क्षेत्रों एवं पददलित तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए समुचित सुरक्षा उपाय मुहैया कराये जाएँगे।

ये उदारवादी एवं कल्याणकारी विचार, भारतीय संविधान की उस प्रस्तावना में प्रकट हुए जो स्वतंत्रता भारतीय राज्य की अनिवार्य धारणा प्रस्तुत करती है। मौलिक अधिकार व राज्यनीति के निदेशक सिद्धांत उनका विस्तारण थे।

1.2.11 सारांश

इस अध्याय में अपने स्वतंत्र भारत में विकास प्रतिमानों पर वाद–विवादों के विषय मं स्पष्ट किया गया गाँधीवादी दृष्टिकोणों व उनकी व्यवहार्यता पर केन्द्रित थीं, जबकि अन्य औद्योगीकरण के पूँजीवादी ढंग पर विमर्शित। बहस के मुद्दों में शामिल थे– नियंत्रण व्यवस्था, राष्ट्रीयकरण, औद्योगिक नीति इत्यादि। कुल मिलाकर, इन वाद–विवादों के अन्तिम परिणाम ने भारत

की जनता के सभी पहलुओं में हित की रक्षा का वचन दिया– राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक तथा उदारवादी व कल्याणकारी विचारों को परिपुष्ट किया।

1.2.12 अभ्यास प्रश्नावली

1. भारत में भावी आर्थिक विकास के विषय में स्वतंत्रताप्राप्ति के समय भारतीय राजनीतिक नेतृत्व में मूख्य विचारधाराएँ क्या थी? किस हद तक वे परस्पर विरोधी थी और किस हद तक वे एक–दूसरे को प्रभावित करती थी?
2. स्वतंत्रताप्रापित के समय भारतीय राजनीतिक नेतृत्व द्वारा परिकल्पित भूमि सुधार किस प्रकार का था? भूमि सुधार की ओर भारतीय व्यापारी वर्ग का क्या रवैया था?
3. स्वतंत्रताप्राप्ति के समय नियंत्रण व योजना विषयक क्या बहस छिड़ी थी?
4. 1948 में कांग्रेस समाजवादियों ने कांग्रेस क्यों छोड़ दी?
5. स्वतंत्रता के संबंध में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का क्या विश्लेषण था?
6. भारतीय श्रमिक आन्दोलन में फूट की आर प्रवृत्त करती परिस्थियों पर चर्चा करें।
7. भारतीय संविधान सभा के 'लक्ष्य संकल्प' ने क्या स्थापित करने हेतु उत्सुकता से प्रतीक्षा की?

अध्याय 3
संविधान और सामाजिक परिवर्तन

संरचना

1.1.25 उददेश्य :– प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य
1.1.26 प्रस्तावना
1.1.27 भारतीय संविधान : एक परिचय
1.1.28 संविधान की प्रस्तावना
1.1.29 मौलिक अधिकार
3.5.1 अधिकारो की प्रकृति
1.1.30 राज्य के नीति–निदेशक सिद्धान्त
1.3.6.1 लोक कल्याण एवं गौरवपूर्ण जीवन
1.3.6.2 कानून के दायरे में
1.3.6.3 आर्थिक दायरे में
1.3.6.4 श्रमिको के अधिकार
1.3.6.5 बच्चों एवं कमजोर वर्गों के लिए
1.3.6.6 कृषि व पर्यावरण के दायरे में
1.1.31 सारांश
1.1.32 अभ्यास प्रश्नावली

1.3.1 उददेश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य भारतीय संविधान का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करना है कि हमारा संविधान सामाजिक परिवर्तन के साथ सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करता है। प्रस्तावना मौलिक अधिकार व नीति निर्देशक तत्वों में सामाजिक व आर्थिक न्याय से संबंधित प्रावधान है। स्त्रियों बालको कमजोर वर्गों व सभी नागरिकों के उत्थान का उल्लेख हमारा संविधान करता है यहॉ इस अध्याय का उद्देश्य है।

1.3.2 **प्रस्तावना**

किसी देश का संविधान उसकी सरकार के लिए सर्वोच्च विधि–राजनीतिक सर्वोच्च आलेख होता है। इसमें प्रजा के अधिकारों का भी विवरण होता है जो कि न्यायसम्मत होते हैं। सामान्य अर्थ में यह सत्ता का प्राधार एवं शासितों के प्रति शासकों की बाध्यताओं को प्रस्तुत करता है। ये बाध्यताएँ न सिर्फ़ सरकारी सत्ता की सीमा को ही बल्कि जनता की सरकार से अपेक्षा को भी बतलाती हैं।

किसी संविधान के लिए एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भविष्योन्मुखी हो, ना कि अतीतोन्मुखी। ऐसी जनता जो अपने मामले रीति–रिवाजों एवं परंपराओं के अनुसार निबटाती है उसे संविधान की कोई आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए अपने अग्रजों की स्मृतियाँ ही काफी होती हैं। इतिहास साक्षी है कि जब भी कोई संविधान बनाया गया है, वह एक क्रांति के बाद बना है। किसी भी संविधान का मन्तव्य एक नई सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था को प्रवेश कराना रहा है।

अठारहवीं शताब्दी में, जब विश्व में प्रथम लिखित संविधान सामने आयादृसंयुक्त राज्य अमेरिका मेंदृ 1789 में एक संघीय गणतंत्रतात्मक सरकार की महज संकल्पना ही प्रस्तुत हुई। यह ब्रिटेन से राजतंत्रीय औपनिवेशिक संबंधों का सिलसिला तोड़ना था। सरकारी सत्ता हेतु सीमाओं के रूप में जनता के अधिकारों को समाविष्ट करते हुए दो वर्षो के भीतर ही संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान दस संशोधनों से गुज़रा। धारणा यह थी कि जनता के पास स्वाभाविक रूप से, कुछ निश्चित अधिकार हैं और सरकार उनका हनन नहीं कर सकती। ये अधिकार उदार अहस्तक्षेपवाद ;सपइमतंस संपेम्र पितम कवबजतपदमद्ध के रूप में सोचे गए जो कि जीवन, स्वतंत्रता एवं निजी संपत्ति के अधिकारों को प्रेरित करते हैं।

बीसवीं सदी में, अधिकारों की यह सोच कल्याण की दृष्टि से और गहन हुई, और तो और समाजवादी विचारों में भी। विश्व के दूसरे संविधानों में भी नए अधिकार शामिल किए गए और पहले के अधिकारों के क्षेत्र को न्यायिक व्याख्या द्वारा विस्तार दिया गया। यहाँ तक कि अधिकारों के कथन भी दुरुस्त किए गए। इस प्रकार, अब संयुक्त सोवियत समाजवादी गणतंत्र के संविधान में लाभकारी रोजगार को प्रत्येक नागरिक के एक मौलिक आधिकार के रूप में शामिल किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका में, जनता के कमजोर वर्गों के हित को स्वीकार किए जाने को न्यायायिक प्रमाण माना गया। आयरलैंड के संविधान में प्रजा के कल्याण हेतु कुछ नीति–निदेश जोड़े गए।

1.3.3 भारतीय संविधान का दृष्टिकोण

ब्रिटेन से शक्ति के स्थानांतरण के पश्चात् भारतीय संविधान की घोषणा एक नए युग की शुरुआत थी। प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण, यह ब्रिटेन के राजतंत्रीय शासन के स्थान पर गणतंत्रात्मक लोकतंत्र की स्थापना था। आशान्वित रूप से, भारतीय संविधान ने विश्व का रुझान स्वतंत्रता संग्राम के दौरान अपनी जनता के अनुभवों द्वारा विरासत में ग्रहण किया। भारतीय संविधान में उदारवादी लोकतंत्र के ढाँचा को कायम रखा गया, परन्तु सरकारी दखलंदाजी के क्षेत्र को बढ़ाया गया जो कि सामाजिक सुधार एवं कल्याण को ध्यान में रखते हुए किया गया। नागरिकों के अधिकार और इनकी समानता को भंग करना राज्य के लिए निषेध हैदृ अधिकार जो आवश्यक रूप से विलोम प्रकृति के थे। समाज के लिए अस्पृश्यता निषेध है। राज्य को इसकी छूट है कि वह प्रजा के कमजोर वर्गों के सुधार हेतु विशेष कदम उठाए। संविधान में आइरलैंड के उन आदर्शों को भी अपनाया गया जिसमें सरकार को कल्याण–कारी कदमों को लेने के लिए आशावादी नीति–निदेश जारी किए गए हैं।

1.3.4 संविधान की प्रस्तावना

हर उदारवादी लोकतंत्रतात्मक संविधान की एक प्रस्तावना होती है जिसमें संविधान का सार निहित होता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना भी राजनीति के आदर्श उद्देश्यों का आलेख है।

प्रथम बिंदु जो ध्यातव्य है, भूमिका के अनुसार, यह है, 'हम, भारत के लोग' जो कि भारत के विधान सभा में हैं, अपनाते हैं, नियमबद्ध करते हैं और खुद को यह संविधान अर्पित करते हैं। संक्षेप में संविधान प्राधिकरण, देश के सर्वोच्च कानून के रूप में, जनता से उत्पन्न हुआ है न कि किसी बाह्य सत्ता की दया से। अतः भारत एक लोकतंत्रात्मक, प्रभुतासंपन्न देश है। भारत गणतंत्र भी है। यह किसी भी प्रकार के वंशानुगत शासन को नहीं मानता।

राज्य का लोकतंत्रात्मक स्वरूप जनता द्वारा संघीय संसद के प्रथम सदन एवं राज्य विधान सभाओं के चुनाव से सुनिश्चित होता है जिसका आधार वयस्क मताधिकार है। प्रत्येक निवासी, जो स्वस्थ मस्तिष्क का वयस्क नागरिक हो, तथा अपराध, भ्रष्टाचार या अनैतिक कार्य के लिए रोका न गया हो, वोट देने के लिए सूचीबद्ध होने का अधिकारी है। (संविधान का अनु॰326)।

संविधान सभी नागरिकों से सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय का वायदा करता है; वैचारिक अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और पूजा की स्वतंत्रता देता है; स्तर और अवसर की समानता तथा व्यक्ति विशेष की शान को ध्यान में रखते हुए भाईचारे को बढ़ावा देता है। 1976 में एक संशोधन के तहत धर्मनिरपेक्षता एवं समाजवाद की स्थापना का उद्देश्य प्राप्त करने और राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता को कायम रखने की घोषणा की गई।

1.3.5 मौलिक अधिकार

भारतीय संविधान के तहत दो प्रकार के अधिकार हैं : कुछ तमाम 'जनता' को दिए गए है तथा कुछ केवल 'नागरिकों' को। (प्रथम प्रकार के अधिकार ग़ैर–नागरिकों के लिए भी हैं और इसमें शामिल हैं कानून के समक्ष समानता एवं कानून की एक समान सुरक्षा (अनु॰ 14), ग़ैर–कानूनी दोष सिद्धि से सुरक्षा (अनु॰ 20), जीवन–यापन एवं आत्मिक स्वतंत्रता (अनु॰ 21), अवैध प्रतिरोध से सुरक्षा (अनु॰ 22), मानवों की भीड़ में शोषण तथा सार्वजनिक उद्देश्यों के अलावा बेगार लेने के विरुद्ध अधिकार (अनु॰ 23), बच्चों को खतरनाक रोजगार के विरुद्ध अधिकार (अनु॰ 24), मजहब की स्वतंत्रता (अनु॰ 25), मजहबी मामलों के प्रबंध हेतु मजहबी संस्थाओं को स्वतंत्रता (अनु॰ 26), तथा करों के भुगतान से मुक्ति जो कि विशेषतौर से किसी मज़हब विशेष या मजहबी संस्थाओं के लाभ की प्रक्रिया में हों (अनु॰ 27), मज़हबी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में लादे गए मज़हबी निर्देशों से स्वतंत्रता (अनु॰ 28), अल्पसंख्यकों की सुरक्षा (अनु॰ 29), अल्पसंख्यकों को इच्छानुसार शैक्षिक संस्थानों को स्थापित एवं संचालित करने का अधिकार (अनु॰ 30), संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनु॰ 32 और 226) तथा कानून के प्राधिकार सम्मत संपत्ति से वंचित न करने का अधिकार (अनु॰ 300 ए)।) अन्य सभी अधिकार जो नागरिकों को हैं, वे हैं राज्य द्वारा भेदभाव के विरुद्ध अधिकार (अनु॰ 15), सार्वजनिक रोजगार में अवसरों की समानता का अधिकार (अनु॰ 16), असपृश्यता के विरुद्ध अधिकार (अनु॰ 17), सेना या शिक्षा के सिवाय राज्य उपाधियों के निर्माण के विरुद्ध अधिकार (अनु॰ 18), भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार, शांतिपूर्वक एवं निहत्थे एकत्र होने का अधिकार, संस्थाएँ या

संघ निर्माण का अधिकार, स्वेच्छापूर्वक तमाम भारतीय भूखण्ड में घूमने का अधिकार और भारतीय भूखण्ड के किसी भी हिस्से में रहने तथा बसने का अधिकार और किसी भी व्यवसाय को अपनाने तथा किसी भी उद्योग या व्यापार करने का अधिकार (अनु॰ 19)।

1.3.5.1 अधिकारों की प्रकृति

अधिकारों के विषय में अग्रलिखित बिंदु विचारणीय हैं : (1) ये अधिकार विलोम प्रकृति के हैं क्योंकि ये अधिकारियों को इनका उल्लंघन करने से रोकते हैं। (2) जब कि इन अधिकारों में से ज्यादातर राज्य के विरुद्ध हैं, इनमें से कुछ, जैसे अस्पृश्यता के विरुद्ध अधिकार (अनु॰ 17) और अल्पसंख्यकों को सुरक्षा का अधिकार (अनु॰ 29), समाज के विरुद्ध हैं। (3) जबकि ज्यादातर अधिकार व्यक्ति विशेष के लिए हैं, कुछ वर्गों के लिए हैं (अनु॰ 27, 29 और 30)। (4) ज्यादातर अधिकार शर्त–आधारित हैं कि अधिकार से पूर्व सार्वजनिक हित, कानून एवं व्यवस्था, मर्यादा और प्रजा के कमजोर वर्गों का हित आदि पर विचार किया जाए।

भारत में अधिकारों की प्रकृति को समझने में ये बिंदु महत्त्वपूर्ण हैं। हम यह बता चुके हैं कि परंपरावादी उदारवादी लोकतंत्र जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका में अधिकारों को विलोम रूप से बनाया गया था जिससे राज्य उनका हनन नहीं कर सकते। समाज के अन्य सदस्यों द्वारा इन अधिकारों की सुरक्षा का मसला राज्य की विधि और कानून व्यवस्था द्वारा निभाया जाता है। उदाहरणार्थ, यू एस ए में जातीय दंगे अपराधात्मक कानून के ही अंतर्गत निपटाए जाते हैं जिसके लिए राज्य संवैधानिक तौर पर बिना किसी भेदभाव के ऐसा करने को बाध्य है। दूसरी तरफ, भारत में ऊँच वर्ण के लोगों द्वारा अस्पृश्यता सीधे–सीधे संविधान के प्रति अपराध है। इसी प्रकार, बहुसंख्यक समुदाय द्वारा अल्पसंख्यकों के आधिकारों का उल्लंघन संविधान के समक्ष अपराध है। यह सीधे–सीधे राज्य का संवैधानिक कर्तव्य है कि वह दलितों (अनुसूचित जातियों के लोग), आदिवासियों (अनुसूचित जनजातियों से संबंधित लोग) और मजहबी तथा भाषाई अल्पसंख्यकों के सामाजिक अधिकारों की रक्षा करें।

पहले के उदार संविधानों से भारत के संविधान का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर है अधिकारों की सीमाओं की विशिष्टता। संयुक्त राज्य अमेरिका में इन सीमाओं का निर्धारण न्यायालयों द्वारा होता है और ये न्यायाधीशों के निजी मत पर आश्रित होते हैं। इन निजी मतों का भारत में निषेध तो नहीं है परन्तु वे संविधान सम्मत होने ही चाहिए। जैसा कि बताया जा चुका है सांवैधानिक सीमाओं का सरोकार न केवल कानून एवं व्यवस्था से है वरन्, सर्वसामान्य के हित में भी हैं जिसमें सामाजिक संपन्नता, नैतिकता और समाज के कमजोर वर्गों के कल्याण भी निहित हैं।

अंततः, संविधान में वर्णित वर्गों और व्यक्ति विशेष दोनों की सम्मति देश के मजहबी इतिहास का दुःखद परिणाम है। भारतीय संविधान की मजहबी तथा भाषाई अल्पसंख्यकों और कमजोर वर्गों के प्रति वचनबद्धता, उन यूरोपीय संविधानों की याद दिलाता है जो कि दो विश्व युद्धों के मध्य अल्पसंख्यक संधियों के तहत् बनाए गए जिसमें राज्यों को उनकी स्थापना से पूर्व हस्ताक्षर करने पड़े। उन देशों में पोलैंड, योगोसोलाविया और चेकोसोलोवाकिया हैं। अंतर यह है कि इन यूरोपीय राज्यों ने कभी भी गंभीरता से उन्हें लागू नहीं किया। भारत में इनको पूर्ण गंभीरतापूर्वक लागू किया जा रहा है।

इस प्रकार भारतीय संविधान में प्रदत्त अधिकारों की बनावट सामाजिक परिवर्तन में राज्य की सक्रिय भूमिका को ध्यान में रखती है।

1.3.6 राज्य के नीति–निदेशक सिद्धांत

राज्य की एक अन्य सीधे–सीधे सक्रिय भूमिका सतत् सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन को लाना है जिसके लिए भारतीय संविधान में राज्य की नीति के कुछ नीति–निदेशक सिद्धांतों को वर्णन किया गया है। ये सिद्धांत न्यायालय द्वारा सीधे लागू नहीं किए जाते हैं। परंतु न्यायालय, संविधान की व्याख्या करते समय, मौलिक अधिकारों सहित उनके द्वारा मार्गदर्शन लेते हैं। संविधान राज्य को आदेश देता है कि वह शासन में मूलरूप से उनका आदर करे और नियमों को बनाते समय उनका पालन करे।

1.3.6.1 लोककल्याण एवं गौरवपूर्ण जीवन

राज्य के लिए सबसे मौलिक नीति–निर्देश है एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित करने का प्रयास करना जिसमें न्यायिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक इकाइयाँ सभी संस्थानों को अपनी राष्ट्रीय जिंदगी जीने को प्रेरित करें। विशेषतौर से राज्य, वेतनों की असमानता को कम करे, और स्तर, सुविधाओं और अवसरों की असमानता को खत्म करे न केवल व्यक्ति–व्यक्ति में वरन् विभिन्न क्षेत्रों में रह रहे या विभिन्न उद्यमों में संलग्न व्यक्तियों में (अनु॰ 38)।

विशेषतौर से राज्य ऐसी नीतियों को प्रोत्साहित करे जिसमें स्त्री एवं पुरुष सहित सभी नागरिकों को समान रूप से जीविकोपार्जन के माध्यम उपलब्ध हों, मालिकाना हक और नियंत्रण में सर्वहित को सर्वोपरि माना जाए, संपत्ति और उत्पादन के माध्यमों का ध्रुवीकरण न हो ताकि सार्वजनिक अहित न हो, स्त्री–पुरुष दोनों के लिए समान काम के लिए

समान वेतन सुनिश्चित हो, श्रमिकों, स्त्री व पुरुषों के स्वास्थ्य एवं सामर्थ्य की रक्षा हो, बालकों को व्यस्नों से बचाया जाए और उन्हें उनके विकास के स्वास्थ्यपूर्ण, स्वतंत्र एवं गरिमापूर्ण अवसर दिए जाएँ (अनु॰ 39)।

1.3.6.2 कानून के दायरे में

संविधान के इस भाग (भाग 4) के अनुच्छेदों में इन मूल उद्देश्यों की व्याख्याएँ हैं। राज्य समान अवसरों के आधार पर न्याय सुनिश्चित करने हेतु कानून तंत्र के चालन को प्रोत्साहित करे और विशेषतौर से, उपयुक्त विधायी नियमों या नीतियों या अन्य तरीकों से निःशुल्क कानूनी सहायता उपलब्ध कराए, इसको सुनिश्चित करे कि न्याय दिलाने के अवसरों से कोई भी नागरिक आर्थिक, और दूसरी अयोग्यताओं के कारण वंचित न रहे (अनु॰ 39ए, 1977 में जोड़ा गया 42वाँ संविधान संशोधन)। राज्य इसका भरकस प्रयास करे कि संपूर्ण भारतीय क्षेत्र में एक समान नागरिक संहिता सुनिश्चित हो (अनु॰ 44)। राज्य की सार्वजनिक सेवाओं में राज्य न्यायपालिका को कार्यकारिणी से विलग करने के कदम उठाए (अनु॰ 50)।

राज्य ग्राम पंचायतों को गठित करने के कदम उठाए और उन्हें आवश्यक शक्तियों तथा प्राधिकारों से संपन्न करे ताकि वे स्वावलंबी सरकार की इकाइयों के रूप में समर्थ हों (अनु॰ 40)।

1.3.6.3 आर्थिक दायरे में

आर्थिक दायरे के अंतर्गत और भी संरक्षित वायदे हैं। राज्य, अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की परिधि में, काम के अधिकार, शिक्षा को सुनिश्चित करने हेतु प्रभावी कदम उठाए, और बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी और विकलांगता तथा अन्य सामर्थ्यहीनता की दशा में सार्वजनिक सहायता दे, काम का अधिकार यूँ ही किसी भी उदारवाद प्रजातांत्रिक राज्य द्वारा स्वीकृत नहीं किया जा सकता क्योकि यह उत्पादन के सभी साधनों पर नियंत्रण नहीं करता। सामाजिक बीमा की प्रथा भी केवल विकसित औद्योगिक देशों में उपलब्ध है हाँलाकि यह प्रक्रिया अस्थाई है। एक विकासशील देश, जैसे भारत, के लिए सभी के लिए काम और/या सामाजिक बीमा, स्पष्ट रूप से बहुत ज्यादा आशा करना ही है।

राज्य प्रजा के पोषण के स्तर के उत्थान तथा जीवन–स्तर पर ध्यान देना और सार्वजनिक स्वास्थ्य को सुधारना अपनी मौलिक जिम्मेदारी समझे और, विशेषतौर से, मादक तथा हानिकारक औषधियों को चिकित्सकीय उद्देश्यों के अलावा उपभोग के निषेध का हर संभव प्रयत्न करे (अनु॰ 47)।

1.3.6.4 श्रमिकों के अधिकार

राज्य काम की उपयुक्त तथा मानवीय स्थितियों को संरक्षित करने और माता को आराम पहुँचाने के उपाय करे। राज्य उपयुक्त विधान या आर्थिक प्रबंधन या किसी अन्य प्रकार से यह संरक्षित करने के प्रयास करे, ताकि उद्योग, कृषि या अन्य कार्य में संलग्न सभी श्रमिकों को जीविका वेतन, जीवन के उचित स्तर के मुताबिक काम की परिस्थितियों तथा खाली समय में पूर्ण मनोरंजन और सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवसर उपलब्ध हों और, विशेषतौर से, राज्य ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्ति स्तर पर या सहभागिता स्तर पर कुटीर उद्योगों के प्रोत्साहन का प्रयास करे (अनु॰ 43)। संविधान के 42वें संशोधन के अनुसार, राज्य, उपयुक्त विधान या अन्य प्रकार, इसके कदम उठाने के आदेश जारी करे, ताकि किसी संस्था के व्यवसायों के प्रबंधन, अन्य किसी उद्योग में संलग्न संस्था के प्रतिष्ठानों में श्रमिकों की भागीदारी हो। (अनु॰ 43ए)।

1.3.6.5 बच्चों एवं कमजोर वर्गों के लिए

राज्य को निदेशित किया गया है कि वह 10 वर्षों के अंतराल में (संविधान की घोषणा से) चौदह साल तक के सभी बालकों को निःशुल्क शिक्षा मौहय्या कराए (अनु. 45)।

राज्य कमजोर वर्गों के लोगों के शैक्षिक तथा आर्थिक हितों को विशेष सावधानी से प्रोत्साहित करे, और, विशेषतौर से, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन–जातियों को किसी भी प्रकार के सामाजिक अन्याय तथा शोषण से बचाए (अनु॰

1.3.6.6 कृषि व पर्यावरण के दायरे में

राज्य कृषि और उद्योगों का आधुनिक विज्ञान की तर्ज पर विकास का प्रयास करे (अनु॰ 48)।

यह राज्य का दायित्व है कि वह संसद द्वारा घोषित हर राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारक या स्थल या ऐतिहासिक दृष्टि की वस्तु की रक्षा करे, उन्हें विरूप, नष्ट, हटाए जाने, खत्म करने या तस्करी करने, जैसी परिस्थिति हो, से बचाए (अनु॰ 32)।

अनु. 48ए, 1977 में समाविष्ट 42वें संशोधन के आदेशानुसार राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह देश के पर्यावरण का संरक्षण तथा सुधार करे और वनों एवम् वन्य–जीवन की रक्षा करे।

1.3.7 सारांश

यह इकाई राष्ट्रीय आंदोलन में विकसित अभिलाषाओं पर केंद्रित है जो कि भारत के संविधान में उल्लिखित हैं, यही भारत की राजनीति का सर्वोच्च विधि–राजनीतिक परवाना है। भारतीय संविधान अपने–आप में अनुलोमात्मक बिंदु संजोए है जो कि विश्व भर की जनता के अनुभवों पर आधारित हैं। वास्तव में, प्रस्तावना में संविधान सार है, सर्वाधिक बल जनता के अधिकारों की रक्षा करना और हर प्रकार का न्याय दिलाना है। राज्य की नीति के निदेशक तत्व भी प्रस्तावित हैं जो कि

शासन की नीति के मूल हैं। यह श्रमिकों, बच्चों एवं कमजोर वर्गों के आधिकारों की रक्षा और देश के कृषि, पर्यावरण वन एवं वन्य–जीवन के पालन, विकास तथा सुरक्षा को भी सुनिश्चित करता है।

1.3.8 अभ्यास प्रश्नावली

13) अधिकारों के प्रति विश्व दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए जो कि भारतीय संविधान में उल्लिखित अधिकारों की पृष्ठभूमि बना। यह कहाँ तक परिवर्तन लाने वाला है?

14) भारतीय संविधान में 'जनता' का स्थान है?

15) भारतीय संविधान में अनुलोम और विलोम अधिकार क्या हैं?

16) भारत में व्यक्ति विशेष को प्रदत्त अधिकार क्या हैं? वर्गों के अधिकार क्या हैं?

17) भारत में राज्य की नीति के निदेशक तत्वों में परिवर्तन की कितनी शक्ति है? ये जीवन के किन क्षेत्रों तक पहुँचते हैं?

अध्याय–4
विविधता और बहुलवाद

संरचना

1.4.1 उद्देश्य
1.4.2 प्रस्तावना
1.4.3 लोकतंत्र की समझ के प्रति
1.4.4 लोकतंत्र और विकास
1.4.5 उपनिवेशकाल के बाद के समाजों में लोकतंत्र और विकास
1.4.6 भारत में राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास, 1947–1967
1.4.7 भारत में राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास, 1967–1990
1.4.8 भारत में राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास, 1990 के दशक में और उससे आगे
1.4.9 सारांश
1.4.10 अभ्यास प्रश्नावली

1.4.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य भारत में राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास को भारत में स्वतंत्रता के पश्चात परिलक्षित करना है। उदारीकरण से पूर्व और उसके पश्चात लोकतंत्र की समझ व आर्थिक विकास एक साथ जुड़े है राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास की इसी सम्बद्धता को स्पष्टता करना इस अध्याय का उद्देश्य है।

1.4.2 प्रस्तावना

भारतीय राजनीति के अधिकांश पुराने विश्वास 'बदलते हुए' भारत में धीरे–धीरे समाप्त हो रहे हैं फिर भी 'लोकतंत्र का विचार' ऐसा है जो मात्र जीवित और टिकाऊ नहीं अपितु इसे शक्तिशाली निरन्तरता प्रदान करता है। इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि उपनिवेश काल के बाद एशिया और अफ्रीका के कुछ राज्य जो एक ही जैसी उपनिवेशी भाषा में सहभागी रहे हैं जैसे पाकिस्तान भूमंडलीकरण के वर्तमान युग में लोकतंत्रीकरण और स्थानीयकरण की प्रक्रियाओं पर जोर देने के बावजूद 'वस्तुतः विद्यमान लोकतंत्रों' को बनाए रखने में कामयाब हुए हैं।

यदि हम भारत–विश्व में विशालतम और सर्वाधिक विविधतापूर्ण लोकतंत्र के बारे में बात करते हैं तो भारत में लगभग उन सभी संघटकों की कमी रही जो एक उदारवादी लोकतंत्र को सफल बनाते हैं। भारत में साक्षरता, उद्योगीकरण और लोकतांत्रिक चेतना निम्न स्तरों पर थे। लोकतंत्र निर्माण के मार्ग में अन्य बाधा सदियों पुरानी परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के रूप में थी जिसे 'लगभग जान बूझकर राजनीतिक समानता का विरोध करने के लिए' रूपांकित किया गया था। उग्र स्थिति वाली सांस्कृतिक और आर्थिक विशिष्टताओं के रूप में विभाजन की कहानी एक अन्य अवरोध था।

भारतीय लोकतंत्र के उत्तरजीविता और अनूठे स्थायित्व की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं कि क्या यह बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों द्वारा राष्ट्रीय नेतृत्व को दी गई 'लोकतांत्रिक संस्थागत राजनीति के सीमित प्रतिपादन के कारण है? अथवा क्या यह हमारे परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों जैसे बहुलवाद, सामजंस्य, सहिष्णुता, अन्तर्वेशन तथा समायोजन के आधुनिक राजनीतिक संस्कृति में रूपान्तरण के कारण है जैसा स्वतंत्र भारत के शुरुआत' वर्षों में महसूस किया गया था?

एक महत्त्वपूर्ण तौर पर भारत में लोकतंत्र उपनिवेशी भाषा के रूप में पूर्वकल्पित था जैसा कि ब्रिटिश सरकार ने प्रतिनिधिक विधायी निकायों को लागू किया था हालांकि 1909,1919 और 1935 के

अधिनियमों के अनुसार इनकी शक्तियाँ सीमित थीं। यद्यपि मतदान अधिकार की मंजूरी स्वरूप से सीमित थी तदपि मतदाताओं की चार करोड़ की विशुद्ध संख्या उस समय ग़ैर–साम्यवादी विश्व में दूसरे स्थान पर विशालतम थी। वे समूह जिन्हें राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिया गया था धार्मिक समुदायों के रूप में पहचान वाले थे जिनके अपने अपरिवर्तनीय हित और सामूहिक अधिकार थे।

पूर्व कल्पना को उपनिवेश विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में भी लिया गया जिसमें एक पहचान योग्य तथा संयुक्त भारतीय राजनीतिक पहचान बनाने का प्रयास किया गया जिससे विश्व की विविध व्यवस्था के अनुसार राष्ट्र के सृजन का

मार्ग प्रशस्त हो जाए। महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रेरित स्वतंत्र भारत के राजनीतिक नेतृत्व ने भारत की विशाल विविधता की पहचान और समायोजन के लिए राष्ट्र–राज्य उत्तरदायित्व पर जोर दिया। सहिष्णुता, बहुलवाद और अन्तर्वेशन मूल्यों को सक्रियता से बढ़ावा दिया गया और ये राष्ट्र निर्माण और राज्य निर्माण परियोजनाओं के मूलभूत सिद्धान्त बन गए जिन्हें एक मत से प्रस्ताव में पारित किया गया। भारतीय लोकतंत्र का अपने क्रियाविधिक रूप में बहुलवादी स्वरूप संघवाद, तीन भाषा नीति, भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन, सीमांतक समूहों के पक्ष में स्वीकारात्मक कार्रवाई तथा एक समान नागरिक संहिता लागू करने से बचे रहने का निर्णय, नागरिक और सार्वभौमिक मानदण्डों द्वारा परिभाषित धर्म निर्पेक्ष नागरिकता के रूप में सुस्पष्ट रहा है। सभी मानदंड महत्त्वपूर्ण संवैधानिक उपायों, विधायी विनियमन तथा सरकारी नीतियों में से हैं जो चार विशिष्ट वर्गों क्षेत्र, भाषा, धर्म और जाति की संवैधानिक/विधिक मान्यता के सूचक हैं।

उपरोक्त दो या दो से अधिक कारण हैं जो भारत में लोकतन्त्र की स्थिति–स्थापन की व्याख्या करते हैं यद्यपि यह एक अटल तथ्य है कि भारत में लोकतंत्र की जड़ें गहरे तक बैठी हुई हैं। भारत में सांसदों, अदालतों, अधिकारों और स्वतंत्र मीडिया का अस्तित्व बना हुआ है। सुनील खिलनानी के शब्दों में, समान लोगों के समुदाय की इच्छा के अनुसार इतिहास रचने के विचार अथवा विमोहक और पहेलीमय वचनबद्धता के रूप में लोकतंत्र भारतीय राजनीतिक कल्पना में अनुत्क्रमणीय रूप से प्रवेश कर चुका है।

तथापि, भारतीय लोकतंत्र के महानतम सूचक का अस्तित्व राजनीतिक चर्चा के लिए स्थान तथा विभिन्न समूहों द्वारा किए गए विभिन्न क्षेत्रों की पुष्टि के लिए अवसरों का सृजन मुहैया कराने में है। इस प्रक्रिया में भारत में परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के प्राधिकार का संक्षरण होना शुरू हो गया है।

1.4.3 लोकतंत्रा की समझ

राजनीतिक सिद्धान्त में लोकतंत्र से हम क्या समझते हैं? लोकतंत्र दिनोंदिन अच्छे शासन के उस रूप में लिया जा रहा है जो एक राज्यतंत्र के रूप में संगठित व्यष्टियों के समूह के मध्य निर्णय लेने के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। लोकतंत्र का आवश्यक मूल्य उन निर्णयों जो प्रत्येक नागरिक के हितों को ध्यान में रखते हैं तथा सभी के ऊपर समक्ष रूप से बाध्यकारी होते हैं को लेने के लिए अन्य तरीकों पर नैतिक श्रेष्ठता में सन्निहित है। मूल सिद्धान्त जो इस अर्थ में लोकतंत्र की नींव रखते हैं और उसे न्यायसंगत ठहराते हैं, दुहरे होते हैं। प्रथम, व्यष्टि स्वतन्त्र युक्तियुक्त प्राणी हैं जिनमें यह निर्णय करने की क्षमता होती है कि उनके लिए क्या अच्छा है। दूसरे, सभी व्यष्टियों के सामूहिक निर्णयों जो सबको समान रूप से प्रभावित करते हैं, के अवधारणा में समान प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

यह तर्क दिया जाता है कि जबÛसामूहिक तौर पर सार्वजनिक रूप से सहमत निर्णय को लेने के लिए प्रयास किया जाता है वहाँ उस निर्णय/स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आमतौर पर एकमत होना असंभव है। इस प्रकार सार्वजनिक रूप से सहमत निर्णय को लेने के लिए सर्वाधिक प्रशंसनीय क्रियाविधि बहुमत के शासन का सिद्धान्त है जो सर्वाधिक व्यावहारिक तथा नैतिक रूप से स्वीकार्य है। विशाल और जटिल समाजों के कारण प्रत्येक मुद्दे पर (जैसे एथेंस के शहर–राज्य की तरह) प्रगति थी। पूँजीवादी प्रजातंत्रों में भी निर्णय लेने के लिए एक साथ इकट्ठा होना संभव नहीं है जैसा कि सी.बी. मैकर्सन ने लोकतंत्र के सहभागिता प्रतिदर्श को समझाते समय कल्पना की थी (लाइफ एंड टाइम्स आफ लिबरल डेमोक्रेसी)। इसीलिए आधुनिक प्रजातंत्र एक निश्चित क्रियाविधि तथा प्रतिनिधिक संस्थानों के माध्यम से कार्य करता है जिससे लोग अपने प्रतिनिधियों का चुनाव कर सकें और उन्हें समय–समय पर उत्तरदायी ठहरा सकें।

यदि हम लोकतंत्र को विशुद्ध रूप से संस्थानों के एक ऐसे सैट के रूप में देखते हैं जो स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों, विधायी सभाओं, सामान्य विधिक संरचना तथा संवैधानिक सरकारों को परिवेष्ठित करते हैं, तब हम अवश्यमेव लोकतंत्र के क्रियाविधिक स्वरूप का विशेषाधिकार प्राप्त कर रहे हैं। तथापि, यदि हमारे पास ऐसे सच्चे समान नागरिकों द्वारा आबाद किए जाने वाले लोकतंत्र का विचार है जो राजनीतिक रूप से वयस्क है, जीवन के विभिन्न मतों और तरीकों के प्रति सहिष्णु है और अपने शासकों को चुनाव करने और उन्हें उत्तरदायी ठहराने में समान आवाज वाले हैं तब हम लोकतंत्र की यथार्थ धारणा का विशेषाधिकार प्राप्त कर रहे हैं। उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत में, लोकतंत्र के ये दो विरोधाभासी प्रतिदर्श क्रमशः क्रियाविधिक (अथवा औपचारिक) और यथार्थ (अनौपचारिक) लोकतंत्र के रूप में माने जाते हैं।

इसके अनुसार, लोकतंत्र के सीमित प्रक्रियावादी दृष्टिकोण में मत सहभागिता का स्तर, चुनावों की आवृत्ति तथा राजनीतिक सत्ता में शान्तिपूर्ण परिवर्तन लोकतंत्र की सेहत के सूचकांक के रूप में लिए जाते हैं। तथापि, इस प्रकार के दृष्टिकोण को निर्वाचन की भ्रांति का खतरा बना रहता है क्योंकि सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ जिनमें प्रजातांत्रिक–सांस्कृतिक समुदाय अल्पसंख्यकों और बच्चों सहित अन्तर्ग्रस्त हैं उनके लिए प्रभावी रूप से भाग लेने को मुश्किल बना देती हैं क्योंकि इस प्रकार के परिप्रेक्ष्य में उन्हें व्यापक रूप से अनदेखा कर दिया जाता है।

दूसरी तरफ, लोकतंत्र के यथार्थ स्वरूप के समर्थक तर्क देते हैं कि लोकतांत्रिक परियोजना उस समय तक अपूर्ण है जब तक नागरिकता के समान अधिकारों का कोई अर्थपूर्ण प्रयास सभी को अभिनिश्चित न कर दिया जाए। इस समय में, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव, भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विधिगत शासन तथा सभी को इसका संरक्षण आवश्यक है परन्तु किसी भी उपाय से लोकतंत्र के लिए पर्याप्त शर्तें अर्थपूर्ण नहीं है। लोकतंत्र की परियोजना मात्र विधिगत और राजनीतिक समानता प्राप्त करने से सम्पन्न नहीं हो जाती अपितु असमानताओं द्वारा इस पर कठोर प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं जिससे कइयों को शासकीय निर्णयों (लोकतंत्रीकरण का सामाजिक एजेंडा) को प्रभावित करने के लिए यथार्थतः समान अवसर नहीं मिल पाते हैं। असामाजिक औद्योगिक सूचना समाजों से पूर्व सरकारी नीति और लोकमत के ऊपर लोक नीति विशेषज्ञों के बढ़ते प्रभाव का प्रतीक, विशिष्ट ज्ञान का संकेन्द्रन एक अन्य सीमांकन हैं। विशेषज्ञों ने आर्थिक नीति निर्माण को लोकतांत्रिक दबाव से अवरुद्ध कर दिया है।

1.4.4 लोकतंत्रा और विकास

भूमंडलीकरण के वर्तमान युग की बाज़ार अर्थव्यवस्था और राजनीतिक लोकतंत्र के उत्थान से विशिष्ट पहचान होती है। इनके लिए गुणवत्ता और आवश्यकता दोनों महत्त्वपूर्ण हैं भले ही यह पूर्वी यूरोपियन साम्यवादियों के बाद का समाज हो अथवा उपनिवेश काल के बाद का एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी समाज हो। इसे साम्प्रदायवाद / समाजवाद की समाप्ति के संदर्भ में समझाया जा सकता है कि जिसने बाज़ार अर्थव्यवस्थाओं में राज्य के अत्यधिक अथवा अनुचित हस्तक्षेप के रूप में विकास नियोजन पर आधारित अर्थव्यवस्थाओं को प्रेरित किया।

सामाजिक विज्ञान में आर्थिक–विकास और राजनीतिक लोकतंत्र दोनों प्रकरणों पर फैलाव और गहनता दोनों के संदर्भ में (प्रचुर मात्रा में साहित्य) उपलब्ध है। दुर्भाग्यवश वे राजनीति और अर्थशास्त्र के दो विभिन्न विश्वों में बंटा हुआ है जिनकी आपसी अर्न्तक्रिया बहुत रूप है। आवश्यकता इस बात की है कि लोकतंत्र के स्वरूप को इस प्रकार सिद्धान्त रूप दिया जाए कि आर्थिक विकास की अन्तर्ग्रस्त प्रक्रिया को राजनीतिक लोकतंत्र के व्यापक अर्थ में समझा जा सके।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्तवादी जैसे दीपक नय्यर ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि बाज़ारिक अर्थव्यवस्था और लोकतंत्र की राजनीति के बीच हमेशा ही एक सहज तनाव बना रहता है इसे लोकतंत्र के अभ्यावर्तक स्वरूप के विरुद्ध बाज़ार के अपवर्जक स्वरूप के संदर्भ में समझा जा सकता है।

यह कि बहुमतवादी लोकतंत्र की धारणा राजतंत्र अथवा अल्पतंत्र के लिए श्रेयस्कर है, पर इस आधार पर प्रश्न चिह्न लगा दिया गया है कि इससे बहुमत की निरंकुशता बढ़ती है। इसी के साथ यह तर्क कि बाज़ार व्यक्तियों और एक छोटे से वर्ग के हितों की रक्षा करता है सीमित है।

यह तर्क दिया गया है कि बाज़ार वस्तुतः अल्पसंख्यकों की निरंकुशता है। अब बाज़ार में लोग अपने पैसे से मत डालते हैं जबकि राजनीतिक लोकतंत्र में प्रत्येक का मत बराबर होता है। इस प्रकार दो संस्थाओं के बीच एक अन्तर्निहित तनाव हमेशा कायम रहता है।

तब क्या हम कह सकते हैं कि लोकतंत्र और बाज़ार का संयोजन जनसमुदाय के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त है। पूर्वी यूरोप जहाँ तक कि दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में भी भूतपूर्व साम्यवादी राज्यों में जहाँ राजनीतिक लोकतंत्र रहित बाज़ारिक अर्थव्यवस्था थीं राजनीतिक लोकतंत्र के बिना नियोजित अर्थशास्त्र में समतावाद विकास के बारे में क्या कहना है? और तब साम्यवादियों के बाद के देशों में जहाँ हमारे पास बाजारिक अर्थव्यवस्था और राजनीतिक लोकतंत्र है, हमारे पास अभी तक बहुमत के लिए बहुत कम और दयनीय स्थिति के लिए समृद्धि का प्रमाण है।

हमें समझना चाहिए कि बाज़ार उपभोक्ताओं के रूप में उन लोगों के बहिष्कार के लिए प्रवृत्त रहते हैं जिनके पास कोई आय अथवा पर्याप्त आय (अमर्त्यसेन के अनुसार) नहीं है। बाज़ार उत्पादकों और विक्रेताओं के रूप में उन लोगों का भी बहिष्कार करते हैं जिनके पास न तो परिसम्पत्तियाँ हैं और न ही बाज़ार में मूल्य और मांग को नियंत्रित करने के लिए क्षमताएँ (प्राकृतिक प्रतिभा, अध्यापन से प्राप्त

दक्षता, अनुभव से प्राप्त शिक्षा शैक्षणिक योग्यता) हैं। और बाज़ार उस समय उपभोक्ताओं और उत्पादकों दोनों का बहिष्कार करते हैं यदि वे बाज़ार व्यवस्था अर्थात प्रजातीय समुदायों अथवा जंगली लोगों के मूल्यों को स्वीकार नहीं करते हैं अथवा उनके अनुरूप कार्य नहीं करते हैं। आर्थिक बहिष्कार आगे सामाजिक और राजनीतिक बहिष्कार पर स्वराघात करता है। इसीलिए निम्न वर्ग त्रस्त होगे यदि अर्थव्यवस्थाओं का बाज़ारीकरण होता है क्योंकि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों से राज्य की वापसी का अर्थ होगा अलाभकारी स्थिति वाले लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा में कमी। तथापि, हकदारी, परिसम्तियों अथवा क्षमताओं से वंचित लोगों के पास अपने अधिकारों का दावा करने के लिए संसाधन अथवा शक्ति नहीं होंगे। इस प्रकार इस भाग के तर्क का समापन करने के लिए हम नीरज गोपाल जयाल के साथ सहमत हो सकते हैं कि निर्दयी चुम्पेटेरियाई राजनीतिक विश्व में एक तरफ सामान्य आदमी और औरत की जीविका और उमंगों के बीच लगभग पूर्णरूपेण

अव्यस्तता है तो दूसरी तरफ लाभकारी स्थिति वाले लोगों की अभिरुचियों के चारों ओर प्रायः चक्कर काट रहे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय मुद्दों का संसार।

इसके अनुसार बाज़ार अर्थव्यवस्थाओं और समाजों के बीच आर्थिक गुटबंदी अनिवार्य है जो उन तरीकों के माध्यम से जो कुछ को शामिल करते हैं तथा अन्य का बहिष्कार, आर्थिक विकास के लाभों के वितरण में कुछ को योजनाबद्ध तरीके से एकीकृत करते हैं तथा अन्य को सीमांतक कर देते हैं ऐसी स्थिति में संस्थागत प्रबन्धन जो एक तरफ आर्थिक विकास तथा दूसरी तरफ सामाजिक विकास के बीच मध्यस्थता करते हैं निर्णायक हो जाते हैं। अन्यथा आर्थिक विकास से क्षेत्रीय विषमता और वर्ग असमानता पैदा होगी।

1.4.5 उपनिवेशकाल के बाद के समाजों में लोकतंत्रा और विकास

उपनिवेशकाल के बाद के समाजों में लोकतंत्र अपनी ऐतिहासिक विशिष्टताओं के कारण अपने पाश्चात्य प्रतिद्वन्द्वियों से अलग रहा है। उपनिवेशवाद ने जैसा कि राल्फ मिलीबैंड ने 'मार्क्सवाद और राजनीति' में तर्क दिया है, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचनाओं को विकृत किया तथा उनको अनूठा बना दिया। इसके अनुसार प्रगतिशील पूँजीवादी समाजों के लिए विकसित सैद्धान्तिक उपस्कर सामान्यता इन विभिन्न समाजों के लिए पक्षान्तरित नहीं किए जा सकते हैं जो नए लोकतंत्र में सम्मिलित लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर जारी बहस में स्पष्ट हो जाते हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बहसें हैं: लोकतंत्र और विकास, लोकतंत्र और विविधता, तथा लोकतंत्र, राज्य और असैनिक समाज पर की गई बहसें। इस प्रकार यह बहस चलती रही है कि क्या लोकतंत्र और विकास उपनिवेश काल के बाद के राज्यों

में सहवर्त्तनीय है। इस प्रकार पूर्वी एशियाई राज्यों में महसूस किए गए आर्थिक 'चमत्कार' ने उनके 'सहज प्राधिकारवाले क्षेत्रों में योगदान दिया है। तथ्य यह है कि उपनिवेशकाल के बाद के समाज बहुसांस्कृतिक हैं तथा जातीय और प्रजातीय संघर्षों में विदीर्ण होते रहते हैं। अंतः स्थापित विभेदनकारी परम्पराओं से उद्भूत विविधता और असमानता की पहचान के लिए आवश्यकता के प्रति गंभीर अवरोध व्यक्त किए गए हैं। लोकतंत्र, राज्य और असैनिक समाज के बीच सम्बन्ध के लिए यह बहस होती रही है कि क्या उपनिवेशकाल के बाद के समाजों में प्रभावी राज्य के बिना लोकतंत्र अथवा बाज़ार का अस्तित्व हो सकता है। नागरिक अधिकारों का प्रभावी प्रयोग और लोकतंत्र का सामाजिक पहलू पढ़े।

1.4.6 भारत में राजनीतिक लोकतंत्रा और आर्थिक विकास, 1947.1967

आजादी के प्रथम वर्ष में आर्थिक विकास की रणनीति को सामंजस्य का रूप दिया गया। नेहरू की भारत में दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य था। कांग्रेस ने 1944 की बम्बई योजना तथा 1948 में नई औद्योगिक नीति संकल्प के रूप में प्रभावी तौर पर रोजगार समाजवाद के अनुष्ठान–निर्देश के तहत गरीब जनता को समायोजित किया। इस 'नेहरू–महलनवीस रणनीति' के तहत भारतीय राज्य को अवस्थापना तथा विशाल और भारी औद्योगिक निवेश के प्रावधान के लिए उत्तरदायित्व लेना था।

लोकतंत्र भारत में न तो निरपेक्षवाद राज्य की प्रतिक्रिया में और न ही समाज की व्यष्टिगत धारणा की यथार्थता के रूप में, प्रस्तुत हुआ। इसने पूँजीवादी उद्योगीकरण और विकास का अनुसरण भी नहीं किया। इस प्रकार विश्व के प्रगतिशील पूँजीवादी उदारवादी समाजों में अनुभव का विरोधाभास था। उपनिवेश विरोधी संघर्ष व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बजाए राष्ट्र हेतु स्वायत्त स्थान की माँग पर अधिक आधारित था। एक न्यायप्रिय राज्य की गान्धीवादी धारणा इस विचार पर आधारित थी कि सामूहिक हित को व्यष्टिगत हितों के ऊपर वरीयता दी जानी चाहिए। राष्ट्रवादी नेतृत्व ने अपने सभी नागरिकों के लिए न्याय, आजादी, समानता और भाईचारा सुनिश्चित करने के लिए विशेषाधिकार वाले लोकतांत्रिक गणतंत्र को मूर्त्तरूप दिया था। इस प्रकार सार्वजनिक मताधिकार उस वर्चस्व प्राप्त समतावादी समाज में एक ही बार में स्वीकृत कर दिया गया था जहाँ लोकतांत्रिक जागृति नहीं थी।

उपरोक्त स्थिति में राज्य को राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक लोकतंत्र के बीच एक मध्यस्थ की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी थी। इस प्रकार यदि बाज़ार के तर्क का तात्पर्य जनता के एक महत्त्वपूर्ण अनुपात, विशेषतया गरीब वर्ग के बहिष्कार से था तब राज्य के लिए इस प्रकार के लोगों को आर्थिक दायरे में लाना सुनिश्चित करना आवश्यक था।

चूँकि विगत उपनिवेशवादियों और वर्तमान राष्ट्रवादियों ने आर्थिक विकास की रणनीति को आकृति प्रदान की थी, विकास से संतुष्ट न होने की स्थिति में अधिक स्वायत्त विकास को प्राप्त करने के लिए विश्व आर्थिक व्यवस्था के साथ खुलेपन और एकीकृत होने की अवस्था को सीमित करने के लिए सजग प्रयास किए गए थे। यह खुलेबाज़ार और अनियमित बाज़ार की छाप वाले उपनिवेशी युग से प्रस्थान था जो महानगरीय पूँजी का पक्षधर था।

उद्देश्य क्या थे? उद्योगीकृत विश्व के बराबर आना और लोगों के जीवन स्तर में सुधार करना। यह विश्वास किया गया था कि बाज़ार विन्यास की प्राथमिकता से अमीरों द्वारा अधिक खपत होगी तथा विकास के लिए निर्णायक क्षेत्रों में अवनिवेश होना। उसी समय यह भी कल्पना की गई थी कि कृषि अपचायक; (diminishing) प्रतिफल के अध्यधीन थी अतः उद्योगीकरण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिससे अधिकाधिक प्रतिफल और रोजगार अवसर प्राप्त हो सकें।

इस प्रकार मुख्य निवेश थे : सार्वजनिक निवेश की अग्रणी भूमिका, आयात प्रतिस्थापन पर आधारित उद्योगीकरण, पूँजीगत वस्तु क्षेत्र पर जोर देना, निजी क्षेत्र में निवेश के मार्ग निर्देशन के लिए औद्योगिक लाइसेंस देना, कृषि की सापेक्ष अनदेखी करना, परम्परागत लघु और कुटीर उद्योगों के स्थान पर भारी उद्योगों पर अधिक जोर देना।

बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निवेश ने भौतिक अवसंरचना की स्थापना की और अन्तर्वर्त्ती वस्तुओं के उद्योगों को स्थापित करने में सहायता की जिससे निजी क्षेत्र द्वारा प्रयुक्त निवेशों की लागत में कमी आई और निजी क्षेत्र द्वारा पैदा की गई वस्तुओं के लिए मांग में वृद्धि हुई। घरेलू पूँजीवादियों के लिए वर्तमान तथा भविष्य में माँग के रूप में बाज़ार की प्रत्याभूति देने वाले बाज़ार संरक्षणवाद के माध्यम से कार्यान्वित आयात प्रतिस्थापन से आयात प्रतिबंधों के परिणामस्वरूप आपूर्ति में वृद्धि हुई।

राष्ट्रवाद और विकास के मूल सिद्धान्तों के आधार पर उपनिवेश विरोधी संघर्ष का नेतृत्व करने वाली इसकी गाथा के कारण, कांग्रेस और आज के शासन प्रधान दल के बीच एक राजनीतिक सामंजस्य थाः उद्योगीकरण का तात्पर्य विकास से था और राष्ट्रीय हित लोगों के हित के साथ तालमेल में था। पुनर्वितरण को नीति के रूप में प्रोत्साहित नहीं किया गया था क्योंकि पुनर्वितरण गरीबी का एकमात्र ऐसा रूप था जिससे बचतों को हानि पहुँचती। विदेशी पूँजीवादी और जमींदारों को विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था से अलग कर दिया गया था। भूमि सुधारों को लागू नहीं किया जा सका क्योंकि स्थानीय विद्यमान राजनीतिज्ञ की लाठी के साथ गठजोड़ में निम्न स्तरीय नौकरशाही ने इस पर कार्रवाई की थी। कानून में स्पष्ट खामियों ने उच्च जाति के जमींदारों की भी सहायता नहीं की। निवल परिणाम यह था कि मालिक किसान बन गए। समुदाय विकास कार्यक्रम पंचायती व्यवस्था, सामाजिक कानून को लागू किया गया जिसमें शैक्षणिक संस्थानों और रोजगार में आरक्षण शामिल था।

1950–1964 में विनिर्माण उद्योग में गति आई उसके बाद 1970 के दशक तक यह गति धीमी पड़ गई और पुनः राज्य व्यय के विस्तार से नए सिरे से उद्योगों की बाढ़ आई। दूसरे, औद्योगिक उत्पादन ने महत्त्वपूर्ण विविधता को जन्म दिया क्योंकि पूँजीगत सामान क्षेत्रों में अन्य शिशु उद्योगों का प्रादुर्भाव हुआ जिससे उत्पादन के स्तर की कुछ प्राप्ति हुई। आरंभ में मात्र कपड़ा, चीनी और जूट वस्त्र उद्योग अस्तित्व में था। तीसरे, खाद्य उत्पादन में घरेलू स्वयं संतुष्टि प्राप्त हुई थी यद्यपि खाद्य खपत कम थी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह एक प्रमुख उपलब्धि थी कि 1964–66 में अपेक्षित खाद्यान्न का 12 प्रतिशत आयात किया गया था।

विकास–नियोजन प्रतिदर्श की प्रमुख समालोचना भूमि सुधारों की विफलता और उद्योग अर्थव्यवस्था में उच्च लागत में वृद्धि के संदर्भ में थी। निर्यात अनुमति पर आधारित आयात प्रतिस्थापना की रणनीति पर भी प्रश्न चिन्ह लग गया। तदोपरान्त एक जटिल और व्यर्थ व्यवस्था उभरकर सामने आई जिसमें संस्थागत तरीके से भ्रष्टाचार अन्तर्ग्रस्त था। इसके घटनाक्रम में सफलता के बावजूद हरित क्रान्ति की भी ऊर्जा प्रबलित न कि श्रम प्रबलित होने के कारण समालोचना की गई। तत्पश्चात् सूखी भूमि पर खेती को नजरन्दाज कर दिया गया। आार्थिक शब्दों में शहरी–ग्रामीण (इंडिया बनाम भारत) विभाजन बड़े पैमाने पर सरकारी खर्चे के बावजूद अंकित हुआ।

वर्ग संदर्भ में, स्वामित्व वर्गों नामतः औद्योगिक पूँजीवादी वर्ग, भूमि के स्वामित्व वाला वर्ग, और नौकरशाही वर्ग से मिलकर बने एक 'प्रमुख गठबंधन' ने समाजवाद के तहत 'विकास' नीतियों से सर्वाधिक लाभ उठाया गया जैसे अमीर किसानों और औद्योगिक पूँजीवादी वर्ग दोनों को आर्थिक सहायता की मंजूरी। बीमार औद्योगिक इकाइयों के लिए सरकारें अस्पताल बन गईं क्योंकि कामगार वर्ग को सहायता पहुँचाने के नाम पर राष्ट्रीयकरण आरंभ हुआ। लोक क्षेत्रों में 'बौद्धिक पूँजी' वाले पेशेवर लोगों ने संस्थागत भ्रष्टाचार से लाभ उठाया क्योंकि राज्य ने आर्थिक रणक्षेत्र में नियामक भूमिका अदा की।

तथापि, सभी प्रकार की सादगी में भारतीय राज्य की तरफ से राजनीतिक प्रक्रिया वाली अनिवार्यताओं के साथ आर्थिक नीतियों का समाधान करने के लिए हमेशा एक सजग प्रयास रहा ताकि अर्थशास्त्र और राजनीति की अन्तर्क्रिया में संघर्ष को न्यूनतम रखा जा सके। समायोजन की राजनीति का अनुसरण किया गया। प्रतिस्थापन में कल्याणकारी नीतियाँ थीं कि मुनाफे की सहभागिता जो एजेंडा में थी उस उद्देश्य के रूप में प्रमाणित थी जिससे गरीबी उन्मूलन और संसाधन का समान आबंटन के दुहरे उद्देश्य पर आध ाारित समाज का समाजवादी प्रतिदर्श प्राप्त हो सके। औद्योगिक पूँजीवाद के लिए आहवान हमेशा राजनीतिक लोकतत्र की पूर्णरूपेण लयबंदी से जुड़ा रहा।

समाजवादी संदर्भ में, युद्ध के बाद पश्चिमी उदारवादी आधुनिकीकरण/राजनीतिक विकास सिद्धांत के अत्यधिक प्रभाव में यह सोचा गया था कि आधुनिकीकरण से भाषाई विषमताएँ कम होंगी। धर्मनिरपेक्षता धार्मिक पहचानों के साथ समाप्त हो जाएगी तथा स्वीकारात्मक कार्रवाई से जाति निस्तेज हो जाएगी। कुल मिलाकर, कल्याणकारी नीतियों ने भी राष्ट्र निर्माण के एकरूप एजेंडा में योगदान किया था। इस प्रकार, भारत में, सामाजिक लोकतंत्र का आदर्श तथा ग़ैर–पूँजीवादी विकास पथ के साथ–साथ कल्याणकारी राज्य निष्पाद्य प्रतीत हुआ।

1.4.7 भारत में राजनीतिक लोकतंत्रा और आर्थिक विकास, 1967–1990

लोकतंत्र और विकास के स्वरूप के बारे में उपरोक्त सामंजस्य भंग कर दिया गया था क्योंकि लोकतंत्र की राजनीति और कल्याणकारी अर्थशास्त्र के बीच अन्तर्क्रियाओं में गुणात्मक परिवर्तन आ गया था। सामाजिक समूह जो समाज के सीमान्त पर थे और निष्क्रिय पड़े हुए थे, राजनीतिक स्तर मिलते ही शक्ति सम्पन्न हो गए। अब उन्होंने ऐसे राज्य पर आर्थिक दावे करने आरम्भ कर दिए जिसने भारतीय लोकतंत्र की राजनीति और अर्थशास्त्र के बीच सफलतापूर्वक मध्यस्थता की थी। भारतीय राज्य की तरफ से मध्यस्थता और समाधान की भावी प्रक्रिया के दीर्घकालिक आर्थिक और राजनीतिक परिणाम थे।

वादे और उम्मीदों को पूरा न किए जाने के कारण मतभेदी स्वर उभरने लगे क्योंकि गरीबी के स्तर में वृद्धि हुई थी (1957 में 34 प्रतिशत से 1990–71 में 57 प्रतिशत)। 1960 वें दशक के मध्य में अर्थव्यवस्था में संकट खाद्य संकट के रूप में स्पष्ट था क्योंकि भारत के पास सब कुछ होते हुए भी उसे खाने के लाले पड़े थे। रुपए के अवमूल्यन से नियोजन तीन वर्ष के लिए निलम्बित करना पड़ा क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र और बचत तथा निवेश इससे प्रभावित हुए थे।

सामंजस्य इसलिए भी तोड़ दिया गया था क्योंकि राजनीतिक नेतृत्व की दूसरी पीढ़ी जो कामराज योजना के परिणामस्वरूप उभरी थी, राष्ट्रवादी नेतृत्व की वैधता, स्वीकृति और चमत्कार से वंचित थी। भारतीय राजनीति का क्षेत्रीकरण और देहातीकरण हुआ क्योंकि कांग्रेस वर्चस्व वाला दल नहीं रहा और उसका संगठनात्मक और वैचारिक दोनों अर्थों में पतन हुआ। योगेन्द्र यादव के शब्दों में, राजनीति के मैदान में मौलिक रूपान्तरण के रूप में 'द्वितीय लोकतांत्रिक उत्थान' हुआ जो बदले में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में लंगर डाले हुए है। यह रूपान्तरण मतदाताओं के आकार, संयोजन और स्वनिर्णय में परिवर्तन का उत्पाद था क्योंकि समाज के निम्नतर वर्गों से अधिकाधिक नागरिकों ने अपने लोकतांत्रिक अधिकारों को ज़ोरदार बनाते हुए और उनका दावा करते हुए चुनावी राजनीति में भाग लिया।

जाति प्रधान समृद्ध किसान वर्ग जैसे जाट, कम्मा, कापू, यादव और रेड्डी, का अर्द्धसंघीय जमींदारों के पतन के मुकाबले उत्थान भी हुआ। इन जातियों ने विरोधी दलों में शामिल होने अथवा विरोधी दल बनाने के लिए कांग्रेस को उजाड़ दिया। समृद्ध किसान वर्ग के नए प्रविष्ट वर्ग ने आर्थिक नीतियों से व्युत्पन्न लाभों में अपने उचित शेयर तथा राजनीतिक प्रक्रिया में उर्ध्वमुखी गतिशीलता की मांग की। राज्य की प्रतिक्रिया हरित क्रान्ति के रूप में कृषि पर सशक्त, नए सिरे से जोर देने के रूप में थी। इस प्रकार खाद्य सुरक्षा प्राप्त करने के लिए 'मजबूत पर दाब लगाओ' नीति को अपनाया गया। इस नीति के तहत बेहतर स्थिति वाले किसानों और क्षेत्रों को व्यापक समर्थन मिला। यद्यपि भूमि सुधार उपायों जिन्हें केरल, पश्चिम, बंगाल, महाराष्ट्र और जम्मू व कश्मीर जैसे राज्यों के महत्त्वपूर्ण अपवाद के साथ आंशिक सफलता मिली थी, पर आगे कार्यवाही नहीं की गई, गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम जैसे क्‍।च्ए॑ ।त्ज्ञ। आरंभ किए गए।

गंभीर कार्यक्रम संबंधी प्रयास न होने की स्थिति में इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने नारेबाजी बैंको के राष्ट्रीयकरण, शाही भत्ते की समाप्ति के रूप में अधिकाधिक जनाधिकारवादी भाषणबाजी की शरण ली। शासक कांग्रेस के 'हाईकमान' द्वारा विभाजन और शासन की रणनीति के तहत कांग्रेस में धार्मिक विसम्मति और क्षेत्रवाद पैदा किया गया। समृद्ध किसान वर्ग प्रबल गंठबंधन के साथ जुड़ गया क्योंकि प्रथम चरण के दौरान प्रतिनिधिक लोकतंत्र के अधीन बहुसंख्यक बाद ने प्राधिकारवाद का मार्ग प्रशस्त किया यह आपत्काल के दौरान चरम सीमा पर था जिसने अपने क्रियाविधिक और स्थायी रूप में लोकतंत्र की समग्र विफलता दर्ज की।

वर्ग संदर्भ में आपत्काल के अधिरोपण को भी प्रबल गठबंधन में सहचारिता की कमी के रूप में समझाया जा सकता है क्योंकि भूमिधर अमीर किसान वर्ग बड़े पैमाने पर आर्थिक रूप से मजबूत तथा संख्या में शक्तिशाली होकर उभरा। राजनीतिक लोकतंत्र ने शासक गठबंधन के स्थामित्व के लिए संस्थागत तरीका उपलब्ध कराया; संस्थागत यंत्रवत् क्रियाविधि का आपात्काल में अभाव रहा।

तथापि, जनता दल की विजय ने मात्र भारतीय मतदाता की न्यायप्रियता दूरदर्शिता को ही प्रतिबिम्बित नहीं किया अपितु अन्ततः यह भी सिद्ध कर दिया कि भारतीय जनता की राजनीतिक कल्पना में लोकतांत्रिक भावना का वास था।

जनता दल शासन की विफलता ने वैचारिक एकता और उद्देश्य से शून्य गठबंधन राजनीति की सीमाओं को दर्शाया। अधिक विशुद्ध तथा असुरक्षित इन्दिरा गांधी की वापसी ने भी लोकप्रियता और मतदाता की कृपा की राजनीति की वापसी को महसूस किया। आर्थिक सहायता के प्रफलन की बड़े पैमाने पर राज्य के व्यय तथा राजस्व की हानि, आसान ऋण, ऋण माफी, बीमार फर्मों को राष्ट्रीयकृत करने, औद्योगिक पूँजीवादी वर्ग को सस्ते निवेश मुहैया कराने में परिणिति हुई। संक्षिप्त में, इन्दिरा गांधी तथा बाद में राजीव गांधी की अपनी नीतियों का एक जैसा शासन था। राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण, नामांकन की राजनीति, राजतंत्र का बाज़ारीकरण–ये सब 1980 से 1990 के बीच की अवधि के विशिष्ट लक्षण बने रहे। रोजगार उन्मुख कार्यक्रमों जैसे; **RLEGP, NREP** और **(IRDP)** के तहत बड़े पैमाने पर निधियों का आवंटन किया गया। दीपक नयर की सारगर्भित टिप्पणी है, नेहरू वाले भारत से भिन्न अब अर्थशास्त्र और लोकतांत्रिक राजनीति के बीच मुश्किल से ही कोई अन्तक्रिया हुई हो। धनबल और जनबल मतदाता ठेकदारों के वर्चस्व में मतदाता रणभूमि में पहुँच गया

था जैसा कि रजनी कोठारी ने कहा था। जिनके पास धन था वे ही चुनावी संघर्ष में जी पाए, क्योंकि सूटकेस राजनीति उस समय की व्यवस्था बन गई थी। जाति, प्रजाति और धर्म की भूमिका अब अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई थी क्योंकि उपनिवेशी गाथा के क्रम में पहचान राजनीति ने अपना दावा ठोक दिया था। उपनिवेशी राज्य पहला ऐसा राज्य था जिसने विभिन्न जाति और समुदायों को मान्यता दी तथा पृथक निर्वाचन मंडल की शुरुआत की।

1.4.8 भारत में राजनीतिक लोकतंत्रा और आर्थिक विकास 1990 के दशक में और उससे आगे

1991 से पूर्व भारत विकास की अपनी रणनीति और अपने लोकतंत्र के स्वरूप को विकसित करने में एक रूपता की ग़ैर मौजूदगी का साक्षी रहा है। नेहरू के राजनीतिक नेतृत्व की दीर्घकालिक सोच का स्थान अल्पकालिक रणनीतियों ने ले लिया था जैसा कि उदारीकरण की नई आर्थिक नीतियों का अपनाया जाना और अधिकृत करने की उद्‌गामी राजनीति अर्थव्यवस्था और राज्यतंत्र दो विपरीत दिशाओं में ले जाते प्रतीत होते हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संघर्ष समाधान के लिए मध्यस्थता करने में भारतीय राज्य की अनिच्छा है।

इस मोड़ पर एक अल्प आर्थिक संकट जब दशकों की गरीबी के बाद, मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रतिदर्श अक्षुण्ण बना रहा, के तुरन्त बाद विकास नियोजन प्रतिदर्श से आर्थिक उदारीकरण प्रतिदर्श को पूर्ण युगान्तरण के कारणों पर चर्चा करना सुसंगत होगा। और तब, नरसिंहाराव की अल्पमत सरकार किस प्रकार दूरगामी नीति में परिवर्तन कर पाई जब कि उससे पहले पूर्ण बहुमत वाली राजीव गाँधी की कांग्रेसी शासन जैसी पूर्ववर्त्ती सरकारें स्पष्ट इच्छा के बावजूद वैसा करने में अक्षम रहीं।

इसका संभव उत्तर संकट प्रबंधन की तत्काल आर्थिक बाध्यता के रूप में हो सकता है। राजनीतिक अर्थशास्त्रियों जैसे जयति घोष, प्रणव वर्द्धन, अमित भादुड़ी, और दीपक अय्यर ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय संघटकों के संयोजन का हवाला दिया है जो स्पष्ट करता है कि युगान्तर संकट–प्रेरित था तथा यह आर्थिक नीतियों में रणनीति–प्रेरित परिवर्तन नहीं था। इन घटकों में भूतपूर्व सोवियत यूनियन तथा पूर्वी यूरोपियन देशों जो भारत के सबसे बड़े व्यापारिक भागीदार थे, में साम्यवादी राज्य शामिल थे। विदेशी ऋण संकट पैदा हुआ क्योंकि राजीव गांधी सरकार द्वारा लिए गए अल्पकालिक ऋण निर्यात के लिए पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्र की विफलता के कारण, वापस नहीं किया जा सके। खाड़ी युद्ध के परिणामस्वरूप तेल की कीमतों में वृद्धि होने से खाड़ी के प्रवासियों से सम्प्रेषण कम हो गए। अप्रवासी भारतीयों द्वारा विनिमय बाज़ार से अपनी पूँजी हटा ली गई क्योंकि उन्होंने मंडल और मंदिर विवाद के परिणामस्वरूप भारतीय राज्य में सामाजिक और राजनीतिक सजीवता में विश्वास खो दिया था। मध्य वर्ग के उत्थान से उपभोक्तावाद में वृद्धि, रक्षा आयात में वृद्धि, अपर्याप्त संसाधन गतिशीलता, जनअधि ाकारवाद के प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति तत्काल घटकों में से कुछ घटक थे। और तब राजीव गांधी सरकार की उदारवादी नीतियों के तहत प्रगामी तौर पर प्रत्यक्ष करों में कमी की गई जबकि अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि नहीं की जा सकी।

अन्तरराष्ट्रीय घटकों में अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक संस्थानों जैसे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा निधि और विश्व बैंक द्वारा उपरोक्त अधिरोपित प्रतिबन्ध शामिल थे। दक्षिण एशियाई देशों की सफल कहानी के साथ लैटिन अमेरिकी और उप–सहारा अफ्रीकी देश भी अच्छे शासन' के राजीव प्रतिदर्श के रूप में नये–उदारवाद के आने के प्रभाव में आड़े आए। यह तर्क दिया गया था कि आर्थिक विकास और आर्थिक दक्षता राज्य की भूमिका में कमी करके प्राप्त किये जा सकते थे। वित्तीय अनुशासन, विदेशी पूँजी तक पहुँच तथा विदेशी प्रौद्योगिकी अन्य घटक थे जिसके कारण राज्य के नेतृत्व वाला पूँजीवाद बाज़ार प्रेरित पूँजीवाद में रूपान्तरित हो गया।

क्या भारत में आर्थिक सुधारों का कोई भविष्य है? भारत में लोकतंत्र और विकास लिए इसके क्या प्रभाव है? यह सुस्पष्ट है कि बार–बार होने वाले चुनावों के विद्यमान गठबंधन युग में राजनीतिक अस्थिरता से अल्पकालिक हित प्रेरित राजनीति के प्रचलन में होने का पता चलता है। अर्थव्यवस्था की स्थिरता के लिए कठोर उपाय करने तथा चुनावों में प्रतिकूल निर्वाचन क्षेत्र अंग में चुनाव जीतने वाले लोकप्रिय समर्थन का जोखिम लेने की बजाए जनाधिकारवादी उपायों का बने रहना विशेष रूप से राज्य स्तर पर नीति निर्माण में प्रबल घटक बन चुके हैं क्योंकि एक मुख्य मंत्री का औसत कार्यकाल 3 वर्ष से कम है। इस प्रकार शुरुआती दौर का दीर्घकालिक पहलू मौजूद नहीं है। लोकतांत्रिक राजनीति के अनुसार भी सामंजस्य समाप्त हो चुका है। भ्रष्ट और अक्षम राज्य स्तर की नौकरशाही सुधारों को लागू करने में अक्षम बनी रहती है। संरक्षण, भ्रष्टाचार और भाई–भतीजा वाद निरन्तर जारी है। निवेश का स्वरूप चाहे विदेशी हो अथवा घरेलू संदेह हुआ बना रहता है क्योंकि अधिकांश निवेश उपभोक्ता क्षेत्र में है और प्राथमिक अथवा पूँजीगत माल क्षेत्रों में नहीं है। अधिकांश निवेश जैसा कि प्रभात पटनायक ने तर्क दिया है, तुरन्त प्रतिफल की चाह वाले 'गर्मधन' के रूप में है। गंभीर राज्य–गरीब राज्य लक्षण भी भारतीय संघीय लोकतंत्र के लिए चुनौती प्रस्तुत कर रहा है क्योंकि अमीर राज्य, अपनी विकसित आर्थिक अवसंरचना के कारण चुम्बकों की तरह कार्य कर रहे हैं जबकि गरीब राज्यों से केन्द्रीय सहायता के बिना स्वंय सहायता के लिए कहा जा रहा है। क्षेत्रवाद उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद की उपशाखा के रूप में उत्थान पर है जिससे क्षेत्रीय असंतुलन बढ़ रहा है। आरंभ में राज्यों के पुनर्गठन का आधार प्रजातीय–सांस्कृतिक पहचान थी परन्तु अधिक विकास और

लोकतंत्रीकरण की आवश्यकता प्रथक राज्य के लिए मांग का आधार बन रही है जैसा कि उत्तराचंल, छत्तीसगढ़ और झारखंड के सृजन के लिए आन्दोलनों के मामले में था। भाषाई समुदाय भी समूहगान में शामिल हो रहे हैं जैसा कि उत्तर प्रदेश में बुन्देलखंड और रूहेलखंड के लिए मांग के मामले में हुआ था। नई आर्थिक व्यवस्था में, इन मांगों का संवेग बढ़ने की संभावना है।

सामाजिक क्षेत्र से राज्य की वापसी गरीब जनता पर निशाना साध रही है क्योंकि कल्याणवाद की सम्पूर्ण धारणा पर प्रश्न चिन्ह लग गया है। वित्तीय अनुशासन के नाम पर रोजगार स्वास्थ्य और शिक्षा के प्राथमिक क्षेत्रों में राज्य का निवेश डगमगा रहा है। माँग आपूर्त्ति और अधिकतम लाभ वाले बाज़ार नियमों से प्रेरित नई आर्थिक नीतियाँ मुश्किल से विशेषतया अनौपचारिक क्षेत्र में नियोजित श्रम बल से सम्बद्ध हैं। प्रतिस्पर्धात्मक संघीय राज्य भी श्रमिक अधिकारों की अनदेखी करते दिखाई देते हैं क्योंकि वे निजी निवेश की तलाश में रहते हैं।

आर्थिक सुधारों की राजनीतिक सफलता के लिए अन्य चुनौतियां हैं। गान्धीवादी मूल्यों जो आज भी जन समुदाय पर प्रभाव रखता हैं, का बाज़ार अर्थव्यवस्था के मुकाबले विरोध किया जाता है क्योंकि वे व्यष्टिगत हितों की बजाए समूहों के हितों पर जोर देते हैं। नए राजनीतिक प्रतिष्ठान द्वारा आर्थिक सुधारों का विरोध, जन अधिकारवादी राजनीति से हटकर नीति निर्माण करने में विफलता, केन्द्र–राज्य के संघर्षपूर्ण सम्बन्ध, राज्यों के बीच प्रतिद्वन्द्वता अन्य बाधाएँ हैं। इस प्रकार उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण की प्रक्रियाओं के आधार पर विकास की विद्यमान नई उदारवादी परियोजना पर स्थायी विकास की रणनीति तथा नए सामाजिक आन्दोलनों के उन वकीलों द्वारा प्रश्न चिन्ह बना दिया गया है जो बहुमत का गठन करने वाले अन्य लोगों की कीमत पर कुछ सामाजिक समूहों की समृद्धि की औचित्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाते रहते हैं।

1.4.9 सारांश

सामाजिक रूपान्तरण की उपरोक्त परियोजनाएँ सहभागी लोकतांत्रिक प्रक्रिया की तुलना में स्वैच्छिक विधान से उद्भूत हुई। तथापि, वे एकमत बातचीत का उत्पाद थीं तथा उपनिवेश विरोधी आन्दोलन के दौरान विकसित हुई थीं। उन्हें लोकतांत्रिक राजतन्त्र की संरचना में यथार्थ रूप देना था। लोकतंत्र के विचार से कल्याण, निरपेक्षवाद और विकास के क्षेत्रों में राज्य की पहल के साथ सूचना, प्रेरणा और सक्षमता की उम्मीद की जाती है।

जैसी ऊपर चर्चा की जा चुकी है, बहुवाद और सहनशीलता के परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों ने भारत में लोकतंत्र निर्माण के काम को स्थायी रूप दिया। विविधताओं की मान्यता और उनकी चिन्ताओं का समायोजन राष्ट्र निर्माण की संवैधानिक परियोजना के विशिष्ट पहचान थे जिनमें विकास प्राप्त करने का मेहराबदार उद्देश्य अन्तर्ग्रस्त था।

तथापि, भारतीय लोकतंत्र के समक्ष चुनौतियां अभी भी दुर्जेय हैं। जाति और धर्म की पहचान से लोकतांत्रिक विचार का रुझान अपने निजी प्रयोजनार्थ होने लगा है। यह इस तथ्य के बावजूद है कि सामाजिक सुधारों और सांविधिक कानून से जाति और सामाजिक व्यवस्था के कष्टकारी बन्धन समाप्त हुए है और विगत की तरह राज्य को बेकार सिद्ध करने की स्थिति में नहीं है। चूंकि भारतीय लोकतंत्र का सामाजिक एजेण्डा आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के कारण कमजोर होता है, अत्यधिक न्यायवादी साम्प्रदायिक बलों से भारतीय लोकतंत्र के बहुवादी स्वरूप की चुनौती प्रबलरूप से बहुसंख्यकवादी अर्थों में लोकतंत्र को पुनः परिभाषित करने की मांग के रूप में सामने आ रही है। मानव अधिकारों, लिंग अधिकारों, पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यक अधिकारों, पर्यावरण से सम्बन्धित मुद्दों को उठाने वाले नये सामाजिक आन्दोलनों के उफान के रहते हुए भारत में असैनिक समाज अधिकाधिक गहन संघर्ष का नजारा बन रहा है जिसमें सामाजिक समूह अन्तर्ग्रस्त हैं। अल्पसंख्यक समुदायों के लिए सांस्कृतिक अधिकारों के प्रति लौहसदृश वचनबद्धता, लैंगिक न्याय के सिद्धान्त और समान नागरिकता संवैधानिक रूप से अभिनिश्चित अधिकारों के आड़े आ रही है जैसा कि समान सिविल संहिता के ऊपर गर्मागर्म बहस से प्रकट होता है (देखें शाह बानो प्रकरण, 1986 और 2003 में हाल ही में किए गए उच्चतम न्यायलय के निर्णय) चुनावी राजनीति से वास्तव में पहचानें बनी हैं जिससे वे शक्ति सम्पन्न हुई है परन्तु तब प्रक्रिया प्रतिस्पर्धा के मुकाबले अधिक संघर्षमय हो गई है। इसीलिए राजनीति में आने वाले नये लोग स्वयं को उदारवादी व्यष्टियों की तुलना में समूहों और समुदायों का सदस्य मानते हैं। जहाँ तक लोकतंत्र और विकास के बीच अन्तरपृष्ठ का सम्बन्ध है अधिक समान समाज के सृजन की चुनौती दुर्जेय रहती है क्योंकि आर्थिक विषमताएं भूमंडलीकरण के युग में बढ़ती जा रही हैं। देखें विश्व व्यापार संगठन क्षेत्र से बाहरी दबाव, व्यापार, पर्यावरण विनिमयन और बौद्धिक सम्पदा जैसे मामलों में विधिगत भूमंडलीय राज्य की आवश्यकता और अच्छे शासन के लिए भूमंडलीय मानकों की स्थापना।

उपसंहार के लिए उदारीकरण का अर्थशास्त्र और शक्ति सम्पन्नता की राजनीति समसामायिक भारत में विपरीत दिशाओं में जा रहे हैं। विगत की तरह मध्यस्थ की भूमिका निभाने के लिए भारतीय राज्य की इच्छा और योग्यता सामान्यतः वहाँ नहीं हैं। ऐसी स्थिति में असैनिक समाज और उसके नागरिकों की भूमिका पर जोर देने के लिए निर्णायक आवश्यकता हैं। आम वस्तुओं और अधिकारों की राजनीति के लिए यह अत्यावश्यक हो जाता है कि भारतीय राज्य को चुनिन्दा भूमंडलीकरण की नीति अपनानी चाहिए जो भारतीय लोकतंत्र के बहुवादी स्वरूप को समृद्ध कर सके।

1.4.10 अभ्यास प्रश्नावली

18) भारत में चरण 1947–67 के दौरान राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास के उद्भव को संक्षिप्त में स्पष्ट करें।

19) 1967 से पूर्व के समय में राजनीति के क्षेत्र में रूपान्तरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करें।

20) समकालीन भारत में उदारीकरण का अर्थशास्त्र और शक्ति सम्पन्नता की राजनीति विरोधी दिशाओं में जा रही हैं, टिप्पणी करें।

21) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

1) उपनिवेशी काल के बाद के समाजों में लोकतंत्र और विकास

2) अच्छे शासन के रूप में लोकतंत्र

इकाई 1

अध्याय–5

असमानता : जाति और वर्ग

संरचना

1.5.1 उद्देश्य

1.5.2 प्रस्तावना

1.5.3 सामाजिक–असमानता की धारणा

1.5..4 भारत में जातीय असमानता का स्वरूप

1.5..5 जाति : उपनिवेशी आधुनिकता का आविष्कार अथवा ब्राह्मणवादी परम्पराओं की गाथा

1.5.6 भारत में वर्ग असमानता का स्वरूप

1.5.7 जाति और वर्ग शासन तंत्र के अन्तर्सम्बन्ध

1.5.8 सामाजिक असमानताएँ, विकास और सहभागिता राजनीति

1.5.9 सारांश

1.5.10 अभ्यास प्रश्नावली

1.5.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य सामाजिक असमानता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए भारत में जातीय असमानता की व्यख्या करना है। जाति और वर्ग का अन्तसंबंध भारतीय राजनीति को अत्यन्त प्रभावित करता है और राजनीतिक सहभगिता पर भी प्रभाव डालता है। भारतीय राजनीति में लोकतंत्र के विकास में जाति और वर्ग सकारात्मक व नकारात्मक भूमिका निभाते है यह स्पष्ट करना ही अध्याय का उद्देश्य है।

1.5.2 प्रस्तावना

भारत के संविधान में उल्लिखित प्रतिष्ठित नियम और सिद्धांतों के नियामक और लोकतांत्रिक स्तंभ भारत में उपनिवेशोत्तर राज्य की कार्यसूची में सामाजिक असमानताओं का उन्मूलन अथवा उन्हें न्यूनतम करना शामिल है। 'कल्याणकारी' राज्य का उद्देश्य 'दलितों' के ऊपर थोपी गई सदियों पुरानी अयोग्यताओं को कम करके जाति मुक्त आधुनिक समाज का निर्माण तथा शिक्षा और जॉब मार्केट विशेष रूप से राज्य नौकरशाही तथा वृहदाकार लोकक्षेत्र उपक्रमों में उनके लिए 'आरक्षण' व 'नियतांश ुनवजेंद्व' का प्रावधान करके उनकी स्थिति सुधारने का प्रयास करना था। भारत का संविधान राज्य से अपेक्षा करता है कि वह सभी नागरिकों के साथ उनके जन्म, लिंग और धार्मिक विश्वास की ओर ध्यान दिये बिना समान बर्ताव करे। तथापि, सिद्धांतों को लागू करना और सामाजिक भेदभाव को दूर करने का प्रयास सामाजिक गठन की जटिलताओं में उलझी हुई एक प्रक्रिया है। इसीलिए जाति, वर्ण और वर्ग के चुस्त पहलू अभी भी हमारे परिवार, आवासीय स्थलों और राजनीतिक संस्थाओं में व्याप्त हैं। इस इकाई में हमारा प्रयास सामाजिक असमानता के विभिन्न पहलुओं और भारत के उपनिवेशोत्तर राज्य में लोकतांत्रिक व्यवस्था और विकास की राजनीतिक व्यवस्था पर उनके प्रभाव पर चर्चा करना है।

1.5.3 सामाजिक–असमानता की धारणा

मानव समाज में उस सीमा तक बदलाव होते हैं जिस सीमा तक सामाजिक समूहों और व्यष्टियों की लाभ उठाने तक पहुँच में असमानता बनी रहती है। रूसो ने प्राकृतिक की लाभ उठाने तक पहुँच में असमानता बनी रहती है। रूसो ने प्राकृतिक और सामाजिक असमानता के बीच एक भिन्नता प्रस्तुत की। पहली स्थिति समाज के सदस्यों के बीच शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के असमान आबंटन से उभरती है। दूसरी स्थिति में, लोगों की धन अथवा आर्थिक संसाधनों, राजनीतिक सामर्थ्य और क्षमताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। विकास के स्तर और समाज के ढाँचागत स्वरूप से समाज के मात्र संसाधनों को ही प्रभावित नहीं करते हैं अपितु विभिन्न समूहों की इन संसाधनों तक पहुँच अलग–अलग होती है। सामाजिक समूहों की शक्तिशीलता भी अलग–अलग होती है तथा उसी प्रकार वे समाज से जुड़े हुए लाभ प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार, रूढ़िवादी परम्पराएँ, नियम, रीति रिवाज और कानून सर्वाधिक मानव समाजों में कतिपय समूहों और व्यवसायों की प्रतिष्ठा और प्रास्थिति को अधिक प्रभावित करते हैं। मानव वैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों और राजनीतिविदों द्वारा सामाजिक असमानता के वर्णन और अभिव्यक्ति के लिए कुलीन तंत्र, स्तरीकरण वर्ग विभाजन प्रयुक्त की गई धारणाएँ हैं। मानव वैज्ञानिक आमतौर पर सामाजिक असमानता के संदर्भ में तीन प्रकार के समाजों की ओर इशारा करते हैं। इन्हें

समतावादी, ओहदेदार और वर्ग समाजों के रूप में वर्गीकृत किया गया है। समतावादी समाज समानता का व्यवहार करते हैं और किसी भी सामाजिक समूह को अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक संसाधन, शक्ति अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती। ओहदेदार समाजों में धन अथवा सत्ता तक पहुँच असमान नहीं होती अपितु उनके सामाजिक समूह होते हैं जिनको अधिक सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। एक साक्षरतापूर्ण प्रजातीय समाज में सामाजिक ओहदेदारी प्रमुखों अथवा उसके गठबंधनों के नियम पर निर्भर करती है। विषय वर्ग समाजों में आर्थिक संसाधनों सत्ता और प्रास्थिति तक पहुँच और हकदारी असमान होती है।

कई उद्योग पूर्व क्षेत्रिक समाजों सामाजिक अवसरों और प्रास्थिति तक पहुँच जन्म की घटना से अवधारित होती थी। व्यष्टि की आरोपित भूमिका अथवा प्रास्थिति उसके नियंत्रण से बाहर घटकों जैसे जन्म, लिंग, आयु सम्बन्ध, रिश्तों और जाति के आधार पर जाती थी। मध्ययुगीन यूरोप की सम्पदाएँ अथवा आदेश असमान ओहदों पर बँटे हुए थे और यह ओहदातंत्र समाज की धार्मिक–नियामक व्यवस्था द्वारा विधिक तौर पर मान्यता प्राप्त और अनुमोदित था। भारतीय जाति प्रथा सामाजिक राज्यतंत्र का एक अन्य रूप थी। व्यष्टि की पेशेवर अथवा रोज़गार सम्बन्धी भूमिका आधुनिक औद्योगिक और लोकतांत्रिक समाज में व्यष्टि के अपने प्रयास ओर योग्यता पर निर्भर होने लगी। इस नई प्राप्त भूमिका पर आधुनिकता के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में जोर दिया गया और इसे लोकतांत्रिक आदर्श के समतुल्य देखा गया। इसमें एक प्रदत्त स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रयास, रुचि और उचित प्रतिस्पर्धात्मक व्यवहार अंतर्ग्रस्त था। समाज में कुलीन तंत्र से स्तरीकरण के सिद्धांत का अंतरण हुआ। समाजशास्त्रियों के अनुसार, जाति अथवा सम्पदाओं अथवा सामाजिक असमानताओं पर आधारित समाजों में प्रचलित कुलीन तंत्र को प्राकृतिक मानते हुए विधिसम्मत कर दिया गया। दूसरी तरफ, स्तरीकरण आधुनिक औद्योगिक समाजों का लक्षण है जिसमें असमानताएँ बनी रहती हैं परन्तु उन्हें प्राकृतिक अथवा दैवीय व्यवस्था का अंग नहीं माना जाता। सामाजिक बदलाव की इस प्रक्रिया में, समानता न तो समाप्त हुई और न कम हुई बल्कि इसका रूप बदल गया। अब वर्ग सीमाएँ सरन्ध्र और पारगम्य हैं, व्यष्टि की गतिशीलता संभव है और समाज की नियामक व्यवस्था औपचारिक समानता पर आधारित थी। तथापि, औद्योगिक समाज का एक विशाल क्षेत्र अभी भी मौजूद है जहाँ भूमिकाएँ पुरुष अथवा स्त्री, काला अथवा गोरा आदि के आधार पर आबंटित की जाती है।

जी. डी. बैरेमन का सुझाव है कि व्यक्तियों के 'विभेदन' जो एक सार्वभौमिक और प्राकृतिक घटना है, से असमानता अथवा मतभेदों के सामाजिक मूल्यांकन का उद्‌भव होता है। वह असमानता की व्यावहारिक अभिव्यक्ति को 'वर्चस्व' का नाम देता है तथा असमानता और वर्चस्व के संयोजन को सामाजिक–समानता मानता है। समतावादी समाजों में वर्चस्व और प्रास्थिति प्रायः परक्राम्य तथा प्रसंग से सम्बन्धित होती हैं जबकि ओहदेदार और असमतावादी समाजों में, असमानता को नियम मान लिया जाता है। वह प्रास्थितियों

के कुलीनतंत्र में सन्निहित है तथा इसे योग्यता के व्यक्तिगत मतभेदों से नहीं जोड़ा गया है। मार्क्सवादी आमतौर पर आर्थिक स्थिति और आर्थिक हकदारी तक पहुँच द्वारा यथापरिभाषित वर्ग विभाजन से सम्बन्धित शक्ति और प्रास्थिति का वर्गीकरण चाहते हैं। तथापि, वेवेरियन युगान्तर में, प्रास्थिति और सत्ता पूरी तरह आर्थिक विभाजन द्वारा विनियंत्रित नहीं है अथवा इनका आर्थिक हकदारियों पर नियंत्रण नहीं है। तथापि शब्द स्तरीकरण हमें उस भूगर्भीय आकृति की याद दिलाता है जो एक प्रकार के लम्बवत् स्तरीकरण, सामाजिक समूह के प्रबन्धन, अधिक प्रवाहशील और विषमता वाले सामाजिक संगठन को विशेष महत्त्व देता है। संघटकों के कई समूह एक विशेष सामाजिक गठन को प्रभावित करते हैं तथा यह कभी भी स्तरों/पर्तों का सामान्य लम्बवत् अथवा कुलीन तंत्रीय प्रबन्धन नहीं होता जैसे भू–पटल। परेटो, मोस्का और माइकल जैसे राजनीतिक विचारकों ने सत्ता को समाज में वास्तविक ोत के रूप में प्राथमिकता दी। उनके अनुसार, सत्ता ऐसी योग्यता है जो लोगों से वह कराती है जिसे वे करना नहीं चाहते और प्रतिष्ठित समूह इस सत्ता का इस्तेमाल करते हैं क्योंकि एक कथित समाज के नियमों के भीतर वे सर्वश्रेष्ठ स्थिति में होते हैं। इसी प्रकार, फ्रेंच विद्वान् बुअरड्यू उन सामाजिक समूहों की पहचान के लिए जो केवल इस कारण समाज में अधिक प्रतिष्ठा और सम्मान पाते हैं क्योंकि उनके पास उनके व्यवहार और रुचि के अनुसार प्रतीकात्मक पूँजी होती है, प्रतीकात्मक पूँजी और उपाधि शब्द इस्तेमाल करते हैं। सामाजिक पूँजी की धारणा पर भी कुछ इसी प्रकार की अत्युक्तियाँ हैं। इससे यह पता चलता है कि कुछ समूहों के पास सामाजिक रिश्ते बनाने की अधिक क्षमता तथा दूसरे के साथ जुड़ने की अधिक योग्यता होती है। वे इस बात के सूचक हैं कि विशुद्ध आर्थिक और राजनीतिक कुलीनतंत्र की तुलना में प्रतिष्ठा, समाज और प्रास्थिति के मतभेद स्तरीकरण की कुछ व्यवस्थाओं में वर्चस्व भूमिका निभा रहे होते हैं।

1.5.4 भारत में जातीय असमानता का स्वरूप

जाति सर्वाधिक विवादग्रस्त मुद्दा है जिसने उन विद्वानों जो भारत में स्तरीकृत सामाजिक तंत्र की इस व्यवस्था का अध्ययन करने के इच्छुक हैं, को आकर्षित करता है और उनमें मतभेद पैदा करता है। इस मुद्दे पर अकादमी लेखन और राजनीतिक विवादास्पद लेखन का एक विशाल निकाय हैं। उपनिवेशवाद के प्रभाव और उसकी प्रशासनिक व्यवस्था के अधीन भारतीय समाज के रूपान्तरण पर मूलतः ये बहस का अंग हैं। कुछ लोग जाति सहित उननिवेश पूर्व सामाजिक संरचना की

निरन्तरता के लिए तर्क देते हैं। दूसरे लोग उपनिवेशी शासकों द्वारा लागू किए गए मौलिक गुणात्मक परिवर्तनों पर बल देते हैं।

जाति पर एक प्रसिद्ध पुस्तक 'होमो होमोहाइरारकीकस' के फ्रेंच विद्वान् और लेखक लुइस डुमंट ने जाति की एक मूलपाठ विषयक यथासूचित प्रतिभा का निष्पादन किया। इस प्रतिभा में, शुद्धता और प्रदूषण के दो विरोधाभासी धारणात्मक वर्ग जाति–प्रथा के मूल घटक हैं। डुमंट के अनुसार, जाति प्रथा के ये अपूर्व मूल सिद्धांत, सभी हिन्दु परिवारों के वेद विहित सूत्रीकरण और दैनिक जीवन में महसूस किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, ये मूल्य भारतीयों को सांस्कृतिक रूप से पाश्चात्य सभ्यता से अलग करते हैं तथा भारत को एक स्थिर, अपरिवर्तनीय, 'पूर्व देशीय' ब्राह्मणवादी मूल्यों का देश बनाते हैं।

जाति की इस धारणा को निकालस डर्क्स तथा अन्यों द्वारा चुनौती दी गई है। डुमंट की धारणा की आलोचना की गई थी क्योंकि यह परम्परागत भारतीय समाज के अन्दर भी सामाजिक परिवर्तन, गतिशीलता और व्यष्टिगत अभावों को समझाने में विफल रही। जेराल्ड बेरेमन का संकेत था कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के सिद्धांतों का सभी 'हिन्दुओं द्वारा समान रूप से अनुसरण नहीं किया गया था उसने डुयोन्सियन धारणा की भी आलोचना की कि सत्ता और आर्थिक घटक भिन्न हैं और जाति के उपोत्पाद हैं। अन्यों द्वारा भी बताया गया था कि जाति तंत्र कोई नियत तंत्र नहीं है अपितु यह संदर्भ–विशिष्ट और तरल है तथा विभिन्न जातियों से इसका संघर्ष बना रहता है। निकोल्स डर्क्स यह प्रदर्शित करने के लिए मानव जाति सम्बन्धी और मूल विषयक प्रभाव देता है कि ब्राह्मण और उनके मूलपाठ भारतीय जीवन के सामाजिक संरचना के केन्द्र में नहीं हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, सत्ता सम्बन्ध तथा मानव और संसाधनों के ऊपर नियंत्रण अधिक महत्त्वपूर्ण थे। परम्परागत भारत का जाति आधारित वेदसम्मत अथवा ब्राह्मणवादी नमूना, इस दृष्टिकोण के अनुसार, ब्रिटिश प्राच्यभाषाविदों और मानव जाति वैज्ञानिकों का एक आविष्कार था। तथापि, जाति ने भारतीय समाज सुधारकों और राष्ट्रवादियों के जाति बोध में एक निर्णायक भूमिका निभाई।

1.5.5 जाति : उपनिवेशी आधुनिकता का आविष्कार अथवा ब्राह्मणवादी परम्पराओं की गाथा

जैसा कि हमने ऊपर संकेत दिया है, दो विरोधी विचारधाराएँ जाति को भिन्न रूप में देखती हैं। कुछ के विचार से यह भारत की ब्राह्मणवादी परम्पराओं का एक अपरिवर्तन अवशेष है। इस विचार के अनुसार, ब्राह्मणवाद प्रमुख सभ्यता के मूल्य का द्योतक है और जाति इस मूल्य का केंद्रीय प्रतीक है। यह भारत की पूर्व–उपनिवेशी परम्पराओं की मूल अभिव्यक्ति है। इस विचार के प्रतिकूल, निकालस डर्क्स ने अपने कास्ट्स आफ माइण्ड (2001) में, तर्क दिया है कि जाति उपनिवेशी आधुनिकता का उत्पादन है। इससे उसका यह मतलब नहीं है कि जाति ब्रिटिश के आगमन से पहले विद्यमान नहीं थी। उसका एक सामान्य सा रुझान है कि ब्रिटिश शासन में सूचकांक थी। आरंभ में भारत में सामाजिक पहचान और समुदाय के विभिन्न रूप थे। अंग्रेजों ने सबको स्थानापन्न करके जाति का एकमात्र व्याख्यात्मक वर्ग बना दिया। यह उपनिवेशी राज्य था और इसके प्रशासकों ने जाति को एक एकरूप, सबको समाविष्ट करने वाला तथा सैद्धान्तिक तौर पर अविरोधी अंग बना दिया। उन्होंने जाति को सभी समस्याओं का एक उपाय तथा परम्पराओं का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक बनाया। उपनिवेशवाद से सांस्कृतिक स्वरूप और जाति जैसे सामाजिक नियमों का पुनर्गठन किया जिससे आधुनिक यूरोपियन और उपनिवेशित एशियाई प्रजाओं के रूप में उनके बीच मतभेदों और सीमा निर्धारण की रेखा खींची जा सके। दूसरे शब्दों में ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय 'परम्परा' की पहचान और पुनरुत्थान दोनों में निर्णायक भूमिका निभाई। उपनिवेशी आधुनिकता ने तथाकथित भारतीय परम्पराओं का मूल्य कम कर दिया। साथ–साथ इसने उनका रूपान्तरण भी किया। जाति को भारत में आत्मिक सार के रूप में पुनर्स्थापित किया गया जिसने निजी क्षेत्र का विनियमन किया और उसकी मध्यस्थता की।

जातिआरूढ़ भारतीय समाज यूरोपियन असैनिक समाज से भिन्न था क्योंकि जाति ने व्यष्टिवाद के मूलभूत दायरे तथा राष्ट्र की सामूहिक पहचान का विरोध किया। इस उपनिवेश पूर्व पहचान और वफादारी बोध का प्रमुख लक्षण उपनिवेशी आधुनिक प्रशासकों द्वारा शासन को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए आसानी से प्रयोग किया जा सकता था। अतः डर्क्स के अनुसार, यह भारत में उपनिवेशी शासन था जिसने जाति के संदर्भ में ''सामाजिक भेदभाव व श्रद्धा' को अकेले ही संगठित किया।

ब्राह्मणों और ब्राह्मणवादी व्यवस्था को नीचा दिखाने अथवा बर्खास्त करने के प्रयास सुपरिचित ऐतिहासिक अभिलेखों और समसामयिक भारतीय सामाजिक जीवन में भी जाति परिचय की दृढ़ता के अनुसार नहीं है। जाति बन्धन और नियम निश्चित रूप से उपनिवेशवाद से पहले की अवधियों में सार्वभौमिक प्रयोग में नहीं थे। जाति अपने विभिन्न प्रदर्शनों और स्वरूपों में एक अपरिवर्त्य हस्ती नहीं थी। तथापि, वेद, महाकाव्यों, मनुस्मृति और अन्य कर्मशास्त्रों, पुराणों तथा कर्मकाण्डी प्रथाओं, पेशवा शासकों को अपराधियों के आधार पर दंड देते थे, की दंड व्यवस्था से लेकर सभी कालों में ब्राह्मणवादी 'सुधारकों' के विरोधियों की निन्दा किए जाने तक प्रत्येक घटना उपनिवेशवाद से पूर्व के काल की गाथा की ओर इशारा करती है।

यह सत्य है कि उस समय ग़ैर–जाति संगठन और हस्तियाँ भी थीं जैसे उपनिवेशवाद से पूर्व के काल में वैवाहिक गठबंधनों, व्यापार, वाणिज्य और राज्य सेवाओं से जुड़ी हुई व्यवस्था के नेटवर्क। तथापि, जाति पहचान और प्रचलित सामाजिक रूपक की लाक्षणिक विशेषता भी थी।

जाति ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीयों को नीचा दिखाने अथवा अधीनस्थ बनाने के लिए मात्र अभिकल्पित ताना–बाना नहीं थी। इसने ब्राह्मणवादी 'निरंकुशता' की निन्दा करके उपनिवेशी हितों को पूरा किया, उपनिवेशी प्रशासन आसानी से उनके दलित लोगों को 'सभ्य बनाने' और उनका 'सुधार करने के लिए' अपने संकेतीकरण को न्यायोचित ठहरा सकता था। तथापि, जाति व्यवस्था को मजबूत करना अराजकता के प्रति एक विशाल कार्य के रूप में हो सकता था।

1.5.6 भारत में वर्ग असमानता का स्वरूप

वर्ग समाजों की समाज के स्तरीय में क्षैतिज विभाजन से पहचान होती हैं। मार्क्सवादियों के शब्दों में, वर्ग उत्पादन के साधन तक अपनी अन्तरआश्रयी पहुँच द्वारा परिभाषित होते हैं। अभिभावी वर्ग उत्पादन के साधन पर अपने नियंत्रण के माध्यम से अन्य वर्गों द्वारा पैदा किए 'फालतू' सामान का विनियोग/व्यय करते हैं और इस प्रकार उनका शोषण करते हैं। सामाजिक वर्गों की वास्तविक संरचना एक समाज से दूसरे समाज तक बदलती रहती है। भारतीय सामाजिक वर्गों का उत्थान और विकास सहज रूप से उपनिवेशवाद के मूल ढाँचे से जुड़ा हुआ था और उसके ऊपर इस संगठन की छाप थी।

शहरी क्षेत्रों में अभिभावी स्वामित्व वर्ग जिससे बनता है उसे उसके संयोजन में बाहुल्यता अथवा विजातीयता से अंकित किया गया है। वाणिज्यिक, औद्योगिक अथवा वित्तीय पूँजी के आधार पर सुस्पष्ट वर्गीकरण भारत के मामले में संभव नहीं है। भारतीय कारोबारी वर्ग जटिल अन्तर्ग्रथित कार्यों का प्रदर्शन करता है। उपनिवेशी शासन के अन्तर्गत एक कारोबारी आदमी आरंभ में छोटे निजी व्यापार, धन उधारी के काम में लगता था अथवा विदेशी ब्रिटिश राज्य के एजेण्ट के रूप में कार्य करते थे। ब्रिटिश पूँजीवादी और वाणिज्यिक विशाल संयुक्त उद्यम कम्पनियों, प्रबन्धन गृहों, बैंकिंग और बीमा तथा प्रमुख आयात–निर्यात करने वाली फर्मों के प्रतिनिधित्व में भारतीय अर्थव्यवस्था के उच्च स्तर पर नियंत्रण रखता था। बाधाओं और रुकावटों के बावजूद, भारतीय पूँजीवादी वर्ग धीरे–धीरे और स्थिर गति से आगे बढ़ा और उसने सफेदपोशों के 'सामूहिक एकाधिकार' का उल्लंघन किया। चूँकि, सभी संरचनात्मक बाधाओं के रहते हुए उपनिवेशवाद में भी निजी सम्पत्ति की सुरक्षा, संविदा की पवित्रता, बाज़ारोन्मुख विकास के लिए अपेक्षित मूलभूत विधिक संघटक अभिनिश्चित थे। विदेशी व्यापार और वाणिज्यीकरण ने पूँजी कमी को आसान कर दिया और उन क्षेत्रों के विकास को गतिशीलता प्रदान की जहाँ पर कच्चे माल की लागत कम थी जैसे कपड़ा, वस्त्र, चीनी, चमड़ा, सीमेंट, तम्बाकू और इस्पात। पारसी, मारवाड़ी, खोज, भाटिया और गुजराती व्यापारियों के कुछ समूहों ने यूरोपियन कम्पनियों के साथ सहयोग से लाभ कमाया और अपने संसाधनों को विनिर्माण क्षेत्रों में लगाया। इस भारतीय पूँजीवादी वर्ग ने विकास किया, कुछ सीमा तक विविधता प्राप्त की और 1940 के दशक तक महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की। 'लोक क्षेत्र' यूनिटों ने इस 'संरक्षित' वर्ग को अवस्थापना, अन्तवर्ती और पूँजीगत माल मुहैया कराया जबकि सार्वजनिक ऋण कम्पनियों ने इसके लिए वित्तपोषण के सस्ते साधन उपलब्ध कराए। बड़े–बड़े 20 औद्योगिक गृहों की परिसम्पत्तियाँ 1851 में 500 करोड़ रुपये से बढ़कर 1986 में 23,200 करोड़ की गई। यह राज्य द्वारा विकसित अवस्थापन प्रसुविधाओं से प्राप्त लाभ, कम मूल्य वाले ऊर्जा निवेश, सस्ता पूँजीगत माल तथा बड़े एकाधिकार वाले औद्योगिक घरानों द्वारा योजना के तहत इनको उपलब्ध कराये गए दीर्घावधि वित्त–पोषण का परिणाम था। दूसरी ओर, लगभग 70 प्रतिशत भारतीय लोग मात्र आजीविका स्तर पर गुजारा करते हैं और 7.66 करोड़ कृषिक मजदूर उस आय का मात्र एक दसवाँ हिस्सा अर्जित करते हैं जितना शहरों में संगठित क्षेत्र के कार्यकर्त्ता कमाते हैं। 1980 के दशक में बेरोज़गारी कुल कार्यरत जनसंख्या का 10 प्रतिशत थी। शहरी केन्द्रों में अधिकांश मजदूर असंगठित अनौपचारिक क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं : फेरी लगाने वालों, घरेलू नौकरों, द्वारपालों और पटरी विक्रेताओं की विशाल सेना एक प्रकार की प्रछन्न शहरी बेरोज़गारी की द्योतक है।

ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग–संगठन पर भी उपनिवेशवाद की छाप है। ग्रामीण अमीर लोगों का पुराना समूह, यद्यपि ब्रिटिश उपनिवेशवादी राज्य ने जिसे कमज़ोर बना दिया था मौजूद रहा। यह समूह जमींदारों के उस वर्ग में परिवर्तित हो गया जिन्होंने भूमि में सम्पत्ति के नए अधिकारों के साथ निवेश किया। यह विशेष रूप से स्थायी तौर पर आवासित बंगाल के जमींदारी क्षेत्रों और अवध के तालुकदारी क्षेत्रों के लिए सत्य था। यह वार्षिकीजीवी जमींदारों का वर्ग आमतौर पर उन जमींदारों और तालुकदारों के पहले विद्यमान समूहों से प्रकट हुआ था जो ब्रिटिश शासन से पहले राजस्व संग्रहण के अधिकार प्राप्त थे। वे अपने छोटे सीमांतक सभी–किसानों के ऊपर 'अतिरिक्त आर्थिक' संघीय शासन तंत्र कायम रखते थे। चूँकि कांग्रेस ने आजादी के बाद शनैः शनैः सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए सैन्यीकरण स्वरूप की बजाए नौकरशाही का पक्ष लिया, इन अर्द्धसंघीय क्षेत्रिक प्रभावशाली व्यक्तियों की शक्ति और विशेषाधिकार कुछ क्षेत्रों में अछूते रहे। इन वर्गों ने अब नई लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्रबन्ध किया। क्षेत्रीय सुधारों को पूरी तरह लागू करने में विफलता का तात्पर्य था कि नई राज्य व्यवस्था में सामाजिक तौर पर सीमांतक समूहों को संसाधनों की उपलब्धता तथा उनकी समष्टि तक पहुँच सीमित रही।

तथापि, धनी किसान गिनती के तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में सार्वजनिक महत्त्वपूर्ण स्वामित्व वाला वर्ग है। बंगाल के जमींदारी आवासित क्षेत्रों से बाहर क्षेत्रों में, उपनिवेशी राज्य ने प्रमुख पैदावारी समूह के साथ भू–राजस्व का निपटारा किया। इन समूहों से एक अमीर किसानों का वर्ग अस्तित्व में आया। उन्होंने उपनिवेशी अर्थव्यवस्था में बढ़ते हुए बाज़ार का लाभ उठाया और उनके पास पर्याप्त कृषियोग्य भूमि, पशु, आवश्यक उपकरण जैसे संसाधन थे तथा वे बेहतर तरीके से उधार ले सकते थे। वे साहूकारों पर भी कम निर्भर थे और वे स्वयं सूदखोरी करने लगे। पंजाब और ऊपरी दोआब के किसानों, तमिलनाडु में वैलाहों, दक्षिण गुजरात में कन्वी पट्टीदारों, कर्नाटक के लिंगायतों तथा आन्ध्रप्रदेश के कामा–रेडी किसानों से मिलकर इस समूह का गठन हुआ। उपनिवेशवाद के दौरान और आज़ादी के बाद किराया कानून से भूमिगत संसाधनों गैर–खेतिहर और दूरस्थ जमींदारों से उद्यमी समृद्ध किसानों को अंतरण की प्रक्रिया आरंभ हो गई। कुछ वार्षिकीजीवी जमींदारों के पुराने समूह ने स्वयं को भी इसी वर्ग में परिवर्तित कर लिया। इस वर्ग को राजनीतिक संरक्षण में वृद्धि हुई क्योंकि इसे कृषि उत्पादों को समर्थन मूल्य मुहैया कराने की राज्य की नीति और आर्थिक सहायता प्राप्त निवेशों जैसे पानी, बिजली, उवर्रक, डीजल, क्रेडिट एवं कृषि मशीनरी के उदारवादी प्रावधानों से प्रोत्साहन मिला। इस वर्ग की भूमि और अन्य कृषिक संसाधनों के स्वामित्व के कारण आसानी से पहचान की जा सकती है। 1970 के दशक में समृद्ध किसानों के 20 प्रतिशत परिवारों का ग्रामीण परिसम्पत्तियों जैसे भूमि, पशु भवन और उपकरण आदि के लगभग 63 प्रतिशत पर अधिकार था। ग्रामीण परिसम्पत्तियों पर इस असमानुपाती पहुँच से श्रमिक मजदूरों पर उनका नियंत्रण होता है जिसे इस वर्ग द्वारा काफी बड़ी संख्या में व्यापारयोग्य फालतू सामान पैदा करने के लिए प्रयोग किया जाता है। कृषिक मजदूर ऐसा दबदबे वाला समूह है जिनके पास छोटा–मोटा काम धंधा है अथवा जिन्हें नियमित रोज़गार की अभिनिश्चितता नहीं है और धनी किसानों के निग्रही वर्चस्व से प्रायः दबे रहते हैं।

भारत में नौकरशाही–प्रबन्धन कार्यों में चुनिन्दा लोगों का भी एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है क्योंकि भारत की आज़ादी के समय अपेक्षाकृत कमजोर पूँजीवादी वर्ग ऐसी स्थिति में नहीं था जो उत्कृष्ट रूप से विकसित प्रशासनिक राज्य उपस्कर को पूरी तरह अपने अधीन कर सके। गैर–बाज़ारी साधनों के विकास और संसाधन और आर्थिक संरक्षण के आबंटन में नियोजन के कारण भी नौकरशाही का विस्तार हुआ। उपनिवेशवाद के अनुवर्ती काल में इस वर्ग का विस्तार हुआ जिससे शिक्षा का प्रसार हुआ तथा पेशेवर और बाबूगीरी वाले कार्यों की आवश्यकता पड़ी जिनके लिए नई योग्यता और कुशलता की जरूरत थी। यह मध्यवर्गीय लोगों का मात्र एक सहायक वर्ग है क्योंकि लोक क्षेत्र पेशेवर और निजी पूँजी वाले लोगों के बीच हितों का संघर्ष है। ज्ञान, योग्यता, रुचियाँ और रिश्तों का जाल इस वर्ग के महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं।

1.5.7 जाति और वर्ग शासन तंत्रा के अन्तर्सम्बन्ध

जाति और वर्ग असमानता तथा कुलीनतंत्र की ओर इशारा करते हैं। तथापि दोनों मसलों में, संगठन के सिद्धांत अलग–अलग हैं। जाति के मुख्य लक्षण हैं : सगोत्रीय अथवा सजातीय विवाह, व्यवसायगत मतभेद तथा व्यवसायों का वंशानुगत विशिष्टीकरण, प्रदूषण की धारणा एवं धार्मिक व्यवस्था जिसमें सामान्यतः ब्राह्मण उत्कृष्ट स्थिति में हैं। दूसरी तरफ वर्ग व्यापक रूप से स्वामित्व के आर्थिक आधार अथवा उत्पादन के साधनों पर गैर–स्वामित्व का हवाला देते हैं। परन्तु जाति और वर्ग एक–दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हैं? वर्ग स्वामित्व के प्रकार और आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण तथा उत्पादन की प्रक्रियाएँ की जानी वाली सेवाओं के प्रकार के आधार पर उपवर्गों में बाँटे जाते हैं। जाति की ब्राह्मणवादी धार्मिक व्यवस्था भी सार्वभौमिक रूप से लागू नहीं है और न सब इसका समर्थन करते हैं। कई मामलों में, धार्मिक व्यवस्था मात्र प्रासंगिक है। उत्तर भारत में समृद्ध जाट बिना किसी समतुल्य धार्मिक प्रास्थिति के सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व का लाभ लेते हैं। अधिकांश लोकप्रिय जाति समर्पणों में, मात्र कुलीन तंत्र पर बल दिया जाता है और वह भी ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण के कारण। तथापि, कभी–कभी जाति एक निश्चित समुदाय के रूप में कार्य करती है तथा समाज के अन्य वर्गों से कोई धार्मिक सम्बन्ध नहीं रखती। हमारे धारणागत वर्ग हमेशा विद्यमान सामाजिक वास्तविकता को पुनर्ग्रहण नहीं करते। उदाहरण के तौर पर, खेतिहर और कृषिक मजदूरों के बीच एक धारणागत अंतर बना रहता है। तथापि, वास्तविक जीवन में, अतिव्याप्त स्थिति बनी रहती है तथा वे निश्चित हस्तियों का गठन नहीं करती हैं। वार्षिकीजीवी जमींदारों और खेतिहर–मालिक वर्गों के बीच समान अतिव्याप्ति पाई जाती हैं। यह तस्वीर उस समय धुंधली हो जाती है जब हम जाति–वर्ग विरूपण की बात करते हैं।

जाति और वर्ग कतिपय मामलों में समान तथा कुछ अन्य मामलों में एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। जातियाँ प्रास्थिति समूहों और समुदायों का गठन करती हैं जो सम्पत्ति, व्यवसाय और जीवनशैली के स्वामित्व के संदर्भ में परिभाषित किए जा सकते हैं। सामाजिक सम्मान इस संवृत्त व्यवस्था में धार्मिक अनुष्ठान मूल्यों से निकट से जुड़ा होता है। वर्ग स्थिति भी सामाजिक सम्मान से जुड़ी होती है तथापि, वे उत्पादन के साधनों के स्वामित्व अपना गैर–स्वामित्व के संदर्भ में अधिक परिभाषित हैं। वर्ग अपेक्षाकृत अधिक मुक्त तथा सरल होते हैं और उनमें व्यष्टि के ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता की अधिक गुंजाइश होती है। जाति प्रथा में मात्र एक पूरा वर्ग ऊर्ध्वमुखी गति कर सकता है और इस प्रकार, गतिशीलता अपेक्षाकृत कम है।

यद्यपि जाति और वर्ग व्यवस्था के बीच काफी विविधिता है, वर्ग व्यवस्था में उच्च और निम्न वर्ग जाति संरचना में व्यापक रूप से समाहित हैं। उच्च जाति का उत्पादन के साधनों (ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि) पर अधिकार होता है और वे वार्षिकीजीवी की तरह कार्य करते हैं। भूमिहीन कृषिक श्रमजीवी निम्नजातियों और दलितों से मेल खाते हैं जो वार्षिकीजीवी उच्च जाति के लोगों और अनावर्ती स्तर के धनी समृद्ध किसानों को श्रम सेवा मुहैया कराते हैं। अन्तरवर्ती स्तर पर वर्ग पहचान की सुस्पष्टता अधिक जटिल है। समुदायों के विभेदन की प्रक्रिया जाति संरचना से वर्ग सम्बन्धों को अलग करती है। यदि जाति और वर्ग उत्कृष्ट और निम्न स्थिति पर अतिव्याप्त होते हैं तथा कुछ मामलों में लगभग एक ही बिन्दु पर मिलते हुए प्रतीत होते हैं, वहाँ जाति व्यवस्था के अन्तरवर्ती स्तर पर यह तस्वीर बिल्कुल अस्पष्ट है। इसी प्रकार, आधुनिकीकरण, विशेष रूप से शहरीकरण शिक्षा प्राप्ति की प्रक्रियाएँ और नई योग्यताएँ विस्थापन बलों के रूप में कार्य करती हैं जिससे सामाजिक जड़त्व के बलों में सुराग बनता है और जाति की दृढ़ता में आशोधन होता है।

1.5.8 सामाजिक असमानताएँ, विकास और सहभागिता राजनीति

यदि सामाजिक असमानताएँ अत्यधिक गहराई तक से विद्यमान हो तब वे एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में विकास प्रक्रिया और समाज के अभावग्रस्त वर्ग की सहभागिता को कैसे प्रभावित करती है। इस मूल प्रश्न का उत्तर कई तरीके से दिया गया है। कोठारी ने जाति का राजनीति में तथा राजनीति का जाति में दखलंदाजी का विश्लेषण करते समय, आजादी के बाद राजनीति आधुनिकीकरण की प्रगति को तीन स्थितियों में बाँटा है। पहली स्थिति में उसका कहना है कि राजनीतिक सत्ता संघर्ष समृद्ध और उदीयमान जातियों तक सीमित था। दूसरे चरण में, निम्न जातियों में गतिशीलता आई है तथा वे स्वयं राजनीतिक क्षेत्र में पहुँच रहे हैं। उसके शब्दों में, ''राजनीति जाति से प्रभावित नहीं है बल्कि जाति का राजनीतिकरण हो रहा है। उपनिवेश के बाद भारत में मताधिकार का विस्तार होने के बाद, प्रत्येक सामाजिक समूह और उप–समूह विकास प्रक्रिया में भाग लेने के लिए गतिशील हुआ है तथा राज्य नौकरशाही में जगह बनाने के लिए मुकाबले में है। इस प्रकार भारतीय राज्यतंत्र अभिभावी जातियों द्वारा नियंत्रित है। राजनीतिक दल भारत जैसे विकासशील समाज में विद्यमान विघटन को बढ़ावा दे रहे हैं। रिश्ते, जाति और समुदाय के आदिकालीन गठबंधनों की प्रमुखता असैनिक समाज की स्थापना में अड़चन डालने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। तथापि, गतिशीलता और राजनीतिक आधुनिकीकरण का कोई निश्चित क्रम नहीं है, विशेष रूप से निश्चित पथ के साथ–साथ कोई पूर्वनिर्धारित और बिना शर्त प्रगति कभी नहीं हुई है। ग्रामीण दूर दराज के इलाकों में जाति और समुदाय के बीच दरार तथा सगोत्रीय और विवाहजन्य सम्बन्ध के बीच जोड़–तोड़ पुनर्आबंटनीय भूमि सुधारों के कार्यान्वयन के प्रति कार्य करते हैं। धनी समृद्ध किसान विद्यमान सामाजिक संरचना का उपयोग चुनावी दंगल में बहुवर्गीय खेतिहरों की क्रियाशीलता बनाने तथा सीमांतक और छोटे किसानों को उनके अपने आर्थिक हितों जैसे कृषि उत्पादों के लिए कम कर ;जंगद्ध, अधिक मूल्य, बेहतर आर्थिक सहायता तथा सस्ती दर पर सुविधाएँ के लिए उन्हें गतिशील बनाने और सुसज्जित करने में करते हैं।

इस प्रकार, उपनिवेशवाद के उत्तरवर्ती भारतीय राज्य के समतावादी आदर्श के बावजूद अभी भी विभिन्न सामाजिक वर्गों और जातियों के बीच संसाधनों, सत्ता और हकदारी तक पहुँच समानुपात में नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च और निम्न जातियों के बीच रिश्ते जाति के सिद्धांतवाद से नियंत्रित होते हैं। एंड्रू बेटेली के अनुसार उपनिवेशवाद के उत्तरवर्ती भारतीय समाज में आधुनिक सेवा क्षेत्र के पेशेवरीकरण और विशिष्टीकरण ने औपचारिक शिक्षा, तकनीकी कुशलता और प्रशिक्षण की भूमिका में वृद्धि की है, 'परिवार', जाति नहीं, विशेषकर

शहरी क्षेत्रों में असमानता के सामाजिक रूप से पुनः प्रतिष्ठापन में निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं। तथापि, अभी भी यह विवाद का मुद्दा है कि क्या प्रति क्षेत्र में पेशेवर क्रियाकलापों की नौकरशाही में वृद्धि से सामाजिक गतिशीलता और अवसरों, प्रास्थितियों और सत्ता का असमान वितरण उस सामाजिक और राजनीतिक पद का अवनिर्धारण करते हैं जो व्यष्टियों को प्रतिष्ठित स्थिति, रैंक तथा शक्ति प्रदान करता है।

औपचारिक लोकतंत्र की स्थापना अपने आप में यह अभिनिश्चित नहीं करती है कि सभी नागरिक राजनीतिक प्रक्रियाओं में समान पहुँच और सहभागिता का लाभ ले सकेंगे। राजनीतिक विशेषाधिकार कई ग़ैर चयनित संस्थाओं, असैनिक नौकरशाही और विशेषकर पुलिस में प्रतिधारित और गहरे रंग में रंगे होते हैं। वे प्रबल स्वामित्व वाले वर्गों और ऊँची जाति वालों के हितों का संरक्षण करते हैं। नीची जातियाँ अपना वर्ग राजनीतिक प्रक्रियाओं अथवा राज्य की सामाजिक और आर्थिक नीतियों को आकार देने तथा उनका आकार बदलने में अभी पर्याप्त रूप से शक्ति सम्पन्न नहीं है। देहात में ऊँची जातियों के शक्तिशाली प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा शहरी क्षेत्रों में औद्योगिक और कारोबारी वर्गों के अमीर लोग राज्य व्यवस्था में लोकतंत्रीकरण से इंकार करने के लिए ग़ैर–चयनित संस्थाओं में अन्तर्निहित आधिकारिक धार का प्रयोग करते हैं। अपने अधिकारों का प्रत्यक्ष दावे और पिछड़ी हुई और अनुसूचित जातियों द्वारा क्षमताओं की गतिशीलता को धूर्त राजनेताओं द्वारा अपनी सत्ता और धन को बढ़ाने के लिए प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की गतिशीलता से समान विकास और सामाजिक सशक्तीकरण के कार्यक्रम को नया रूप देने की बजाए एक बिगड़ी हुई व्यवस्था और पूर्णतः भ्रष्ट और अदक्ष नौकरशाही के हितों को पूरा किया जाता है। अन्य संस्थागत व्यवधानों के अलावा, पर्याप्त लोकतांत्रिक अधिकारों को मंजूरी

देने तथा पुनःआबंटनीय न्याय की वचनबद्धता को निर्मुक्त करने में विफलता भारत में वर्ग और वर्ग आधारित असमानताओं में पिरोई हुई है। ड्रेज ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में अलाभकृत समूहों की स्कूल, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच के संदर्भ में अभावग्रस्तता के अनेक प्रकार के प्रमाण तथा जनसंख्या के सीमांतक वर्गों का राजनीतिक प्रक्रियाओं में प्रभावी सहभागिता से बहिष्कार देखे।

1.5.9 सारांश

भारत के उपनिवेशवाद के उत्तरवर्ती राज्य ने अपने शासन में समानता और सामाजिक न्याय के औपचारिक सिद्धांतों को स्वीकार किया। तथापि, अन्तरिक्ष में कोई सामाजिक अस्तित्व मौजूद नहीं है। हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था की कार्य प्रणाली जाति और वर्ग आधारित असमानताओं से गहन रूप से और अनुचित तरीकों से प्रभावित होती है। राज्य में विशेष रूप से ग़ैर–चयनित संस्थाओं जैसे न्यायपालिका, पुलिस और नौकरशाही जो उपनिवेशवाद काल से चली आ रही है, शक्तियों का समग्र संतुलन प्रमुख स्वामित्व वाले वर्गों और ऊँची जातियों के वर्चस्व तथा प्रभाव में है। राजनीतिक और लोक क्षेत्र ग़रीबों और नीची जातियों की शक्ति सम्पन्नता को बहुत कम गुंजाइश छोड़ते हैं। ग्रामीण ग़रीबों के प्रति हिंसा, विशेषकर नीची जातियों की औरतें और जगह–जगह फँसी हुई गन्दी बस्तियों की अस्वास्थ्यकर हालातों में जी रहे लोगों की पीड़ा सांख्यिकीय आँकड़ों की पकड़ में नहीं आ सकती है। जबकि अमीर और शक्तिशाली व्यक्ति विकास प्रक्रियाओं और राज्य द्वारा संसाधनों के आबंटन के विधिसम्मत और ग़ैर कानूनी फलों को प्राप्त करते हैं, अलाभग्रस्त वे लोग हैं जो अभावग्रस्तता तथा विभेदन दोनों के नंगेपन और सूक्ष्म स्वरूप से पीड़ित हैं।

1.5.10 अभ्यास प्रश्नावली

22) ओहदेदार समाज और वर्ग समाज में आप क्या अन्तर करेंगे?

23) क्या जाति उपनिवेशी आधुनिकता का आविष्कार थी अथवा भारतीय विगत की गाथा, स्पष्ट करें।

24) सामाजिक असमानता हमारे राज्य तंत्र तथा विकास नीतियों को किस प्रकार प्रभावित करती है?

अध्याय–6

विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

संरचना

1.6.1 उद्देश्य
1.6.2 प्रस्तावना
1.6.3 भूमंडलीय विभाजन
1.6.4 दरिद्रता : आय का तुलनात्मक अध्ययन
1.6.5 सार्वभौमिक सामाजिक वस्तुस्थिति : गलत विकास की अनिवार्यताएँ
1.6.6 विकास : राजनीतिक अर्थव्यवस्था की कार्यसूची
1.6.7 राजनीतिक अर्थव्यवस्था के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू : विकास के सिद्धांत
1.6.8 पूँजी संचयन : भूमिका और सीमाएँ
1.6.9 अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाह
1.6.10 राज्य की भूमिका
1.6.11 विकास के अर्थशास्त्र में प्रतिकारी क्रांति : उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण ;स्च्लळ्द्ध पैकेज
1.6.12 राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगम की रूपरेखा
1.6.13 सारांश
1.6.14 अभ्यास प्रश्नावली

1.6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य विकास की अर्थव्यवस्था और विकास की राजनीति के सिद्धान्तों के महत्वपूर्ण पहलुओं का उल्लेख करना है। विकास के अर्थशास्त्र में उदारीकरण, निजीकरण व वैश्वीकरण की भूमिका भी इस अध्याय से स्पष्ट की गई है। पूँजी संजयन की भूमिका और सीमाओं को स्पष्ट करना भी इस अध्याय का उद्देश्य है।

1.6.2 प्रस्तावना

भारत एक प्राचीन सभ्यता वाला और धनधान्य से पूर्ण उप महाद्वीपीय देश है जिसमें मानवता का लगभग छठा भाग निवास करता है। यहाँ अधिकांश लोग अत्यधिक दरिद्रता का जीवन बसर करते हैं यद्यपि इसका एक अल्पसंख्यक वर्ग ऐसा है जिसका जीवन स्तर विश्व के श्रेष्ठतम देशों जैसा है। यह एकमात्र कारण नहीं है जिसके लिए इसे एक अत्यधिक विषमताओं वाला देश कहा जाए। ग्रेट ब्रिटेन जो आधुनिक औद्योगिकीकरण का अग्रणी है और जिसका विश्व के इतिहास में एक लम्बी अवधि के लिए आधुनिकीकरण–उद्योगीकरण की प्रक्रिया पर वर्चस्व बना रहा, के हाथों राजनीतिक अधीनता के आधार पर उसकी उपनिवेशी सत्ता के तत्वावधान में घटित जिसे हम आमतौर पर आधुनिकता का नाम देते हैं के मुकाबले में भारत एक विविधताओं ओर बहुलताओं से भरा देश है। यद्यपि भारत ने अपने जन समुदाय, स्वतंत्रता के लिए लोकप्रिय संघर्ष के माध्यम से उपनिवेशी शासन से अपने को सफलतापूर्वक मुक्त कर लिया है तथापि यह अभी अपनी एक अरब से अधिक जनसंख्या के लिए जिन्हें पाने की अपेक्षा कर रहा है वे हैं : जीवन स्तर, इसके संसाधनों के अनुरूप प्रतिष्ठा और शक्ति सम्पन्नता, समृद्ध विरासत, उन उच्च मूल्य वाली लोकतांत्रिक व्यवस्था जिसे मानवता ने आज प्राप्त कर लिया है और समृद्ध मानवीय आचरण। यह अपने नागरिकों के लिए उसे प्राप्त करने के लिए एक श्रमसाध्य संघर्षरत है जो उनका प्राप्य है परन्तु उन्हें लम्बे समय से नहीं मिल पा रहा है तथा जो विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के लिए मौलिक चुनौती है। इतिहास गवाह है कि भारत किस प्रकार पिछड़ता रहा और लगातार विकासोन्मुख अंतर्ग्रथित विश्व में बहुमूल्य ऐतिहासिक अवसरों को खोता रहा। इसकी आन्तरिक प्रक्रियाएँ समय व्यतीत होते–होते दुष्प्रक्रियात्मक और प्रतिउत्पादक बन गई। भारत के विकास की आर्थिक व्यवस्था का भूमंडलीय ताकतों, प्रक्रियाओं तथा परिस्थितियों के संदर्भ में पुनरीक्षण और विश्लेषण करना पड़ेगा।

1.6.3 भूमंडलीय विभाजन

ग़रीबी, बेरोज़गारी, बीमारी, दरिद्रता, बार–बार पड़ने वाले अकाल, अपराध और व्यापक असमानताएँ खुले तौर पर दृश्यमान हैं परन्तु इनमें भारत सहित विशाल पृथ्वी के विभिन्न हिस्सों में अक्सर परिवर्तन होता रहता है। यद्यपि विश्व का कोई भाग

इन अपरिहार्य समस्याओं से पूर्णरूपेण मुक्त नहीं है, तदपि विश्व के दो–तिहाई अरब से अधिक मनुष्य अर्थात् विश्व का अधिकांश इस बीभत्स प्रारब्ध को व्यग्रता की सीमा तक भुगतते हैं। समृद्ध और उच्च आय वाले देशों में, ऐसे देश जो ;म्ब्क्द्ध के हिस्से हैं, उनकी औसत आयु बहुत अधिक होने के बावजूद, अत्यधिक ग़रीबी, बार–बार और प्रायः बढ़ने वाली बेरोज़गारी (प्रतिशतता की ऐसी सीमा जिसे और कम न किया जा सके), आय, धन, सामाजिक–आर्थिक प्रतिष्ठा की बढ़ती हुई असमानताएँ, अपितु सामाजिक असुरक्षा में वृद्धि और देशान्तर गमन और निराशाजनक स्थिति की अनियंत्रित समस्याएँ हैं। ये बहुत ही गंभीर है और इसे वस्तुतः भारत सहित सैकड़ों देशों के प्रमुख लक्षणों को परिभाषित करने में प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे देशों को प्रायः विभिन्न प्रकार जैसे अविकसित, विकासशील, कम विकसित, उद्योगीकरण वाला पिछड़ा अथवा अथवा तृतीय विश्व के देशों के रूप में जाना जाता है। सामान्यतः प्रतिव्यक्ति आय के आँकड़ों पर आधारित सरकारी विनिमय दर भ्रामक होती है और इसकी बेहतर तस्वीर क्रयशक्ति तुल्यता के प्राक्कलनों के आधार पर अन्तरराष्ट्रीय तुलनात्मक आँकड़ों द्वारा प्राप्त की जा सकती है। दोनों स्थितियों में, विश्व जनसंख्या का अधिकांश प्रतिदिन क्रमशः एक अमेरिकी डालर और दो अमेरिकी डालर से कम आय पर जीवन निर्वाह करता है अधिक आय वाले देश विश्व की सकल राष्ट्रीय आय का लगभग चार–पाँचवाँ भाग पैदा करते हैं, जबकि कम आयु वाले देश विश्व की सकल राष्ट्रीय आय (GNI) के 4 प्रतिशत से कम पैदा करने की स्थिति में होते हैं और मध्यम आय वाले देशों का हिस्सा कुल आय का लगभग 17 प्रतिशत है। यह उल्लेखनीय है कि अधिक आय वाले देशों की जनसंख्या लगभग 6 अरब की विश्व जनसंख्या का 15 प्रतिशत है। कुल मिलाकर दो–पाँचवाँ भाग से अधिक मनुष्य कम आयु वाले देशों में रहते हैं जबकि मध्यम आय वाले देश विश्व जनसंख्या के लगभग 45 प्रतिशत मनुष्यों को नागरिकता प्रदान करते हैं। समृद्ध देशों में ग़रीब, अपवंचित, विभेदीकृत और संतप्त व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक है। इसी प्रकार अधिक ग़रीब देशों में धनी, समृद्ध और धनधान्य से पूर्ण व्यक्ति भी कहीं–कहीं मौजूद हैं। जबकि ग़रीब और धनी देशों के अमीरों के बीच जीवन के अनुभव, मूल्य, विचार और आर्थिक–सामाजिक का अच्छा तालमेल है, दोनों तरह के देशों में ग़रीबों के बीच प्रतिस्पर्धात्मक सम्बन्ध और अनुभूतियों का कोई खास प्रमाण नहीं है।

भारत में अनियंत्रित रूप से व्याप्त विषमताओं के बारे में सांख्यिकीय आँकड़े प्राधिकृत रूप से उपलब्ध नहीं है। तथापि, इन प्रचलित विषमताओं के बारे में कुछ विचार भारत के बारे में कुछ सुविख्यात तथ्यों से एकत्र किए जा सकते हैं। एक तथ्य यह है कि जनसंख्या के लगभग दो–तिहाई हिस्से की जीविका का एक मात्र ोत कृषि बनी हुई है, ऐसी स्थिति है जो अत्यधिक सुदृढ़ है परन्तु कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों की निरपेक्ष संख्या अब उस संख्या का तीन गुना है जो स्वतंत्रता के समय कृषि पर निर्भर थी। परन्तु आधी शताब्दी से अधिक की इस अवधि में, सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का शेयर आज़ादी के समय कुल के तीन–चौथाई से घटकर इस समय एक चौथाई से भी कम रह गया है। इसी के साथ प्रति व्यक्ति निबल कृषि क्षेत्र सिकुड़कर 0०13 हेक्टेयर हो गया है जो 1947 वाले क्षेत्र का मुश्किल से एक तिहाई है। उस समय भूदान आन्दोलन और भूमि के पुनर्वितरण के विधिक–प्रशासनिक प्रयास के बावजूद वस्तुतः भूमि धारण इस सीमा तक बढ़ गया है कि व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि भूमि धारकों का उत्कृष्ट 20 प्रतिशत मोटेतौर पर उपजाऊ क्षेत्र के 80 प्रतिशत पर नियंत्रण बनाए हुए हैं। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कुछ उत्पादकता अभिलाभों के बावजूद खेतिहरों की अधिकांश की तुलनात्मक स्थिति बदतर हो चुकी है। इनमें 80 प्रतिशत छोटे और सीमांतक किसान हैं जिनके पास भूमि के छोटे–छोटे निर्जीव प्लॉट हैं तथा अन्य पूरक संसाधनों तक उनकी पहुँच अपर्याप्त और सीमित है। उन भूमिहीन कृषि मजदूरों की स्थिति आय की दृष्टि से ख़राब है जिनका अधिकांश उन सामाजिक रूप से और आर्थिक रूप से बदतर तथा विभेदीकृत और प्रजातीय समुदायों से जुड़ा हुआ है जो भारत के अत्यधिक विभेदित और सामाजिक रूप से बिखरे हुए लोगों का निकृष्टतम रूप है। ऐसे लोग जो ग्रामीण आबादी के एक तिहाई से थोड़ा कम हैं, लाभप्रद और उत्पादक कार्य की अपर्याप्तता और अनिश्चित उपलब्धतता से आय की असुरक्षा का शिकार होते हैं और सर्वाधिक अनिवार्य सामाजिक–आर्थिक मूलभूत सुविधाओं और सेवाओं से वंचित रहते हैं जैसे उनके सिरों के ऊपर सही सलामत छत, पेयजल, साक्षरता, स्वास्थ्य सुविधाएँ, चिकित्सा सुविधाओं तक पहुँच विद्युत और भोजन सुरक्षा का न होना। इसके प्रतिकूल, एक अल्पसंख्यक वर्ग जो अन्तरराष्ट्रीय स्तर के धन और विलासिताओं का मजा ले रहे हैं, आवश्यकता और सांख्यिकीय आँकड़ों से भलीभाँति परिचित हैं। किसी भी हालत में अत्यधिक भ्रामक धारणा के आधार पर भी सरकारी आँकड़ों के अनुसार ग़रीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या 2 करोड़ है तथा साक्षरता का स्तर उन उप–सहारा अफ़्रीकी देशों से भी कम है जो विश्व के न्यूनतम विकसित देशों में गिने जाते हैं। उपरोक्त के दृष्टिगत, यह प्रश्न करना तर्कसंगत है कि समय, देश और विभिन्न सामाजिक–आर्थिक समूहों से परे आय की तुलना कितनी अर्थपूर्ण है?

1.6.4 दरिद्रता : आय का तुलनात्मक अध्ययन

प्राक्कलित आय के स्तर और विभेदन लोगों के अस्तित्व की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों का पूरा परिचय नहीं देते। इसके बहुत से कारण हैं। एक कारण यह है कि आय बाज़ार केन्द्रस्थ क्रियाकलापों से जुड़ी होती है। परन्तु अनेक निर्णयात्मक और महत्त्वपूर्ण क्रियाकलाप जिनमें भौतिक पहलुओं से जुड़े हुए और समृद्धि, सामाजिक भूमिका और प्रतिष्ठा को प्रभावित करने वाले क्रियाकलाप शामिल हैं, बाज़ार से इतर क्रियाकलाप हैं और उनमें परिवार, समुदाय, राज्य, असैनिक

समाज, संगठन आदि अन्तर्ग्रस्त होते हैं। इस बाज़ार से इतर क्रियाकलापों को आय के प्रवाह से कुछ लेना–देना नहीं होता। इस प्रकार, बाज़ार में हर कोई शामिल नहीं होता है, यह लोगों के ग़ैर–कार्यात्मक अन्यायपूर्ण मानदण्ड के आधार पर विभेदन करता है और अधिकांश लोगों को अलग–अलग समयान्तराल के लिए अपने परिसर में कार्य अथवा लेनदेन में सहभागी नहीं बनाता है। बहुत से उद्देश्यपरक और व्यक्तिपरक घटक बाज़ार के तर्क और कार्यचालन के लिए सौहार्दपूर्ण नहीं है। बाज़ार ये कइयों द्वारा इस प्रकार आय का प्रवाह बनाने के लिए बाज़ार प्रक्रियाएँ कुछ लोगों को दूसरों की कीमत पर लाभ पहुँचाती हैं। उदाहरण के लिए उत्पादन की प्रक्रिया में भूमि, जल, जंगल आदि जैसे प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग कुछ लोगों को बिना किसी अथवा अपर्याप्त प्रतिपूर्ति के उनकी जीविका से अपवंचित कर देता है। भारत में बहुउद्देश्यीय सिंचाई और जल विद्युत परियोजनाओं का मामला लीजिए। वे अक्सर ऐसे विशाल भूमिक्षेत्र को जलमग्न कर देते हैं जो जंगलों, विशेषकर पुरातन शैली के प्राकृतिक जंगलों से घिरा होता है। इन जलमग्न इलाकों के कारण हजारों जनजातियों, किसानों और अन्य ग़रीब लोगों का विस्थापन होता है जिससे उनकी केवल जीविका ही अस्त–व्यस्त नहीं होती परन्तु उनके रहन–सहन का पूरा ढर्रा ही बदल जाता है। जब कभी पुनर्वास प्रयास किए गए हैं, जो हमेशा नहीं होते, ये पूर्ण और युक्तियुक्त प्रतिपूर्ति से काफी कम होते हैं, उचित पुनर्वास और परियोजना से होने वाले लाभों में सहभागिता और अथवा किसी अन्य विकल्प का सवाल ही नहीं उठता। जबकि इन शरणार्थियों के इस प्रकार के विकास पर भारी खर्च होता है, परन्तु इसका लाभ लेने वाले मैदानी इलाके में रहने वाले वे लोग हैं जो सामान्यतः भारत का एक छोटा–सा संगठित संभ्रान्त लोगों और उनसे जुड़े हुए लोगों का समूह है। राष्ट्रीय आय के आँकड़े निश्चित रूप से इस प्रकार के असमानता प्रेरक 'विकास' से होने वाले भारी लाभ को दर्शाते हैं। यह लाभ उस छोटे वर्ग को उद्भूत होता है जो उन निर्धन लोगों को किसी प्रकार की प्रतिपूर्ति नहीं करते हैं जो राष्ट्रीय सकल उत्पाद के आँकड़ों में यथा प्रदर्शित इस प्रकार के विकास से यहाँ बदतर स्थिति में पहुँच जाते हैं। स्पष्टतः ये परियोजनाएँ सकल घरेलू उत्पाद और जनता के उन दुश्मनों की आय में वृद्धि करती हैं जो किसी भी राष्ट्रीय लेखाओं के आँकड़ों की पकड़ में नहीं आते। भारत ने गत पचास वर्षों में ऐसी दर्जनों परियोजनाएँ देखी हैं। इनसे उजड़े हुए लोग सामान्यतः निर्धनों की गिनती में आते हैं।

बाज़ार जनित आय पर उसकी गुप्त और ग़ैर–मौद्रिक लागत को छिपाती है। बाज़ार अत्यधिक सीमित और संक्षिप्त दृष्टिकोण अपनाते हैं, बाज़ार का दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण होता है। तदोपरान्त, बाज़ार प्रक्रियाओं में सहभागिता और इन प्रक्रियाओं से अलग होने की लागतें पूर्णरूपेण, सही और यथार्थ रूप से मूल्य और आय के आँकड़ों में शामिल नहीं होती। बाहरी अर्थव्यवस्थाओं और विषम अर्थव्यवस्थाओं के प्रभाव आय को अपूर्णसूचक बनाते हैं। कुल मिलाकर जंगलों के निरावरण, भूमि के अपक्षीणन, जलवायु के प्रदूषण द्वारा अधिरोपित इन भारी मूल्यों से कौन इंकार कर सकता है जिनसे विशुद्ध आधुनिक उद्योगीकरण को अपनाने वाला भारत जैसा देश भी लम्बी अवधि से त्रस्त है तथापि इसके सकल घरेलू उत्पाद में 20वीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों से वृद्धि होना शुरू हुई है। बहुत से ग़ैर–आर्थिक पहलू भी व्यष्टियों, समूहों और समाजों के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि वे विकास के सारतत्व हैं परन्तु बाज़ार मूलक आयजनित क्रियाकलापों के दायरे में नहीं आते हैं। अन्य विश्वों में, बाज़ार मूलक आय अपूर्ण, आंशिक और भ्रामक सूचक वाली होती है तथा कुछ अर्थों में आम समाज की समृद्धि के प्रतिकूल हो सकती हैं।

तब, राष्ट्रीय आय के जोड़ और औसत राष्ट्र को एक इकाई के रूप में लेते हैं, यद्यपि यह आन्तरिक गतिशीलता और विभेदन के बिना आन्तरिक रूप से एकमात्र अविभेदित हस्ती (काले संदूक की तरह) है। भारत जैसे देशों में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संसाधनों के ऊपर नियंत्रण, उन तक पहुँच और उनकी गुणवत्ता तथा प्रास्थिति और सत्ता के अर्थों में व्यापक आन्तरिक विभेदन होते हैं; उनके ऐतिहासिक अनुभव भी अनेक प्रकार की उथल–पुथल के द्योतक हैं। इन मतभेदों में भारत जैसे देश में उसके उपमहाद्वीपीय आकार के मद्देनजर एक क्षेत्रीय आयाम भी जोड़ा जा सकता है। तब, चाहे विभिन्न राष्ट्र पूर्णरूपेण अपूर्व न भी हों, राष्ट्रों के बीच मतभेदों से काफी सीमा तक समानताएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। भारत के बारे में प्रायः कहा जाता है कि यह एक नितांत विविधताओं वाला देश है, ऐसा देश जिसमें स्थायी सामान्यीकरण वह है जो वैध हो। इसलिए राष्ट्रों, उनके स्तर, प्रतिमान, गतिशीलता और आय के प्राथमिक आँकड़ों के आधार पर विकास के भविष्य की तुलना करना अत्यधिक भ्रामक हो सकता है। भारतीय राज्यों के बीच प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पाद अन्तरराज्यीय तुलना के लिए ठीक रहेगा। राष्ट्रीय और राज्य की आय के इस प्रकार के आँकड़ों की प्रत्यक्ष परिशुद्धता बहाना मात्र है क्योंकि इसकी संगणना कई अवास्तविक परिकल्पनाओं, सूचना के अशुद्ध ोतों और शासन विशेषकर विशाल असंगठित क्षेत्र वाले ग़रीब देशों में अंगूठाछाप शासन पर आधारित होती है। भारत के मामले में विशेष रूप से यह एक सच्चाई है क्योंकि यहाँ 92 प्रतिशत से अधिक श्रमबल अपनी जीविका ऐसे असंगठित क्षेत्र में कार्य करके अर्जित करता है जिसका योगदान भारत के सकल घरेलू उत्पाद के 70 प्रतिशत से कम है।

आय के प्रवाह उत्पादन (नियमित रूप से अथवा तदर्थ आधार पर) द्वारा पैदा किए जा सकते हैं अथवा हस्ताक्षर के द्वारा विनयमितता के अधिप्रमाणित उपाय वाले विभिन्न तरीकों से भी उलपब्ध कराए जा सकते हैं। परन्तु इस प्रक्रिया में आय का वितरण करने वालों का वर्चस्व बना रहता है तथा उसे प्राप्त करने वाले उनके नियंत्राधीन और अधीनस्थ रहते हैं। इसमें शक्तिहीनता और पराधीनता के असमान रिश्ते में आय अंतरण प्रापक अन्तर्ग्रस्त होते हैं जिससे वे मजबूरन स्पष्टतौर

पर हीनभावना के शिकार होते हैं। ऐसे सत्ता सम्बन्ध किसी भी समाज और राष्ट्रों के बीच भी निर्णायक होते हैं। ग्रामीण निर्धन अपने अभाव के स्तर में कोई सुधार क्यों नहीं कर पाए हैं यद्यपि गत पाँच दशकों में लाखों–करोड़ों रुपये प्रत्यक्ष तौर पर उनके कल्याण और विकास के लिए खर्च किए जा चुके हैं, का एक संभावित कारण यह है कि ये सभी ऊपर–नीचे के कार्यक्रम पैत्रिक पक्ष से जुड़े हुए हैं और हितकारी तथा हिताधिकारी के बीच एक तीव्र द्विविभाजन करते हैं। एक अन्य उदाहरण लें। 'सहायता' प्राप्त करने वाले देशों को 'दाता' देशों से नियमित, निरन्तर, संस्थागत, और औपचारिक आधार पर अपनी योजनाओं और नीतियों का अनुमोदन कराना पड़ता है। ऐसे राष्ट्र प्रत्यक्षतः छूट प्राप्त कर्जों को प्राप्त करने के लिए आसान विकल्प, प्रौद्योगिकी तक पहुँच आदि के लिए राष्ट्रीय संप्रभुता और हितों से समझौता करते हैं। परन्तु इस प्रक्रिया में विशेषतः उनके मुख्य राष्ट्रीय हितों का विनिमय होता है जो ''दाता'' की अनुमोदित योजनाओं, कार्यक्रमों और नीतियों में सहभागिता की स्थिति में नहीं होते हैं। वर्ष दर वर्ष भारत की उस तिरस्कृत स्थिति पर विचार कीजिए जब भारत शासकीय विकास सहायता के रूप में कुछ विकास सहायता जो भारत के विकास खर्च का एक अल्पांश मात्र होती है, मुहैया कराने के लिए अपनी वचनबद्धता के बदले में तथाकथित दाता देशों का अनुमोदन प्राप्त करने की दृष्टि से भारत सहायता क्लब के रूप में अपने उच्च स्तरीय कर्मचारियों को भेजता है। अपेक्षा कम ब्याज वाले इस प्रकार के कर्जे प्रायः ऐसी परियोजनाओं के लिए प्राप्त किए गए थे जिनसे किसी विदेशी मुद्रा की निकासी नहीं हुई और भारत के दीर्घकालिक भुगतान घाटे को पूरा करने हेतु लिये गए थे। मुद्दा यह है कि यद्यपि कुछ सीमा तक लाभप्रद अन्तरराष्ट्रीय आय की तुलनाएँ चाहे वह विद्यमान में हों अथवा लम्बी ऐतिहासिक अवधियों से जुड़ी हों, विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के आवश्यक प्रश्नों और समस्याओं को परिभाषित करने के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है।

तथापि, यह सार्वभौमिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विभाजन का मुख्य लक्षण है जो विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था को जटिल/संदिग्ध बना देता है। वस्तुतः एक देश के आन्तरिक मतभेद और असमानताएँ चिरस्थायी और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अन्तरराष्ट्रीय असमानताएँ चिरस्थायी और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अन्तरराष्ट्रीय असमानताओं से सम्बन्धित हैं और विकास प्रबन्धन का एक प्रमुख घटक हैं। तथापि, इन मुद्दों पर उचित रूप से चर्चा करने के लिए हमें विकास की चिरस्थायी लोकप्रियता और आय से जुड़े हुए मानदण्डों की सरकारी स्तर पर एकमात्र मान्यता की वैधता पर विचार करना पड़ेगा। निस्संदेह यह सच्चाई है कि वस्तुओं और सेवाओं की नियमित आपूर्ति के लिए आय का प्रवाह अथवा उस तक पहुँच आवश्यक है और उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता तथा सुनिश्चित करना पड़ता है। मूल मुद्दा है : क्या इस एकमात्र पूर्णतः महत्त्वपूर्ण विकास घटक को, प्रत्येक अतिरिक्त वस्तु के लिए, एक अनिवार्य पूर्वापेक्षा बनाया जा सकता है? इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण एकपक्षीय दृष्टिकोण के लिए उत्तरदायी आवश्यक घटक अर्थशास्त्र द्वारा लोकप्रियता के रूप में विकास के मुद्दों का यह एकाधिकरण प्रतीत होता है जो तकनीकी रूप से कठोर एवं प्रभावी उपशिष्य हैं जिसे विकास के अर्थशास्त्र के रूप में जाना जाता था विशेष रूप से जैसा यह समृद्ध देशों में विकसित हुआ। इस शिष्य को धनी देशों के प्रतिष्ठान तथा वस्तुतः उनके वर्चस्व वाले संयुक्त राष्ट्र संगठन द्वारा पर्याप्त रूप से आकार दिया गया और इसे विकसित किया गया जिनके लिए भारत सहित विश्व के अनेक हिस्सों से उन स्वतंत्र अकादमियों द्वारा उचित योगदान प्राप्त हुआ जिसके धनी देशों के आदर्शवादी, सांस्कृतिक और प्रौद्योगिकीय उपकरण से थोड़ा औपचारिक सम्बन्ध थे। यह ऐसा अभिगम है जो उनको स्थायित्व प्रदान करता है जो संसाधनों और संस्थाओं के ऊपर अपने वर्चस्व के कारण आय में वृद्धि की प्रक्रिया पर नियंत्रण रखते हैं और जनित्र आय के एक बेहतर हिस्से को अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं। इस प्रकार विद्यमान सत्ता केन्द्र और अर्थव्यवस्था के नियंत्रक आय में वृद्धि को विकास के सार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परिणामस्वरूप, विकास पर प्रत्यक्षतः तकनीकी आर्थिक परिप्रेक्ष्य में प्रमात्रित पहलुओं और वृहद् आर्थिक परिवर्तनों जैसे बचत, निवेश, सकल घरेलू उत्पाद, बाहरी संतुलन, सामान्य मूल्य स्तर, संघटकों की गतिशीलता आदि का विकास से जुड़े अकादमिक वार्तालाप, व्यावहारिक नीति निर्णयन और अन्तरराष्ट्रीय विकास क्रियाकलाप तथा 'सहयोग' पर वर्चस्व बना रहा।

प्राकृतिक तौर पर, यह अभ्यास मुख्यधारा वाले नव–प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र की एक प्रबल छाप पेश करता है जिसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, यह न्यायनिर्णयन, बढ़ती हुई शक्ति को स्थायित्व प्रदान करने और विद्यमान युक्तिसंगत वास्तविकता से अधिक सम्बद्ध है। अब तक सीमांतक और बहिष्कृत लोगों की भलाई के लिए यह अपना रूप बदलता रहता है। इस प्रकार यह राष्ट्रीय आय की वृद्धि से जुड़ा हुआ है तथा पहले धनी देशों द्वारा अपनाए गए प्रतिदर्शों को अपना रहा है। यह आधारभूत रूप से धनी, पहले उद्योगीकृत देशों में आधारित बड़े निगमों के नियंत्रणाधीन पूँजी संचयन की प्रक्रिया को आगे बढ़ा रहा है। उद्योगीकरण, प्रौद्योगिकीय नवीनताओं और पूँजी संचयन की प्रक्रियाओं ने धनी देशों (उत्तर) से एक लघु अल्पसंख्यक समुदाय की शक्ति, समृद्धि और सार्वजनिक वर्चस्व में योगदान दिया जिसमें ग़रीबों के उत्कृष्ट शासकीय और प्रभावशाली वर्ग, ग़ैर औद्योगिकीकृत (आधुनिकीकरण से जुड़े हुए मुद्दे पर) देशों द्वारा कुछ छोटी भूमिका (भूमंडलीय संदर्भ में) निभाई गई। इन प्रक्रियाओं के परिणाम प्रति व्यक्ति आय (राष्ट्रीय आय का औसत) से प्रकट हुए जिनका विकास और कल्याण के लिए ऐसे आवश्यक स्वीकारात्मक रिश्ते से कुछ लेना–देना नहीं है जो प्रत्यक्षतः पूँजी संचयन, तकनीकी प्रगति और बढ़ती हुई उत्पादन प्रक्रियाओं से नहीं जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार, सकल घरेलू उत्पाद अपने विभिन्न स्वरूपों में मात्र एक अत्यधिक सामान्य प्रमात्रित सूचक नहीं है अपितु यह अत्यधिक अपूर्ण, अयथार्थ, अधूरा, दोषपूर्ण और भ्रामक सूचक भी है। विविध आयामी असमानताओं की ऐतिहासिक वैधता के होते हुए यह मूल रूप से विशाल अन्तरराष्ट्रीय पूँजी वाले धनी, उद्योगीकृत देशों (जानबूझकर अथवा अनजाने में विकसित अथवा प्रगतिशील देशों के रूप में वर्णित तथा इस प्रयोग के आधार पर इस शब्द को कईयों द्वारा विषम मानसिक स्थिति के तहत अपनाया गया है) के हितों का मात्र दिखावा करता है। यह पूँजी संचयन, उद्योगीकरण की उन प्रक्रियाओं के कारण है जो ऐसे सामाजिक रिश्तों, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों, जीवन शैली, प्रौद्योगिकी आधारित सांस्कृतिक उत्पादों और मुख्यतः उनसे व्युत्पन्न अथवा जुड़े हुए प्रतीकों के परिणामस्वरूप हैं जो पुनः उन लोगों के शक्ति और हितवर्द्धक हैं जो पूँजी संचयन और उद्योगीकरण की उन प्रक्रियाओं पर नियंत्रण बनाए हुए हैं। इन प्रक्रियाओं में उन देशों की संख्या से काफी बड़ी संख्या में ऐसे देश शामिल नहीं होते और उन्हें हासिए पर कर दिया जाता है जिन्हें शामिल किया जाता है और जो शक्ति–सम्पन्न हैं तथा सौदेबाजी के समय, इस प्रकार बहिष्कृत देश अल्पसंख्यक देशों के अधीनस्थ हो जाते हैं। आधुनिक उद्योगीकरण का भारतीय अनुभव उपनिवेश काल से पहले और स्वतंत्रता के बाद की अवधि दोनों में स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि एकल घरेलू उत्पाद और सम्बल दोनों में उद्योग का अंश युगों पुरानी कृषि के कारण नहीं अपितु हाल ही में तेजी से विस्तार कर रहे सेवा क्षेत्र के बावजूद भी बहुत कम बना हुआ है। वास्तव में, संगठित औद्योगिक क्षेत्र में जिसमें भारत का श्रमबल 40 करोड़ से अधिक है, 2001 में बमुश्किल 74.3 लाख था जो सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र दोनों में कुल श्रमबल के 2 प्रतिशत से कम है।

इस प्रकार पता चलता है कि ताकतवर बल विकास और आर्थिक वृद्धि (अर्थात् सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि) जो आर्थिक विकास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य तथा सार व परिभाषा है, को सूचक के रूप में राष्ट्रीय आय के स्थायीकरण के समर्थन में क्यों अपना विस्तार करते हैं। इसलिए नहीं कि स्पष्टतः और पूर्णतः अनावरित कमजोरियाँ, अक्षमताएँ और विकृत विश्व की तस्वीर आर्थिक विकास के साथ केवल पर्यायवाची के तौर पर वास्तविक आर्थिक वृद्धि से नहीं जुड़ी हुई अपितु इसके कारण विकास को स्वयं अनेक विकास प्रेमियों द्वारा मान्यता भी नहीं दी गई है। परन्तु संशोधन के तौर पर, उन्होंने सकल घरेलू उत्पाद/सकल राष्ट्रीय उत्पाद के ब्रैंड बैगन में कुछ अतिरिक्त सूचक जोड़े हैं, वृद्धि सूचक का अर्थ सीमित किया है यहाँ तक अनेक वैकल्पिक प्रमात्रात्मक सूचकों (जैसे जीवन की गुणवत्ता, मानव विकास सूचकांक, मूलभूत अथवा न्यूनतम आवश्यकताएँ, विकास के सामाजिक सूचक, न्यायपूर्ण वृद्धि, व्यापक विकास फ्रेमवर्क आदि) को विकसित भी करते हैं, परन्तु विभिन्न प्रत्यक्ष और/अथवा घुमावदार तरीकों से सकल घरेलू उत्पाद अथवा सकल राष्ट्रीय उत्पाद आधारित सूचकों अथवा सिद्धांतों से चिपके रहते हैं अथवा उनकी विशिष्टता बनाए रखते हैं। यदि सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि की केन्द्रीयता समाप्त कर दी जाती और वैकल्पिक परिभाषाओं, उत्पादों सूचकों आदि जो इससे सम्बन्धित हैं और विद्यमान में अलाभकृत, विभेदित और अभावग्रस्त लोगों की परिस्थितियों, हितों, उमंगों और प्रतिष्ठानों को दर्शाते हैं, से विस्थापित किया जाता तो उद्योगीकृत और निर्धन दोनों प्रकार के देशों के सर्वोत्कृष्ट स्थिति वाले लोग अपनी सत्ता और प्रभुत्व को खो चुके होते। इस प्रकार की आत्महत्या की युक्तिसंगत उम्मीद किसी से भी नहीं की जा सकती। अन्य सट्‌टेबाज को अपने हितों और मूल्यों के लिए स्वयमेव जोड़–तोड़ करना पड़ता हैं और उन तरीकों से विकास को परिभाषित करना पड़ता है जिनसे जनता वास्तव में प्रभावित होती है। केवल ऐसी स्थिति में ही जनता का, जनता के लिए तथा जनता द्वारा विकास होगा।

1.6.5 सार्वभौमिक सामाजिक वस्तुस्थिति : गलत विकास की अनिवार्यताएँ

आधी शताब्दी से अधिक समय तक अनेक उपाय और कठोर 'राष्ट्रीय' और भूमंडलीय प्रयासों (वास्तव में, वंशानुगत, अधिकांशतः उपनिवेशी स्थिरता और पश्चगतिक पैतृक सम्पत्ति के संदर्भ में) के द्वारा एक ही दिशा में, सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि के स्वयमेव बाधित सजग अनुसरण का प्रभाव देखने के लिए सबसे पहले हमें सकल घरेलू उत्पाद से अन्यथा स्थिति में विश्व का विशेष रूप से अधिक निर्धन हिस्सों में सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों के कुछ चुनिन्दा पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए। चूँकि समय (अविनिर्दिष्ट) गुजरने के साथ–साथ ग़रीबों को लाभ दिलाने, निगमित करने और धीरे–धीरे शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए अधोपतन प्रक्रियाओं की परिकल्पना के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि प्रत्याशित थी, सामान्यतः लोगों के जीवन स्तर में भी शनैः शनैः सुधार की उम्मीद थी। पिछड़े हुए और प्रगतिशील सम्बन्धों के माध्यम से आच्छादित प्रभावों के मौलिक श्रम और पण्य बाज़ार प्रक्रियाओं के द्वारा यह माना गया था कि अधोपतन प्रक्रिया के प्रचालन से देशों और महाद्वीपों में ग़रीबों पर दुराचार और शोचनीय जीवन स्तर पर काबू पाने में काफी सहायता नहीं मिल पाएगी। संभावित दृष्टिकोण इस कल्पना पर आधारित है कि वृद्धि और उसके फैलाव के परिणामस्वरूप ग्रामीण और असंगठित क्षेत्र से जन समुदाय को धीरे–धीरे शामिल करने पर ग़रीबी असमानता दोनों में कमी आएगी। परन्तु एक प्रात्यक्षिक अर्थशास्त्री ने दर्शाया है, "विकास ग़रीबी और असमानता को कम कर सकता है, विकास ग़रीबी को कम कर सकता है और असमानता को बढ़ा सकता है, विकास ग़रीबी और असमानता दोनों में वृद्धि कर सकता है।" यह सब कुछ उत्पादन के संघटक, उत्पादनों में संघटकों के अनुपात, सापेक्ष मूल्य, उत्पादन की अवस्थिति, राज्य की नीतियों आदि पर निर्भर करता है। यह बात रोज़गार पैदा करने पर भी लागू होगी। इसीलिए, मूलतः वृद्धि और बाज़ार आधारित अभिगम के कुछ वाक्पटु समर्थकों द्वारा अनुबोध के रूप में यह निर्धारित किया गया था कि अनेक ऐसे लोग होंगे जो इस जमाने की वैज्ञानिक और

प्रौद्योगिकीय क्रांति द्वारा संभव जीवन स्तर का लाभ नहीं उठा सकते हैं अथवा उस स्तर को प्राप्त करने की स्थिति में नहीं हो सकते (अन्य बातों के साथ यह तर्क दिया गया था कि तेजी से आगे बढ़ने की उनकी प्रवृत्ति के कारण ऐसा संभव हो सकता है और बड़ी संख्या में ग़ैर–बनावटी, अदूरदर्शी, गुप्त और/अथवा सांसारिक दृष्टिकोणों और मूल्यों में वृद्धि की जा सकती है और उन्हें उत्प्रेरित किया जा सकता है। उन्होंने बहुत से तैयार किए गए कार्यक्रमों और नीतियों के बारे में सोचा अर्थात् राज्य प्रवर्त्तित क्रियाकलाप, आय, धन सामाजिक प्रतिष्ठा विशेष रूप से सामाजिक सेवाएँ मुहैया कराना जिसमें उन लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा के कुछ उपाय भी हैं जो या तो बाज़ार व्यवस्था के किनारे पर रहते हैं अथवा बाज़ार से बाहर रहने के लिए मजबूर कर दिए जाते हैं। वास्तव में, 20वीं शताब्दी के अन्तिम पचास वर्ष के इतिहास से विशेष रूप से यह खोज करने के बाद कि 1950 और 1960 के दशकों के दौरान विकास के स्वर्णिम युग में अत्यधिक भारी संख्या में लोग निरपेक्ष ग़रीबी अव–मानवीय परिस्थितियों में रहते थे, राज्य निदेशित ग़रीबी–उन्मूलन कार्यक्रमों के विशाल पैमाने पर प्रयासों के प्रमाण मिलते हैं। यह सुविख्यात मैकनामरा महबूब उल हक थीसिस की उत्पत्ति है जिससे कई अन्य उत्साही पृष्ठांककों और अनुयायियों का पता चला। प्रोत्साहन की प्रक्रिया के अनुसरण और अनेक कार्यकुशलताओं, नीति अन्तराक्षेपण प्रत्यक्ष निवेश आदि के द्वारा विकास में तेजी लाकर अधोपतन और उत्कर्षण प्रक्रियाओं से निरपेक्ष तौर पर उत्पादन हुआ तथा उपनिवेशी अवधि के परिणामों की तुलना में समुचित प्रभावकारी परिणाम प्राप्त हुए। परन्तु अब कभी–कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि विकास होने से किसको कितनी लागत आई और कितना लाभ मिला? इसके अतिरिक्त लम्बे उपनिवेशी काल के दौरान देखी गई वास्तविक स्थिरता की तुलना में इन अर्थव्यवस्था के सकल घरेलू उत्पाद में काफी अधिक वृद्धि होने के बाद ग़रीबों, अभावग्रस्तों और विभेदित लोगों की निरपेक्ष संख्या के बारे में भी प्रश्न पूछा जाता है। तथापि, परिवर्तन के तथ्य जो सार्वभौमिक तौर पर शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में स्पष्टतः संख्या में वृद्धि के लिए बिगड़ती हुई सामाजिक, भौतिक, नैतिक और सांस्कृतिक विद्यमान परिस्थितियों के साथ–साथ आय में बढ़ते हुए विघटन को भी प्रकट करते हैं। पूर्व एशियाई अनुभव से जुड़ी हुई नारेबाजी को छोड़कर कोई भी गंभीरतापूर्वक ग़रीबी, बेरोज़गारी, असमानताओं, पारिस्थितिक असंतुलनों और जनसामान्य के शक्तिहीनता (और ग़रीब देशों की सीमारेखा) को हटाने के सम्बन्ध में अर्थपूर्ण अभिलाभ का दावा नहीं कर सकता है।

अनुभूतिक्षम सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा कई अध्ययन और अनेक सरकारी दस्तावेज विशेषतः योजना आयोग के दस्तावेज इस तथ्य को मानते हैं कि पूर्ववर्ती विश्लेषण भारत के लिए पूर्णरूपेण सही हैं। दसवीं पंचवर्षीय योजना में स्पष्टतः कहा गया है, ''विकास के अनेक पहलू हैं जहाँ प्रगति स्पष्ट तौर पर निराशाजनक रही है। 1990 के दशक में विकास से अपेक्षा के मुकाबले कम रोज़गार उपलब्ध हुए। बाल मृतक दर कई वर्षों तक प्रति 1000 लगभग 70 बच्चों पर स्थिर रही है। ग्रामीण परिवारों के 60 प्रतिशत तथा शहरी परिवारों के 20 प्रतिशत घरों में विद्युत व्यवस्था नहीं है। मात्र 60 प्रतिशत शहरी परिवारों में उनके घरों में पीने का पानी उपलब्ध है जबकि उनमें से काफी कुछ के शौचालय घर से बाहर हैं। इस सम्बन्ध में ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति काफी बदतर है। भूमि और जंगल के अधःपतन और भूमि जल के अधिशोषण से ग्रामीण परिवारों की स्थायित्वता और खाद्य उत्पादन को गंभीर खतरा पैदा हो रहा है शहरों में प्रदूषण वृद्धि पर है।'' अधिकांश भारतीयों के लिए बिगड़ते हुए सामाजिक अस्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले विश्वस्त ोतों का कोई भी हवाला दे सकता है। सरकारी तौर परिभाषित ग़रीबी रेखा अर्थात् प्रतिदिन न्यूनतम अनिवार्य कैलारी प्राप्त करने में अक्षम लोग, से नीचे रहने वाले 6 करोड़ व्यक्तियों के संरक्षित आँकड़े 1951 में भारत की जनसंख्या से मात्र 10 करोड़ कम है। जब प्रतिव्यक्ति भोजन की उपलब्धता आज के मुकाबले कहीं अधिक थी। 4०5 करोड़ व्यक्ति रोज़गार के अवसर तलाश कर रहे व्यक्तियों के रूप में पंजीकृत हैं जबकि बेरोज़गारी के सरकारी आँकड़े श्रमबल का 8 प्रतिशत हैं।

समान परिस्थितियाँ अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका के अधिकांश हिस्से में है जहाँ विश्व की अधिकतर जनसंख्या रहती है और यह भी याद रखा जाना चाहिए कि प्रत्येक तथाकथित प्रथम विश्व देश के बीच में एक तृतीय विश्व है। आज भी ग़रीब देशों में जीवन की प्रत्याशा धनी देशों के मुकाबले 10 वर्ष कम है। सबसे नृशंस तथ्य यह है कि धनी देशों की तुलना में ग़रीब देशों में प्रतिवर्ष बचपन में जीवित बच्चों में से मरने वालों की संख्या प्रति 1000 बच्चों में 13 गुना अधिक है। (ये सभी तथ्य विश्व विकास प्रतिवेदनों से हैं)। निर्धन देश अत्यधिक असमान और विकृत रूप से आबंटित स्वास्थ्य सेवाओं पर जीवनयापन करते हैं जो अधिकतर विगत उपनिवेशी शक्तिधारकों में से काफी कम धनी लोगों के लिए कई गुना एकल घरेलू उत्पाद के ठीक दुगने 9.7 प्रतिशत के मुकाबले उनके अपेक्षाकृत कम सकल घरेलू उत्पाद का नगण्य 4०5 प्रतिशत हैं। इसी प्रकार उत्तर के मुकाबले निर्धन देशों में निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों तरह से शिक्षा पर व्यय का स्तर कम देखा गया है। ग़रीब देशों में व्यापक पैमाने पर प्रतीकात्मक, अनुकरणमूलक और ग़ैर कार्यात्मक शिक्षा, शिक्षा के निम्नस्तरों तथा निम्न और अनुप्रयुक्त निपुणता में दिखाई देती है साथ ही साथ परम्परागत निपुणता में जंग लग जाती है अथवा/और वह गायब हो जाती है। विशेष आह्वान के तहत प्राप्त किए गए साक्षरता स्तर कितने बनावटी है यह इस तथ्य से ही पता चलता है कि अधिकांश लोग जिन्हें साक्षर घोषित किया जाता है, बहुत कम समय में पुनः निरक्षर हो जाते हैं। आय और अन्य ''सामाजिक'' सूचकांकों की तुलना के आधार पर भी विश्व विकास प्रतिवेदन (2001) में कहा गया है, ''भले ही हम सार्वभौमिक ग़रीबी को हटाने का आधा लक्ष्य प्राप्त कर लेते हों, अत्यधिक ग़रीबी में जीवन बसर करने वालों

की संख्या मात्र एक तिहाई होगी। चीन और जापान में अधिकतम निवेश होगा, परन्तु उप–सहारा अफ्रीका में यह संख्या बढ़ेगी। यूरोप और मध्य एशिया जहाँ संक्रामक अवधि में अत्यधिक ग़रीबों की संख्या में वृद्धि हुई थी, 1990 वाले ग़रीबी के स्तर को पुनः प्राप्त कर लेंगे। 2015 में सर्वाधिक आशावादी परिकल्पना के बाद भी 2.3 अरब लोगों के प्रतिदिन 2 अमेरिकी डालर अथवा इससे कम पर जीविका चलाने की संभावना है जो अनेक मध्य आय वाले देशों में ग़रीबी की द्योतक है।'' स्पष्टतः विद्यमान वास्तविकता और संभाव्य भविष्य दोनों से प्रचलित 'विकास' अथवा उसके अधिक की यौक्तिकता के बारे में गंभीर भ्रामक स्थितियाँ जन्म लेंगी। यह आंशिक, सीमित, महँगे अथवा उत्कृष्ट अभिलाभों की प्राप्ति का अवमूल्यांकन नहीं है। मुद्दा यह है कि बेहतर विकल्पों की खोज की जानी चाहिए और उस पर कार्रवाई जारी रखनी चाहिए जिससे अधिकांश मानवता के हितों के सादृश्य गलत प्रस्तुतीकरण अर्थात् गलत विकास से बचा जा सके।

1.6.6 विकास : राजनीतिक अर्थव्यवस्था की कार्यसूची

इस प्रकार उन वृद्धि एवं ग़रीबी निवारण नीतियों की अक्षमता के बारे में स्पष्ट मान्यता है जो वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय क्रान्ति ";ज्व्द्ध द्वारा मुक्त सक्षमता, संसाधन (भौतिक, वित्तीय, तकनीकी, मानवीय, संगठनात्मक) उपलब्धता तथा विचार और आदर्शवादिता के लगभग सभी प्रमुख विद्यालयों द्वारा प्रत्यक्षतः समर्थित मूलभूत मानवीय मूल्य–निर्माण को प्राप्त करने के लिए बनाई जाती है। विकास सिद्धांतों के सामने अब मूलभूत प्रश्न यह है कि विभिन्न द्राक्षा संचयनों की औद्योगिक क्रांति तथा आधी शताब्दी से अधिक समय के लिए उच्चस्तरीय गतिशील विकास की दो शताब्दियों से अधिक समय के बावजूद उचित रूप से सीमित स्वीकारात्मक तथा परिव्याप्त विकास विरोधी परिणाम प्राप्त हुए हैं। तथापि, सीमित स्वीकारात्मक अभिलाभ कुछ चुनिन्दा लोगों तक सीमित हैं। इसे भी जीवन के नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आस्तिक, अनास्तिक और सामुदायिक पहलुओं के संदर्भ में 'हिताधिकारियों' के लिए भी अपरिकलनीय आर्थिक और ग़ैर आर्थिक लागत पर प्राप्त किया गया है। फिर भी, व्यापक, बहुमुखी अभाव, अपमान और अमानवीकरण इस विशाल जन समुदाय का भाग्य बन चुके हैं जो आधुनिकता और उद्योगीकरण की मुसीबतों को वहन करने के लिए बनाए गए थे। इस प्रकार, संतुलन के तौर पर विगत पाँच शताब्दियों की सार्वभौमिक वृद्धि और उद्योगीकरण को गलत अथवा विकृत विकास के रूप में मानना अतिशयोक्ति नहीं हो सकता। नियामक, पूर्णतावादी, सामाजिक प्रक्रिया और परिणाम के रूप में और इसकी अनिवार्य तार्किक, व्यापक, मानवीय, शक्तिमूलक, सतत तथा न्याय और स्वतंत्रता पर आधारित परिभाषा से विकास, विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था **(PED)** अथवा विकास अध्ययनों के लिए चिन्तन का विषय है। विकास की समस्या की उपरोक्त पहचान से यह स्पष्ट है कि **PED** की सोच परम्परागत अथवा मुख्य प्रवाह के विकास सिद्धांतों से भिन्न होगी। निश्चित तौर पर, मुख्य प्रवाह के सिद्धांतों के कई घटक और अन्तर्विचार च्म्क के लिए परन्तु अपनी सृजनात्मकता, चुनिन्दा अनुकूलन और पुनर्व्याख्या के माध्यम से काफी सहायक सिद्ध होंगे। सैद्धांतिक असमानताओं और वैकासिक युगान्तरण से व्युत्पन्न विकास नीतियों की विफलता के परिणामस्वरूप कई संशोधन, पुनर्व्याख्याओं और विकल्पों का प्रस्ताव किया गया है। रोज़गार, मूलभूत आवश्यकताएँ, विकास के साथ पुनर्वितरण, क्षमता अभिगम आदि सकल घरेलू उत्पाद अभिगम की स्थानापन्न अथवा संशोधन के रूप में उभरकर सामने आए। तथापि, इनमें से एक भी अभिगम ने विकास विवाद की मूलभूत समस्याओं की पहचान नहीं की है।

इन विकल्पों का एक संक्षिप्त विहंगावलोकन प्रस्तुत करती हैं। सामान्यतः, विकास सिद्धांत उनको सम्बोधित हैं जो विकास का संगठन करने/ उसकी गति बढ़ाने में हस्तक्षेप कर सकते हैं अथवा जिन्हें हस्तक्षेप करना चाहिए। इसका तात्पर्य है राष्ट्रीय और उपराष्ट्रीय सरकारों, बाज़ार इकाइयों, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय औपचारिक रूप से संगठित समूहों आमतौर पर जिन्हें ग़ैर सरकारी संगठनों ;छळव्द्ध के नाम से जाना जाता है परन्तु बेहतर स्थिति में उन्हें सिविल सोसाइटी संस्थाओं के रूप में मानते हैं, से प्रतिक्रिया और विकास सिद्धांतों को प्रयोग में लाने अथवा सड़क बनाने की उम्मीद की गई थी। कुल मिलाकर, राज्य और बाज़ार संस्थाएँ सिद्धांत, विवाद और नीति परामर्श तथा विकास सम्बन्धी हस्तक्षेप का मुख्य केन्द्र रही हैं। यद्यपि राज्य सकेन्द्रता की कई सीमाएँ हैं (जैसे नकारना, तिरस्कार करना, परतंत्रता को प्रोत्साहन देने वाले व्यष्टि की पहल को प्रतिबंधित करना, अत्यधिक केन्द्रीकरण और संरक्षण को बढ़ावा देना, नौकरशाही को नज़रन्दाज करना, राष्ट्र–राज्य को विश्लेषण की इकाई के रूप में लेना, राज्य के स्वरूप और नीतियों आदि को अनदेखा करना आदि)। ग़रीब और अभावग्रस्त लोग राज्य में एक मुक्तिदाता, ऐसी हस्ती को देखना चाहते हैं जिसमें सामान्यतः लोग कम से कम संभवतया अपनी आवाज तथा दक्षता, भले ही कुछ अन्तराल पर हो, की आशा करते हैं। राज्य तथा बाज़ार दोनों के साथ मोहभंग से असैनिक समाज की संस्थाओं का ध्यान आकर्षित हुआ। इनमें, प्रायः ग़ैर सरकारी संगठन ;छळव्द्ध हैं जिन्हें गलती से असैनिक समाज का पर्यायवाची मान लिया गया। च्म्क अपेक्षा करती है कि राज्य और बाज़ार के अतिरिक्त इसे असैनिक समाज की सभी संस्थाओं को संशोधित करना चाहिए और केवल अनन्य रूप से राज्य अथवा बाज़ार अथवा छळव् पर केन्द्रित नहीं होना चाहिए। च्म्क की संचयवाद अथवा व्यष्टियों की अवहेलना के साथ पहचान करना एक भ्रान्ति है। परन्तु हाँ, च्म्क सैद्धान्तिक व्यष्टिवाद को अमान्य करती है जो वास्तविक विधिक व्यक्तियों के साथ स्वायत्त प्रचालन हस्तियों के रूप में व्यवहार करती है।

च्क की हितसाधक समूह व्याप्ति जो अपनी बहुविधि असहमतियों के साथ समाजों का अध्ययन करती है बिल्कुल विविध और व्याप्त है। चूँकि विकास की प्रक्रियाएँ पूर्णतावादी हैं। च्क की विषयवस्तु को मुख्य संस्थानों, संरचनाओं, उनकी अन्तर्क्रियाशील प्रक्रियाओं के साथ सामाजिक व्यष्टियों के अभिवृत्तीय और मूल्य आदि खंड के सम्पूर्ण परिसर के साथ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में व्यापक रूप से सम्बद्ध होना पड़ेगा जिससे उनकी क्षमताओं और व्यक्तियों का पता चल सके। वास्तव में, किसी दिए गए संदर्भ में, गौण और अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए एक पूर्णतावादी सम्पूर्ण अभिगम की भी आवश्यकता पड़ती है और मुख्य चर राशि के सापेक्ष में कार्य करना पड़ता है। इसे वैकल्पिक प्रतिदर्शों, प्रक्रियाओं और विकास पथों के ऐतिहासिक अनुभवों से इसकी रूपरेखा तैयार करनी पड़ती है जिससे विद्यमान परिस्थिति और विकास के चरण को समझाने, मूल चर राशियों को अलग करने, सुविधाजनक और बाधक घटकों के साथ अन्तर्क्रिया की उसकी स्थिति को समझने में सहायता मिल सके। स्पष्टतः, इसमें से कोई भी आवश्यक लक्ष्य और प्रयोजन को उस समय तक प्राप्त नहीं करेगा जब तक वह विकास प्रक्रियाओं में एक समेकित तरीके से प्रमुख खिलाड़ियों और उनके मूल्यों और हितों की पहचान करने में सक्षम नहीं हो। ये प्रक्रियाएँ ऐतिहासिक, संघटनात्मक हैं और विभिन्न पहलुओं जैसे आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और पारिस्थितिक को समेकित कर रही है और वास्तव में बाहर तथा राष्ट्रीय सीमाओं से प्रभावों के अधीनस्थ हैं। उनके नियामक नीति विषयक पहलू को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। संस्थाओं का फैलाव, सूक्ष्म से मध्य, विशाल से सार्वभौमिक स्तरों तक, ऐतिहासिक रूप से वंशानुक्रम में प्राप्त तथा नई–नई स जित संस्थाओं तक था जो अपनी सम्पूर्ण विविधता और सामान्यता के साथ, विकास के सिद्धान्तवादियों, विश्लेषकों तथा प्रेक्टिसनरों के सामने कठिन चुनौती के लिए ज़रा–सा भी अंशदान नहीं करते हैं। कई स्त्रोतों तथा कई देशों के विगत कई शताब्दियों के ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर हम विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के कुछ सिद्धांतों पर एक समीक्षा प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं।

1.6.7 राजनीतिक अर्थव्यवस्था के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू : विकास के सिद्धांत

विकास की मुख्य धारा के आर्थिक सिद्धांतों की तुलना में, च्क प्रतिकूल स्थिति की उपपत्ति, स्वर शैली और शाश्वतीकरण के प्रति कठोर, ऐतिहासिक और अत्यधिक गहन दृष्टिकोण अपनाती है परन्तु कार्यों की अपरिहार्य स्थिति में अधिकांश विश्व विशेष रूप से एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के देशों के नागरिक तथा अमीर देशों के ग़रीब लोग इसका विविध रूपों में मुकाबला कर रहे हैं। वस्तुतः एक स्तर पर, कुछ देश स्वयं को ऐसी अपरिहार्य स्थितियों में पा रहे हैं, जबकि दूसरे स्तर पर व्यष्टियों और विभिन्न प्रकार से गठित समूह तथा वर्गों का ऐसा बहुमत है जिसे शक्तिहीन कर दिया गया है। विकास के सिद्धांतों को इस विविधता के बीच में सार्वजनिक पृष्ठभूमि तलाश करनी है ताकि ये सिद्धांत इसके संयोजन में प्रत्येक की विशिष्ट स्थिति में लागू हो सकें। इस प्रकार, विकास के सिद्धांत भाग्य, प्रास्थिति, लोगों की कार्य प्रणाली, संस्थाओं तथा धनी और निर्धन देशों में उनकी अंतरराष्ट्रीय अन्तर्क्रियाओं और आन्तरिक रिश्तों व देशों के भीतर गतिशीलता में मूल्यों पर समान रूप से लागू होते हैं। विशेष रूप से उत्पादन के विभिन्न घटकों के बीच अपर्याप्तता और समानुपात की कमी (मुख्यतः पुनरोत्पादेय भौतिक बल बनाम श्रमबल तथा उपलब्ध पूँजी में मूर्त्त रूप प्रौद्योगिकी की कम उत्पादकता वाला द्राक्षा संचयन) के शब्दों में विकास की कमी अथवा अपर्याप्तता अथवा विरूपण के ऐतिहासिक और सामान्य दृष्टिकोण से भिन्न स्थिति जो विद्यमान में तथाकथित विकसित देशों की पूर्व जैसी अथवा पूर्ववर्ती स्थिति के रूप में मानी जाती है, PED उस समय प्रचलित संसाधनों, प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, मूल्यों और दृष्टिकोणों के गुणज के रूप में विभिन्न लोगों और देशों की सामाजिक–आर्थिक दशा का एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाती है। इस पहलू के अनुसार, विद्यमान में बहुत से ग़रीब देश विशेष रूप से चीन, भारत आदि उस समय प्रचलित मुकाबले पर थे जबकि उत्तरी देश काफी पीछे थे। इस प्रकार प्रश्न उठता है कि क्यों, कैसे और कब अभिनय, स्थिति और प्रास्थिति का प्रतिक्रमण हुआ अथवा एक शब्द में, सापेक्ष राष्ट्रीय शक्ति अस्तित्व में आई अपितु सकल घरेलू उत्पाद और जनसंख्या के विद्यमान स्तरों के पश्चमुखी वाग्विस्तार की अऐतिहासिक और अवास्तविक कवायद करते हैं और विभिन्न ग़रीब देशों बनाम विद्यमान धनी, उद्योगीकृत देशों के विकास में व्यवधान के कारणों का पता लगाते हैं। एक सहवर्ती लक्षण यह है कि अन्तरराष्ट्रीय मतभेदों और असमानताओं तथा सापेक्ष शक्तिहीनता की तरह, विशेष रूप से उन देशों में घरेलू तौर पर समान लक्षणों वाला पीड़ावर्धन हुआ जो अन्तरराष्ट्रीय तौर पर पिछड़ गए थे और फिसड्डी रह गए थे। यह घटक भी अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रम से जुड़ी हुई रीति से विधिक और ऐतिहासिक तौर पर स्पष्टीकरण की अपेक्षा करता है। इस अभिगम और क्रियाविधि में भी विद्यमान धनी देशों के नज़दीकी विगत की एक दर्पण जैसी प्रतिमा के रूप में कम विकसित (विकासशील अथवा कम विकसित) देशों की विकास स्थिति को परिभाषित करने के नास्तिकवादी अथवा उत्तरी देशों के केन्द्रित मकड़जाल से बचने के लिए निहितार्थ अन्तर्ग्रस्त है। यह विकास अथवा औद्योगिकीकरण का अनुकरणीय आकर्षण नमूना उन देशों में इतिहास, संस्कृति, स्वतंत्रता अथवा आजादी (स्वायत्तता और स्वकेन्द्रीयता), प्राकृतिक भंडार, बदलते हुए, भू–राजनैतिक घटक और अनुकूलन की स्वतंत्र प्रक्रियाओं तथा प्रौद्योगिकियों के विकास से इंकार करता है जो तथाकथित आधुनिकता के रास्ते पर शुरू में आगे नहीं आ सके तथा दूसरों के वर्चस्वाधीन तथा पराधीन हो गए।

यूरोप में उद्योगीकरण पूर्व के ऐतिहासिक विश्लेषणों, भूमि सुधार सम्बन्धी परिवर्तनों, औद्योगिक क्रांति, पश्चिमी देशों का राजनीतिक और सैन्य वर्चस्व, विशेष रूप से वणिकवादी राज्यों जिन्होंने धन पूँजी के प्रारंभिक अथवा पूर्व संचयन में एक बड़ी भूमिका निभाई थी, की सक्रिय विकासोन्मुख भूमिका के साथ–साथ उनकी सामुद्रिक क्षमताओं और शक्ति, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक रूपान्तरण, सामाजिक–आर्थिक सत्ता संतुलन को बदलने वाले राजनीतिक विप्लव आदि जो लगभग पाँच शताब्दियों की अवधि में बने रहे, 18वीं और 19वीं शताब्दियों के दौरान प्रौद्योगिकीय सफलता के लिए निर्णायक थे जिनसे आधुनिक आर्थिक विकास और राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय तौर पर बढ़ती हुई असमानताओं के युग का आरंभ हुआ। भारत सहित अफ्रीकी, एशियाई और लैटिन अमेरिकी देशों का राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वर्चस्व अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में सामान्यतः इन परिवर्तनों का दूसरा पक्ष नहीं था क्योंकि इन देशों के घरेलू हालात ने भी उनके अधीनीकरण में योगदान दिया। जिस तरीके से जापान ने आन्तरिक गतिशीलता के कारण वर्चस्व और प्रतिवाद के इस दुर्भाग्य से स्वयं को बचाया, उससे इस सुझाव का अवमूल्यांकन होता है कि सार्वभौमिक घटकों ने सक्रिय तौर पर घरेलू घटकों के साथ मिलकर सहायता की/काम किया। काफी बड़ी संख्या में देशों को ग़रीब और अधीनस्थ तथा बड़ी संख्या में उनके लोगों पर काबू पाते समय उन प्रक्रियाओं जिन्होंने कुछ देशों को (उनके आन्तरिक, व्यापक तौर पर गै़र–कार्यात्मक मतभेद की ओर ध्यान दिए बिना) शक्ति सम्पन्न बना दिया, पर विचार करना एक बहुत ही जटिल और लम्बा विषय है। प्रत्येक देश की इस प्रकार की स्थिति के साथ–साथ अनुभवजन्य अध्ययन करने पड़ते हैं। मुख्य मुद्दा यह है कि यह विविध घटकों का संयोजन था जिसने अन्तरसम्बन्धित तरीके से राष्ट्रों के भीतर राष्ट्रों और लोगों के बीच एक बड़ी दरार पैदा कर दी जिससे कुछ देशों को समृद्धि तथा बहुतों को ग़रीबी हाथ लगी। इन प्रक्रियाओं के दीर्घकालिक प्रभाव तथा ग़रीब देशों के लिए उनके अस्वास्थकर परिणाम ग़रीब देशों में उनके सामाजिक अस्तित्व के विभिन्न पहलुओं के बीच स्वीकारात्मक सहजीवी सम्बन्धों के दम घुटने के रूप में देखे जा सकते हैं जिनके कारण उनकी भौतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक–आर्थिक दशा बिगड़ती गई। वे निर्धन तथा शक्तिहीन जनता वाले अधोनती देश बन गए।

उदाहरण के लिए, राज्य आर्थिक विकास, औद्योगिक विस्तार, उद्यमियों, अनुसंधानकर्त्ताओं, व्यापारियों, आधुनिक ढंग अपनाने वाले कलाकारों आदि को समर्थक सेवाएँ और सुविधाएँ मुहैया कराने के लिए आन्तरिक और बाह्य दोनों परिस्थितियों का सृजन करके उद्योगीकरण की प्रक्रिया में एक शक्तिशाली उपस्कर था जिससे घरेलू और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ आर्थिक क्रियाकलापों को सुचारू रूप से चलाने तथा उनके विस्तार करने, प्रबंधन संकटों, विकृतियों तथा विरोधाभासों के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। श्रमबल सहित निवेशों की सस्ती आपूर्ति सुनिश्चित करने से लेकर उत्पाद की लाभकारी बिक्री तक प्रौद्योगिकी संरक्षण, लाभकारी निवेश अवसरों तक पहुँच सुनिश्चित करना, उनके विस्तार के लिए बाज़ार उपलब्ध कराना, विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाव, सस्ती आपूर्ति के लिए पहुँच सुनिश्चित करने के लिए बाहुबल का प्रयोग, राज्य की हितकर मौजूदगी एक समृद्ध उद्योगीकृत अर्थविज्ञान में प्रत्येक चरण पर निर्णायक थी। स्पष्टतः, बाज़ार बलों का भी प्रयोग किया गया परन्तु उनकी कमी को पूरा किया गया तथा एक सतर्क और मैत्रीपूर्ण सरकार द्वारा उनकी शक्तियों का नकदीकरण किया गया। विभिन्न कारणों से, कई मुख्य धाराएँ, विकास अर्थविद् भी राज्य द्वारा निभाई गई निर्णायक भूमिका को मान्यता प्रदान करते हैं। भारत में जहाँ दर्जनों संघीय शासक बढ़ती हुई सार्वभौमिक चुनौतियों को समझ नहीं पा रहे थे, वहाँ आधुनिकीकरण की नई प्रक्रियाओं के प्रभाव के अधीन आधुनिकीकरण की नई लहर महाद्वीपों के आर–पार हिलोरे ले रही थी तथा यह महान् ऐतिहासिक अवसर चूक गए थे।

कई देशों के अनुभवों के तुलनात्मक ऐतिहासिक विश्लेषण से पता चलेगा कि राज्य विपणन सापेक्ष भूमिकाई विरोधाभास किसी एक को पूरी तरह स्वीकार करने तथा दूसरे को नकार देने की आंतरिक स्थिति के बारे में नहीं है। प्रश्न राष्ट्रों, समुदायों, व्यष्टियों/फर्मों आदि बनाम विकास प्रक्रिया में अन्य लोगों की परिस्थितियों को सुधारने/बिगाड़ने में उनकी सापेक्ष भूमिका के बारे में हैं। परन्तु अभिरुचियों, समूह आधारित वैचारिक और राजनीतिक घटकों ने अत्यंत विरोधाभासी और यहाँ तक पारस्परिक दुर्दमनीय स्थितियों को जन्म दिया जो वास्तव में, न तो फल देने वाली हैं और न ही ज्ञानवर्द्धक हैं।

ऐसे अभिगमों के परिणाम कई रूपों में देखे गए। कुछ सिद्धांतों ने साम्राज्यवाद को भूमंडलीय विभाजन और अव्यवस्थित सम्बन्धों तथा अत्यधिक मानवीय, सामाजिक, आर्थिक आत्मिक लागतों जो इसने अधिरोपित की, के लिए एकमात्र दोषी ठहराया। उपनिवेशवाद के समाप्त होने के बाद, अन्य लोगों ने भूतपूर्व प्रमुख शासकीय, अवशोषणात्मक शक्तियों को ''विकासोन्मुख सहभागी' के रूप में माना जो अपनी पूँजी, प्रौद्योगिकी, प्रबन्धन–संगठनात्मक दक्षता को आपस में बाँटने के इच्छुक थे क्योंकि ग़रीबी को प्रत्येक जगह समृद्धि, जहाँ कहीं भी थी, के लिए ख़तरे के रूप में पाया गया। विभिन्न स्वरूपों में अन्तरराष्ट्रीय पूँजी आंदोलनों द्वारा समर्थित पूँजी संचयन, प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण, विस्तार सेवाएँ आदि जैसे सम्पूर्ण परिवर्तनशील मुद्दे विकास में योगदान के आवश्यक घटकों के रूप में माने गए थे। बचत, निवेश, औद्योगिक उपक्रम, निर्यात, मानव पूँजी गठन और निपुणता आदि को प्रोत्साहित करने के लिए कई कठोर और परिष्कृत प्रतिदर्श पेश किए गए। कृषिक और औद्योगिक विकास को आसान बनाने के लिए न्यायसंगत भूमि स्वामित्व के सृजन के लिए कुछ भूमिका भी सौंपी गई थी। विभिन्न प्रकार के विकास नियोजन प्रतिदर्श की गतिशीलता, समन्वयन और दीर्घकालिक संस्तर–स्थिति

के अनुयोजन के पक्ष में प्रस्तुत किए गए। यह एक उत्कृष्ट उद्योगीकरण पथ था जो उधारीकृत उत्पाद–मिश्रण, प्रौद्योगिकी, पूँजी (वित्त), उद्यम और प्रबंधन पर आधारित था। लोकक्षेत्र का प्रभुत्व, निजी क्षेत्र, पूँजी और तीन (विभिन्न मिश्रित अर्थ–व्यवस्था प्रतिदर्श) के विभिन्न संयोजन और संचयन जैसे कई विभिन्न स्वामित्व और प्रतिबंधन प्रतिदर्श विकास साहित्य के हिस्से बन गए।

उद्योगीकरण से असममिति रूप से जुड़े हुए पूँजीवादी, अनुकृत तथा अधीनस्थों के इस प्रतिदर्श को औपचारिक / न्यायिक राष्ट्रीय संप्रभुता के अधीन पराधीन सम्बन्ध की निरन्तरता का नाम दिया गया। व्यवसाय अथवा स्वैच्छिक उपनिवेशीकरण के बिना इसका आर्थिक साम्राज्यवाद अथवा उपनिवेशवाद के रूप में विरोध किया गया। इसके विरोधियों ने शनैः शनैः विकासोन्मुख वृद्धि / विकास की बजाए क्रांति और अलग होने का तर्क दिया।

उन्होंने बार–बार जोर दिया कि वहाँ अवपूँजीवाद उत्पाद बलों में जबर्दस्त परिवर्तन हो सकता है जिससे क्षेत्र और क्षेत्रकों की उत्पादकता से होने वाले व्यापक लाभ उन्मुक्त हो जाएँगे परन्तु एक विषम, अस्थिर प्रक्रिया से भारी और असमान लागत तथा पर्याप्त रूप से संकेन्द्रित लाभों का विभाजन हो जाएगा, इसके निजी स्वामित्व वाले निगमित सामाजिक सम्बन्ध अधिकाधिक विकेन्द्रित और संकेन्द्रित हो जाएँगे। परिणामस्वरूप, इसे अर्थव्यवस्था के नियंत्रण में व्यक्तियों, परिवारों और फर्मों का एक संकीर्ण राष्ट्रीय और सामाजिक आधार प्राप्त होता है। इससे अधिकाधिक विशाल संख्या में राष्ट्र, व्यक्ति और सामाजिक समूहों की हानि हुई और वे अभावग्रस्त हो गए क्योंकि निवेश (चाहे वह संतुलित अथवा असंतुलित पैकेज में हो) क्रांति के माध्यम से बढ़ाये गए पुनरुत्पादन की प्रक्रिया ने संसाधन धारकों की माँगों को पूरा किया तथा शेष को छोड़ दिया। पूँजी, प्रौद्योगिकी, वित्त आदि के ऊपर नियंत्रण के संकीर्ण आधार से सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों का विस्तार होता है। ग़रीबों के ऊपर आरंभिक उद्योगीकृत अत्यधिक अमीर देशों और उनके सत्ताधारक निगमित निकायों का अधिकाधिक वर्चस्व होता है तथा उनका अवधारण होता है। इस प्रकार के तर्क समाजवादी, केन्द्रीय रूप से नियोजित अर्थव्यवस्था और अपने निजी कामगारों, कार्यरत ग़रीब लोगों और बुद्धिजीवी लोगों जिनमें कभी–कभी व्यापारी वर्ग भी शामिल होता है, की सहायता से पूँजीवादी विश्वव्यवस्था से पूरी तरह अलग होने का आधार बन गए। कई परिवर्तन और अधूरी तस्वीर वाले पूँजीवादी उद्योगीकरण विद्यमान में शक्तिशाली और संसाधन धारक वर्गों से सहायता पर आधारित थे अथवा उससे सहायता ले रहे थे।

यह तर्क दिया गया था कि इस दृष्टिकोण वाले इन पूर्व उपनिवेशों और वर्गों के संभाव्य अधिशेष उसी प्रकार सामने आया जिस प्रकार उन सिद्धांतों के मामले में हुआ जिनसे देश इसी प्रकार के वास्तविक गतिशील अधिशेष से ऊपर की स्थिति में पहुँच गए। इसी प्रकार, कमजोर गतिशील श्रमबल को भी संभाव्य अधिशेष के ोत के रूप में माना गया। इस प्रकार इस मामले में पूर्ववर्ती उपनिवेशी शक्तियों और उनके बड़े–बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों की अजनबी पकड़ से अर्थव्यवस्था को मुक्त करने के लिए तर्क दिया गया था। स्पष्टतः, उससे अन्तरराष्ट्रीय पूँजी के मुकाबले में देशी प्रतिद्वन्द्वियों की भूमिका में कमी आई। ये नीतियाँ संवृत अर्थव्यवस्था के लिए नहीं थी अपितु इन्होंने निश्चित तौर पर अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के लिए एक भिन्न, अधिक समतावादी और व्यापक आधार वाली नई वस्तुकला के लिए तर्क पेश किया था जो नई अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था ;छप्म्व्द्ध पर संयुक्त राष्ट्र के संकल्प में प्रसंगवश प्रतिबिम्बित हुआ था। शीत युद्ध काल में समाजवादी ब्लॉक ने भी इस प्रकार के सिद्धांतों का समर्थन किया। परन्तु समाजवादी क्रांति का विकास–पथ (जो चर्चा का विषय था) के रूप में तर्क देने की बजाए उन्होंने अधिकांशतः ग़ैर पूँजीवादी विकास के एक संक्राम्य चरण के लिए तर्क दिया। अनुवर्ती स्थिति का अर्थ है विशाल और विकासोन्मुखी राज्य क्षेत्रक का सृजन, आधुनिक औद्योगिकीकरण, मौलिकता को उच्च प्राथमिकता, पूँजीगत और भारी उद्योग तथा बढ़ता हुआ आत्मविश्वास जो किसी के अन्तरराष्ट्रीय संव्यवहारों के लिए उसकी राष्ट्रीय भुगतान क्षमता का प्रतीक हैं।

वास्तव में महत्त्वपूर्ण और आमतौर पर अनदेखा किया गया मुद्दा है सादृश्यमूलक संभावना और अपेक्षा प्रतिदर्श, उद्योगीकरण और आधुनिक विकास पर नियंत्रण। सम्बन्ध–विच्छेद, चुनिन्दा सम्बन्ध–विच्छेद अथवा सम्मति के तौर पर सम्बन्धों को पुनः जोड़ने वाले विद्यालयों ने ठीक उस प्रकार के औद्योगिक और उत्पादन संरचना के लिए आवश्यकता और अपेक्षा को स्वीकार किया है जैसा कि बदले हुए स्वामित्व और नियंत्रण, प्रबंधन शैली और परम्पराओं में परिणामी परिवर्तन, अन्तःक्षेत्रक विकास की एक भिन्न श्रृंखला नामतः भारी, मौलिक तथा पूँजीगत सामान वाले उद्योग तथा अन्तरराष्ट्रीय आन्तरिक सम्बन्धों के एक अधिक स्वयंकेन्द्रित प्रतिदर्श को छोड़कर अमीर देशों में प्रचलन में है। इस दृष्टिकोण से प्रमुखतः निजी और निजी निगमित क्षेत्र से लोक (राज्य) स्वामित्व के बदलते हुए स्वामित्व के आधार पर सामाजिक रूप से स्वीकार्य और अपेक्षित परिणाम प्राप्त करने के लिए बदले हुए प्रबंधन तंत्र पर भारी बोझ पड़ता है। स्पष्टतः उत्पाद–मिश्रण, प्रौद्योगिकीय अवसर, श्रमिक सम्बन्धों, प्रबन्धन शैली, सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति उद्दीपनशीलता, पारिस्थितिकी स्थितियाँ आदि के परिप्रेक्ष्य में बदले हुए परिणामों की संभावना सीमित है विशेष रूप से जब उद्योगों का समान प्रतिदर्श दो विभिन्न स्वामित्वों और प्रबन्धन तंत्रों के तहत अनुयोजित होता है। इस प्रकार, रोज़गार, कम आय वाले व्यक्तियों के लिए उपयुक्त सामान का उत्पादन, घटक आय में शेयर, कामगारों की भूमिका और स्थान, क्षेत्रीय प्रतिदर्श, पारिस्थितिकीय जाग्रति आदि ऐसे मुद्दे बन

जाते हैं जो उनको स्वतंत्र और स्वायत्त प्रतिक्रिया की बजाए सहायक बना देते हैं तथा प्रतिफल प्राप्त कराते हैं। इससे उन मुद्दों को प्राथमिकता कम हो जाती है जो व्यापक सामाजिक बनाम उनके वर्गीय हित वाले होते हैं जिनके पास पर्याप्त सामाजिक और आर्थिक शक्ति होती है। इस प्रकार, आवश्यक रूप से सकल घरेलू उत्पाद सूचकांक के परिप्रेक्ष्य में वर्गीय/क्षेत्रकीय/संकीर्ण 'विकास' में अन्यायपूर्ण और अनपेक्षित बलिदान अन्तर्ग्रस्त होते हैं जिनके कारण अवश्यमेव अमीर और अधिक अमीर तथा ग़रीब और अधिक ग़रीब हो जाते हैं। अनौपचारिक/असंगठित क्षेत्र चाहे वह उनके द्वारा उत्तरजीविता रणनीति के रूप में सामने आया हो जो विकास–केन्द्रित प्रक्रियाओं द्वारा छोड़ दिए गए थे अथवा सीमांतक हो गए थे और/अथवा स्थिरता और निश्चितता अवधि की आदिकालीन गाथा के अवशेष के रूप में बना रहा, की प्रबलता, गुप्त संसाधनों के ेत तथा उन ग़रीबों में छुपी हुई क्षमताओं की अभिव्यक्ति है जो प्रबल विकास प्रतिदर्शों में व्यापक रूप से पहचान नहीं बना सके। इसके प्रतिकूल, ये प्रतिदर्श अथवा सिद्धांत आधुनिक, उच्च उत्पादकता वाले क्षेत्रों द्वारा इनके आदि रूप के मंद गति से समावेशन के अभिग्रहण को उन्मुख हो रहे हैं। भारत के मामले से पता चला है कि यह मान्यता प्राप्त क्षेत्र नहीं है जो जनसंख्या के अधिभावी हिस्से को जो श्रमबल के 92 प्रतिशत से अधिक बनता है, जीविका दिलाने के लिए अर्थव्यवस्था का गतिशील घटक मुहैया करता है। तथापि, चर्चा की जाती है कि विकास की कई 'संशोधित' धारणाएँ, प्रक्रियाएँ और अभिकर्त्ता अर्थव्यवस्था के विकास को उन घटकों को बढ़ाने/कम करने के कार्य से साथ–साथ अथवा बाद में जोड़ने की कोशिश करते हैं जो प्रस्तुत वास्तविकता को अस्वैच्छिक, संकीर्णतः संकेन्द्रित तथा भारी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण बनाते हैं। वे लगातार व्यापक मोहभंग (जब सकल घरेलू उत्पाद सूचकांक प्रभावी लाभ दर्शाते हों) करते रहते हैं। तथापि, इसे मान्यता देनी पड़ेगी कि विभिन्न 'विकास' सिद्धांतों द्वारा यथा विकसित विस्तार, सुधार, स्थानान्तरण की प्रक्रियाओं के तकनीकी आर्थिक पहलुओं के बारे में अन्तर्दृष्टि ने अपने सीमित मूल्य और वैधता को बनाए रखा है। परन्तु विकास की अपूर्ण कार्यसूची, उनके द्वारा उत्पन्न विकृतियाँ तथा अपरिहार्य मानवीय और सामाजिक खर्चे उन प्रयासों की आवश्यकता दर्शाते हैं जो ऐसी प्रक्रियाओं के माध्यम से व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य, संघर्षों को मान्यता देने, व्यापारिक दावपेंच, पूर्वघटित प्रवृत्तियाँ, सर्वनिष्ठ तथ्य, पारस्परिकताएँ तथा प्रतीकात्मक जोड़ तोड़ों के अनुसार विकास की विषय–वस्तु तथा प्रमात्रा को बदला जा सके, जो अभिरुचि स्थान को सीमित/विकृत करके मानवीय व्यक्तित्व और क्षमताओं का दम घोटने की बजाए मिलनसार सामाजिक परिवेश में मानवीय क्षमताओं का विस्तार करती हैं तथा उनके फूलने–फलने में सहायक होती है। पूर्ववर्ती सुधारवादी वर्ग के विकास सिद्धांतों एवं तकनीकों के मध्य समग्र, क्षेत्रकीय तथा क्षेत्रीय विकास के विभिन्न विशाल आर्थिक प्रतिदर्श, अन्तर उद्योग सम्बन्धी प्रतिदर्श, संतुलित तथा असंतुलित विकास सिद्धांत विशाल धक्का सिद्धांत, मूलभूत आवश्यकता सिद्धांत, न्याय के साथ विकास सिद्धांत, स्वकेन्द्रित सिद्धांत आदि चर्चा के विषय बन सकते हैं। मुख्य मुद्दा है : वे नीति निर्णयन और कार्यान्वयन में सहायक बनते हैं परन्तु व्यापक अर्थ में, अधिक मौलिक सामाजिक बल तथा सामाजिक संरचना की अंग–प्रत्यांगों की एकता मुश्किल से ही इन सिद्धांतों और प्रतिदर्शों में प्राथमिकता प्राप्त करती है। इस मुद्दे पर विकास की अन्य आंशिक, क्षेत्रक सिद्धांतों की शाखा द्वारा उठाए गए उन प्रश्नों को प्रस्तुत करना तर्क संगत है जिन पर प्रतिक्रिया की गई हो। हमारा तात्पर्य विभिन्न सामाजिक और आर्थिक विकास के विभिन्न सिद्धांतों से है। च्म्क मुश्किल से इस प्रकार के आंशिक विकृत, सीमित संदर्भ, पृथकीकृत सिद्धांतों को सुसंगत और उचित रूप से स्वीकार करेगी। परन्तु पुनः इन सिद्धांतों से मिलने वाला आवश्यक संदेश सामाजिक घटनाक्रम की आंगिक एकता पर जोर देना है। अधिक विशिष्ट रूप से उत्पादन, उत्पादकता, उत्पादन की लागत आदि को दक्षता से जुड़े हुए आर्थिक मुद्दों के रूप में रोज़गार, शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, लैंगिक मुद्दे, बाल कल्याण आदि से सामाजिक रूप से भिन्न विचार करना आधिक्य अर्थवाद की एक बिल्कुल नई गाथा है। इसी प्रकार, राजनीतिक और प्रशासनिक प्रक्रियाओं की भूमिकाएँ विकास प्रशासन के सन्दूक में बन्द कर दी जाती हैं तथा जब इसका आधारिक स्तर पर सहभागिता, सापेक्ष और निरपेक्ष सामाजिक न्याय, शासन के स्वरूप और पद्धतियों तथा प्रतिविधियों की रुचि के प्रश्न को शामिल करने के लिए विस्तार किया जाता है तब उन्हें राजनीतिक विकास से सम्बन्धित प्रश्न के रूप में लिया जाता है। ये अन्य बातों के साथ–साथ विकास के साथ वृद्धि की अधिकता के रूप में पहचान के परिणाम हैं और सामाजिक व्यवस्था में अपने संरक्षकों और समर्थकों के साथ श्रमबल का अकादमी विभाजन तथा अकादमी क्षेत्र में विशिष्टीकरण का प्रदर्शन करते हैं। **PED** ने विकास के प्रश्न पर एक एकीकृत समेकित सामाजिक परिप्रेक्षण विकसित करने का प्रयास किया है। विकास की प्रक्रिया व्यावहारिक पृष्ठपोषण के आधार पर परिमार्जन तथा **PED** से सम्बन्धित अकादमी अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप अभी अपने शैशवकाल में हैं। वैकल्पिक विकास, विकास के बाद, विकास विमुख तथा आधुनिकीकरण विरोधी विद्यालयों, सुनियोजित, व्यापक तौर पर विकसित सुसंगत विचारों, सिद्धांतों, धारणाओं आदि के मुकाबले मुख्य प्रवाह के सिद्धांतों और आर्थिक विकास के प्रतिदर्शों से व्यापक मोहभंग का परिणाम हैं। विकासोन्मुख विकास के इतिहास को जानने की प्रबल आवश्यकता को किसी भी स्थिति में अधिकल्पित नहीं कहा जा सकता।

विकास के प्रचलित अभिगमों के प्रतिकूल प्रभाव आवश्यकता पुनरावृत्ति को भी भलीभाँति ज्ञात हैं। आंशिक, विशिष्ट अनुशासन (प्रमुखतः अर्थविज्ञान) आधारित अभिगमों के परिणामस्वरूप, विश्व के कई हिस्से अन्तिम शताब्दी के दौरान विशेषतया उसके अन्तिम दौर में सामाजिक और व्यष्टिगत जीवन में विकृत, निष्फल, अंशतः, हिंसाग्रस्त, असंतुलित,

अस्थायी, अन्याययुक्त, सामाजिक रूप से खर्चीले और पर्यावरण के तौर पर भयानक तथा/अथवा विनाशकारी परिवर्तनों के साक्षी थे, भारत में भी ऐसा अनुभव हुआ। इन सत्य, दूरगामी और त्वरित परिवर्तनों ने विशेष रूप से अल्पकालिक दृष्टिकोण से कुछ वर्गीय अभिरुचियों को भलीभाँति पूरा किया। परन्तु इन अस्थायी परिवर्तनों (प्रायः विकास के रूप में वर्णित) से अवमूल्यनकारी और ऋणात्मक वापसी अनदेखी नहीं रही।

अन्तरराष्ट्रीय संसाधन 'अंतरण' की भूमिका अथवा अधिक स्पष्ट तौर पर राष्ट्रीय सीमाओं के पास पूँजीगत आन्दोलनों के साथ–साथ पूँजी संचयन के स्वायत्त और प्रेरित, दोनों व्यवहारों के संदर्भ में सकल घरेलू उत्पाद के रूपान्तरण का वास्तविक परिकलन और उसका परिणाम ग्राफ के रूप में उदाहरणस्वरूप दर्शाया जा सकता है।

1.6.8 पूँजी संचयन : भूमिका और सीमाएँ

उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ आर्थिक वृद्धि की पहचान का प्रत्यक्ष प्रमाण पूँजी संचयन को निर्णायक विकास/औद्योगिकीकरण का सौंपा जाना था। कई लोग पूँजी स्टॉक की सापेक्ष अपर्याप्तता और पूँजी निर्माण के धीमी वृद्धि को कम आय, ग़रीबी और पिछड़ेपन का मुख्य कारण मानते हैं। इस प्रकार पूँजी संचयन अर्थात् बचत और निवेश की दर में वृद्धि करना (सन्निहित प्रगतिशील प्रौद्योगिकी के साथ) विकास के मुख्य गतिशील घटक विकास नीति और नियोजन के पथ के रूप में माना गया था। आरंभ में आर्थर जैसे विकास अर्थविद् तथा विकास सिद्धांतों की स्थितियों ने स्पष्ट किया कि उच्च बचत और निवेश पद अर्थव्यवस्था को संक्रमण आय के विकास का आधार अवनिर्धारित करता है। कीनेशियाई और पश्च कीनेशियाई दीर्घकालिक आर्थिक सिद्धांत दोनों के आधार पर विभिन्न पूँजी उपस्कर संचयन को बढ़ावा देने में त्रस्त हो गए। जबकि अधिक पूँजी सामान्यतः उत्पादन की उच्च दर के लिए योगदान करती है, सैद्धान्तिक तथा वास्तविक दोनों अनुभवों से पता चलता है कि सम्बन्ध न तो निश्चित होता है और न एक से एक का सम्बन्ध हमेशा स्वीकारात्मक और नियत होता है। तथापि, इस प्रकार पूँजी आधारित संवर्धित आय के उत्पादन के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव हमेशा स्वीकारात्मक और वांछित नहीं होते जैसा कि हमने आय से जुड़े हुए सूचकांकों की सीमाओं और अपर्याप्तता पर चर्चा करते समय देखा। पूँजीगत उत्पादन अनुपात और राष्ट्रों, उद्योगों, कालावधि, क्षेत्रकों आदि के पार परिवर्तनशीलता के बीच व्यापक अपसारिता यह विश्वास करने का कारण बताती है कि पूँजी निर्माण के विकास की धनात्मक दरें हमेशा आवश्यक रूप से संवर्धित उत्पादन प्रवाह से नहीं जुड़ी होती। कई विभिन्न प्रकार के पुनर्संगठन, पुनर्गठन, नीति हस्तक्षेप आदि से संभव है कि बिना किसी अतिरिक्त पूँजी निवेश के व्यष्टियों और समुदायों दोनों के लिए आय कल्याणकारी स्तरों में वृद्धि हो। पुनर्आबंटनीय और विस्तारवादी दोनों, इस प्रकार के कई हस्तक्षेप भौतिक और वित्तीय पूँजी निर्माण से मुक्त होते हैं। तथापि, काफी लम्बे समय से, सामान और सेवाओं के प्रवाह को बढ़ाने के लिए एक आवश्यक शर्त के रूप में पूँजी निर्माण की भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता है। कई अन्य प्रकार के घटक और परिस्थितियाँ पूँजी संचयन का प्रभाव अवधारित करने के क्रम में हस्तक्षेप करती हैं। इस प्रकार यह ऐसा घटक है जिसे स्वयमेव निर्णायक नहीं माना जा सकता। पूँजी संचयन की संभावनाएँ, दर और निर्माण, आर्थिक और अनार्थिक, विगत और विद्यमान घटकों की भीड़ जिसमें भविष्य की उम्मीदें भी शामिल है, में आकास्मिक हैं। व्यक्त और अव्यक्त प्रौद्योगिकी, भूमि, श्रमबल, पूँजी, प्रौद्योगिकी और संबंधित घटक के मूल्यों के बीच विद्यमान समानुपात, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रतिष्ठान, माँग की प्रमात्रा और प्रतिदर्श, उद्यमीय मानसिक तैयारी (पाशविक उत्साह, भूमंडलीय संरचना आदि उन बीसियों घटकों में से हैं जो पूँजी संचयन को स्वयमेव पराधीन परिवर्तनशील बना देते हैं। इस संदर्भ में, भारत के संगठित, विशेष रूप से संगठित औद्योगिक क्षेत्र में दृश्यमान स्थिति को याद किया जा सकता है जो पूँजी के विशाल भंडार और अधिकांश प्रगतिशील प्रौद्योगिकी के असमानुपातिक तौर पर हिताधिकारी होने के बावजूद रोज़गार और सकल घरेलू उत्पाद के सापेक्षतः अल्पांश का योगदान करती है। तब, घरेलू घटकों के साथ, वंशानुगत सामाजिक–आर्थिक संरचनाओं और संस्थाओं की तरह, अन्तरराष्ट्रीय घटक और पर्यावरण की पूँजी संचयन (इसकी दर, प्रतिदर्श और प्रबन्धन), विशेषतः भूमंडलीय असमानताओं, गतिशील तुलनात्मक लाभ, श्रमबल और भूमंडलीय शक्ति संतुलन के अन्तरराष्ट्रीय विभाजन, विशेष रूप से आर्थिक और सैन्य शक्ति के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रों के बीच दूरी पर शक्तिशाली प्रभाव डालते हैं। देश बनाम शेष का उत्पादकता विभेदन जितना अधिक होगा, इसका निरपेक्ष और सापेक्ष जितना छोटा होगा, विद्यमान प्रौद्योगिकीय क्षमताएँ जितना कम होंगी और उच्च उत्पादकता वाले देशों की तरह जितना अधिक अभिप्रेरणा होगी, तब निम्नस्तर वाले देश के लिए ग़ैर–बर्हिजनित, स्वायत्त पूँजी संचयन करना उतना ही अधिक मुश्किल होगा। वास्तव में, प्रत्याशाओं में उस समय नाटकीय परिवर्तन हो सकता है यदि गुणात्मक रूप से भिन्न ग़ैर–अनुकरणीय विकास–पथ तथा प्रतिदर्श का अनुयोजन हो। मुद्दा है : पूँजी संचयन एक बड़ी संख्या में आर्थिक और ग़ैर–आर्थिक घटकों द्वारा प्रभावित स्वयमेव पराधीन परिवर्तनशील है। पूँजी संचयन का प्रतिदर्श, इसका संस्थागत संगठनात्मक स्वरूप और संरचना, प्रौद्योगिकीय स्वरूप आदि परिवर्तन और रूपान्तरण की प्रक्रियाओं में इसकी भूमिका का अवधारण करना कितना निर्णायक हैं। परम्परागत, मुख्य प्रवाह का विकास अर्थशास्त्र पूँजी निर्माण से ग्रसित है (जैसा कि विकास प्रतिदर्शों और सकल घरेलू उत्पाद के अवधारकों पर साहित्य से देखा जा सकता है)। यह मूलतः सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि पर आधारित अनुकरणीय, पकड़ में आने वाला औद्योगिकीकरण रूपांतरण है। यह इस बात को मान्यता नहीं देता कि विगत में सफल प्रतिद्वंद्वी जिन्होंने केवल पूर्वजों की बराबरी नहीं की थी अपितु कइयों से आगे भी

निकल गए थे जिनके साथ अपेक्षाकृत अन्तर बहुत कम था जिनकी सामाजिक–आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि समान थी, अन्तरराष्ट्रीय भू–राजनीति में, किसी को पकड़ने और आगे निकलने में प्रबल राष्ट्रवादी भावना वाले, राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी थे और परम सौभाग्यशाली थे जिससे आन्तरिक और बाह्य अनुकूल घटक उनके पक्ष में रहे। आज की तरह, वर्तमान में ग़रीबों के लिए विलम्ब से औद्योगिकीकरण, विशाल आय वाले पूर्व उपनिवेशी देश, परिसम्पत्तियों, प्रौद्योगिकी

अन्तर, उपनिवेशी शोषण और नंगेपन की गाथा जिसके पास भौतिक और सामाजिक अवस्थापना का विशाल जमावड़ा है, से पूँजीगत संचयन आधारित अनुकरणीय विकास–पथ से अन्तर बढ़ेगा और मजबूत होगा तथा पराधीनता स्थायित्व प्राप्त करेगी। कुछ समय के लिए मैं ईस्ट एशियन टाइगर्स के मामले को सफल पकड़कर्ता के मामलों के रूप में हवाला देता हूँ। परन्तु हाल की घटनाओं और गहन विश्लेषण ने दर्शाया है कि विशेष और अपूर्व परिस्थितियों जिन्होंने इन अर्थशास्त्रों (वास्तव में, उनमें से दो छोटे शहर राज्य होने के कारण तथा एक प्रत्यक्ष उपनिवेश भी था, मुश्किल से किसी तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में सुसंगत हैं) कुल मिलाकर स्वतंत्र, स्वायत्त, लोगों को शक्ति–सम्पन्न बनाने वाले, पूर्णतावादी तथा न्यायसंगत विकास के मामले बिल्कुल नहीं हैं जिन्हें ग़रीब तथा कमजोर अर्थव्यवस्थाएँ अपनी भूमिका प्रतिदर्श के रूप में ले सकती है।

यह सत्य है कि काफी देशों के लिए समयानुक्रम और व्यापक प्रतिनिधित्व आँकड़े पूँजी संचयन की दर (तकनीकी और संगठनात्मक स्वरूप) में दीर्घावधि परिवर्तनों के बीच मजबूत संयोजन दर्शाते हैं। परन्तु यह प्रमाण पूँजी संचयन जिसमें पूँजी संचयन पर आय का प्रभाव भी शामिल है, की दर और प्रतिदर्श के अवधारकों के प्रश्न का उत्तर नहीं देता है।

1.6.9 अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाह

उपरोक्त उपसंहार उन सहवर्ती सिद्धांतों के साथ तालमेल बिठाता है जो विकासपरक परिवर्तनशील राशि के रूप में पूँजी संचय को प्राथमिकता तथा निर्णय करने की शक्ति प्रदान करते हैं। इस सहवर्ती प्रस्थापना के अनुसार ग़रीब, कम विकसित विलम्ब से औद्योगिकीकृत देशों जिनकी प्रौद्योगिकीय क्षमताएँ कम तथा राज्य कमजोर हैं, को धनी और आरंभ में औद्योगिकीकृत देशों से अन्तरराष्ट्रीय पूँजी 'अंतरणों' पर निर्भर रहना पड़ता है ताकि वे कम आय, कम बचत, कम पूँजी संचयन के विद्वेषपूर्ण क्षेत्र से स्वतंत्र हो सकें और संचयी तरीके से कम आय के साथ काम कर सकें।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति से, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति हैरी ट्रूमेन के अक्सर उद्धृत आरंभिक भाषण जिसमें 'कम विकास' को मान्यता दी गई थी तथा 'विकास' (वास्तव में, तथाकथित कम विकसित विश्व को धनी व पहले औद्योगिकीकृत देशों की एक हल्की अनियंत्रित रूप से जुड़ी हुई कार्बनप्रति बनाने का प्रयास), की चुनौती को स्वीकार किया गया था, के बाद पूँजी अन्तरणों की नीति विकास अर्थशास्त्र और नीति का एक महत्त्वपूर्ण आलम्ब रही है। विविध स्तरीय एजेन्सी के रूप में अपनी क्षेत्रीय सहायक शाखाओं के साथ विश्व बैंक अत्यधिक आकर्षक कारोबार में लगा हुआ है जिसे विकास वित्त–पोषण कहा जाता है। विभिन्न रूपों में जैसे सरकारी विकास सहायता ;क्क।द्ध अर्थात् रियायती दर पर कर्जे, अनुदान, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश ;थ्क्प्द्ध, पोर्टफोलियो निवेश, बाहरी (निजी लेखा) उधार, व्यापार क्रेडिट आदि को प्रापकों तथा 'आदाताओं'/उधारकर्त्ताओं/निवेशकों दोनों द्वारा अन्तरराष्ट्रीय विकास सहयोग का महत्त्वपूर्ण स्तम्भ माना जाता है।

ये प्रवाह द्वि–अन्तर सिद्धांत के रूप में न्यायनिर्णीत थे अर्थात् बचतों की कमी को पूरा करना (कम स्तर वाले औद्योगिकीकरण, प्राथमिक पण्यों की आपूर्ति और माँग दोनों की कम तन्यता द्वारा 'प्रभावित' निर्यात निराशावाद के क्रम में)। तथापि, यह प्रतिधारित था कि पूँजी प्रवाह अपने साथ 'प्रगतिपूर्ण' उच्च उत्पादकता प्रौद्योगिकी, नए उत्पाद लाते हैं जो उत्पादन चक्र को पूरा कर सकते हैं और अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण में सहायता कर सकते हैं। इस प्रकार तर्क दिया गया था कि अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाह के परिणामस्वरूप वृद्धिगत आय प्रवाह और प्रौन्नत उत्पाद–मिश्रण ग़रीब, औसतन कम आय वाले देश में विकास की शुरुआत और स्थायित्व के लिए सहायता कर सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से पूँजीगत आन्दोलन की प्रक्रियाएँ विभिन्न स्वरूपों में जारी है तथा आरंभ में औद्योगिकीकृत देशों में विलम्ब से हुए औद्योगिकीकृत देशों को वित्त–पोषण होता रहता है यद्यपि संसाधनों के प्रतिकूल प्रवाह की आशंका भी व्यक्त की गई है।

विभिन्न परिवर्तनशील घटकों और प्रक्रियाओं जो साथ–साथ काम करती हैं, के प्रभाव को पृथक् करने में परेशानी के परिणामस्वरूप, अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाहों के प्रभाव का एक स्वतंत्र, पृथक् समग्र अनुभवजन्य निर्धारण प्रस्तुत करना मुश्किल है। तथापि, कमजोर अर्थव्यवस्थाओं की संचयात्मक ऋण देयता में उस अनुपात तक वृद्धि हुई है जितने अनुपात में प्रायः ऋण सेवा राशियाँ ताजा नए प्रवाहों से अधिक होती है। इस प्रकार, एक निबल आधार पर, कोई देश पूँजी–घाटे वाली अर्थव्यवस्था से पूँजी– आधिक्य वाली अर्थव्यवस्था को संसाधनों के प्रतिकूल प्रवा के लिए कतिपय उपाय करता है। तब सरकारी विकास सहायता के महत्त्व से विदेशी प्रत्यक्ष निवेश और विदेशी पोर्टफोलियो निवेश में कमी आई है। अल्पकालिक प्रत्याशित पूँजी आन्दोलनों ने ज्योतिष–आधारित अनुपातों को प्राप्त कर लिया है जिससे अर्थव्यवस्थाएँ अस्थिर हुई है। विश्व विकास प्रतिवेदन 2000–01 के अनुसार, 1999 में कुल प्रवाह 8289.20 करोड़ अमेरिकी डालर थे। इनमें से निजी लेखा वाले प्रवाह अधिकतम 7144.60 करोड़ अमेरिकी डालर जबकि सरकारी विकास सहायता 619.30 करोड़ अमेरिकी

डालर और ग़ैर–सरकारी संगठनों द्वारा अनुदान 223.20 करोड़ अमेरिकी डालर थे। इन आँकड़ों में रूस और अन्य संक्राम्य अर्थव्यवस्थाओं की जाने वाली राशियाँ भी शामिल हैं। यह उल्लेखनीय है कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश अभी भी उन समृद्ध देशों में अधिक है जो अमीर, निवेशक और प्रापक अर्थव्यवस्थाओं के बीच लाभप्रदत्ता की भूमिका, माँग (बनाम आवश्यकता) और पारस्परिक संपूरकता को विशेष रूप से दर्शाते हैं। संक्राम्य कम्पनियाँ, अपनी शाखाओं और जुड़ी हुई संस्थाओं के साथ, मुख्य मुद्रा सट्टेबाजी में सक्रिय सहभागिता और जो विलयन और अधिप्राप्तियों के माध्यम से भूमंडलीय बाज़ार में निगमीय नियंत्रण के लिए मुख्य खिलाड़ी हैं। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का प्रचुर अंश उनकी शाखाओं में मूल राशि का है तथा कुछ लाभ अन्तरण मूल्यांकन के माध्यम से अनुचित रूप से प्राप्त किए जाते हैं। उत्पाद में मिलावट, प्रौद्योगिकी, ऊर्जा उपयोग की प्रमात्रा और प्रतिदर्श, उत्कृष्ट, राष्ट्रीय कम्पनियों के प्रमुख प्रबन्धकों के बीच अत्यधिक वेतन और परिलब्धियों का भुगतान करने वाले छोटे देश, कर चोरी और अपवचन, राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों को रिश्वत, उपभोक्तावाद को सक्रिय बढ़ावा, स्थानीय–राष्ट्रीय संस्कृतियों का सम्मान न करना, मानदण्ड और प्रसार की अर्थव्यवस्थाओं से लाभ के लिए एकसमान उपभोग प्रतिदर्श, वित्तपोषण और मुद्रा बाज़ार से प्रत्याशित लाभ उठाना आदि उन प्रमुख राष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लक्षण हैं जो आमतौर पर निर्धन और धनी देशों के ग़रीब आदमी और औरतों के दृष्टिकोण से ऋणात्मक माने गए हैं। विशेष रूप से अपनी उत्पादन सुविधाओं की अवस्थिति को हस्तांतरित करके श्रमबल और रोज़गार पर उनके प्रभाव को स्वीकारात्मक नहीं माना गया है। इसी प्रकार, उन्होंने ग़रीब देशों की राष्ट्रीय संप्रभुता को विभिन्न तरीकों से कमजोर किया है और अन्तर्मुखी और लोग–संकेन्द्रित नीतियों के बलों को कमजोर किया है। इनमें सर्वाधिक गंभीर स्थिति उनकी बढ़ती हुई पराधीनता के रूप में उनका प्रभाव है। किसी भी मामले में, उनका अनुभव समामेलित आधुनिकीकरण के ग़ैर–संभव और ग़ैर–अनपेक्षित दोनों को विशेष रूप से दर्शाया है। भारत जैसे देश में, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश और बाहरी वित्त–पोषण अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि विदेशी पूँजी को लाल–चटाई व्यवहार खोलने अथवा देने के बाद भी, उन्होंने आमतौर पर 25 प्रतिशत से अधिक के निवेश की समग्र दर की तुलना में मुश्किल से सकल घरेलू उत्पाद के 2 प्रतिशत से अधिक प्राप्त किया है।

1.6.10 राज्य की भूमिका

उपरोक्त पूँजी संचयन और अन्तरराष्ट्रीय आन्दोलनों की भूमिका के निदर्शी, संक्षिप्त विश्लेषण से विकास के प्रमुख इंजन (आरंभिक औद्योगिकीकृत पूर्व–उपनिवेशी शक्तियों के प्रभुत्व के अधीन अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों द्वारा अनेक तरीकों से समर्थित) के रूप में पूँजी संचयन के माध्यम से विकसित करने के लिए सीमाओं, विकृतियों, तात्कालिक और सचेतन प्रयासों की ग़ैर–वांछनीयता को दर्शाए जाने की आशा की जाती है। वास्तविक उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए तथा इस प्रयोजनार्थ, आमतौर पर पूँजी संचयन की विशेष रूप से उस समय आवश्यकता होती है जब उत्पादन के अन्य घटक उपलब्ध हों। परन्तु यह अनेक उच्च परिणामों का उपाय है और ग़रीब देशों में प्रचलित 'सामाजिक–आर्थिक संस्थागत ढाँचे' में परिवर्तनों का ऐसा परिणाम होना चाहिए जो दीर्घ और अल्प स्तरों पर विकास का विरोध करते हैं। अपरिवर्तित को छोड़कर तथा, वास्तव में, विद्यमान दुष्क्रियात्मक, विकृत तथा विकास विरोधी संरचनाओं, प्रतिष्ठानों और सम्बन्ध को मजबूत बनाकर तथा इस प्रकार के फ्रेमवर्क में प्रभुत्व, मुख्य उपस्कर के रूप में पूँजी निर्माण पर निर्भर करते हुए निराशाजनक स्थिति, संक्राम्यता, उत्पीड़न तथा मानवीय और राष्ट्रीय क्षमता से इंकार को मजबूती प्रदान होनी चाहिए। विकास मौलिक रूप से एक सामाजिक–आर्थिक अभ्यास है (सारांश में, विकास राष्ट्रीय, सामुदायिक और व्यष्टि की शक्ति सम्पन्नता का श्रेष्ठतम जोड़ है।), इसके तकनीकी आर्थिक पहलुओं को उनके अन्यायपूर्ण, उत्पीड़क लक्षणों को अलग करके पहले द्वारा नियंत्रित सहायक पहलुओं के रूप में शामिल किया जाना चाहिए यद्यपि सशक्त पुनर्गठन एक आवश्यक पूर्वापेक्षा हो सकती है। संसाधन अंतरण नीति की लोकप्रियता, संयुक्त राष्ट्र संघ के कभी न पूरे होने वाले अमीर से गरीब देशों को सहायता के लक्ष्य ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे उन्हें तथाकथित दाता और प्रापक देशों में शासक प्रतिष्ठानों के हितों को पूरा करने के लिए उसकी वंशानुगत क्षमता से व्युत्पन्न किया गया हो। पहली स्थिति में, इन अंतरणों से अपने माल और सेवाओं (निर्यात) के लिए माँग तथा बाज़ार पैदा होता है। ग़रीब देशों के प्रतिष्ठित लोगों के लिए क्षेत्र के साथ कठोरता से पेश आने तथा बचतों को उत्पन्न करने के लिए आवश्यकता को कम करने से अलग ऐसे प्रवाहों से प्रौद्योगिकी ब्राण्ड नाम तथा उपभोग के ऐशो–आराम वाले स्तरों के लिए अवसरों तक पहुँच बनाते हैं और विकास का भ्रम पैदा करने में सहायता करते हैं। किसी भी हालत में एक असमान समाज में, संस्थागत संरचनात्मक परिवर्तन किए बिना संसाधन का अन्तर्विष्टीकरण उत्कृष्ट स्थिति में बैठे हुए लोगों को असमानुपाती लाभ देता है।

परम्परागत विकास अर्थशास्त्र की च्व्क समालोचना परिवर्तनशील पूँजी संचयन की नीति की निर्णायक जाँच से परे है। यह सच है कि जब तक 1970वें दशक के प्रथम अर्द्धांश में विकास अर्थशास्त्र में 'प्रति–क्रांत' नहीं हुई तब तक जिसमें सामाजिक कल्याण प्रतिष्ठानों को संतुष्ट करने के साथ–साथ, पूँजी संचयन, औद्योगिकीकरण और आर्थिक विकास की प्रक्रियाओं को सक्रिय बनाने, निदेशित करने तथा प्रत्यक्ष तौर पर प्रेरित करने में राज्य की मुख्य तथा अग्रणी उत्प्रेरणात्मक, उद्यमी भूमिका पर थोड़ा मतभेद था। सक्रिय स्थायी विकास नीति के व्यापक मानदंडों के भीतर, वास्तव में, प्राबल्यता में अंतर, सूक्ष्म भेद, एजेंसियों की अभिरुचियाँ, उपस्कर और संगठनात्मक स्वरूप, स्थायी व्यवधानों का टिकाऊपन तथा उनके

विभिन्न घरेलू तथा बाहरी सामाजिक तथा आर्थिक समूहों से सम्बन्ध थे। आत्मविश्वास और राष्ट्रमंडली में सापेक्षतः स्वतंत्र स्थान हेतु संघर्ष के लिए उपनिवेशवाद के बाद के आवेग पर भी कुछ अपवाद थे। उन समाजों में जहाँ राज्य शुरुआती उद्योगपतियों के ऐतिहासिक अनुभव से निरावृत अपने संघटकों के साथ अपेक्षाकृत प्रगतिशील और बेहतर संगठित संस्थाओं में था, राज्य ने संचयन की प्रक्रियाओं को निदेशित किया तथा उन पर नियंत्रण रखा और सफलतापूर्वक शक्ति और सक्षमता के अन्य वैकल्पिक केन्द्रों का, विशेष रूप से उन देशों में सृजन किया जिनकी विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के प्रति प्रतिबंधित पहुँच थी। किसी भी मामले में प्रमुखतः राज्य से राज्य स्तर पर 'अनुदान' अथवा रियायती विदेशी सहायता ने उस समय के विकास की गति बढ़ाने में निर्णायक भूमिका निभाई जब तक 1970वें दशक के शुरुआत में प्रथम तेल आघात नहीं लगा। भारत में, मूलभूत आर्थिक और भौतिक अवसंरचना मुहैया कराने तथा भारी और मौलिक पूँजीगत एवं अन्तवर्ती सामान उद्योगों की स्थापना करने, बचत और निवेश की दर में वृद्धि करने, क्षेत्रों में निजी उद्योग क्षेत्र के विकास का विनियमन, मार्ग निदेशन और समर्थन करने तथा विशेष रूप से कमजोर वर्गों के लोक कल्याण के कुछ नियोगों को लागू करने के लिए लोक क्षेत्र को अग्रणी भूमिका, विशेषतया प्रत्यक्ष उद्यमी भूमिका दी गई थी। इन ऐतिहासिक कार्यों को पूरा करने में वास्तव में काफी लम्बा रास्ता तय करना पड़ा यद्यपि यह प्रक्रिया स्थायी रूप नहीं ले सकती तथा लोक क्षेत्र और राज्य आर्थिक क्षेत्र में प्रचंड आक्रमण का शिकार हुई।

1.6.11 विकास के अर्थशास्त्रा में प्रतिकारी क्रांति : उदारीकरण, निजीकरण, भूमंडलीकरण (LPG) पैकेज

विकास प्रक्रियाओं में राज्य की क्रियाशीलता पर व्यापक सामंजस्य में, राज्य के चरित्र तथा राज्य की क्षमताओं और शक्तिसम्पन्न सामाजिक समूहों जो विकास स्थिति के प्रतिद्वन्द्वी थे, की भूमिका, स्वरूप, निपुणता तथा रणनीतिक स्थिति के प्रश्न पर शुरुआती दौर में अधिक ध्यान नहीं दिया गया। दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में व्यापक, सामान्य सामाजिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक वर्ग तटस्थ राज्य जो विद्यमान और भविष्य की बहिर्मुखताओं को हिसाब में लेकर तथा संकीर्ण दृष्टि पर काबू पाते हुए हुज्जती बाधाओं पर सहयोजित कार्य करने में सक्षम था, विकास कार्यों को करने के लिए प्रभावी एजेंसी के रूप में माना गया था। इसका कार्य, आम सामाजिक सामंजस्य, विशेष रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की आरंभिक अवधि में राष्ट्रवादियों के शुरुआती उल्लास उन्माद पर नियंत्रण रखना माना गया था। भारत के कारोबारी वर्गों की लोक क्षेत्र के प्रति भूमिका और दृष्टिकोण, आरंभिक समर्थन परन्तु इसे कम करने के लिए स्थायी संघर्ष और इसकी व्यापक अभिरुचियों के तालमेल से इसके वास्तविक कार्यों में जोड़–तोड़ करना राज्य की भूमिका के प्रति आरंभिक उल्लासमूलक अभिगमों की सहजता को विशेष रूप से प्रकट करते हैं। तथापि, अनुभव प्राप्त होने पर राज्य के वास्तविक लक्षण, क्षमताओं, समाज, विशेष रूप से कारोबारी वर्ग और संगठित कर्मी वर्ग के साथ उसके सम्बन्ध और इसकी आन्तरिक संगठनात्मक गतिशीलता के प्रभाव से सम्बन्धित अनुभूतियाँ हुई जिनके कारण कुछ मामलों में चरित्र–चित्रण हुआ जैसे सौम्य–राज्य अथवा ऐसा राज्य जहाँ कोई समाधान न हो अपितु समस्याएँ जन्म लेती रहें अथवा राज्य का विकास अथवा सुधार करने की आवश्यकता जिससे उसे विकास के अग्रदूत के रूप में प्रभावी तौर पर इस्तेमाल किया जाए। राज्य आविष्कारों को कुछ निर्णायक पहलुओं की नज़रन्दाजी ने निराशा, मोहभंग को जन्म दिया जो राज्य के प्रबल समर्थकों की आवाज को दबाने के लिए पर्याप्त मजबूत थे। अमीर, शक्तिसम्पन्न राष्ट्रों में कई परिवर्तन जैसे पूँजीवादी विस्तार के स्वर्णिम युग का अंत, बढ़ती हुई बेरोज़गारी और मुद्रास्फीति, शीतयुद्ध, भू–राजनीति का बोझ, नव औद्योगीकृत देशों के निर्यातों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्तियों का उभरना तथा अपेक्षाकृत सफल पूर्व एशियन टाइगर्स द्वारा कुछ अन्तरिक्ष पर कब्जा करना और इसी के साथ निकट भविष्य में पूर्ण रोज़गार के लिए लोकव्यय और कर्मी वर्ग के दावे द्वारा वर्चस्व प्राप्त कर रही घरेलू अर्थव्यवस्था तथा गंभीर सामाजिक सुरक्षा के लिए अवलम्ब धनी अमीर देशों में स्थायित्व विरोधी निगमित बलों का मजबूत करने को प्रवृत्त हुए। इससे कमजोर देशों में असंतोष और मोहभंग की मजबूत धारा प्रकट हुई। उनकी वृद्धि महँगे और अस्थायी रूप में बदल गई। उनकी ग़रीबी, बेरोज़गारी, अभावग्रस्तता तथा असमानताओं की मुख्य समस्याएँ राज्य क्षेत्र की अप्रत्याशित वृद्धि दर, उद्योगीकरण और विकास के होते हुए भी स्वराघात अंकित कर रही थी। अपेक्षाकृत कई ग़रीब देशों में अधिक मजबूत कारोबारी तथा औद्योगिक वर्ग प्रतीत हुए जो राज्यवाद के अन्दर औपचारिक और अनौपचारिक रूप से अपने नियंत्रण वाली दोनों युक्तियों के सहारे फले फूले। प्रत्येक स्थिति में, राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों का बदला हुआ संकेन्द्रन तथा केन्द्रीकरण था। लोकप्रिय बलों ने किसी महत्त्वपूर्ण डिग्री को लाभ नहीं पहुँचाया, विशेष रूप से सापेक्ष तौर पर उनकी वृद्धि संक्रिया में प्रमुखतः उद्देश्यपरक सीमित सहभागिता थी और इसी कारण वे परिवर्तनशील प्रमुख लक्ष्य के रूप में राज्य के नेतृत्व वाले उद्योगीकरण और सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि के प्रति कोई गहरे सम्बन्ध तथा वचनबद्धता विकसित नहीं कर पाए। संगठित क्षेत्र बहुत छोटा था तथा विशाल और विकासोन्मुख अनौपचारिक क्षेत्र संवर्धित तौर पर सीमांतक हो रहा था। कई पहलुओं वाली उलझनों से प्रेरित होकर और उनका लाभ उठाकर विकास सिद्धांत में 'प्रति–क्रांति' ने समाजभर में राज्य नेतृत्व वाली (लोकक्षेत्र और लोक निवेश आधारित) विकास प्रक्रियाओं जो अभी तक प्रमाण थीं की सीमित चिन्ताओं को दूर करने का प्रयास किया। ऋण बोझ की चमत्कारिक वृद्धि, विदेशी खाते की अन्तिम सुभेद्यता तथा राज्य का तेज वित्तीय संकट उन शक्तिशाली बहुस्तरीय वित्तीय संस्थानों के लिए फायदेमंद सिद्ध हुआ जो बढ़ते हुए क्रम में भूमंडलीय वित्तीय संस्थाओं और ज्छ्ळ की उस कार्यसूची को अपना रहे थे जिससे, विशेष रूप से विद्यमान समाज वादियों के पतन से पैदा हुई वैचारिकी सुखभ्रान्ति के क्षणों में, विश्व अर्थव्यवस्था पर

काबू पाने की अनियंत्रित कार्यसूची को आगे बढ़ाया जा सके। इससे बार–बार बाज़ार आधारित नई उदारवादी कार्यसूची जो नई 'विकास नीति' के रूप में वाशिंगटन कान्संसस के नाम से लोकप्रिय थी, को अपनाया गया। इसी के साथ इसे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा निधि विश्व बैंक की शर्तों पर दर्जनों ऋण–ग्रस्त, ग़रीब और कमजोर अर्थव्यवस्थाओं पर लागू किया गया जिससे उन्हें उनके विदेशी मुद्रा नकदी संकट से निजात मिल सके। भारत में, ढाँचागत समायोजन का यह कार्यक्रम समान संकट जैसी स्थिति की प्रतिक्रिया में 1990 के दशक के आरंभ में अपनाया गया था। इसके मुख्य घटक थे : अविनियमित, बाज़ार नियंत्रित विदेशी और स्थानीय पूँजी के पक्ष में प्रमुखतः पहली स्थिति में प्रत्यक्षतः भागीदारी और नियामक दोनों भूमिकाओं से राज्य की महत्त्वपूर्ण वापसी। इसी नीति में उन लोक उद्यमों का निजीकरण भी अन्तर्ग्रस्त था जिन्होंने अब तक कई अर्थव्यवस्थाओं पर वर्चस्व बनाए रखा था। विश्व व्यापार संगठन के नियमों (भूमंडलीकरण) के अनुसार, कमजोर देश की अर्थव्यवस्थाओं को मुक्त करने तथा बाज़ार बलों की अनियंत्रित कार्यवाही पर सुविधाजनक प्रतिबंधों का लगाया जाना नए–उदारवादी विकास एजेंडों के अन्य घटक थे। इस पैकेज से अवांछित उच्च विकास के युग में प्रवेश की कल्पना की गई थी जिससे, बदले में, अधोपतन और उत्कर्षण प्रक्रियाओं से ग़रीबी को कम करने की उम्मीद की गई थी। 1990 का सम्पूर्ण दशक इस प्रतिदर्श को विशाल पैमाने पर लागू करने का साक्षी था परन्तु इसका परिणाम अधिक कुंठाग्रस्त, अस्थायी तथा ग़रीब विरोधी और कर्मी वर्ग विरोधी था। वास्तव में विकास गति को जारी रखना मुश्किल हो गया क्योंकि उदारवादी नीतियों के संकीर्णतः केन्द्रित विकास और रोज़गार विरोधी होने के कारण क्षमताएँ अप्रयुक्त रहीं और निवेश के लिए माँग कमजोर पड़ गई तथा वित्तीय रूप से बाधित राज्य मशीन उद्योग के पुनरुत्थान का कार्य नहीं कर सके। इस प्रकार के विनाशपूर्ण परिणामों की प्रतिक्रिया में, उदारीकरण–निजीकरण–भूमंडलीकरण ;स्च्ळद्ध पैकेज से व्यापक मोहभंग हुआ है जो विकास अर्थशास्त्र में प्रति–क्रांति का मूल है। उसके विरोध में और असैनिक समाज संस्थाओं की पहल के रूप में, कई आधारभूत आन्दोलनों ने मिथ्या विकास सिद्धांतों और उनके नीति पैकेज को निरावृत करने तथा लोकप्रिय जनसमुदाय को अपने हितों, स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक व्यवस्था के बचाव में सक्रिय होने के लिए अपने प्रयासों में छोटी–सी शुरुआत है। वास्तव में, अन्तरराष्ट्रीय ऋण संकट और वाशिंगटन कान्संसस के बीच मजबूत सम्बन्ध होने के कारण, यह तर्क दिया गया है कि स्च्ळ पैकेज नीति मूल रूप से अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संसाधनों के अन्तरण की माँग को बनाए रखने के साथ–साथ ऋण–संग्रहण युक्ति है। निश्चित तौर पर, यह विकल्प लंगड़ाते हुए, आधे–मन से अप्रभावी राज्य नियंत्रणवाद में वापस जाने के लिए नहीं है जो इसके सकल–घरेलू उत्पाद केन्द्रित रूपान्तरण तथा शक्तिशाली वर्गों, ऋणों, अभिप्रेत व्यवसायों के कारण मजबूतों को मजबूत तथा कमजोरों को कमजोर बनाती है। कमजोरों को शक्तिशाली बनाने के स्थान पर उन्हें और शक्तिहीन करना विकास अर्थशास्त्र में प्रति–क्रांति का परिणाम था। उन विकल्पों के लिए खोज जारी है जो पैत्रिकतावादी, ऊपर–नीचे, जिज्ञासु, अर्थ–विरोधी तथा अत्यधिक केन्द्रित नहीं है, जो दक्षिण देशों में प्रतिकृति नहीं करते हैं, निराशाजनक तथा संक्राम्यता–त्रस्त गलत–विकास नहीं है जैसा कि उत्तर में देखा जाता है। यह निश्चित रूप से प्रमुख कार्य है जिसके सामने विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था की चुनौती है। चूँकि उदारीकरण अवधि की विकास गति को जारी नहीं रखा जा सका तथा एक विलम्बित अवस्फीति अथवा अधोन्मुखी चरण स्थापित हो चुका है जो रोज़गार में प्रतिकूल रुझान के साथ भारत में लोगों की जीविका और सुरक्षा के लिए ख़तरा बना हुआ है तथा इसके लिए विकल्पों की तलाश करना भारत में वैध कार्रवाई है।

1.6.12 राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगम की रूपरेखा

पूर्वगामी विश्लेषण स्पष्ट रूप से ऐसा एजेंडा निर्धारित करता है जिसे च्म अभिगम द्वारा सम्बोधित किया जाए। विश्व में लगातार बढ़ती हुई असमानताओं के परिणामस्वरूप विकास संभाषण में राष्ट्र विश्लेषण की इकाइयों (उदाहरणार्थ 'प्रगतिशील' और 'पिछड़े' राष्ट्र) के रूप में जाने जाते हैं। राजनीतिक विजय की ऐतिहासिक विश्वस्तरीय प्रक्रियाओं, प्रजातीय मार्जन, वस्तुओं, घटकों और वित्तीय बाज़ार में विभिन्न प्रकार के आर्थिक संव्यवहारों के माध्यम से एकपक्षीय लाभकारी आर्थिक वर्चस्व तथा सांस्कृतिक प्रभुत्व जैसा कि विगत पाँच शताब्दियों और उससे पहले ध्यानपूर्वक देखा गया है, ने वर्चस्व और शक्तिहीनता के इन प्रतिदर्शों को बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। परन्तु एक राष्ट्र के भीतर क्षेत्रीय, अन्तर–राज्यीय, अन्तर–वैयक्तिक, अन्तर–वर्गीय, अन्तर–व्यवसायी और कई अन्य आयामों में विभेदन तथा स्तरीय–विन्यास विद्यमान युग के उद्घोषित लक्षण नहीं है। विगत पाँच शताब्दियों का ऐतिहासिक पर्यावलोकन निश्चित रूप से दर्शाएगा कि सम्बद्ध देशों की आन्तरिक सामाजिक–आर्थिक स्थिति और संस्कृति की तीव्र अंतरराष्ट्रीय विषमताओं तथा आधुनिक आर्थिक विकास की प्रक्रिया तक असमान पहुँच तथा उनसे लाभों को किस प्रकार योगदान दिया है। ब्रोडेल के अनुसार इस अवधि को पूँजीवादी विकास का युग माना जा सकता है जिसका विसरण, सम्प्रेषण, बलपूर्वक अधिरोपण अथवा सचेतन अपनाया जाना अपूर्ण, विषम, विभाज्य और संतुलन की स्थिति में ऐसा बना रहता है जिसने तब तक अत्यधिक बहुआयामी लागती खर्चे पर अप्रत्याशित क्षमता और अवसरों का सृजन किया जो एक अत्यधिक छोटे अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा राष्ट्रों के अन्दर और उनकी सीमाओं से बाहर किए गए आधिपत्य नियंत्रण के कारण मानवता के अत्यंत विशाल बहुसंख्यक वर्ग के लिए भ्रांतिमात्र बने रहते हैं। **PE** अभिगम इस ऐतिहासिक, पूर्णतावादी, दीर्घकालिक बहुमूल्य परिप्रेक्ष्य में विकास की चुनौती पर विचार करता है। इसके अनुसार **PE** विकास निरूपण ओर नीति जो अपने स्वभाववश "अपनी निजी एकीकृत और योजनाबद्ध प्रणाली" (एस.टी. सुरू) अपनाता है और कई

अनुशासनों को परिवेष्टित करता है तथा उन्हें समेकित करता है, विकास का ऐसा अभिगम तलाशता है जो एक साथ आक्रमणकारी तथा अनाक्रमणकारी दीर्घ, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म है तथा संकीर्ण तथा बनावटी अनुशासनात्मक सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। यह अवश्यमेव सार्वभौमिक रूप से वैध और सुसंगत विकास–पथ से निर्धारित नहीं करता है अपितु इसे स्वयं विकास से अपवंचित लोगों के लिए छोड़ देता है क्योंकि वे स्वयं चुने हुए और स्वयं निर्मित पथ पर यात्रा करते हैं। च्म्क का कार्य अवश्यमेव तथा मात्र वैचारिक नहीं है (निश्चित रूप से किसी संकीर्ण, ग़ैरमिलनसारी विचाराधारा की बाध्यता से परे है)। इसे व्यावहारिक दैनिक जीविका के मुद्दों और विभिन्न स्तरों पर दीर्घकालिक अनिवार्यताओं तथा रुझानों से संतुष्ट होना पड़ता है। इसे मान्यता दी जानी चाहिए कि बौद्धिक और व्यावहारिक क्षेत्रों पर इसकी स्पष्ट श्रेष्ठता के बावजूद, यह प्रचलित आदेश के शक्तिशाली सट्टेबाजों के हितों के साथ भलीभाँति संसक्त नहीं हो पाता। इस प्रकार यह विकास के संकीर्ण, विकृत सिद्धांतों और नए–प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रों में आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट विकास की तुलना में कम लोकप्रिय और शक्तिशाली है। वास्तव में बहुत कम राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगमों ने आधुनिक समतुल्य उद्योगीकरण के एजेंडा को अपनाया तथा विभिन्न मूल्यों और प्राथमिकताओं के बावजूद, स्वयं के लिए पृथक, स्वतंत्र तथा व्यापक रूप से स्वीकार्याताक तराश नहीं कर सके। विश्व के कई हिस्सों में कई विद्यमान समाजवाद की विफलता कुछ PE अभिगमों द्वारा अपनाए गए अपूर्व, आंशिक और अनुकृत एजेंडा का प्रमाण हैं। इतना इसलिए ताकि राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगमों के कई किनारों पर भी, 'विकास' की विषयवस्तु और एजेंडा असमान भूमंडलीय व्यवस्था की चोटी पर स्थित आरंभिक उद्योगीकृत पूँजीवादी देशों ने अनुभव से व्यावहारिक तौर पर थोक में उधार लिया जाता है। कई बार, ऐसा वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांति की सार्वभौमिकता के नाम दर किया जाता है। इस प्रकार, वैकल्पिक उद्योगीकरण अथवा उद्योगीकरण के विकल्पों की वकालत करने की बजाए और जहाँ तक उद्योगीकरण और विकास को पर्यायवाची माना जाए, विकास के विकल्प तथा आर्थिक अर्थव्यवस्था के कतिपय विद्यालय, वास्तव में कुल सकल असमानताओं जिन्होंने पूँजीवादी विकास–पथ को विशिष्ट पहचान दी, से बचने की उम्मीद की प्रक्रिया में, प्रमुखतः अग्रणी उद्योगपतियों के तीव्रता से और निश्चित रूप से बराबर आने तथा उनसे आगे बढ़ने के दृष्टिगत वैकल्पिक संस्थागत एजेंसियों (जैसे राज्य, सहकारिताएँ/सामूहिकताएँ) और उनके परिणाम की दलील देते हैं। अत्यधिक उच्च गति से प्रक्रिया की दूरदर्शिता के लिए उत्पादन बलों की प्रगति को दुहराने के उद्देश्य को सामाजिक उत्पादन सम्बन्धों के ऐसे भिन्न समूह का साथ चाहिए था जो अवश्यमेव, एक न्यायिक रूप से अथवा औपचारिक रूप से विभिन्न प्रकार के सामाजिक अथवा राज्य के स्वामित्व और केन्द्रीकृत, सुनियोजित लोक प्रबंधन पर आधारित हो। इसमें जीवनशैली के शब्दों में परिणामों की एकरूपता अन्तर्ग्रस्त थी जैसा कि उपभोग प्रतिदर्श में प्रतिबिम्बित था परन्तु बड़े पैमाने पर, अन्यायपूर्ण और स्वतः प्रवर्तित असमानताओं के बिना व्यापक अभावग्रस्तता तथा वाष्पशीलता में परिणत हो गया। इस प्रकार विकास का प्रतिदर्श, कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं में, विशेष रूप से भौतिक–तकनीकी कार्य स्थितियों के अनुसार उपभोग प्रतिदर्शों, उत्पाद–मिश्रण तथा जीवनशैली के प्रमुख पहलुओं को प्रभावित करने वाले भौतिक–आर्थिक पहलुओं में, औद्योगिक प्रगति के अनुकूल व्यवसाय विशेषतः ऊर्जा के बहुत ऊँचे स्तरों तथा उत्पादन की भौतिक तीव्रता और स्थानिक संकेन्द्रीकरण में अन्तर्ग्रस्त पारिस्थितिक स्थायित्व की अवहेलना के आधार पर प्रौद्योगिकीय तौर पर अवधारित किया गया था।

सैद्धान्तिक प्रणालियों के परिणामस्वरूप, कड़ी दस्तक और उत्कृष्ट लोकतांत्रिक चेतनता और वचनबद्धता के विद्यालय के पाठों, विकास के ज्ञात और अनुभवगम्य प्रतिदर्शों की पूर्व–अवधारिता अनुकृति, त्वरित, कम लागत पर, अवमान्यतः अधिक लोकतांत्रिक और जवाबदेह संस्थागत अवसर्जनों के बढ़ते हुए वकील बहुत कम हैं। स्पष्टतः, एक दवा सभी अभिगमों को उपयुक्त है सिवाय उनके जो विभिन्न और परिवर्तनशील हालातों और संदर्भों में अभेद्य हैं, ऊपर–नीचे विषय–वस्तु और डिजाइन में पित्रसत्ताविद् हैं तथा अत्यधिक केन्द्रीकृत हैं तथा अव्यवहारिक और अलोकतांत्रिक हो चुके हैं। एक राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगम जो लोगों की लोकतांत्रिक शक्तिसम्पन्नता के मूल्यों का समर्थन करता है, उनकी स्वतंत्रता, गरिमा और तालमेलपूर्ण सामाजिक अस्तित्व का सम्मान करता है ऐसे विकास रूपान्तरण के लिए स्थायी नहीं हो सकता है जो अस्वैच्छिक परिणाम देता है, विदेशीकरण और निराशाजनक स्थिति को बढ़ावा देता है तथा लोगों की स्वतंत्र अभिरुचि के स्थान पर प्रतिबन्ध लगाता है चाहे वह व्यष्टिगत हो अथवा सामूहिक जनसामान्य के विशाल सामुदायिक प्रतिष्ठानों से संबंधित हो।

विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था तार्किक और युक्तिसंगत आधार पर विकास के निर्धारणात्मक, पूर्व– अवधारित, सार्वभौमिक धारणा/प्रतिदर्श के सापेक्ष में कार्य नहीं कर सकती है। व्यष्टिगत, पारिवारिक अथवा सामुदायिक स्तर पर कोई भी अच्छे स्वस्थ जीवन का प्रतिदर्श सार्वभौमिक तौर पर स्वीकार्य/वांछनीय नहीं हो सकता है और न लोगों की स्वायत्तता, स्वतंत्रता और आवाश्यकताओं का सम्मान कर सकता है, उदाहरणार्थ किसी एक को इन धारणाओं/प्रतिदर्शों में सामूहिक रूप से तथा मुश्किल से किए गए परिवर्तनों को मुहैया कराएँ। अतः आवश्यकता उन लोगों के अनुभव की अनुकृति में भौतिक समृद्धि के सार्वभौमिक प्रजातिकेन्द्रित, अस्वैच्छिक एजेंडा से मात्र छुटकारा पाने के लिए नहीं है जिन्होंने उसमें जल्दी शुरुआत की जिसे आधुनिकीकरण और उद्योगीकरण तथा आर्थिक–विकास/वृद्धि, निस्संदेह एक लाकुझनेट की आधुनिक आर्थिक वृद्धि के रूप में जाना गया है। निर्णायक पहलू जो विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्थाओं में रूपान्तरण के आवश्यक संघटक हैं और निष्पक्षता, स्वतंत्रता, मानवीय गौरव, तालमेल, प्रसन्नता आदि के उन मूल्यों पर आधारित हैं

जो मानव व्यक्तित्व को पूरी तरह फलने–फूलने की अनुमति नहीं देते हैं और उसी समय सामूहिक हित के लिए योगदान करते हैं। अवश्यमेव PE अभिगम विचार की दुहरी स्थिति से बचाता है तथा इस प्रकार व्यष्टिगत और सामूहिक रूप से उन परिस्थितियों का प्रावधान करने के साथ–साथ मुक्त, बहु अभिरुचियों वाले उपलब्ध स्थान का दायरा बढ़ाता है जिनमें लोग अभिरुचि के अपने अधिकार का इस्तेमाल करने में सक्षम होते हैं। यह न्यायसंगत, सामूहिक शक्तिसम्पन्न होने का एजेंडा है जिसके साथ उसके महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में नियामक सामान भी हैं। इसके अनुसार विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था उन विषमताओं और विकृतियों के उन्मूलन की पूर्व क्रिया के बिना विकास बातचीत को व्यापक बनाने और समृद्ध करने के दौरान अपने एजेंडा के साथ आगे नहीं बढ़ सकती है, जिन्होंने इसके भीतर अपना रास्ता तलाश किया है और वस्तुतः अकादमी और नीति स्तरीय विकास वार्ता और व्यवहार दोनों पर वर्चस्व बनाया है। इस प्रकार एजेंडा का स्वीकारात्मक घटक उन दिशाओं में जो अब तक विकास वार्ता में बचे हुए अथवा मंद अभिनीत चुनौतियों का मुकाबला कर सकती हैं, विद्यमान लोकप्रिय विकास वार्ता पुनः परिभाषित/पुनःअधिकल्पित करके लाभकारी अवसरों और उपस्करों को मुहैया कराता है।

1.6.13 सारांश

विकसित तथा विकासशील दोनों देशों में अमीर और ग़रीब के बीच भूमंडलीय दरार तथा इस तथ्य की ओर इशारा करते हुए कि विकास और आय के स्तर जीवन स्तर में अवश्यमेव सुधार सूचक नहीं है, इस इकाई में विकास की अर्थव्यवस्था और विकास की राजनीतिक के सिद्धांतों के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं और विशेष रूप से भारत के सम्बन्ध में इसकी अनुप्रयोज्यता की चर्चा की गई है। आय को एकमात्र विकास घटक नहीं बनाया जा सकता है जो अर्थशास्त्र द्वारा विशेष रूप जिस प्रकार यह धनी देशों में विकसित थी। ऐसा विकास मुद्दों के एकाधीकरण के परिणामस्वरूप प्रतीत होता है। आय का अभिगम आधारभूत रूप से धनी देशों में आधारित बड़े निगमों के नियंत्रणाधीन पूँजी संचयन की प्रक्रियाओं को पूरा करता है। इस इकाई से पता चलता है कि एक नियामक पूर्णतावादी सामाजिक प्रक्रिया और परिणाम के रूप में विकास इसकी परिभाषा से और इसके आवश्यक तर्क के आधार पर विकास की आर्थिक व्यवस्था ;च्म्क्द्ध अथवा विकास अध्ययनों के चिन्तन का विषय है। च्म्क अपेक्षा करती है कि राज्य और बाज़ार के अतिरिक्त, इसे असैनिक समाज प्रतिष्ठानों की सम्पूर्ण रेंज को सम्बोधित करना चाहिए और अनन्य रूप से राज्य, बाज़ार अथवा ग़ैर सरकारी संगठनों पर केन्द्रित नहीं होना चाहिए। इकाई विकास के उपाय के रूप में पूँजी संचयन और विदेशी प्रत्यक्ष निवेश ;थ्क्प्द्ध प्रवाह की सीमाओं के बारे में भी बताती है। ग़रीब और कमजोर अर्थव्यवस्थाओं को उनके संकट से निजात दिलाने के लिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ;प्डथ्द्ध और विश्व बैंक द्वारा सुझाए गए उदारीकरण–निजीकरण– भूमंडलीकरण (LPG) पैकेज जिसने राज्य को बड़ी वापसी का सुझाव दिया था, की मात्र मोहभंग में परिणिति हुई है। एक राजनीतिक अर्थव्यवस्था अभिगम उस विकास युगान्तर के लिए खड़ा नहीं रह सकता जो लोगों की स्वतंत्र अभिरुचियों पर प्रतिबन्ध लगाता हो तथा जिसके पास विकास का कोई पूर्व–निर्धारित सार्वभौमिक प्रतिदर्श न हो।

1.6.14 अभ्यास प्रश्नावली

25) क्या देशों में आय के स्तरों के प्राक्कलन विकास के स्तर के यथार्थ सूचकांक के रूप में लिए जा सकते हैं? उदाहरण देकर स्पष्ट करें।
26) विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था ;च्म्क्द्ध के सिद्धांतों का क्या एजेंडा है? च्म्क के महत्त्वपूर्ण पहलू क्या है?
27) आर्थिक विकास में पूँजी संचयन और अन्तरराष्ट्रीय पूँजी प्रवाह की क्या सीमाएँ हैं?
28) विकास अर्थशास्त्रों में स्च्ळ पैकेज पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

तालिका 1 : जनसंख्याएवं राष्ट्रीय आय

	जनसंख्या	स्कल राष्ट्रीय आय
	(करोड)	(अरब अमेरिकी डॉलर
निम्न आय वालेदेश	2417	1008.4
मध्यम आय वाले देश	2665	5285.5
उच्च आय वाले देश	896	23701.7
विश्व	5978	2994.6

स्त्रोत वर्ल्ड डेवेलपमेंट रिपोर्ट–1999.2000

तालिका 2 : गरीबी के सूचक

प्रतिदिन 1 डॉलर पर निर्भर ग़रीब (करोड़)
प्रतिदिन 2 डॉलर पर निर्भार गरीब

पूर्वी ऐशिया एवं पैसिफिक	452	267	10 1	65	1089	885	472	323
चीन को निकालकर	92	54	20	9	285	252	187	115
यूरोप एवं केंद्रीयएशिया	7	18	9	6	44	98	58	97
लैटिन अमेरिका एवं कैरिबियन	79	61	58	43	167	159	162	133
मध्य एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका	6	6	6	5	59	85	80	58
दक्षिण एशिया	495	522	41 1	297	976	1095	1214	1078
सब–सहारा अफ्रीका योग	292	302	426	261	388	489	690	637
	1276	1175	1011	777	171 8	2812	2675	2275

अध्याय–1

अर्थव्यवस्था की संरचना एवं वृद्धि (ग़रीबी, अधिशेष और विषमता)

संरचना

v) उद्देश्य
vi) प्रस्तावना
vii) राज्यों का वृद्धिमूलक निष्पादन
viii) ग़रीबी और ग़रीबी रेखा की परिभाषा
ix) ग़रीबी अनुपात में रुझान
x) मात्र आय द्वारा ग़रीबी में कमी नहीं
xi) सारांश
xii) अभ्यास प्रश्नावली

2.1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देंश्य भारतीय अर्थ्व्यवस्था के स्वतंत्रता पश्चात ढॉवेगत परिवर्तन को परिलक्षित करना है। गरीबी उन्मूलन यद्यपि प्रमुख बिन्दू था जिसे हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में स्थान दिया गया लेकिन कृषि की अपेक्षा सेवा क्षेत्रों में बजट अधिक रखा गया। आय वृद्धि गरीबी उन्मूलन का आधार नहीं हो सकती। ब़च्चों और आँकड़ों के माध्यम से यह बनाने का प्रयास किया है कि भारत में आकि विकास और सामाजिक समरसता में संतुलन बनाए रखना आवश्यक है।

2.1.2 प्रस्तावना

भारतीय अर्थव्यवस्था में 1980 और 1990 के दशक में महत्त्वपूर्ण ढाँचागत परिवर्तन हुए हैं। सकल घरेलू उत्पाद (सघउ) के अन्तर्क्षेत्रीय गठन में 1991 में सुधार प्रक्रिया के आरंभ हो जाने के बाद महत्त्चपूर्ण परिवर्तन हुआ। सघउ को सापेक्ष अंशदान के संदर्भ में सेवा क्षेत्र को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है।

1992–93 से 1997–98 की अवधि के दौरान सघउ में कृषि और उससे सहायक क्रियाकलापों का सापेक्ष अंश 1980–81 से 1990–91 की अवधि में 34.5 प्रतिशत से घटकर 27.5 प्रतिशत हो गया। दूसरी तरफ इसी अवधि में उद्योग के शेयर में 23.2 प्रतिशत से 25.9 प्रतिशत तक वृद्धि हुई तथा सेवा क्षेत्र ने 42.2 प्रतिशत से बढ़कर 46.6 प्रतिशत तक की भारी वृद्धि दर्ज की। सेवा क्षेत्र के पक्ष में यह संयोजित बदलाव 1980–81 से 1990–91 के दौरान 6.5 प्रतिशत के मुकाबले 1992–93 से 1997–98 तक की अवधि में सेवाक्षेत्र के उत्पादन में 8.4 प्रतिशत की दर से त्वरित गति से विस्तार के कारण हुआ।

1990 के दशक में अनुकूल मानसून, निवल सिंचाई क्षेत्र में वृद्धि और व्यापार की सुस्पष्ट शर्तों के बावजूद कृषि कार्य में अपेक्षाकृत गिरावट आई है। लोक निवेश में गिरावट तथा नई प्रौद्योगिकी के सीमित प्रयोग से कृषि के निष्पादन में कमी आई।

तथापि, कृषि से पैदावार में भारी गिरावट के बावजूद 1990 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था से सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि हुई और बरकरार रही। उदाहरण के लिए 1995–96 में जब अर्थव्यवस्था से सकल घरेलू उत्पाद 8.6 प्रतिशत तक हुआ तब कृषि क्षेत्र पूर्व वर्ष के मुकाबले 0.2 प्रतिशत की नगण्य वृद्धि हुई। वस्तुतः भारतीय पूर्व रिज़र्व बैंक की मुद्रा और वित्त रिपोर्ट (1998–99) में कहा गया है कि गत वर्षों का अनुभव दर्शाता है कि सेवा क्षेत्र में अर्थव्यवस्था के अनुरूप वृद्धि हुई है जबकि कृषि क्षेत्र में प्रतिकूल झटके लगे हैं।

इस प्रकार आर्थिक वृद्धि का कृषीय निष्पादन और मानसून की अनिश्चित स्थिति पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है। यद्यपि औद्योगिक और सेवा क्षेत्र दोनों में अधिक वृद्धि हुई है तदापि इन दो प्रमुख क्षेत्रों के बीच क्षेत्रीय संयोजित वृद्धि में काफी अन्तर है। औद्योगिक क्षेत्र में प्रमुख वृद्धि विनिर्माण से हुई है जबकि खनन एवं उत्खनन दोनों तथा विद्युत, गैस और जल आपूर्ति ने अपेक्षाकृत कम वृद्धि दर दर्ज की है। दूसरी तरफ सेवा क्षेत्र में व्यापार, होटल, रेस्टोरेंट, भंडारण और संचार क्षेत्रों की तरह अधिक समान और सतत क्रम में अधिक वृद्धि महसूस की गई जबकि वित्तपोषण, बीमा, वास्तविक सम्पदा और

कारोबार सेवा में उच्च वृद्धि दर के रुझान सामने आए हैं। इस क्रिया के संभाव्य निर्वचन से हाल के वर्षों में उद्योग से जुड़े हुए सेवा क्षेत्रों में उफान आ सकता था।

2.1.3 राज्यों का वृद्धिमूलक निष्पादन

व्यष्टि राज्यों के निष्पादन में पर्याप्त उतार चढ़ाव है क्योंकि कुछ राज्य औसत से काफी अधिक तथा अन्य राज्य औसत से काफी कम वृद्धि कर रहे हैं (सारणी 1) राज्यों में वृद्धिदर के फैलाव में 1990 के दशक में बहुत तेजी से वृद्धि हुई। 1980 के दशक में राज्य घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर में केरल में प्रतिवर्ष 3.6 प्रतिशत से निम्नतर स्तर से लेकर राजस्थान में 6.6 प्रतिशत तक की उच्च दर तक अर्थात् दुगने से कम उतार–चढ़ाव था। 1990 के दशक में यह अन्तर बहुत अधिक था अर्थात् बिहार में प्रतिवर्ष 2.7 प्रतिशत के निम्नस्तर से गुजरात के लिए प्रतिवर्ष 9.6 प्रतिशत के उच्च स्तर तक 3.5 गुने से अधिक था।

राज्यों में निष्पादन में अन्तर उस समय और अधिक हो जाते हैं जब हम इन अन्तरों को जनसंख्या की वृद्धि दर में जोड़ देते हैं और निष्पादन का प्रतिव्यक्ति वृद्धिदर के सापेक्ष मूल्यांकन करते हैं (सारणी 2)। 1980 के दशक में वृद्धि दरों में अन्तर मध्य प्रदेश में 2रू1 के निम्न स्तर से राजस्थान में 4.0 प्रतिशत के उच्च स्तर तक 1:2 के अनुपात में था। 1990 के दशक में यह बिहार में 1.1 प्रतिशत और 7.6 प्रतिशत के उच्च स्तर तक तथा महाराष्ट्र में उसके बाद 6.1 प्रतिशत तक पहुँचा। न्यूनतम (बिहार) और उच्चतम (गुजरात) के बीच 1:7 का अन्तर है।

1990 के दशक में राज्यों के बीच वृद्धि निष्पादन में बढ़ता हुआ अन्तर इस तथ्य को प्रकट करता है कि जहाँ अर्थव्यवस्था में कुल मिलाकर तीव्र गति से वृद्धि हुई वहीं वस्तुतः बिहार, उत्तर प्रदेश और उड़ीसा में तीव्र गिरावट आई जो अपेक्षाकृत आरंभिक तौर पर कम वृद्धि दर वाले क्षेत्र थे और सर्वाधिक गरीब राज्य भी थे। हरियाणा और पंजाब में भी गिरावट आई परन्तु यह गिरावट 1980 के दशक में उच्च स्तरों के मुकाबले थी और ये राज्य सबसे धनी थे।

1990 में छह राज्यों ने राज्य घरेलू उत्पाद में तीव्र वृद्धि दर्शाई। यह तीव्रता विशेषतः महाराष्ट्र और गुजरात में दर्ज की गई थी, दोनों राज्य धनी राज्यों में शामिल थे परन्तु पश्चिम बंगाल, केरल, तमिलनाडु और मध्य प्रदेश में भी वृद्धि हुई थी। ये सभी राज्य प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पाद के सापेक्षतः राज्यों के मध्य समूह से सम्बन्धित थे।

यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि 1990 के दशक में उच्चस्तरीय वृद्धि निष्पादक देश के एक हिस्से में केन्द्रित नहीं थे। 1990 के दशक में राज्य घरेलू उत्पाद की 6 प्रतिशत से अधिक वृद्धि दरों वाले छह राज्य क्षेत्रीय तौर पर समुचित रूप से आवंटित हैं जैसे, पश्चिम में गुजरात (9.6 प्रतिशत) और महाराष्ट्र (8.0 प्रतिशत), पूर्व में पश्चिम बंगाल (6.9 प्रतिशत), दक्षिण में तमिलनाडु (6.2 प्रतिशत) और उत्तर में मध्य प्रदेश (6.2 प्रतिशत) तथा राजस्थान (6.5 प्रतिशत)।

2.1.4 ग़रीबी और ग़रीबी रेखा की परिभाषा

प्रथमतः भारत पर अनुसंधान कार्य से प्रभावित होकर, विश्व बैंक ने निरपेक्ष ग़रीबी विकासशील देशों में जनसंख्या के 40 प्रतिशत के धरातल पर परिभाषित की। ग़रीबी की प्रथम निरपेक्ष परिभाषा दंडेकर–रथ द्वारा दी गई थी जिसने इसे 1960–61 के मूल्यांक पर भारतीय ग्रामीण जनसंख्या के लिए प्रति व्यक्ति प्रतिमाह 15 रुपये तथा शहरी जनसंख्या के लिए प्रति व्यक्ति प्रतिमाह 18 रुपये के व्यय के रूप में परिभाषित किया।

भारत सरकार ने ग़रीबी मापन हेतु कार्यप्रणाली का सुझाव देने के लिए एक विशेषज्ञ समूह गठित किया। इस समूह ने अपनी रिपोर्ट 1993 में पेश की और 1973–74 के मूल्यांक पर ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के लिए क्रमशः 49 रुपये और 56 रुपये की नई ग़रीबी रेखा का सुझाव दिया।

निरपेक्ष ग़रीबी रेखा होने पर विभिन्न देशों के बीच ग़रीबी की तुलना की जा सकती है। अन्तिम दशक में अन्तरराष्ट्रीय ग़रीब रेखा के अधिकांश तुलनात्मक अध्ययन विश्व बैंक द्वारा किए गए हैं और क्रय शक्ति ग़रीबी रेखा की प्रयुक्त परिभाषा 1993 के मूल्यांक पर 108 अमेरिकी डालर प्रतिदिन है।

भारत में ग़रीबी मापन के लिए सर्वाधिक व्याप्त प्रयुक्त उपाय ''सिर गणना अनुपात'' है। यह आय की ग़रीबी मापन का साधन है। 1960 के प्रारंभ में, भारत में ग़रीबी के स्तर के मापन के लिए प्रसिद्ध अर्थविदों का एक विशेष कार्यचालन समूह नियुक्त किया गया। विशेषज्ञों ने ग़रीबी रेखा की एक परिभाषा दी। यह परिभाषा पोषण सलाहकार समिति द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय तौर पर आयोजित न्यूनतम आदर्श संतुलित आहार पर आधारित थी। दूसरे शब्दों में कोई परिवार जो अवशिष्ट खाद्य पैकेट नहीं खरीद सकता और जिसे खाने पर न्यूनतम ऊर्जा मिले, ग़रीब माना गया। उन्होंने घोषणा की कि 50 प्रतिशत भारतीय ग़रीबी रेखा से नीचे रहते थे।

तथापि, इस प्रकार परिभाषित ग़रीबी रेखा कुछ–कुछ अकिंचन रेखा है क्योंकि यह केवल जीवन निर्वाह के लिए अपेक्षित व्यय को ही हिसाब में लेती है तथा न्यूनतम बेहतर जीवन–स्तर जैसे मूलभूत आवश्यकता गृह, वस्त्र, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के लिए आवश्यक प्रत्येक व्यय को छोड़ देती है।

कार्यप्रणाली और अभिधारणाओं में मतभेद से बिल्कुल अलग परिणाम आ सकते हैं। उदाहरण के लिए, न्यूनतम कैलोरी आवश्यकता के एक ही मानदंड का प्रयोग करते हुए हाल ही में भारत के लिए ग़रीबी रेखा प्राक्कलनों के दो सैट थे।

1993–94 में, योजना आयोग के अनुसार, भारत की जनसंख्या का मात्र 19 प्रतिशत से नीचे था। यह शासकीय अनुमान था। तथापि, राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण ;छैद्ध द्वारा नियमित रूप से किए जा रहे उपभोक्ता व्यय सर्वेक्षणों पर आधारित अनुमानों में भारत की जनसंख्या का ग़रीबी रेखा से नीचे का अनुपात 36 प्रतिशत था। फरवरी 1997 में, भारत सरकार ने ग़रीबी अनुपात के प्राक्कलन और ग़रीबों की संख्या पर विशेषज्ञ समूह द्वारा की गई उन सिफारिशों (1993) को स्वीकार कर लिया जिन्होंने योजना आयोग द्वारा ग़रीबी के प्राक्कलन करते समय किए गए समायोजनों को निरस्त कर दिया था। परिणामस्वरूप में ग़रीबी रेखा से नीचे भारत की जनसंख्या का शासकीय प्राक्कलन 35 प्रतिशत था।

सिर गणना अनुपात उपभोक्ता व्यय पर छै आँकड़ों के आधार पर संगणित किया जाता है। ग़रीबी रेखा से कम आय वाले लोग गरीब होते हैं और इन ग़रीबों का कुल जनसंख्या से अनुपात सिर गणना अनुपात होता है। भयावह जनसंख्या वृद्धि के कारण, निरपेक्ष संख्या में पेचीदा बनती जा रही है जबकि प्रतिशतता अधोन्मुख रुझान दर्शाती है। इस प्रकार 1957 में ग़रीबी की संख्या 17 करोड़ से बढ़कर 1994 में 32 करोड़ लगभग दुगुनी हो गई है।

2.1.5 ग़रीबी अनुपात में रुझान

भारत की विकास प्रक्रिया का अभिभावी उद्देश्य बड़े पैमाने पर ग़रीबी का उन्मूलन करता है। भारत में ग़रीबों का अनुपात गत वर्षों में व्यापक रूप से घटता–बढ़ता रहा है परन्तु रुझान अधोमुखी है। आय की ग़रीबी में रुझान एकसमान नहीं है। इनको मोटे तौर पर तीन अवधियों में बाँटा जा सकता है।

1951 और मध्य 1970 के बीच : आय की ग़रीबी में कमी से किसी विवेचना योग्य रुझान का पता नहीं चलता। 1951 में, भारत की ग्रामीण जनसंख्या का 47 प्रतिशत ग़रीबी रेखा से नीचे था। इस अनुपात में 1954–55 में 64 प्रतिशत तक वृद्धि हुई, 1960–61 में यह घटकर 45 प्रतिशत हुआ परन्तु 1977–78 में पुनः बढ़कर 51 प्रतिशत हो गया।

मध्य 1970 और 1980 के अन्त के बीच : 1977–78 और 1987–88 के बीच ग्रामीण आय की ग़रीबी में 53 प्रतिशत से 39 प्रतिशत तक जबर्दस्त गिरावट आई। 1990 में यह और घटकर 34 प्रतिशत रह गई। शहरी आय की ग़रीबी 1977–78 में 45 प्रतिशत से घटकर 1982–83 में 38 प्रतिशत हुई तथा 1989–90 में और अधिक घटकर 33 प्रतिशत रह गई।

1991 के बाद : 1991 के बाद आर्थिक सुधार से बाद की अवधि में, उतार–चढ़ाव दर्ज किए गए। ग्रामीण आय की ग़रीबी 1989–90 में 34 प्रतिशत से बढ़कर 1992–93 में 43 प्रतिशत हो गई और इसके बाद 1993–94 में 37 प्रतिशत तक घटकर नीचे आ गई। शहरी आय की ग़रीबी 1998–99 में 36 प्रतिशत से घटकर 1992–93 में 34 प्रतिशत हो गई तथा 1993–94 में पुनः घटकर 30 प्रतिशत हो गई (सारणी 1)

व्यष्टि राज्यों के वृद्धि निष्पादन में अन्तरों में (सारणी 2) ग़रीबी में कमी के लिए महत्त्वपूर्ण निहितार्थ अन्तर्ग्रस्त हैं जो राष्ट्रीय नीति का निर्णायक उद्देश्य है। व्यष्टि राज्यों में ग़रीबी के एकमात्र उपलब्ध अनुमान इस प्रकार किए गए लगभग 1,20,000 गृहस्थों के उन प्रतिदर्शी सर्वेक्षणों से व्युत्पन्न हैं जो प्रतिवर्ष छै द्वारा कराए जाते हैं। छै वार्षिक सर्वेक्षण भी करता है परन्तु प्रतिदर्श आकार इतना छोटा होता है कि उससे व्यष्टि राज्यों के लिए ग़रीबी के विश्वस्त प्राक्कलन प्राप्त नहीं हो सकते। 1983, 1987–88 और 1993–94 में बड़े प्रतिदर्श सर्वेक्षण किए गए थे तथा इन सर्वेक्षणों को प्रयोग करके योजना आयोग द्वारा संगठित राज्य विशिष्ट ग़रीबी अनुमान सारणी 4 में दर्शाए गए हैं। इनसे पता चलता है कि कुल मिलाकर 14 प्रमुख राज्यों में (जो कुल मिलाकर जनसंख्या का 95 प्रतिशत बनते हैं), ग़रीबी रेखा से नीचे जनसंख्या की प्रतिशतता 1983 में 42.8 प्रतिशत से घटकर 1993–94 में 36.3 प्रतिशत हो गई।

राज्य स्तर से पता चलता है कि दो राज्यों–बिहार और हरियाणा को छोड़कर जिन्होंने वृद्धि दर्शाई थी, 10 वर्ष की अवधि में सभी राज्यों में ग़रीबी में कमी महसूस की गई। बिहार में ग़रीबी का कारण यह था कि राज्य में प्रति व्यक्ति राज्य घरेलू उत्पाद 1983–84 और 1993–94 के बीच प्रति वर्ष 0.8 प्रतिशत से कम था (सारणी 5)। तथापि, यह देखा गया है कि हरियाणा में ग़रीबी में गिरावट की विवेचना करना मुश्किल है क्योंकि उसी अवधि के दौरान प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति राज्य घरेलू उत्पाद 3.4 प्रतिशत था। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के बावजूद ग़रीबी में वृद्धि होना संभव है यदि वितरण पर्याप्त रूप से बदतर हो। परन्तु यह विश्वास करना मुश्किल है कि हरियाणा में इस अवधि के दौरान प्रतिव्यक्ति राज्य घरेलू उत्पाद में 40 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज करने के लिए वितरण पर्याप्त रूप से बदतर हो सकता था। यह विशेषतः ऐसा है क्योंकि हरियाणा में रुझान पंजाब जैसे थे। इससे इसी अवधि में ग़रीबी की तीव्र गिरावट का पता चलता है।

व्यष्टि राज्यों में 1993–94 से आगे ग़रीबी के प्राक्कलन केवल तभी उपलब्ध होंगे जब 1999–2000 के लिए छै के 60वें दौर के आँकड़े प्राप्त हो जाएँ। तुलनात्मक सर्वेक्षण के आधार पर प्राक्कलनों के न होने पर हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि व्यष्टि राज्यों में ग़रीबी का क्या हुआ जिसके आधार पर हमें इन राज्यों में 1993–94 से आगे आर्थिक वृद्धि का पता चलता है। 1960 के दशक और 1970 के अधिकांश काल में अखिल भारतीय अनुभव से पता चला कि ग़रीबी में कमी नगण्य थी जब प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि 2 प्रतिशत से नीचे थी, परन्तु इसमें गिरावट आना शुरू हुई जब प्रति व्यक्ति वृद्धि 3 प्रतिशत तक हुई तथा 1970 और 1980 के अन्तिम दौर में और अधिक हो गई। इस अनुभव का

सामान्यीकरण करके हम अनुमान लगा सकते हैं कि सभी राज्यों में ग़रीबी में कुछ कमी आनी चाहिए, जहाँ प्रति व्यक्ति वृद्धि 1993–94 के बाद इस स्थिति में 3 प्रतिशत अथवा उसके आस–पास होती है जब वृद्धि के स्वरूप में पूर्ववर्ती वर्षों की तुलना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ हो। ऑक्सस रिसर्च के डॉ. सुरजीत भल्ला के अलावा भारत में किसी ने इस बहस को उद्देश्यपरक बनाने के लिए कुछ अधिक नहीं किया है। उसके अनुसार, 1991 में आरंभ किए गए सुधारों से निचले स्तर की आधी जनसंख्या की समृद्धि में आमूल परिवर्तन हुआ है।

निम्नसारणी को देखने से पता चलता है कि ग़रीबी में गिरावट की दर 1990 में आरंभ किए गए सुधारों के बाद किस प्रकार बढ़ी है।

मध्य	अखिल भारतीय प्रतिशत	ग्रामीण प्रतिशत	शहरी प्रतिशत
1973 व 78	3.6	3.1	4.2
1978 व 83	6.8	7.4	4.4
1983 व 88	5.6	6.6	2.6
1988 व 93	2.9	1.9	5.8
1993 व 99	9.9	9.4	8.78
स्त्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण	2000–2001।		

वृद्धि तीन केन्द्रीय कारणों से ग़रीबी को कम करने में सहायक होती है :इससे रोज़गार पैदा होते हैं जिससे ग़रीबों को अधिक आर्थिक अवसर प्राप्त होते हैं और उन्हें लाभपूर्ण रोज़गार मिलता है; इससे राजस्व मिलता है जिससे हम अधिक स्कूल बनाते हैं और ग़रीबों को अधिक स्वास्थ्य सेवाएँ मुहैया कराते हैं; और इससे प्रोत्साहन मिलता है जिससे ग़रीब इन सुविधाओं को प्राप्त करते हैं तथा आमतौर पर वे उत्तरोत्तर सामाजिक क्रियाकलापों में भाग भी लेते हैं।

भारतीयों का अनुभव रहा है कि हमारी नीतियों के कारण 1980 के आरंभ में तकरीबन चौथाई शताब्दी तक प्रति वर्ष लगभग 3.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। अर्थविद् राजकृष्ण ने इस हिन्दू वृद्धि दर का नाम दिया। अर्थविदों के अनुसार, निम्न वृद्धिदर निम्नवत चार नीतियों के कारण थी।

1. भूमंडलीकरण के प्रतिकूल नीतियाँ जिनका अर्थ था कि भारत बढ़ती हुई विश्व अर्थव्यवस्था द्वारा व्यापार और प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के अन्तर्प्रवाह सम्बन्धी उपलब्ध अवसरों का लाभ उठाने में विफल रहा;
2. अपरिहार्य अधिक कर्मचारियों और प्रोत्साहनों की कमी से त्रस्त लोक क्षेत्र उपक्रमों पर विश्वास जिससे प्रत्यक्ष तौर पर हानियाँ हुईं जिसका अर्थ था गंभीर अक्षमताएँ और साथ ही साथ राजस्व पर भारी दबाव;
3. लोक क्षेत्र उपक्रमों में प्रौद्योगिकियों की पूँजीगत गहन प्राथमिकताओं की रक्षा उससे इन उपक्रमों के दयनीय निष्पादन को बढ़ावा मिला; और
4. प्रत्यक्ष नियंत्रणों का हमारा अत्यधिक विस्तार जिससे स्थायी विकास में रुकावट आई। दत्त और रैवेलियन ने अपने निबंधों में उन अवधारकों और घटकों का विश्लेषण किया है जिसने भारतमें ग़रीबी के रुझानों को प्रभावित किया है। उनकी उपलब्धियों के अनुसार ग़रीबी अनुपात में प्रति व्यक्ति निबल घरेलू उत्पाद ;छक्च्द्ध में प्रत्येक 1 प्रतिशत की वृद्धि पर 1 प्रतिशत की कमी आई है। दूसरे, ग़रीबी अनुपात के वृद्धि संघटक (अर्थात् औसत खपत में वृद्धि) में परिवर्तन के विघटन और संघटक पुनर्वितरण से पता चलता है कि गरीबी अनुपात में आई गिरावट का 87 प्रतिशत वृद्धि संघटक के कारण था। तीसरे, ग्रामीण आर्थिक विकास में विकास मामलों की क्षेत्रीय संरचना ने ग़रीबी कम करने में शहरी आर्थिक विकास की अपेक्षा कहीं अधिक योगदान दिया है। चौथे, मानव संसाधनों और अवस्थापना विकास सम्बन्धी प्रारंभिक शर्तों के कारण ग्रामीण ग़रीबी कम करने में राज्यों के बीच मतभेदों में कमी आई।

दत्त और रैवेलियन ने बताया कि ग्रामीण विकास और मानव संसाधनों के सापेक्षतः दयनीय आरंभिक परिस्थितियों वाले राज्यों में ग़ैर–कृषि आर्थिक विकास ग़रीबी घटाने में कम प्रभावी था। शहरी क्षेत्रों के मुकाबले कम कृषि उपज, कम ग्रामीण जीवन मानकों और मौलिक शिक्षा में कमी से ग़ैर कृषि क्षेत्र की वृद्धि में कमजोर सहभागिता की उम्मीदें बरकरार थीं। यह भी बताया गया कि इस प्रकार सुधारों की आशंका से ग़ैर कृषि पण्यों में विदेशी व्यापार खुल सकता है और औद्योगिक लाइसेंस जो क्षमता सृजन पर रोक लगाए हुए था, हटाया जा सकता है, ग़रीबी पर सुधारों के प्रभाव से प्राथमिक तौर पर ग़ैर कृषि उत्पादन प्रभावित हुआ है। उन घनी आबादी वाले अंदरूनी राज्यों में दयनीय आरंभिक परिस्थितियों के कारण यह

प्रभाव कम हुआ है जहाँ भारत की विशाल आबादी दयनीय अवस्था में रहती है की सीमा तक सुधारों से ग़रीबी में अपेक्षाकृत कमी देखने में आएगी।

तीव्र विकास और ग़रीबी उन्मूलन के बीच संयोजन 1980 के दशक से स्पष्ट है। तथापि, 1980 के दशक का विकास 1950 के दशक से लागू विकास प्रक्रिया के किसी योजनाबद्ध सुधारों के कारण नहीं हुआ। विकास में गति प्रमुखतः पुनवर्त्ती तीन दशकों की दीर्घ आर्थिक नीति को छोड़ने तथा एक व्यापक वित्तीय नीति को अपनाने से घरेलू माँगों में वृद्धि के कारण आई थी। इस अंधाधुंध दीर्घ आर्थिक विस्तारवाद जिससे प्रचंड सूक्ष्म आर्थिक विरूपण में कोई मौलिक सुधार नहीं हुआ, के कारण वित्तीय घाटे में वृद्धि हुई जिसे बढ़ते हुए महँगे घरेलू और विदेशी कर्जे से पूरा किया गया। स्पष्टतः वित्तीय स्थिति अस्थायी थी और इसके कारण 1991 का दीर्घकालिक आर्थिक और शेष भुगतानों का संकट पैदा हुआ। इस प्रकार स्थायीकरण और योजनाबद्ध सुधार अपरिहार्य थे जिससे भारत के समक्ष 1991 की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सके। परन्तु प्रश्न यह नहीं था कि इन सुधारों से बचा जा सकता था क्योंकि लाभांश बहुत कम सुनिश्चित हुआ था। सुधारों से अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों (सभी क्षेत्रों में नहीं) में भारी प्रगति हुई। यह बताया गया कि ग़रीबी प्रमुखतः ग्रामीण आभास (भारत के 80 प्रतिशत से अधिक ग़रीब ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं) है और यह कि नैमित्तिक मजदूर (कृषि और ग़ैर कृषि क्रियाकलापों में) और सीमान्तक किसान मिलकर ग़रीबों का एक विशाल हिस्सा हैं, ग़रीबी को वास्तव में सुधारने के लिए सुधारों से होने वाली वृद्धि मजदूर बोधक होनी चाहिए और इसे ग्रामीण क्षेत्रों तक बढ़ाया जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश इस प्रकार की सुधार प्रक्रिया ने अभी तक पर्याप्त रूप से वांछित लक्ष्य प्राप्त नहीं किया है।

6) प्रथम, सुधार प्रक्रिया बमुश्किल कृषि तक पहुँच पाई है। भारतीय कृषि मात्र विश्व बाज़ार से ही प्रमुखतः पृथक् नहीं हुई है अपितु कृषि उत्पादों में घरेलू व्यापार पर भी प्रतिबंध हैं जैसे महाराष्ट्र सरकार द्वारा अधिप्राप्ति पर एकाधिकार और कपास पर निर्यात प्रतिबंध, कतिपय पण्यों के निजी तौर पर अन्तर्राज्यीय आवागमन पर प्रतिबंध आदि।

7) दूसरे, मजदूर बाज़ार विनियमन में कोई सुधार नहीं हुआ है। संघटित विनिर्माण और लोक क्षेत्र में नियोजित श्रमिक बल के 10 प्रतिशत से कम एक छोटे हिस्से को रोज़गार सुरक्षा, अपेक्षाकृत अधिक वेतन और अन्य परिलब्धियाँ प्राप्त हैं। शेष श्रमिक बल को कोई संरक्षण नहीं है।

8) तीसरे, अपंगकारी विनियमन है जो लघु उद्योगों द्वारा उत्पादन के लिए कतिपय वस्तुएँ अनुमत करता है। इससे कार्यों में अनिपुणता तथा अर्द्धअनुकूल स्थिति पैदा हुई है। तथापि, कतिपय स्फूर्त निर्यात पण्य जैसे वस्त्र, चमड़े के उत्पाद, जूते और खिलौने लघु उद्योग क्षेत्र के लिए आरक्षित हैं जिससे चीन जैसे देशों ने निर्यात लाभ कमाने में भारत को एक तरफ कर दिया है।

9) चौथे, विदेश व्यापार और निवेश लाइसेंस सुधारों का लाभ अन्य शर्तों पर भी निर्भर होगा जैसे पर्याप्त विद्युत की उपलब्धता, दक्ष और सस्ता परिवहन और दूरसंचार, विशेषतः ग्रामीण सड़कें और टेलीफोन तथा श्रमिक बल के शिक्षाग्रहण में सुधार। रैवेलियन और दत्त के अध्ययन ने सुझाव दिया है कि सुधारों से अभिप्रेत विकास की ग़रीबी उन्मूलन क्षमता और अधिक हो जाएगी बशर्ते ये संघटक वर्तमान की तुलना में अधिक अनुकूल हों। उपसंहार के तौर पर कहा जा सकता है कि इस बात का कुछ साक्ष्य है कि ग़रीबी में गिरावट 1991 के सुधारों के लागू होने के बाद आई है, चूँकि सुधार अपरिहार्य थे, वास्तविक सवाल यह है कि ग़रीबी उन्मूलन के लिए सुधारों द्वारा अभिप्रेत विकास को किस प्रकार अधिक प्रभावी बनाया जाए। सुधारों को कृषि ग्रामीण क्षेत्र तक बढ़ाए जाने, श्रमिक और उत्पाद बाज़ार के लिए सुधारों को इस तरह लागू करने कि विकास श्रमिक प्रेरक अधिक हो तथा अवस्थापना सेवाओं की गुणवत्ता और प्रमात्रा में सुधार, शैक्षणिक उपलब्धि और सुधारों को गहन करने से ग़रीबी की गिरावट में महत्त्वपूर्ण गतिशीलता आएगी।

2.1.6 मात्रा आय द्वारा ग़रीबी में कमी नहीं

आय की ग़रीबी के मापन और अनुश्रवण के लिए अत्यधिक चिंतन से मानव अभाव के अन्य गंभीर पहलू पूर्णरूपेण अनदेखे रहे हैं। इनमें से कुछ अभाव तीव्र और दृश्यमान हैं बालश्रम, अशिक्षा, विकृत पर्यावरण। कुछ व्यापक रूप से शान्त होते हुए भी दृश्यमान हैं जाति भेदभाव, महिलाओं और लड़कियों से भेदभाव तथा बाल अधिकार। अभाव के अनेक अन्य रूप आजकल शान्त और अदृश्य हैं। इनमें, उदाहरणार्थ, महिलाओं के स्वास्थ्य, घरेलू हिंसा और बाल कुपोषण के मुद्दे शामिल हैं। ये अभाव किसी पूर्वानुमेय ढंग से आय के ग़रीबी स्तरों से सम्बन्धित नहीं हैं। प्रति व्यक्ति आय के अर्थों में हरियाणा एक अमीरतम और तीव्रतम गतिशीलता से बढ़ने वाला राज्य है। फिर भी, यहाँ मृतक दर आय की दृष्टि से अधिक ग़रीब केरल के मुकाबले प्रति 1000 जीवित बच्चों में 68 अर्थात् चार गुणा है तथा हरियाणा में महिलाएँ योजनाबद्ध अभाव से पीड़ित हैं जो उन्हें देश में पुरुषों के मुकाबले महिलाओं के निम्नतम अनुपात में रखती हैं 865 महिलाएँ प्रति 1000 पुरुष। आय के स्तर मानव जीवन के अन्य आयामों के साथ अभावों पर काबू पाने में अक्सर विफल हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, आंध्र प्रदेश देहात और मध्य प्रदेश देहात शैक्षणिक अभाव के समान स्तर से त्रस्त हैं निरक्षरता दर 64 प्रतिशत, परन्तु ग़रीब आय का समानुपात आंध्र प्रदेश में 22 प्रतिशत तथा मध्य प्रदेश में 42 प्रतिशत हैं। पुनः शहरी निरक्षरता दर पंजाब

और उड़ीसा में समान (28 प्रतिशत है) है तथा शहरी ग़रीब आय का अनुपात पंजाब में 11 प्रतिशत तथा उड़ीसा में 41 प्रतिशत है। इसी प्रकार, केरल, तमिलनाडू और आन्ध्रप्रदेश जहाँ बाल कुपोषण का निम्नतम स्तर है, में प्रति व्यक्ति आय के स्तर अपेक्षाकृत कम होने के बावजूद ऐसा है। मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र बाल कुपोषण का एक ही स्तर बताते हैं यद्यपि महाराष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय मध्य प्रदेश की तुलना में दुगनी है।

समृद्धि के स्तर अथवा आय की कमी भी मानव जीवन की समृद्धि अथवा ग़रीबी का मापन करने में विफल रहती है। उदाहरण के लिए शहरी ग़रीब दर देश भर में तथा सम्पूर्ण राज्यों के बीच देहाती ग़रीबी दर से निरन्तर कम रही है। शहरी आय के स्तर भी विशिष्ट तौर पर देहाती आय से अधिक हैं। तदपि भारत के प्रमुख शहरों को देखने वाले आगन्तुक महसूस करेंगे कि यातायात में नाटकीय रूप से वृद्धि हुई है और उसी प्रकार प्रदूषण में भी। वसन समस्याओं में वृद्धि हुई है और जल तथा विद्युत का भारी संकट है। विशेष रूप से शहरी गंदी बस्तियों में रहने वाले ग़रीब लोग जो महानगरों में लगभग 30 प्रतिशत हैं, और अधिक बरबादी का शिकार हैं, उपारोधित जल निकासी पाइप, रुका हुआ पानी, गंदी सार्वजनिक लैट्रिन, मलवे के ढेर तथा उनके चारों ओर बढ़ता हुआ अस्वास्थ्यकर पर्यावरण। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि शहरी क्षेत्रों में बाल मृत्युदर सम्पूर्ण देश में हाल के वर्षों में स्थिर रही है तथा कई राज्यों में इसमें वृद्धि हुई है। शहर आय की ग़रीबी में घटते हुए रुझान भी इन भयानक बिगड़ती हुए आवासीय हालातों पर काबू नहीं कर पाए हैं।

यह सब कहने का यह अर्थ नहीं है कि आय से कोई फर्क नहीं पड़ता। फर्क पड़ता है परन्तु लोग अपने जीवन में आय की अपेक्षा अन्य चीजों को प्रायः महत्त्व देते हैं। एक अत्यधिक ग़रीब के लिए भी आत्मसम्मान और अच्छी प्रतिष्ठा माइने रखती है। वे प्रायः अपनी तत्काल आवश्यकताओं के लिए जोड़–तोड़ करते हैं जैसे बच्चों के लिए अच्छी शिक्षा, अच्छी स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच और एक सुरक्षित पर्यावरण। वे शोषण तथा विभेदन से नफरत करते हैं। अधिकांश के लिए आय के मुकाबले प्रतिष्ठा और सम्मान का अधिक महत्त्व होता है।

मानव अकालों को समाप्त करने के लिए हमें लम्बा रास्ता तय करना है। अच्छे स्वास्थ्य केन्द्रों तक पहुँच, मूलभूत शिक्षा और अन्य आवश्यक सेवाओं में नाटकीय रूप से सुधार करना है। जाति, वर्ग और लिंग के अवरोधकों को हटाना है। भौतिक सुविधाओं को उचित रूप से बढ़ाना है। भारत के एक तिहाई 600,000 गाँवों से कम गाँवों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र अथवा उपकेन्द्र हैं। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश के लगभग 72000 गाँवों में यह मात्र 20 प्रतिशत हैं। कुल बच्चों के मात्र लगभग 25 प्रतिशत बच्चे इन संस्थाओं में जन्म लेते हैं और प्रशिक्षित जन्म परिचारिकाएँ कुल बच्चों के एक–तिहाई से भी कम की देखभाल करती हैं। देहाती परिवारों के 95 प्रतिशत से अधिक परिवारों की इन उचित स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच होती है। लगभग 40 प्रतिशत परिवार बिजली का इस्तेमाल कर पाते हैं।

यदि आवासीय परिस्थितियों में सुधार करना है तो इसके लिए हमें अलग से क्या करने की आवश्यकता है? सबसे पहले भारत को आर्थिक विस्तार और लोगों की आजीविका की गुणवत्ता में सुधार के बीच विद्यमान प्रबल सम्पूरकों की पहचान करनी है और उन्हें पूँजी में परिवर्तित करना है। 1960 में, बोत्सवाना और इण्डोनेशिया में आय का स्तर भारत के स्तर से कम था। परन्तु 1993 तक, स्थिति उलट गई। इस अवधि के दौरान, बोत्सवाना और इण्डोनेशिया ने स्वास्थ्य और शिक्षा में भारत के मुकाबले महत्त्वपूर्ण रूप से अधिक तीव्र प्रगति दर्ज की।

पुनः, 1960 में, दक्षिण कोरिया की आय भारत की आय से 8 गुणा थी। 1960–93 के बीच आय में यह वृद्धि उस अवधि से मेल खाती थी जब दक्षिण कोरिया में अनुमानित जीवन 54 वर्ष से बढ़कर 71 वर्ष हो गया तथा प्रौढ़ निरक्षरता 4.6 प्रतिशत से घटकर 2 प्रतिशत रह गई। इसी प्रकार, चीन, इण्डोनेशिया और थाइलैण्ड सभी ने भारत के मुकाबले प्रति व्यक्ति आय के उच्च स्तर प्राप्त किए हैं और उन्हें बरकरार रखा है क्योंकि उन्होंने मानव क्षमताओं का विस्तार करने में काफी बेहतर कार्य किए हैं। इन देशों ने मान्यता प्राप्त की। यदि मानव ग़रीबी का उन्मूलन करना है तो भारत को प्राथमिकता के तौर पर अपने लोगों में उनके स्वास्थ्य और शिक्षा पर निवेश करना चाहिए।

दूसरे, भारत को अपने विकास में संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता है। केवल आर्थिक मुकाबले पर ही आय और निवेश के बीच आयात और निर्यात के बीच, बचत और निवेश के बीच संतुलन नहीं बनाना है। अपितु आर्थिक विकास और सामाजिक अवसरों के विस्तार के बीच भी संतुलन की आवश्यकता है। आर्थिक अधिकारों और राजनीतिक अधिकारों के बीच संतुलन चाहिए। भौतिक अवस्थापना और मौलिक सामाजिक अवस्थापना के विस्तार के बीच संतुलन आवश्यक है। मौलिक शिक्षा, निरोधक और प्रोत्साहन स्वास्थ्य केन्द्र, मूलभूत आर्थिक सुरक्षा और जीविकोपार्जन के आश्वासन पर प्राथमिकता देनी है। साथ ही साथ पुरुष और महिलाओं के बीच, देहाती और शहरी क्षेत्रों के बीच, सामाजिक रूप से पिछड़े हुए समुदायों और शेष समाजों के बीच कई असंतुलनों को भी ठीक करने की आवश्यकता है। तीसरे, संसाधनों का मुद्दा है, स्पष्ट तौर पर अधिक वित्तीय संसाधन अपेक्षित होंगे यदि सभी बच्चों को स्कूल भेजना है, सभी गाँवों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र बनाने हैं, सभी समुदायों को स्वच्छ पानी पिलाना है अथवा सभी गर्भवती महिलाओं को सुरक्षित मातृत्व सुनिश्चित करना है। अतिरिक्त संसाधन रक्षाखर्चों में कटौती करके जुटाए जा सकते हैं। परन्तु प्राथमिकताओं को ठीक तरह से लागू करने की आवश्यकता है। सेवाओं की गुणवत्ता और प्रभावकारिता में सुधार के लिए, सार्वजनिक खर्च में

असंतुलन को ठीक करने के लिए, व्यवस्था में छिद्रों को रोकने और अपव्यय को कम करने के लिए तथा खर्च में अधिकतम दक्षता सुनिश्चित करने के लिए धन का उपभोग किया जाना चाहिए।

चौथे, राज्य को सामाजिक अवसरों के विस्तार के लिए अपने उत्तरदायित्वों का परित्याग करने की बजाए गत समय की अपेक्षा अधिक सक्रिय भूमिका निभाने की आवश्यकता है। भारत में राज्य केवल उतना ही प्राप्त करता है जितना उसे प्राप्त करने के लिए निर्धारित किया जाता है। यदि कोई कार्य नहीं हो पाता है तो आम तौर पर उसकी अनिच्छा का सूचक है न कि उसकी अक्षमता का। उदाहरण के लिए राज्य के नियंत्रणों में कमी लाने, अर्थव्यवस्था का उदारीकरण करने और अर्थव्यवस्था को खोलने में गतिशीलता दिखाई है। स्थानीय सरकारों में महिलाओं की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए हाल ही में किया गया संविधान संशोधन उसके एक अत्यधिक प्रभावी और सक्रिय चेहरे को प्रस्तुत करता है। दूसरी तरफ, बाल–श्रम को समाप्त करने, शिशु वैश्वावृत्ति रोकने, और अभी हाल तक एड्स की समस्याओं से सबको अवगत करने के राज्य के प्रयास उसके चकित करने वाले अक्खड़पन को प्रकट करते हैं। इसी प्रकार, संविधान में पुष्टि करने के बावजूद प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य न करना उसकी अव्याख्येय अनिच्छा को प्रकट करता है। इनमें से कई मामलों में, दीर्घकालिक वकालत; खुली बहसें, निरन्तर दबाव और सार्वजनिक कार्रवाई पर राज्य से अवश्यमेव अनुकूल प्रतिक्रिया की आवश्यकता है। पाँचवें, आर्थिक और राजनीतिक नीति निर्णयों में महिलाओं की पूरी तरह सहभागिता के लिए अवसरों का सृजन और विस्तार किया जाना चाहिए।

मणिपुर और केरल में मानव विकास अनुभव से संकेत मिलता है कि समाज की समृद्धि में तभी सुधार होता है जब महिलाएँ अधिक स्वतंत्रताएँ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्राप्त करती हैं। परन्तु महिलाओं के लिए अधिक स्वतंत्रता सुनिश्चित करना आसान नहीं है। दुर्भाग्यवश, कई इसे बिना किसी लाभ के आदमी की ताकत को बलात् छीनना मानते हैं। इसके बिल्कुल प्रतिकूल उस समय समाज का समग्र लाभ कई गुना बढ़ जाता है जब पुरुष और महिलाएँ बराबर सहयोग करते हैं। तथापि, इसे प्राप्त करने के लिए, हमें उसी तरह से परिवर्तन करने पड़ेंगे जिस तरह जनता सोचती है और व्यवहार करती है, समाज महिलाओं की भूमिका और अंशदान को महसूस करता है।

अन्ततः, आर्थिक विकास सहभागी होना चाहिए, यह स्थानीय तौर पर उन लोगों द्वारा नियोजित और प्रबन्धित होना चाहिए जिसकी जीविका इससे प्रभावित होती है। समुदायों को कार्यक्रम बनाने और यह सुनिश्चित करने में कि अवसर बढ़ रहे हैं और उनके लाभ सभी को समान रूप से मिल रहे हैं, सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। इसके लिए, स्थानीय स्वशासन को मजबूत किया जाना चाहिए जिससे लोगों की सहभागिता सार्वजनिक जीवन का अंग बन जाए। तब क्या आशावाद की कोई उम्मीद है? हाँ, प्रथमतः, शासन द्वारा बनाई गई ग़रीबी उन्मूलन नीतियों में मानव विकास प्राथमिकताएँ प्रकट होनी चाहिए। दूसरे, 1991 के सुधारों के बाद आर्थिक परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल हुई हैं। तीसरे, लोकतांत्रिक सहभागिता स्वच्छन्द हो रही है। यह केवल स्थानीय सरकारों के माध्यम से नहीं अपितु लोगों के संगठनों और विशेषतया महिलाओं के उन समूहों के माध्यम से है जो अक्सर क्रेडिट, आर्थिक क्रियाकलापों और सामाजिक शक्तिप्रदत्ता के आस–पास संगठित हैं। इसी के साथ कुछ चिन्ता के कारण भी हैं। आर्थिक घाटे को कम करने पर बल देने से सामाजिक क्षेत्र पर व्यय में प्रमुख कटौती की जा रही हैं। राज्य को न्यूनतमीकरण के दबाव से राज्य के उत्तरदायित्व छूट रहे हैं निजीकरण का दबाव लोगों की मूलभूत स्वास्थ्य और शिक्षा तक पहुँच को प्रभावित करने की शुरुआत है। भारत को क्या करने की आवश्यकता है? एक बार महात्मा गाँधी ने टिप्पणी की थी, उसी प्रकार के परिवर्तन अब विचारों में, रहन–सहन में और एक यथार्थ सार्वजनिक भाव पैदा करने में अपेक्षित है। भारत को अपनी विकास प्राथमिकताओं को ठीक करने की आवश्यकता है। हमें पूर्वावस्था में आने और भूलने की आवश्यकता है साथ ही साथ हमें सीखने और करने की भी आवश्यकता है। यदि मानव ग़रीबी का उन्मूलन करना है तो हमें अपना ध्यान आय की ग़रीबी से हटाकर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अवसरों की ग़रीबी और असमानता पर लगाना चाहिए। भारत को ऐसी स्थायी सार्वजनिक कार्रवाई की आवश्यकता है जो प्रबल मानव विकास प्राथमिकताओं द्वारा दिशा–निर्देशित हो।

2.1.7 सारांश

भारतीय अर्थव्यवस्था ने 1990 के दशक में ढाँचागत परिवर्तन दर्ज किए हैं जिससे सेवा क्षेत्रों को एक विशिष्ट स्थान मिला है तथा कृषि में अवनति हुई है। अर्थव्यवस्था ने उच्च सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि को बरकरार रखा जिसके लिए प्रमुख प्रोत्साहन विनिर्माण और सेवा क्षेत्रों से मिला। भारत में राज्य विकास निष्पादन में भारी अन्तर दर्शाते हैं। विशेष रूप से महाराष्ट्र और गुजरात में अर्थव्यवस्था में सुधार हुआ जबकि बिहार, उत्तर प्रदेश और उड़ीसा में यह पतनोन्मुख हुई।

भारत की विकास व्यवस्था का उद्देश्य विशाल पैमाने पर ग़रीबी का उन्मूलन है। यद्यपि प्रतिशतता ग़रीबी में कमी दर्शाती है परन्तु बेरोक जनसंख्या वृद्धि से ग़रीबों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हुई। त्वरित विकास और ग़रीबी उन्मूलन के बीच स्पष्ट सम्बन्ध है। भारत में ग़रीबी व्यापक तौर पर ग्रामीण स्थिति की प्रतीक है क्योंकि भारत के 80 प्रतिशत ग़रीब ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। इस प्रकार, सुधारों का व्यापक लाभ मिले इसके लिए उन्हें ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुँचाना जरूरी है। केवल आय के स्तरों से ग़रीबी का मापन नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि मानव जीवन को अन्य आयामों पर नियंत्रण करने में वे

अक्सर असफल रहते हैं। अन्य अभाव जैसे बालश्रम, कुपोषण, निरक्षरता, वैश्यावृत्ति, जाति विभेदन किसी भी पुर्वानुमेय तरीके से आय के स्तर से जुड़े हुए नहीं हैं। समृद्धि के स्तर मानव रहन–सहन की गरीबी के मानदण्ड नहीं है। इस प्रकार भारत को अपने विकास–अपने आर्थिक और सामाजिक मुकाबले पर संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता है जिससे राज्य अधिक सजीव भूमिका निभा सके।

2.1.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. क्या भारत में सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि के परिणामस्वरूप राज्य घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर में समान वृद्धि हुई है।
2. ग़रीबी रेखा से आप क्या समझते हैं? भारत के संदर्भ में इसकी व्याख्या करें।
3. भारत ग़रीबी उन्मूलन में कितना सफल हुआ है? आपकी नज़रों में भारत को लोगों के 'रहन–सहन' की गुणवत्ता में सुधार के लिए क्या कदम उठाने चाहिए?

सारणी–1 : ग़रीबी में अखिल भारतीय रुझान (ग़रीबी रेखा से नीचे जनसंख्या प्रतिशत में)

परिशिष्ट

	ग्रामीण प्रतिशत	शहरी प्रतिशत	राष्ट्रीय प्रतिशत
1983	45.31	35.65	43.00
1986–87	38.81	34.29	37.47
1988–89	39.06	36.60	38.44
1989–90	34.30	33.40	34.07
1990–91	36.43	32.76	35.49
1991–92	37.42	33.23	36.34
1992–93	43.47	33.73	40.93
1993–94	36.66	30.51	35.04
1994–95	41.02	33.50	38.40
1995–96	37.15	28.04	35.00
1996–97	35.78	29.99	34.40

सत्रोत : दत्त (1997) और	(1999)		
	सारणी–2 : सकल राज्य घरेलू उत्पाद के विकास की वार्षिक दरें		
		1880–81	1991–92
		1990–91	1997–98
		प्रतिशत प्रतिवर्ष	प्रतिशत प्रतिवर्ष
बिहार		4.66	2.69
राजस्थान		6.60	6.54
उत्तर प्रदेश		4.95	3.58
उड़ीसा		4.29	3.25
मध्य प्रदेश		4.56	6.17
आंध्र प्रदेश		5.65	5.03
तमिलनाडु		5.38	6.22

केरल			3.57	5.81
कर्नाटक			5.29	5.29
पश्चिम बंगाल			4.71	6.91
गुजरात			5.08	9.57
हरियाणा			6.43	5.02
महाराष्ट्र			6.02	8.01
पंजाब			5.32	4.71
सभी	14 राज्य		5.24	5.94
सकल	घरेलू	उत्पाद	5.55	6.89

स्त्रोत मुख्य सांख्यिकीय अधिकारी और राष्ट्रीय लेखा

सारणी–3 : प्रति व्यक्ति वार्षिक विकास दर राज्य सकल घरेलू उत्पाद

		1880–81 1990–91 : प्रतिवर्ष	1991–92 1997–98 : प्रतिवर्ष
1.	बिहार	2.45	1.12
2.	राजस्थान	3.96	3.96
3.	उत्तर प्रदेश	2.60	1.24
4.	उड़ीसा	2.38	3.87
5.	मध्य	2.08	3.87
6.	आंध्र प्रदेश	3.34	3.45
7.	तमिलनाडु	3.87	4.95
8.	केरल	2.19	4.52
9.	कर्नाटक	3.28	3.45
10.	पश्चिम बंगाल	2.39	5.04
11.	गुजरात	3.08	7.57
12..	हरियाणा	3.86	2.66
13.	महाराष्ट्र	3.58	6.13
14.	पंजाब	3.33	2.80
15.	सभी राज्यों का संयुक्त राज्य घरेलू उत्पाद	3.03	4.02
:	स्त्रोत मुख्यसांख्यिकीय अधिकारी		

सारणी–4 : ग़रीबी में जनसंख्या प्रतिशतता

		1983	1987.88	1993.94
1)	बिहार	52.22	52.13	54.96
2)	राजस्थान	34.46	35.15	27.41

3)	उत्तर प्रदेश	47.07	41.46	40.85
4)	उड़ीसा	65.29	55.58	48.56
5)	मध्य प्रदेश	49.78	43.07	42.52
6)	आंध्र प्रदेश	28.91	25.86	22.19
7)	तमिलनाडु	51.66	43.39	35.03
8)	केरल	40.42	31.79	25.43
9)	कर्नाटक	38.24	37.53	33.16
10)	पश्चिम बंगाल	54.85	44.72	35.66
11)	गुजरात	32.79	31.54	24.21
12)	हरियाणा	21.37	16.64	25.05
13)	महाराष्ट्र	43.44	40.41	36.86
14)	पंजाब	16.18	13.20	11.77
सभी	14 राज्य	43.80	39.92	36.25
अखिल भारत स्त्रोत : योजना आयोग		44.48	38.86	35.97

सारणी 5 : प्रति व्यक्ति वार्षिक विकास 1993–94 और 1997–98 के बीच

	1983–84 1993–94	1993–94 1997–98
बिहार	0.78	2.14
राजस्थान	1.79	2.14
उत्तर प्रदेश	1.76	1.69
उड़ीसा	1.37	2.61
मध्य प्रदेश	2.38	2.71
आंध्र प्रदेश	3.49	2.40
तमिलनाडु	4.69	4.47
केरल	4.11	3.79
कर्नाटक	3.76	3.42
पश्चिम बंगाल	2.69	5.45
गुजरात	2.50	7.62
हरियाणा	3.39	3.16
महाराष्ट्र	4.96	3.90
पंजाब	3.30	2.60
सभी 14 राज्य	3.16	3.87
स्त्रोत : मुख्य ािख्यिकीय अधिकारी और राष्ट्रीय लेखा		

अध्याय–2 : विधायिका

संरचना

2.2.1 उद्‌देश्य
2.2.2 प्रस्तावना
2.2.3 विधायिका
2.2.3.1 संरचना
2.2.4 केन्द्रीय विधायिका/संसद
2.2.4.1 राष्ट्रपति
2.2.4.2 लोकसभा
2.2.4.3 राज्यसभा
2.2.4.4 समितियाँ
2.2.4.5 विपक्ष
2.2.5 राज्य विधायिका
2.2.6 विधान सभा/विधान परिषद्
2.2.7 संसदीय कार्यवाही
2.2.8 सारांश
2.2.9 अभ्यास प्रश्नावली

2.2.1 उद्‌देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्‌देश्य सरकार के तीन प्रमुख अंगो कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका का उल्लेख करते हुए प्रमुख रूप से व्यवस्थापिका की संरचना व कार्यवाही का विवरण करना है। भारत में राज्य विघयिका का ढाँचा प्रस्तुत करते हुए संसदीय कार्यवाही की समीक्षा की गई है। सैद्वान्तिक और व्यवाहारिक तौर पर व्यवस्थापिका के कार्य व भूमिका स्पष्ट की गई है। विधायिका की किसी भी लोकतंत्र में प्रमुख भुमिका होती है और भारतीय लोकतंत्र विश्व का विशालतम लोकतंत्र होने के कारण यह अत्यंत ही महत्वपूर्ण है।

2.2.2 प्रस्तावना

आधुनिक राष्ट्र राज्य शासन करने की ऐसी राजनैतिक शक्ति की अपेक्षा करता है जो उसे उसके नागरिकों द्वारा वैध प्रक्रिया द्वारा प्रदान की गई हो। लोकतंत्र में यह राजनैतिक शक्ति असैनिक समाज के बीच व्यवस्था बनाए रखने तथा संघर्ष आदि के समाधान के लिए राज्य के आवश्यक औजार के रूप में होती है। यह स्वमेव इस बात पर भी विचार करती है कि सभ्यता के छोटे स्तर से लेकर बड़े स्तर तक मानवता का निर्देशन किस प्रकार हो। राज्य समाज के राजनैतिक लक्ष्य का प्रतीक है और इसके प्रतिष्ठान सिद्धांतों और तकनीकों के उचित क्रम को अभिव्यक्त करते हैं जो उस सन्निहित लक्ष्य को स्थापित करने के लिये किए गए प्रयासों में प्रयुक्त होते हैं। विद्यमान लोक तंत्र को समझने के लिए राज्य द्वारा प्रभावित सम्पूर्ण परिसर, क्षेत्र, शैली, प्रयोजन और नियंत्रण के विश्लेषण की आवश्यकता है।

इसीलिए आधुनिक राज्यों में व्यापक पैमाने पर समाज के नियंत्रण और मार्गदर्शन के तरीके से विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के रूप में ढाँचागत फर्क आया है। इन तीन प्रतिष्ठानों में से विधायिका वह निकाय है जो जनता का दो विशिष्ट तरीकों से प्रतिनिधित्व करता है। पहला यह कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्रों की आशंकाओं और उपेक्षाओं को विधायिका के दूसरे सदस्यों तथा कार्यपालिका को संप्रेषित कर सकते हैं और दूसरा यह कि विधायिका राष्ट्र के दलित वर्ग और उनके 'विविध सांस्कृतिक' समाज का एक 'दर्पण की प्रतिमा' के रूप में प्रतिनिधित्व कर सकती है।

विधायिका

विधायिका को प्रायः शब्द 'संसद' के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। विधायिका लैटिन शब्द ''लेक्स'' से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है विधि के द्वारा विधिक शासन तथा 'संसद' फ्रेंच शब्द ''बोलना'' से उद्‌भूत है। विधायिकाएँ सरकार की उत्कृष्ट योजना में विधि निर्माण निकाय थीं। आज यह विविध कार्यों से जुड़ी हुई है और इसमें घटनात्मक

ढांचागत परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के तौर पर कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण रखने के लिए इसके महत्त्वपूर्ण कार्यों जिनका यह निष्पादन करती है, में से एक कार्य यह है कि हस्तक्षेप प्रक्रिया में विविध विधायी समितियाँ और नए–नए प्रतिष्ठान सामने आए हैं। अथवा, विधायिका वह स्थल है जहाँ सर्वाधिक राष्ट्रीय 'नेतृत्व' सहभागिता लोकतंत्र में प्रशिक्षित होता है। तथापि,प्रतियोगिताओं, विचार–विमर्शों और रचनात्मक नीतिगत कानून के स्वरूप वाला कथोपकथन वार्त्तालाप विधायिकाओं में अवस्थित राजनीतिक प्रक्रियाओं के मूल में बना रहता है।

उपनिवेशी काल के बाद की भारतीय विधायिका के लोकतांत्रिक और राजनीतिक विकास की यात्रा 1952 से आरंभ हुई परन्तु भारतीयों के लिए विधायिका की यह उत्तम संस्था अंग्रेजों की देन है। जिन प्रमुख साधनों के द्वारा ब्रिटिश संसद ने प्रजा के ऊपर राजा की शासन शक्ति को उखाड़ फेंका, वे एक 'उत्तरदायी सरकार' बने। उपनिवेशी सरकार के दौरान वर्ष 1833 से गवर्नर जनरल कौन्सिल के कार्यकारी और विधायी कार्यों के बीच एक धारणागत अन्तर रखा गया। इसके बाद, भारतीय परिषद् अधिनियम 1861 के लागू होने पर, विधायी परिषदों को सौंपे गए विधायी कार्यों का शनैः शनैः विस्तार हुआ तथा 'मूल निवासियों' को विधायी तंत्र में उत्तरोत्तर शामिल किया जाने लगा। मॉर्ले–मिण्टो सुधार 1909 के तहत निर्वाचित ग़ैर–सरकारी सदस्यों को केन्द्रीय विधायी परिषद् और प्रान्तीय विधायी परिषद् में शामिल करके उनका विस्तार करने की माँग की गई। केन्द्रीय विधायी परिषद् के लिए निर्वाचन भी लागू किया गया। विधायी परिषद् के स्वैच्छिक कार्यों में भी वृद्धि हुई तथा पहली बार मुस्लिम समाज के लिए पृथक् मतदान का प्रावधान किया गया।

तथापि, यह विश्वास बना रहा कि संसदीय राजनीति भारतीय परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं थी। भारत के राज्य सचिव लॉर्ड मॉर्ले ने भारतीय परिषद् विधेयक पर 17 दिसम्बर 1908 को 'हाउस ऑफ लार्ड्स' में अपने प्रथम वाचन में कहा, ''यदि यह विधेयक भारत में संसदीय प्रणाली स्थापित करने का प्रयास कर रहा है, सुधारों के इस अध्याय से भारत में संसदीय प्रणाली प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से लागू हो जाएगी, तब मैं इसके लिए कुछ नहीं कर पाऊँगा।''

तथापि, प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक प्रतिष्ठापित ब्रिटिश विचारधारा में परिवर्तन आना शुरू हो गया। 1919 के मोण्टेग–चेम्सफोर्ड सुधारों में विद्यमान प्रणाली में भारी परिवर्तन किए गए। इसमें हस्तान्तरण नियमों के माध्यम से प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार के आगे और सुधार हुए तथा भारतीय विधायिका प्रतिनिधिक और 'द्विसदस्यीय' बनाई गई तथा दोनों सदनों में निर्वाचित बहुमत लागू किया गया। शनैः शनैः स्वशासित प्रतिष्ठानों को विकसित करने जिससे भारत में उत्तरदायी सरकार का उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़े, के उद्देश्य के बावजूद, राजनीतिक संरचना अभी भी एकाकी और केन्द्रित थी तथा परिषद् में पहले की तरह गवर्नर जनरल राज्य सचिव के माध्यम से ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी बना रहा।

भारत सरकार अधिनियम 1935 के लागू होने से एक अन्य प्रमुख सुधार हुआ। जिसमें, अन्य बातों के साथ– साथ, संघीय और प्रान्तीय स्वायत्तता, केन्द्र में द्वितंत्र, केन्द्र और प्रान्तों के बीच विधायी शक्तियों के बँटवारे का प्रावधान था तथा छह प्रान्तीय विधायिकाएँ द्विसदनीय बनाई गई। तथापि, केन्द्रीय परिषद् ने प्रान्तों के ऊपर नियंत्रण बनाए रखा तथा पूर्ववत् गवर्नर जनरल की सलाहकार थी और इसे विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाया गया। ब्रिटिश राजसिंहासन और गवर्नर जनरल ने केन्द्रीय विधायिका द्वारा पारित विधेयकों को नामंजूर करने की शक्ति अपने पास रखी। गवर्नर जनरल के पास अध्यादेश बनाने की शक्ति, कानून अथवा स्थायी अधिनियम बनाने की स्वतंत्र शक्ति थी। प्रान्तीय विधायिका भी इस प्रकार के प्रतिबन्धों से त्रस्त थी।

दिसम्बर 1946 में, जब के.सी. ह्वैअरे के अनुसार, ''संवैधानिक स्वस्थानिकता'' के सिद्धान्त पर कार्य करने और राज्य सत्ता के ढाँचागत प्रबन्धन का प्रावधान करने के लिए निर्वाचन सभा बुलाई गई थी तब यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया था कि भारत की अपनी विधायिका होगी। भारत सरकार अधिनियम 1947 द्वारा इसे ब्रिटिश संसद की संप्रभुता और उत्तरदायित्व का उन्मूलन करके आगे और स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश सिंहासन आगे प्राधिकार का ोत नहीं रहेगा और निर्वाचन सभा नए संविधान के निर्माण तथा नई विधायिकाओं के गठन होने तक, निर्वाचन एवं विधायी, द्वैत कार्य करेगी जैसा कि भारत ने अपने राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल संसदीय सरकार वाले लोकतंत्र एवं विकास की प्रक्रिया का उपक्रम किया था। अतः निर्वाचन सभा ने संविधान के विधायी उपबंध बनाए जिससे देश की सामाजिक और राजनीतिक एकता के लिए आधार तैयार हो सके। विभाजन ने इस कार्य को मुश्किल कर दिया।

2.2.3.1 संरचना

लोकतंत्रीय प्रणाली के तहत क्रियाशील, भारत में विधायिका केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय विधायिकाओं, उनके औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रबन्धनों का कुल जोड़ है जो अन्य राज्य निकायों और परिवेश के साथ अन्तर्गठबन्धन और अन्तर्क्रियाएँ करती रहती हैं। केन्द्रीय विधायिका जिसे संसद के रूप में जाना जाता है, राष्ट्रपति और दो सदनों लोकसभा (जनता का सदन एवं अवर सदन) और राज्य सभा (राज्य परिषद् एवं उच्च सदन) से मिलकर बनती है। राज्य विधायिका में कुछ राज्यों में राज्यपाल और दो सदन (विधानसभा और विधान परिषद्) शामिल होने तथा शेष राज्यों में (अनुच्छेद 168) एक सदन (विधानसभा) होगा। स्थानीय विधायिका–ग्रामसभा और नगरपालिका संविधान द्वारा गठित एक स्वशासन का प्रतिष्ठान

है। सम्बद्ध राज्य द्वारा अंतरित की जाने वाली पर्याप्त विधायी शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए 73वें और 74वें संशोधन पर अभी कार्यवाही जारी है।

कानून के प्रयोजनार्थ, संविधान ने सरकार की मूलभूत संरचना के तौर पर संघीय प्रणाली लागू की है जिसमें विभिन्न विषयों का केन्द्र और राज्य सरकार के बीच सातवीं अनुसूची में यथाचर्चित तीन स्तरों पर नामतः संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में आबंटन किया गया है। 73वें और 74वें संशोधनों के द्वारा राज्य और स्थानीय निकायों के बीच भी संविधान में ग्यारहवीं अनुसूची समाविष्ट करके विषयों के बँटवारे का प्रयास भी किया गया है। विषयों का यह बँटवारा आवश्यक है जिससे सभी उत्तरदायी और जवाबदेह स्तरों पर सूची में दिए गए मुद्दों के दायरे में कानून बनाया जा सके। तथापि, संघर्ष की स्थिति में, दायरे को समय–समय पर परिभाषित किया जाता है।

2.2.3 केन्द्रीय विधायिका/संसद

2.2.4.1 राष्ट्रपति

भारत का राष्ट्रपति इंग्लैण्ड के राज्य सिंहासन की तरह तथा अमेरिका के राष्ट्रपति से भिन्न भारतीय संसद का एक अभिन्न अंग है, तथापि, भारत का राष्ट्रपति अपनी शक्ति और प्रास्थिति के संदर्भ में इंग्लैण्ड के राज्य–सिंहासन से मेल नहीं खाता जैसे : कतिपय विवेकाधीन शक्तियाँ बनाम कानून और शपथ ग्रहण।

संविधान राष्ट्रपति को शासन करने की शक्ति प्रदान करता है परन्तु राष्ट्रपति अपनी शक्तियाँ सांविधिक सीमाओं के अंतर्गत प्रयोग करता है, उदाहरणार्थ अनुच्छेद 74(1) ''भारत के राष्ट्रपति द्वारा कार्यकारी शक्तियाँ मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार प्रयोग की जाएगी अथवा अनुच्छेद 53(1) में अपेक्षित है कि राष्ट्रपति को अपनी शक्तियाँ संविधान के अनुसार प्रयोग करनी चाहिए।'' राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है और एकता का प्रतीक है तथा दूसरा भाव यह है कि वह ''राज्य का प्रमुख'' है। तथापि, राष्ट्रपति के पद से कुछ सवाल खड़े हुए हैं जैसे, वस्तुतः राष्ट्रपति से सही अर्थों में क्या किया जाना अपेक्षित है? संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों को वह औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से किस प्रकार प्रयोग कर सकता है? क्या राष्ट्रपति ''प्रथम नागरिक'' से कुछ अधिक है अथवा ''रबड़ की मुहर''? एस.एस. खेड़ा का कहना है कि निश्चित रूप से उसके पास ''सभी राजनीतिक पाबन्दियों से स्वतंत्र उसका अपना दिमाग होता है जिसकी शासकीय निर्णय लेने में सक्रिय भाग लेने के लिए अथवा उसकी प्रतिष्ठा और शक्तियों से सम्बन्धित विद्यमान संविधान के प्रावधानों के बदलने के प्रति कोई इच्छा अथवा महत्त्वाकांक्षा नहीं होती।''

तथापि, राष्ट्रपति और विभिन्न विधायी प्रतिष्ठानों के बीच तालतेल से संसदीय लोकतंत्र की सफल क्रियाशीलता सामने आई है। उदाहरण के लिए दोनों के बीच कटु सम्बन्ध विधायी मुद्दों पर समस्या का सूचक है, जो एक लम्बी बहस के लिए विरोधी दल और नागरिक समाज का ध्यान आकर्षित करेगी। ऐसे रिश्ते में राजनीतिक किलेबंदी हो सकती है जो राष्ट्रपति के भाषण में संसद के अन्दर और संसद के बाहर प्रतिबाधित होगी।

2.2.4.2 लोकसभा

भारत में संसद द्विसदनीय है। अवर सदन लोकसभा अर्थात् जनता का सदन है। इसके सदस्य सार्वत्रिक प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं (अप्रवासी, पागल, अपराधी और गलत मतदान क्रियाकलापों के लिए अभियुक्त व्यक्तियों को छोड़कर प्रत्येक प्रौढ़ नागरिक (18 वर्ष और उससे ऊपर) मतदान का हकदार है। आरक्षित चुनाव क्षेत्र में केवल अनुसूचित जाति और जनजाति के सदस्य ही अपना कार्यालय खोल सकते हैं परन्तु उस चुनाव क्षेत्र में आने वाले सभी प्रौढ़ मतदान कर सकते हैं। दो नामित स्थान अंग्रेज–भारतीय सम्प्रदाय के प्रतिनिधित्वों में से राष्ट्रपति द्वारा भरे जाते हैं।

मतदान प्रणाली के अनुसार एक चुनाव क्षेत्र में एक सदस्य को चुनना होता है। इस व्यवस्था ने ऐसी सरकारों को बनाया है जिनका संसद में भारी बहुमत था परन्तु उन्हें मतदाताओं का बहुमत प्राप्त नहीं था। अंकगणितीय तौर पर परिभाषित स्वैच्छिक लोकतंत्र में समानुपातिक आधार पर आरक्षण व्यवस्था विरोधी दलों के लिए अधिक स्वच्छ और अधिक प्रभाव होगी। कुल मिलाकर संसद संवैधानिक निकाय जिसे चुनाव आयोग कहते हैं, की सहायता से निष्पक्ष तौर पर चुनी जाती है। यद्यपि व्यष्टिगत सीटें ताकतवर अथवा घूसखोरों द्वारा निर्धारित की जाती हैं तदपि भारत में कोई भी आम चुनाव का समग्र परिणाम ऐसा नहीं हुआ जो मतदाताओं की प्राथमिकताओं का उचित प्रतीक न हो।

लोकसभा की अधिकतम अवधि पाँच वर्ष होती है यद्यपि आपात्काल में उसे एक बार में एक साल तक अनिश्चित रूप से बढ़ाया जा सकता है। संसद की कोई न्यूनतम अवधि नहीं है। जब संसद भंग हो जाती है और सिरे से चुनाव कराए जाते हैं क्योंकि सरकार सदन में अपना विश्वास खो चुकी होती है तब प्रधानमंत्री भी निजी तथा राजनीतिक दल के अधिकतम लाभ के प्रयोजन से बेहतर आम राय प्राप्त करने के लिए नए सिरे से चुनावों की माँग कर सकता है।

संविधान के तहत लोकसभा को एक साल में दो बार बुलाया जाना अपेक्षित है तथा दो सत्रों के बीच अधिकतम अनुमेय अवधि छह महीने से अधिक नहीं हो सकती। विद्यमान प्रथा के अनुसार लोकसभा के प्रायः एक साल में तीन सत्र होते हैं।

संसदीय कार्यवाही की भाषा अधिकतर हिन्दी अथवा अंग्रेजी होती है। यद्यपि सदस्य मान्यता प्राप्त भाषाओं में से किसी भी भाषा को प्रयोग में ला सकता है।

संसदीय प्रणाली में, कानून की प्रक्रिया तीन चरणों में पूरी होती है जो विधेयकों के तीन परिचित वाचनों के अनुरूप होते हैं : विधेयक को पेश करना, इस पर विचार करना तथा उसका अधिनियम करना। प्रथम वाचन में विधेयक पेश किया जाता है तथा उसके लक्ष्य और प्रयाजनों को स्पष्ट किया जाता है। द्वितीय वाचन के बाद विधेयक चयन समिति को भेज दिया जाता है अथवा लोगों की प्रतिक्रिया जानने के लिए परिचालित किया जाता है अथवा उसपर तत्काल विचार किया जाता है। अन्तिम स्थिति न के बराबर होती है तथा उसे आवश्यक एवं अविवादित मदों के लिए आरक्षित रखा जाता है। द्वितीय स्थिति प्रायः अधिकांशतः होती है। चयन समिति उसे या तो एक मत से अथवा बहुमत की सिफारिश के साथ अथवा असहमति के संक्षिप्त टिप्पणी के साथ वापस भेज देती है। तत्पश्चात् विधेयक के प्रत्येक उपखंड पर एक–एक करके सदस्यों के साथ विचार–विमर्श होता है जिससे उसमें उपयुक्त संशोधन किया जा सके। एक बार जब सभी उपखंडों पर चर्चा हो जाती है, तब विधेयक प्रस्तुतीकरण के चरण को पार कर जाता है और तीसरे और अन्तिम वाचन के लिए सूचीबद्ध कर दिया जाता है जो वस्तुतः संशोधनों के लिए होता है तथा तत्पश्चात् विधेयक पर मतदान कराया जाता है। यदि अध्यक्ष उसका पारित होने की पुष्टि कर देता है तो विधेयक को दूसरे सदन में भेज दिया जाता है जहाँ सम्पूर्ण प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है। जब संसद के दोनों सदन विधेयक का समान स्वरूप पारित कर देते हैं तो यह राष्ट्रपति को उसके अनुमोदनार्थ भेजा जाता है और उसकी सहमति मिलने पर यह कानून बन जाता है।

सरकार की सत्रीय और दैनिक कार्यवाही मंत्रिपरिषद् और उसकी संसदीय कार्यों की समिति द्वारा उसके मुख्य सचेतक की अध्यक्षता में तय की जाती है। संसद का प्रत्येक सत्र राष्ट्रपति के अभिभाषण के साथ आरंभ होता है। लोकसभा की बैठक के लिए न्यूनतम सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों का दसवाँ हिस्सा है। लोकसभा वस्तुतः संसदीय व्यवस्था में मौलिक रूप से अन्य विधान सभाओं की तरह होती है तथापि इसका संदर्भ बिल्कुल भिन्न हो सकता है जो अपने अपूर्व सामाजिक–राजनीतिक परिवेश को प्रतिबिम्बित करेगा। सदन का संचालन अध्यक्ष के हाथों में होता है जो सदस्यों की पहचान करता है, व्यवस्था बनाए रखता है और वे प्रस्तुत मुद्दे पर मतदान नहीं करता है परन्तु किसी प्रस्ताव के अनिश्चित होने की स्थिति में वह अपना निर्णायक मत डाल सकता है। अध्यक्ष शासक दल द्वारा चुना जाता है तथा इसका औपचारिक चुनाव सदन द्वारा किया जाता है तथापि उससे अपेक्षा की जाती है कि वह संसदीय कार्यवाही को समुचित और निरपेक्ष रूप से आगे बढ़ाए।

संसद अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन करने के लिए केन्द्रीय फोरम है। क्रियावधिक शक्तियाँ वे हैं जिन्हें संसद अपनी कार्यवाही चलाने हेतु नियम बनाने के लिए अनुमत करती है। विधायी शक्तियाँ संसद का प्राधिकार होती है और देश का शासन चलाने के लिए कानूनों के अधिनियमन में उसकी भूमिका निभाती हैं। संसद तकनीकी रूप से वह विधायिका, संस्था है जो देश के कानून और जनता के प्राधिकार तथा राज्य के प्रमुख की सहमति का अधिनियम करती है। वास्तविकता यह है कि विधायी कार्यसूची सरकार द्वारा विनियंत्रित होती है तथा उसका कठोर दलीय अनुशासन की सहायता से राष्ट्रपति द्वारा पृष्ठांकन किया जाता है। संसद की वित्तीय शक्तियाँ इसे धन, जितना वह उचित समझे, का संग्रहण और खर्च करने की शक्ति प्रदान करती हैं जिसमें वार्षिक बजट पर चर्चा करना और उसका अनुमोदन शामिल है, कर लगाने तथा समेकित निधि से धन खर्च करने का प्राधिकार मात्र संसद को है।

औपचारिक रूप से सरकार की लगाम इस अर्थ में संसद के हाथों में होती है कि मंत्रिपरिषद् को लोकसभा का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक है और वह सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी है। विधायी शक्तियों के तहत संसद अन्ततः भारतीय संघ में किसी राज्य को मिलाने अथवा नया राज्य बनाने, किसी संघ राज्य क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय बनाने और किसी उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र बढ़ाने अथवा उसे कम करने; राज्य सभा (अवर सदन) की सहमति से किसी राज्य के लिए विधायी परिषद् का सृजन करने अथवा उसे समाप्त करने के लिए कानून बना सकती है।

2.2.4.3 राज्यसभा

राज्य सभा अथवा राज्य परिषद् भारत की द्विसदनीय संसद का उच्च सदन है। भारतीय संघ के लिए द्विसदनीय विधायिका तीन कारणों से विनिर्दिष्ट होती है।

प्रथम, राज्य सभा, जैसा कि उसके नाम से अभिप्रेत है, संघीय राज्यतंत्र में राज्य के अधिकारों का प्रतिनिधित्व करने और उनके संरक्षण के लिए एक प्रकोष्ठ था। अतः राष्ट्रपति के चुनाव के लिए मतदान व्यवस्था में राज्य सभा की भूमिका और प्रास्थिति वही होती है जो लोकसभा की। राज्य विधान सभाओं के सदस्य अपने राज्यों के लिए समानुपातिक प्रतिनिधिक व्यवस्था के तहत राज्य सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। राज्य सभा की सांविधिक स्थिति की अमेरिकी सीनेट की शक्ति, कार्यों और प्रतिष्ठा की विशेष रूप से उस स्थिति में तुलना नहीं की जा सकती जब मात्र राज्य के अधिकार सन्निहित हों। संसद के दोनों सदनों के बीच अवरोध की स्थिति में उदाहरण के लिए यदि विधेयक पर चर्चा वास्तविक संतोषजनक निर्णय पर पहुँचने में विफल हो जाए, तब राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुला सकता है। इसके

निर्णय केवल बहुमत के आधार पर होते हैं। चूँकि संयुक्त बैठक में लोकसभा के सदस्य उसे प्रतिद्वन्द्वी राज्य सभा के सदस्यों के मुकाबले 2:1 के अनुपात में होते हैं अतः आमतौर पर राज्य सभा को पराजित हुआ माना जाता है।

द्विसदनीय विधायिका स्थापित करने का दूसरा प्रयोजन, विधेयक को लोकसभा द्वारा पारित किए जाने के बाद उस पर द्वितीय मत तथा अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण सहमति के लिए संस्थागत अवसर मुहैया कराना था। यह व्यापक रूप से दोनों सदनों में दलीय स्थिति पर निर्भर करता है। कांग्रेस पार्टी के आधिपत्य की अवधि के दौरान समालोचक के रूप में राज्य सभा की भूमिका प्रमुखतः कपोल कल्पना प्रतीत हुई थी।

भारतीय शासन पद्धति में राज्य सभा का तीसरा कार्य उस परिस्थिति में विधेयक को संसद में प्रस्तुत करना है जब लोकसभा सत्र में न हो। विधेयक पर अधिकांश संसदीय बहस और कार्य लोकसभा को पुनः बुलाए जाने तक पूरे किए जा सकते हैं।

संविधान के कतिपय विशिष्ट संघीय स्वरूप के सम्बन्ध में, राज्य सभा को राज्याधिकारों के संरक्षण के रूप उसे संशोधित करने की प्रमुख भूमिका दी गई है। उदाहरण के लिए, स्वयं राज्य सभा की शक्तियाँ भी उच्च सदन के दो–तिहाई बहुमत की सहमति से बदली जा सकती हैं। सिद्धांततः, सदन में ऐसे घटक और निपुण कार्मिकों को शामिल करने के उपायों का प्रावधान है जो राजनीतिक चुनाव की अनिश्चित मुश्किलों का मुकाबला करने को तैयार नहीं है। उन्हें राज्य सभा के लिए नियुक्त किया जा सकता है और चुनावों की कोलाहल में फँसाने की बजाए सीधे मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया जाता है।

2.2.4.4 समितियाँ

लोकसभा संसदीय समितियों की सहायता से कार्य करती है। समितियों का गठन सदन में सम्बद्ध दलीय स्थिति के मद्देनजर अध्यक्ष तथा प्रमुख सचेतक द्वारा अवधारित किया जाता है। अनुचित कार्यकारी प्रभाव को रोकने के लिए, ऐसे किसी मंत्री को उस समिति के विचार विमर्श में भाग देने की अनुमति नहीं दी जाती जिसके प्रभार में समिति के विचाराधीन विधेयक है। संसदीय समितियाँ संसदीय कार्यवाही में तीव्रता लाने तथा सरकारी क्रियाकलापों की समीक्षा करने में सहायता करती है। उन्हें चार व्यापक समूहों में बाँटा जा सकता है : सदन के संगठन और शक्तियों से सम्बद्ध समूह जैसे नियम समिति, सदन की विधायी कार्यों में सहायता करने वाला समूह जैसे चयन समिति, सरकारी विभागों को अधिक जवाबदेह बनाने में, सदन की सहायता करने वाला समूह जैसे विभिन्न स्थायी समितियाँ और वित्तीय कार्यों में सदन की सहायता करने वाला समूह जैसे लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति आदि।

संसदीय समितियाँ संसद में जवाबदेही संस्कृति और अच्छा शासन सुनिश्चित करने के लिए चौकीदार की तरह कार्य करती है। विशेषतया वित्तीय सम्मितियाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं क्योंकि वे 'घोटालों' का पता लगाती हैं और अपेक्षा की जाती है कि सम्बद्ध मंत्री द्वारा उनकी सिफारिशों को लागू किया जाए तथा अनुवर्ती कार्रवाई से लोकसभा को अवगत कराया जाए।

2.2.4.5 विपक्ष

संसदीय लोकतंत्र में विपक्ष से एक वैकल्पिक सरकार की भूमिका अदा करने की अपेक्षा की जाती है। स्वतंत्र भारत के अधिकांश इतिहास में कांग्रेस पार्टी के पूर्णतः वर्चस्व के कारण ऐसा नहीं हो पाया है। भारत में अनेक राजनीतिक दल होने के कारण विपक्ष के नेता की प्रास्थिति केवल दल के उस नेता पर लागू होती है जिसकी लोकसभा में न्यूनतम पचास सीटें हों।

वैकल्पिक सरकार बनाने की क्षमता अथवा संख्या की ओर ध्यान दिए बिना विपक्षी दल भारत जैसे विशाल और विविधता वाले देश में मतों की विविधता अभिव्यक्ति करते हैं एवं लेखाबद्ध कराते हैं। विपक्ष सरकार को उसके राजनीतिक अस्तित्व से अवगत कराता रहता है। जब किसी प्रस्ताव पर मतदान के मिलान का समय आता है तो विपक्ष घाटे में रहता है। परन्तु संसद में इसके अभिकथन देश में व्यापक पैमाने पर सुने जाते हैं और राजनीतिक दलों के प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा अक्सर इन पर ध्यान दिया जाता है। अतः प्रायः विपक्ष दल के भीतर एक संकल्प पारित करते हैं जो इस अप्रत्यक्ष रूप से होने वाली गर्मा–गर्म बहस शासक दल के भीतर आन्तरिक बहस में बदल जाती है। जवाहरलाल नेहरू स्वयं भी विपक्ष के विभिन्न स्तरों पर मतान्तर के प्रति काफी संवेदनशील थे। आज़ादी के बाद से यह भारतीय राजनीति का विशिष्ट लक्षण बन गया है।

2.2.4 राज्य विधायिका

राज्य विधायिकाएँ अधिकांश मामलों में भारत की संसद के समान है फिर भी उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है। एक सदनीय अथवा द्विसदनीय व्यवस्था का चयन राज्यों पर छोड़ दिया गया था जो इस बात पर निर्भर था कि वे द्वितीय सदन के कार्यों को इस पर आने वाली लागत के मुकाबले कितना महत्त्व देते थे। कोई विधानसभा स्वयमेव एक विशेष बहुमत (कुल सदस्यता का बहुमत जो विद्यमान और मतदान कर रहे सदस्यों की संख्या के दो–तिहाई से कम न हो) से विधान परिषद् का सृजन अथवा उन्मूलन कर सकती है। जिसके अनुसरण में संसद द्वारा अधिनियम बनाया जाता है (अनुच्छेद 169)।

परिषद् का आकार 40 से कम तथा सभा की कुल सदस्यता के एक–तिहाई से अधिक नहीं होना चाहिए (अनुच्छेद 171)। राज्य सभा की तरह, राज्य परिषद् के एक–तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष बाद चुने जाते हैं। राज्य परिषद का पाँच–छह भाग एक जटिल सूत्र के तहत अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है जिनमें स्नातक, शिक्षक और विधान सभा के सदस्य शामिल होते हैं तथा एक छठवाँ भाग राज्यपाल द्वारा नामित किया जाता है। परन्तु राज्य परिषद् की भूमिका राज्य सभा के मुकाबले परिस्थितिजन्य होती है : यह मात्र एक सलाहकार बोर्ड है जो विधेयक के पारित होने में विलम्ब कर सकता है परन्तु उसमें संशोधन अथवा उसे छोड़े जाने के लिए मज़बूर नहीं कर सकता।

विधान सभाएँ अपने आकार में भी परिवर्तन करती है जो न्यूनतम 40 तथा अधिकतम 500 सदस्यों तक हो सकता है, इनके सदस्य प्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से सार्वत्रिक प्रौढ़ के आधार पर पाँच वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। विधान सभा भंग हो सकती है, विधान परिषद् भंग नहीं होती। संसदीय और विधान सभा चुनाव क्षेत्रों के आकार में भारी अंतर होने के कारण विधान सभा सदस्य सांसदों की तुलना में जनता के अधिक नजदीक होते हैं। तदनुसार विधान सभा सदस्य अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्यकर्ता है।

2.2.5 विधान सभा/विधान परिषद्

राजनीतिक सिद्धांत के रूप में, संप्रभुता इस धारणा की प्रतीक है कि शासन की प्रत्येक व्यवस्था में अन्तिम निर्णय के लिए कुछ निरपेक्ष शक्ति होनी चाहिए। इस तरह का निर्णय करने वाला व्यक्ति अथवा निकाय विधिक तौर पर निर्णय लेने और उस निर्णय को व्यावहारिक तौर पर लागू करने के लिए सक्षम होना चाहिए। इस धारणा में परिप्रेक्ष्यात्मक और विवरणात्मक घटक सन्निहित है। इस स्थिति जैसा इसे होना चाहिए, के प्रतिकूल वास्तविकता यह है कि बहुत से राज्यों में संप्रभुता की धारणा में अभिव्यक्त आदेश की एकता, स्पष्टता तथा प्रभावकारिता नहीं होती।

भारत में, सरकार और न्यायपालिका के बीच इस बात पर संघर्ष बना रहता है कि संसद किस सीमा तक संविधान में संशोधन कर सकती है। गोलखनाथ मामले में (1967) न्यायालय ने 6:5 के बहुमत से नियम बनाया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन के लिए सक्षम नहीं है क्योंकि ये अधिकार और हैं यद्यपि संविधान संशोधन की शक्ति विधायी शक्ति है (अनुच्छेद 245), और इस प्रकार संविधान संशोधन अनुच्छेद 13(2) के दायरे में एक कानून बन जाता है। तथापि, 1971 में, 24वें संशोधन अधिनियम के द्वारा संसद ने संविधान संशोधन अधिनियम बनाकर इसकी संप्रभुता को बरकरार रखने की माँग की जिसे इस आधार पर न्यायिक समीक्षा से से छूट प्राप्त होगी कि यह मौलिक अधिकारों को हटाती है अथवा उन्हें प्रभावित करती है। अनुच्छेद 368 के अनुसार पारित संविधान संशोधन अनुच्छेद 13 के संदर्भ में 'कानून' नहीं होगा। 25वें संविधान संशोधन अधिनियम ने संसद को उस स्थिति में मौलिक अधिकारों के उल्लंघन की शक्ति प्रदान की यदि यह उल्लंघन राज्य नीति के दिशा–निर्देश सिद्धांतों को लागू करने के लिए किया जाए। 1973 में, केशवानन्द भारती मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी कि यद्यपि संसद संविधान द्वारा 'अभिनिश्चित' मौलिक अधिकारों में भी संशोधन कर सकती है परन्तु यह संविधान के 'मूलभूत स्वरूप' अथवा ढाँचा को बदलने के लिए सक्षम नहीं है। 42वें संशोधन अधिनियम (1976) में स्पष्ट तौर पर और उद्घोषणा की गई कि संसद संविधान के सभी उपबंधों का संशोधन करने के लिए सक्षम है और न्यायालय संसदीय अविनियमनों पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकते।

'कानून की उचित प्रक्रिया' और 'कानून द्वारा स्थापित क्रियाविधि' के बीच संघर्ष के दृष्टिगत संसदीय संप्रभुता के दावे का कारण इसे जनता की इच्छा के प्रतीक के रूप में मानना है क्योंकि यह प्रत्यक्षतः जनता द्वारा चुनी जाती है और जनता के प्रति जवाबदेह होती है। वास्तव में, सभी प्रौढ़ नागरिकों द्वारा चुनी गई संसद निर्वाचित सभा जो बहुत ही सीमित मतदान द्वारा चुनी जाती है, की तुलना में आमराय का अधिक प्रतिनिधित्व करती है। तथापि, न्यायालय वर्षों से विवादात्मक निर्णय देते आ रहे हैं तथा न्यायिक निर्णयों की असमानता से संवैधानिक भ्रम की स्थिति पैदा हुई। संविधान वह है जो उसके उपखंडों में कहा गया है न कि वह जो न्यायपालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है, विशेषतः 'मूलभूत स्वरूप' की धारणा स्वयं संविधान में कहीं नहीं मिलती तथापि यह न्यायाधीशों का आविष्कार है। 1980 में, मिनर्वा मिल्स प्रकरण में, न्यायपालिका ने अनुच्छेद 368 के उपखंड (4) और (5) की वैधता को प्रतिकूल उद्घोषित करके सत्ता का संतुलन अपनी तरफ मोड़ लिया क्योंकि उनमें न्यायिक समीक्षा की व्यवस्था नहीं है जो संविधान का आधारभूत लक्षण है। तथापि, इस बात पर जोर देना कि संविधान को न्यायिकता के बिना संसद की इच्छा पर संशोधित किया जा सकता है, संविधान प्रधानमंत्री की निजी निधि बनकर रह जाएगा।

2.2.6 संसदीय कार्यवाही

स्वतंत्र भारत की संसद तकनीकी रूप से 26 जनवरी 1950 को आरंभ हुई परन्तु लोकतांत्रिक रूप से यह मात्र 1952 में जीवन्त हुई। उस समय लोकसभा अत्यधिक सुसज्जित थी, इसके अधिकांश सदस्य शहरी तथा विधिक पृष्ठभूमि वाले थे। कानून को सामाजिक आर्थिक अभियंत्रण के मुख्य उपस्कर के रूप में अपनाया गया था जिसने प्रथम लोकसभा की बैठकों के कुल समय का लगभग पचास प्रतिशत समय लिया। सदन संसदीय संस्थानों और क्रियाविधियों का एक मजबूत आधार बनाने के लिए स्वस्थ परम्पराओं को प्रतिष्ठित करते हुए अपने सृजनात्मक दौर में था।

द्वितीय लोकसभा (1957—62) को भारतीय संसदीय लोकतंत्र के इतिहास में शायद स्वर्णिम अवधि के रूप में जाना जा सकता है। संसद ने बड़े पैमाने पर विधायी उपायों का अधिनियमन किया। पारित किए गए विधेयकों में से चार विधेयकों ने संविधान संशोधन किया (एक संशोधन में गोवा को भारतीय संघ में मिलना शामिल है), दो ग़ैर—सरकारी सदस्यों के विधेयक भी संविधि पुस्तक में शामिल किए गए तथा दहेज निरोधक विधेयक पर अवरोध को दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई गई। मुन्ध्रा काण्ड में प्रशासनिक जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए 'प्रश्नकाल' के महत्त्व का विशेष उल्लेख किया गया। नेहरू की टिप्पणी थी कि ''प्रत्येक बात पर विचार करके हमने अपेक्षाकृत अच्छा किया है और आज विश्व स्थिति पर विचार करके जब हम हर दूसरे दिन विभिन्न देशों में बलात् सत्ता परिवर्तन के बारे में पढ़ते हैं तो यह आश्चर्यजनक लगता है कि हम अपने सामान्य तरीके से आगे बढ़ रहे हैं।''

तृतीय लोक सभा (1962—67) ने कृषि विशेषज्ञों को उन वकीलों का स्थान लेते हुए देखा जिन्होंने प्रथम और द्वितीय लोकसभा में विशालतम समूह का गठन किया था। सदन के गठन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आने से विपक्षी सदस्य सामान्यतः अधिक सक्रिय थे। कोषागार बेंचों ने निर्ममतापूर्वक आलोचना की, प्रामाणिक संदेहों को व्यक्त किया और कभी—कभी सरकारी प्रस्तावों का भी विरोध किया। महिला सदस्य भी प्रथम लोकसभा में 22 तथा द्वितीय लोकसभा में 27 से बढ़कर 34 हो गए। सबसे रोचक विकास यह था कि सदन का प्रमुख कार्य विधि निर्माण करना नहीं रहा।

चौथी लोकसभा (1967—70) के दौरान भारत में राजनीतिक और संसदीय पटल पर सबसे महत्त्वपूर्ण विकासों में दल—बदल और कांग्रेस पार्टी के दल विघटन की घटनाएँ थीं जिससे कांग्रेस पार्टी की अपनी अविवादित अभिमानी स्थिति समाप्त हो गई और ग़ैर—कांग्रेसवाद विपक्षी दलों के एकजुट होने तथा तदनुसार उनके कार्यक्रम के रूप में प्रकट हुआ। इन्दिरा गाँधी और कांग्रेस सिंडीकेट के बीच संघर्ष, वी.वी. गिरि को इन्दिरा गाँधी का समर्थन और उसका राष्ट्रपति के रूप में चुनाव चेतना बनाम अनुशासन का विवाद गाँधी शताब्दी वर्ष (1969) में कांगेस का विभाजन, वित्त मंत्रालय से मोरारजी देसाई का निष्कासन तथा प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण   इन सब बातों का लोकसभा की कार्यप्रणाली पर प्रभाव पड़ा। दल—बदल की घटना इस अवधि के लक्षण थे।

पाँचवीं लोकसभा (1971—77) अनेक विधायी उपायों (482) और 19 संविधान संशोधन विधेयकों की साक्षी थी। पाकिस्तान के साथ शिमला समझौता, सिक्किम को भारतीय संघ में मिलाना, आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम को बनाए रखने का अधिनियम, आपात्काल की घोषणा और दूरगामी प्रभाव वाले संविधान संशोधन को अपनाना कुछ प्रमुख ज्वलन्त उदाहरण थे। तथापि, छठवीं लोकसभा (1977—79) में जनता सरकार सत्ता में आई और उसने उन सभी को दंडित करने का कोशिश की जो निकट से इन्दिरा गाँधी से जुड़े थे और आपात्काल में न शंसता और ज़्यादतियों के लिए उत्तरदायी थे। सरकार लगभग दो वर्ष और छह महीने तक सत्ता में रही।

सातवीं लोकसभा (1980—84) ने कांग्रेस(इ) नेता इन्दिरा गाँधी को पुनः वापस सत्ता में देखा। पंजाब की स्थिति लोकसभा कार्यवाहियों पर अभिभावी रही। मंडल आयोग की रिपोर्ट जिसमें पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की गई थी, पर सदन में मैराथन बहस हुई। 1984 में, इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद चुनाव में कांग्रेस की भारी जीत हुई तथा राजीव गाँधी किशोरतम प्रधान मंत्री बने।

आठवीं लोकसभा (1988—89) के दौरान 13 संविधान संशोधन विधेयक पारित हुए जिनमें दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे, एक में सदस्यों की सदस्यता, दल—बदल के आधार पर, समाप्त करने का प्रावधान तथा दूसरे में मतदान की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई थी। तथापि, भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक, मुस्लिम महिला (तलाक होने पर अधिकारों का संरक्षण, बोफोर्स काण्ड, लोकसभा से विपक्षी सदस्यों का सामूहिक रूप से त्यागपत्र और आठवीं लोकसभा द्वारा अपनाई गई विभागीय स्थायी समितियों की व्यवस्था भारतीय संसदीय लोकतंत्र के विकास में एक ऐतिहासिक सदन था।

नौवीं लोकसभा में एक वी.पी. सिंह द्वारा जनता दल की अल्पसंख्यक सरकार बनाई गई। जम्मू और कश्मीर, पंजाब और असम की स्थिति लोकसभा कार्यवाहियों पर प्रमुखतः हावी रही। मंडल आयोग की रिपोर्ट सदन में और सदन के बाहर उच्च जातियों द्वारा भारी विरोध के बावजूद लागू कर दी गई। मंडल ने मंदिर मुद्दे को उछाला और लालकृष्ण आडवाणी ने अपने साथियों के साथ अयोध्या में राम मंदिर निर्माण के लिए रैली की। लालकृष्ण आडवाणी की गिरफ्तारी के विरोधस्वरूप भारतीय जनता पार्टी तथा उसके सहयोगी दलों द्वारा समर्थन वापस लेने के कारण सरकार ने बहुमत खो दिया और वस्तुतः अविश्वास प्रस्ताव को हार गई। नौवीं लोकसभा का कार्यकाल कम था।

दसवीं लोकसभा (1991—96) में, कांग्रेस(इ) सदन में सबसे बड़े दल के रूप में उभरी तथा स्थायी सरकार के गठन के लिए इसका अपना निरपेक्ष बहुमत था। मन्दिर मुद्दे के कारण बाबरी मस्जिद ढहा दी गई और देश विधायकों के लिए एक परीक्षण काल का साक्षी बना। इस अवधि के दौरान, दो बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गए। पहला, प्रत्येक सांसद को अपने चुनाव क्षेत्र में विकास कार्यों पर खर्च करने के लिए प्रति वर्ष एक करोड़ रुपये का आबंटन और दूसरा, सत्रह विभागीय स्थायी संसदीय समितियों द्वारा बजट प्रस्तावों और अन्य के साथ, अनुदान माँगों की गहन समीक्षा करने के कार्य की पूर्ण विकसित तंत्र की स्थापना।

ग्यारहवीं और बारहवीं लोकसभा ने गठबंधन सरकारों का प्राकट्य देखा जहाँ विधायकों की प्राथमिकता गठबंधन को बनाए रखना तथा उसे मजबूत करना थी। विविध रुचियों और उद्देश्यों को समायोजित किया गया; गठबंधन अथवा अन्यथा स्वरूप की 'बहुसंस्कृति वाली संसद' में विकास, आधुनिकीकरण और धर्मनिरपेक्षता के लक्ष्यों की तरफ रचनात्मक तौर पर आगे बढ़ने की क्षमता है। तथापि यह देखने की आवश्यकता है कि किस प्रकार से विधायी अनदेखी विकास का रुख मोड देती है और जनता की उभरती हुई उम्मीदों को पूरा करने के लिए यह रूप परिवर्तन करती है। शायद इसका उत्तर संविधान के आमुख में अन्तर्निहित उद्देश्यों की प्राप्ति में सफलता के लिए आशान्वित होने तथा विफलता के लिए आशंकित होने' के परिप्रेक्ष्य में छिपा हुआ है।

2.2.7 सारांश

लोकतंत्र में, राज्य व्यवस्था बनाए रखने और एक असैनिक समाज में संघर्षों का समाधान करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आधुनिक राज्य, तीन महत्त्वपूर्ण निकायों के विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के रूप में समाज के राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की कोशिश करता है और इस प्रकार लोकतंत्र में विश्वास की पुष्टि करता है। इस इकाई में, उपरोक्त संस्थाओं का ब्यौरेवार वर्णन किया गया है। विधायिका जनता का मात्र प्रतिनिधित्व ही नहीं करती अपितु कानून निर्माण करने वाले निकाय की भूमिका भी निभाती है। यह भागीदारी लोकतंत्र की प्रतीक है। राष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा, विभिन्न समितियाँ और विपक्ष विधायिका के अभिन्न अंग हैं। राज्य विधायिकाएँ राज्य स्तर पर महत्त्वपूर्ण होती हैं। संप्रभुता की धारणा जिसमें वितरणात्मक तथा परिप्रेक्ष्यात्मक दोनों प्रकार के घटक शामिल होते हैं, विधायिका के निर्णय लागू करने के लिए आवश्यक है। संस्थाओं और क्रियाविधियों को समझने के लिए संसद के काउर्यों को क्रमवार समग्र विश्लेषण आवश्यक है। इस प्रकार, विधायिका संविधान के आमुख में अन्तर्निहित उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहयोग करती हैं।

अभ्यास प्रश्नावली

भारत में कार्यरत विधायिका के खेतों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें (1952 से पूर्व की अवधि)।

1. संसदीय कार्यों के संरक्षण के रूप में लोकसभा और राज्यसभा की भूमिका का विश्लेषण करें।
2. संसदीय संप्रभुता क्या है? क्या यह न्यायिक समीक्षा से छूट प्राप्त है?
3. (1) विधायी प्रक्रिया में राष्ट्रपति की भूमिका और

   (2) राज्य विधायिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

इकाई–2

अध्याय–3

नौकरशाही, पुलिस और सेना

संरचना

2.2.10 उद्देश्य

2.2.11 प्रस्तावना

2.2.12 पुलिस

2.3.3.1 पुलिस के विस्तार की पृष्ठभूमि में कारण

2.3.3.2 पुलिस बल के समक्ष चुनौतियाँ

2.3.3.3 पुलिस प्रतिक्रिया

2.3.3.4 आपराधिक अभिलेख

2.3.3.5 शासन में पुलिस की भूमिका

2.3.3.6 कार्यपालिका से सम्बन्ध

2.3.3.7 विधायिका से सम्बन्ध

2.3.3.8 न्यायपालिका से सम्बन्ध

2.3.3.9 जनता से सम्बन्ध

2.2.13 लोकतंत्र में नौकरशाही

2.3.4.1 स्वतंत्रतापूर्व काल

2.3.4.2 स्वतंत्रता उपरान्त काल

2.3.4.3 नौकरशाही और विधायिका : देश के प्रशासनिक तंत्र की विशिष्टताएँ

2.3.4.4 भारत का संविधान

2.3.4.5 विलंबित सुधार

2.3.4.6 न्यायपालिका से सम्बन्ध

2.3.4.7 विकेन्द्रीकरण

2.3.4.8 नागरिक सेवा/राजनीतिक परिवेश

2.3.4.9 राजनीतिक नेतृत्व से सम्बन्ध

2.2.14 लोकतंत्र में सैन्य बल

2.3.5.1 सत्ता परिवर्तन की पृष्ठभूमि में मतान्तर

2.3.5.2 भारतीय राजनीति में सैन्यबल

2.3.5.3 राजनीतिक नेतृत्व से सम्बन्ध

2.3.5.4 सैन्य क्षमता

2.3.5.5 निर्णय करने की प्रक्रिया में सैन्यबल की भूमिका

2.2.15 सारांश

2.2.16 अभ्यास प्रश्नावली

2.3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि हमारे लोकतंत्र में सरकार के तीन अंगों कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायापालिका के साथ नौकरशाही, पुलिस और सेना की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। नौकरशाही की नीति निर्माण में

महत्वपूर्ण भूमिका होती है और सेना व पुलिस उसे क्रियान्वित करने में मदद करते है। यद्यपि इन तीनों के समक्ष चुनौतियाँ रहती है लेकिन इनकी भारतीय लोकतंत्र को मजबूत करने में सकारात्मक उपयोगिता है।

2.3.2 प्रस्तावना

पुलिस, असैनिक सेवा और सैन्यबल किसी राज्य के निग्राही तंत्र का एक अंग है। कानून बनाने के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक राज्य मध्ययुगीन राज्य से भिन्न है जो इन बलों के क्रियाकलापों पर नियंत्रण रख सकता है। एक लोकतांत्रिक राज्य एक संवैधानिक राज्य होता है। संवैधानिक कानून प्रत्येक अंग के कार्यों का दिशानिर्धारण करते हैं। राज्य के किसी अंग द्वारा सत्ता के दुरुपयोग पर नियंत्रण रखने के लिए शक्तियों का संतुलन रखा गया है। कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका राज्य के तीन अंग एक–दूसरे का संतुलन बनाए रखते हैं जिससे प्रयोजन की सिद्धि में एकता बनी रहे। यदि कोई अंग राज्य के कानून के अनुसार नहीं चलता है तो एक–दूसरे अंग द्वारा कानून के दायरे में उसकी जाँच की जा सकती है। इससे प्रत्येक अंग और नागरिक के बीच सम्बन्ध नियंत्रित होते हैं। यदि कोई नागरिक महसूस करता है कि राज्य के किसी अंग द्वारा उसके साथ भेदभाव किया जा रहा है तो वह राज्य के कार्य की न्यायिक जाँच करा सकता है। जाँच और प्रति जाँच से राज्य के क्रियाकलापों को नियमानुसार बनाए रखने में सहायता मिलती है। लोकतांत्रिक राज्य को प्रत्येक नागरिक, सामाजिक वर्ग और समूह के मानवीय अधिकारों का सम्मान करना पड़ता है। राज्य में प्रत्येक सामाजिक समूह की गतिविधियों के लिए पर्याप्त स्थान होता है। प्रत्येक समूह को राज्य के कार्यों का शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध करने की अनुमति होती है। राज्य के कानूनों से प्रत्येक नागरिक और सामाजिक वर्ग के अधिकारों की रक्षा करने की अपेक्षा की जाती है। लोकतांत्रिक राज्य एक सीमित राज्य बनाम नागरिक एवं सामाजिक समूह है। प्रत्येक सामाजिक समूह, चाहे वह प्रमुख हो अथवा अधीनस्थ, राज्य द्वारा संरक्षित होता है। राष्ट्रीय जीवन में राज्य मूलतः असमान्य स्थिति जैसे युद्ध अथवा आन्तरिक कलह के कारण आपातकालीन स्थिति, को छोड़कर एक सीमित शक्ति वाला राज्य होता है। राज्य के पास नागरिकों के अधिकारों पर अंकुश लगाने के कानून होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में पुलिस, असैनिक शासकीय कर्मचारी और सैन्यबल के पास अपरिमित शक्तियाँ होती हैं। ये तीनों शक्तियाँ प्रशासनिक राज्य का एक अंग हैं। तथापि, ये कार्यपालिका का स्थायी अंग हैं जबकि राजनीतिक कार्यपालिका अस्थायी होती है। यद्यपि ये राजनीतिक कार्यपालिका के नियंत्रणाधीन होते हैं तदपि प्रत्येक बल के कार्य की न्यायपालिका द्वारा जाँच की जा सकती है। इस एकक में से प्रत्येक बल के न्यायपालिका और विधायिका के साथ सम्बन्धों का विश्लेषण किया जा रहा है।

2.3.3 पुलिस

पुलिस पुरातन भारतीय इतिहास का एक अंग है। मौर्य राज्य में भी पुलिस बल का मुगलकाल में, नागरिकों के क्रियाकलाप कोतवाली व्यवस्था से नियंत्रित थे। ब्रिटिश शासन ने 1861 में पुलिस अधिनियम पारित कर आधुनिक नीति को जन्म दिया। उपनिवेशी राज्य में एक विधिगत तरीके से पुलिस का संचालन अनुमत हुआ। पुलिस वाले तत्कालीन कानून के अनुसार आपराधिक मामले की जाँच कर सकते थे। यद्यपि वे उपनिवेशी प्रमुखों के हितों के लिए कार्य करते थे तदपि साथ ही साथ राज्य के कानून से उन्हें स्वायत्तता प्राप्त थी। ब्रिटिश नागरिक भी कुछ सीमा तक उनके नियंत्रण में थे यदि वे ऐसे अपराध करते जो पुलिस अधिनियम में सूचीबद्ध थे। यह सोचना गलत है कि पुलिस अधिनियम ने केवल उपनिवेशी प्रमुखों के हितों की ही रक्षा की। यह अधिनियम स्वतंत्रता के बाद भी भारतीय राज्य की आवश्यकताओं को पूरा कर रहा है। अधिनियम के कुछ उपबंधों का संशोधन किया गया है परन्तु संक्षिप्ततः उसे यथास्थिति रखा गया है। यद्यपि राष्ट्रीय पुलिस आयोग ने एक नए पुलिस अधिनियम की पेशकश की है तदपि लोकतांत्रिक शासन में पुराने अधिनियम को समाप्त करने की आवश्यकता महसूस नहीं की गई है।

2.3.3.1 पुलिस के विस्तार की पृष्ठभूमि में कारण

आधुनिक भारतीय समाज द्वारा किए गए परिवर्तनों के मद्देनजर पुलिस के क्रियाकलापों में वृद्धि हुई है। भारतीय समाज मात्र एक कृषिक समाज नहीं रह गया है यद्यपि अधिकांश जनता गाँवों में रहती है। परन्तु जहाँ तक राष्ट्रीय आय को अंशदान का सम्बन्ध है, कृषि से आय के अंश में भारी कमी आई है। उद्योग और सेवा क्षेत्र से अंशदान में वृद्धि हुई है। औद्योगिक और आधुनिक समाज के इस फेरबदल से समाज में कतिपय परिवर्तन हुए हैं। बदले हुए समाज में कुछ विशेष प्रकार की समस्याएँ हैं जिन्हें पुलिस द्वारा सुलझाने की आवश्यकता है। भारतीय समाज का तीव्रगति से शहरीकरण हो रहा है जिससे पुलिस के लिए कुछ समस्याएँ जन्म लेती हैं। औद्योगिक और शहरी समाज की समस्याओं, ग्रामीण समाज में हरित क्रांति और राजनीतिक लोकतंत्र द्वारा लगाए गए सामाजिक परिवर्तनों के कारण बदलाव आया है। जाति प्रधान समाज में समग्र परिवर्तन हुआ है। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन जैसे भूमि सुधारों से ग्रामीण समाज का चेहरा बदल गया है और वंशानुगत सामाजिक नेता समाप्त हो चुके हैं। फलस्वरूप सामाजिक सत्ता में भागीदारी के लिए विभिन्न जाति समूहों के बीच एक जबर्दस्त प्रतिस्पर्धा हो रही है। ग्रामीण समाज में सामाजिक ताकतों का बदला हुआ रूप राजनीति में दृष्टिगोचर होता है। लोकतांत्रिक राजनीति से समाज में कुछ परिवर्तन हुए हैं। चुनावी व्यवस्था से समाज का लोकतांत्रिक स्वरूप मजबूत हुआ है। इससे जनता के सामाजिक समूहों और वर्गों के बीच राजनीतिक सत्ता की होड़ लगी हुई है।

राजनीतिक दलों के ग्रामीण राजनीति में प्रवेश के कारण हिंसात्मक स्थिति के बाद प्रतिस्पर्धा बढ़ी है। ऐसी राजनीतिक स्थिति में, आपराधिक तत्त्वों और गैंगवार पर काबू पाने के लिए पुलिस दखलन्दाजी की जरूरत पड़ती है।

2.3.3.2 पुलिस बल के समक्ष चुनौतियाँ

1. भाषायी समूहों द्वारा भाषायी राष्ट्रवाद को मजबूती देने हेतु भारत के राजनीतिक मानचित्र को नए सिरे से तैयार कराने के लिए हिंसात्मक प्रदर्शन।
2. मध्य भारत और पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समूहों ने प्रजातीय आधार पर स्वयं को संगठित कर लिया है।
3. ग्रामीण समाज में अमीर और गरीब के बीच भूमि वितरण का आंदोलन प्रायः हिंसात्मक रूप ले लेता है।
4. शासन अथवा प्राइवेट पार्टी द्वारा प्रमुख पर्यावरणीय परियोजनाओं के कारण लोगों के विस्थापन के विरोध में राजनीतिक दलों द्वारा संगठित आन्दोलन।
5. आतंकवादी और उग्रवादी आन्दोलन।
6. धार्मिक संघवाद में वृद्धि से हिंसात्मक संघर्ष।
7. उच्च और निम्न जातियों के बीच ऐसे युद्धों पर जाति संघर्ष जो सार्वजनिक सम्पत्ति अथवा आत्मसम्मान आन्दोलन से जुड़े होते हैं।
8. ग्रामीण अमीरों और भूमिहीन मजदूरों के बीच मजदूरी के मुद्दे पर हिंसात्मक झगड़े।
9. शहरों में जातीय आधार पर कार्यों के आरक्षण के प्रश्न पर उच्च जाति और निम्न जाति के बीच हिंसात्मक संघर्ष।
10. सामाजिक कानून यद्यपि राज्य द्वारा बनाए जाते हैं तदपि उनके कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व पुलिस निभाती है। बच्चों और औरतों के अपराधों पर काबू पाना विद्यमान पुलिस के लिए एक प्रमुख उत्तरदायित्व है।
11. सूचना प्रौद्योगिकी के लागू होने से साइबर अपराध होने लगे हैं जिनका निदान पुलिस द्वारा किए जाने की आवश्यकता है।
12. महानगरों में अपराध लोक ;न्दकमत˘वतसकद्ध की वृद्धि से पुलिस के लिए समस्याएँ बढ़ी हैं।

2.3.3.3 पुलिस प्रतिक्रिया

भारत एक संघीय राज्य है और शक्तियाँ केन्द्र और राज्य के बीच बँटी हुई है। पुलिस प्रशासन राज्य सरकार के कार्यक्षेत्र में आता है। राज्य को प्रभावित करने वाली समस्याओं पर पुलिस प्रशासन के विशेष ध्यान की आवश्यकता है। कभी–कभी जब ऐसी स्थिति पर काबू नहीं होता तब पुलिस प्रशासन सहायता के लिए केन्द्र पर निर्भर रहता है जिससे कि सार्वजनिक व्यवस्था बनी रहे। केन्द्र–सरकार के पास राज्य सरकार की सहायता के लिए केन्द्रीय आरक्षी पुलिस बल तथा सीमा सुरक्षा बल होते हैं। इन केन्द्रीय बलों के विशेष कर्तव्य होते हैं परन्तु वे साथ ही साथ कानून और व्यवस्था बनाए रखने में राज्य सरकारों की मदद करते हैं। राज्य के तीन समूह हैं जिन्हें विशेष केन्द्रीय सहायता की आवश्यकता होती है :

(i) जम्मू और कश्मीर जैसे राज्य जहाँ आतंकवादी समस्याएँ हैं, को केन्द्रीय पुलिस बल की आवश्यकता होती है।

10) राज्यों का दूसरा समूह नक्सलवाद से त्रस्त है।

11) राज्यों का तीसरा समूह जहाँ, विशाल पैमाने पर साम्प्रदायिक समस्याएँ खतरनाक स्थिति पैदा कर देती हैं, को वहाँ केन्द्रीय बलों की दखलन्दाजी की आवश्यकता है। केन्द्र सरकार ने केन्द्रीय आरक्षी पुलिस के भीतर त्वरित कार्रवाई बल का सृजन किया है। त्वरित कार्रवाई बल एक आपातकालीन बल है जिसे सामान्यतः वायुमार्ग से संकट स्थलों पर पहुँचाया जाता है जिससे भड़काऊ स्थिति पर काबू पाने के लिए शीघ्र कार्रवाई की जा सके। प्रायः केन्द्रीय बल राज्य सभाओं और संसद के चुनाव के समय व्यवस्था बनाए रखने में सहायता करते हैं। चुनाव आयोग केन्द्रीय बलों को बुलाने के लिए गृह मंत्रालय के निकट सम्पर्क में रहता है जिससे स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराए जा सकें। उन क्षेत्रों में जिन्हें बाढ़ग्रस्त घोषित कर दिया जाता है, राज्य पुलिस केन्द्रीय बलों की सहायता से उस स्थिति पर काबू पाने की कोशिश करती है। एक प्रतिस्पर्धात्मक राजनीतिक व्यवस्था में, भारी संख्या में ऐसे राजनीतिक नेता होते हैं जिनके जीवन को आतंकवादियों से ख़तरा बना रहता है और उन्हें राज्य के संरक्षण की आवश्यकता होती है। राज्य ने महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की गतिविधियों की देखभाल के लिए सीमा सुरक्षा बल और केन्द्रीय आरक्षी पुलिस बल दोनों से कुछ चुने हुए जवान लेकर विशेष सुरक्षा बल का गठन किया है।

2.3.3.4 आपराधिक अभिलेख

वर्ष 1860 से पुलिस आयोग उन अभिलेखों को रख रहा है जिनके अपराध दर्ज हैं। 1953 में केन्द्र सरकार ने एक वार्षिक प्रकाशन : भारत में अपराध ;ब्तपउम पद प्दकपंद्ध आरंभ किया जिसमें सभी राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में दर्ज सभी अपराधों के व्यापक आँकड़े रहते हैं। अब भारत में अपराधों पर काबू पाने का उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार के राष्ट्रीय अपराध

अभिलेख ब्यूरो पर है। यह अध्ययन अपराध दर अर्थात् प्रति 100,000 लोगों में अपराधों को निर्धारित करता है। स्वतंत्रता के उपरान्त राज्य में औरतों के प्रति अधिक अपराध दर्ज हुए हैं, 1985–1995 के बीच बच्चों के बलात्कार दुगने हो गए हैं। अपराधों की संख्या में कई गुना वृद्धि हुई है।

2.3.3.5 शासन में पुलिस की भूमिका

भारत में पुलिस का प्रयोग प्रायः और व्यापक रूप से होता है। उनके असहयोगी व्यवहार पर अक्सर सवाल उठाए जाते हैं। राजनीतिक दल अथवा उनके गठबंधन द्वारा अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्दियों के विरुद्ध पुलिस का प्रयोग किया जाता है। दंगों पर नियंत्रण करते समय आमतौर पर पुलिस को साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह प्रदर्शन के लिए दोषी पाया जाता है। पुलिस अपना पूर्वाग्रह लिंग और निम्नजातियों के प्रति प्रदर्शित करती है। उनमें से अधिकतर जाति और वर्ग पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं और इसके कारण पुलिस प्रशासन का सार्वजनिक बोध ऋणात्मक बना हुआ है। कुछ स्वतंत्र संगठनों द्वारा किए गए विभिन्न सर्वेक्षणों से पता चला है कि पुलिस को राज्य के मित्रवत् अंग के रूप में नहीं माना जा सकता। इस बोध ागम्यता से अपराधों की जाँच प्रभावित होती है। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका द्वारा पुलिस की आलोचना आम बात है।

2.3.3.6 कार्यपालिका से सम्बन्ध

आपात्काल के दौरान शाह आयोग द्वारा टिप्पणी की गई थी कि कार्यपालिका ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पुलिस का प्रयोग किया है। फलस्वरूप धर्मवीर की अध्यक्षता में राष्ट्रीय पुलिस आयोग का गठन किया गया। आयोग पुलिस को स्वायत्त प्रास्थिति प्रदान करने के लिए कुछ उपाय सुझाए हैं। इस सम्बन्ध में की गई दो सिफारिशों पुलिस प्रमुख के लिए चार वर्ष का नियत कार्यकाल तथा एक राज्य सुरक्षा आयोग का गठन जिसका प्रमुख प्रभार वाला राज्य मंत्री हो, अभी कार्यान्वित की जानी हैं। राजनैतिक कार्यपालिका कानून और व्यवस्था से सम्बन्धित सार्वजनिक नीति का निर्माण करती है। पुलिस कर्मचारियों के हस्तान्तरण का निर्णय राज्य सुरक्षा परिषद् द्वारा किया जाना चाहिए। इससे हस्तांतरण और तैनाती के समय अनुचित आचरण पर रोक लगाने में सहायता मिलती है। उपरोक्त प्रक्रिया के दौरान एक पारदर्शिता का स्तर बना रहना चाहिए।

2.3.3.7 विधायिका से सम्बन्ध

लोकतांत्रिक व्यवस्था में विधायिका सर्वोच्च प्राधिकरण है। उनके पास कतिपय विशेषाधिकार तथा प्रसुविधाएँ होती हैं जिनका पुलिस द्वारा सम्मान किये जाने की आवश्यकता है जिसके न होने पर विशेषाधिकारों की विधायी समिति उन पर सवाल उठा सकती है और उन्हें दंड दे सकती है। पुलिस के लिए जरूरी है कि विधानसभा सदस्यों और सांसदों को पुलिस स्टेशन पहुँचने पर उचित सम्मान और आदर दिया जाए। विधायी सदस्यों से पुलिस प्रशासन द्वारा अनुचित माँगें जनता की आँखों में उनके प्रति असम्मान पैदा करती हैं। 1979 में देशव्यापी पुलिस आन्दोलन हरियाणा यातायात पुलिसकर्मी और एक विधायक के बीच एक जनजातीय विवाद से आरंभ हुआ था। पुलिस और विधान सभा सदस्यों तथा सांसदों के बीच रिश्ता बहुत ही नाजुक है तथा दोनों पक्षों की तरफ से महान संयम की आवश्यकता है।

2.3.3.8 न्यायपालिका से सम्बन्ध

पुलिस का न्यायपालिका के साथ बहुत ही सूक्ष्म सम्बन्ध होता है। पुलिस महसूस करती है कि न्यायालय उनपर कम विश्वास करते हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय अभिसाक्ष्य अधिनियम में अधिकथित है कि पुलिस अधिकारी के समक्ष कोई भी अपराध स्वीकृति साक्ष्य में स्वीकार्य नहीं होगी। यह पुलिस अधिकारियों के लिए सभी स्तरों पर प्रमुख असंतोष का कारण है। न्यायपालिका में पुलिस पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए हुए हैं। वारण्ट के बिना किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और चौबीस घंटे से अधिक समय के लिए पुलिस हिरासत में नहीं रखा जाएगा। इस निर्धारित अवधि के भीतर उसे न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करना होगा। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों ने पुलिस अधिकारियों में निहित गिरफ्तार करने की शक्तियों पर अनेक प्रतिबंध लगाए हैं। जोगिन्दर सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1994) मामले में, सर्वोच्च न्यायालय का कहना था कि गिरफ्तारी मात्र इसलिए की जानी चाहिए क्योंकि ऐसा करना कानूनसंगत था। सम्बन्ध अधिकारी को वस्तुतः ऐसी कार्रवाई को न्यायसंगत ठहराने की स्थिति में होना चाहिए। न्यायपालिका पुलिस द्वारा मानव अधिकारों के उल्लंघन की शिकायतों के प्रति अत्यधिक संवेदनशील है। भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने पुलिस को मानव अधिकार उल्लंघनों के प्रति और अधिक संवेदनशील बना दिया है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग पुलिस द्वारा मानव अधिकार उल्लंघन के संदर्भ में बहुत ही सक्रिय दृष्टिकोण अपनाता है।

2.3.3.9 जनता से सम्बन्ध

लोकतंत्र की माँग है कि पुलिस द्वारा नागरिकों का सम्मान किए जाने की आवश्यकता है। जब कभी भी वे अपनी शिकायत दर्ज कराने पुलिस स्टेशन आते हैं, पुलिस को उनकी सहायता करनी चाहिए। अब नागरिक मैत्रीपूर्ण पुलिस प्रशासन का युग है। परन्तु पुलिस के विरुद्ध अनेक शिकायतें हैं कि एक सामान्य नागरिक पुलिस स्टेशन में पुलिस अधिकारी को

रिश्वत दिए बिना अपनी प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज करने की स्थिति में नहीं है। अन्वेषण अधिकारी अपराध शंकास्पद व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय बल का प्रयोग करते हैं। जनता पुलिस को संदेह की दृष्टि से देखती है। डेविड बेले के अनुसार, "सर्वेक्षण परिणामों से इस तथ्य का बलात् पता चलता है कि भारत में पुलिस और जनता के बीच रिश्ते को बारीकी से देखने वालों का काफी विचारपूर्वक कहना है कि भारतीय जनता पुलिस के क्रियाकलापों से अत्यधिक शंकित है। इसका एक यथेष्ट अनुपात होना चाहिए कि पुलिस कभी–कभी अपराधियों के साथ टकराव तथा प्रायः अपने मुवक्किलों के साथ कठोरता से व्यवहार करने में किस सीमा तक अभद्र, पशुवत्, भ्रष्ट हो।" (भारत में पुलिस तथा राजनीतिक विकास, पृष्ठ 203) इस मत का राष्ट्रीय पुलिस आयोग की रिपोर्ट में यह कहते हुए समर्थन किया गया है कि आयोग ने पुलिस–जनता के बीच रिश्तों की दयनीय स्थिति पर अपनी चिन्ता व्यक्त की। (खंड 5, पृष्ठ–48) पुलिस प्रशासन को जनता के समक्ष अपनी विश्वसनीयता लाने के लिए नागरिकों के प्रति मैत्रीपूर्ण बनने की आवश्यकता है। एक लोकतंत्र में, जनता प्रत्येक सेवा का मूल्यांकन करती है। पुलिस प्रशासन को अपने संगठन में सुधार की आवश्यकता है जिससे पुलिस अधिकारी एक निश्चित आयु स्तर पर नागरिकों के चार्टर से अवगत हों तथा उनको तुरन्त और ईमानदारीयुक्त सेवाएँ मुहैया कराएँ। लोकतंत्र में विश्वसनीयता पुलिस की सबसे बड़ी परिसम्पत्ति होगी।

2.3.4 लोकतंत्र में नौकरशाही

2.3.4.1 स्वतंत्रातापूर्व काल

भारत में असैनिक सेवा का लम्बा इतिहास है। ब्रिटिश राज्य से पहले यहाँ एक संगठित प्रशासन था। यहाँ यह उल्लेख करना रोचक होगा कि सार्वजनिक कार्यों के लिए असैनिक सेवा की शुरुआत 19वीं शताब्दी के मध्य हुई। यह वह समय था जब उपनिवेशी राज्य गुणावगुण के आधार पर स्थायी रूप से असैनिक सेवा में गए। उपनिवेशी राज्य द्वारा चलायी गयी आधुनिक शिक्षा प्रणाली से शिक्षित लोग राज्य के अनेक कार्यों के लिए प्रतिस्पर्धात्मक करने लगे।

1858 के भारत सरकार के अधिनियम में तीन स्तरीय नौकरशाही प्राधिकरण का प्रावधान किया गया जो 1947 तक विद्यमान थी। ये इस प्रकार थी :

1. भारत के कार्यालय से सहायता प्राप्त राज्य का सचिव।
2. वायसराय और उसकी कार्यकारी परिषद् जो केन्द्रीय सचिवालय द्वारा सहायता प्राप्त केन्द्र सरकार का गठन करती थी।
3. प्रान्तीय स्तर पर प्रान्तीय सचिवालय द्वारा सहायता प्राप्त राज्यपाल और उसकी परिषद्।
4. अन्य जिला अधिकारियों द्वारा सहायता प्राप्त जिला समाहर्त्ता।

सेवाएँ तीन स्तरों में विभाजित थीं सर्वोत्कृष्ट सेवाएँ (अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाएँ), प्रान्तीय सेवाएँ और अधीनस्थ सेवाएँ। नियम के तौर पर, अखिल भारतीय सेवाओं के लिए भर्ती राज्य के सचिव द्वारा भारत के किसी भी हिस्से में काम करने के लिए की जाती थी; अधिकारियों को एक विशेष प्रान्त आबंटित किया जाता था। भारत सरकार के अधिनियम 1919 के द्वारा, अन्य सेवाएँ समाप्त कर दीं गईं परन्तु भारतीय असैनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा बनी रहीं। इन सेवाओं पर अंग्रेजों का एकाधिकार था जो धीरे–धीरे भारतीय होता गया। 1923 में, भारत सरकार ने उचित योग्यता वाले व्यक्तियों की भर्ती के लिए लोक सेवा आयोग की स्थापना की। भारत सरकार के 1935 के अधिनियम द्वारा इसमें कुछ संशोधन किए गए।

2.3.4.2 स्वतंत्राता उपरान्त काल

असैनिक सेवा को बनाए रखने के लिए निर्वाचन सभा में अनेक बहस हुई। संविधान में असैनिक कर्मचारियों के उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित विशिष्ट प्रावधान किए गए हैं। एक लोकतांत्रिक प्रणाली में राजनीतिक कार्यपालिका सर्वोत्कृष्ट निकाय है जिसकी असैनिक कर्मचारी सहायता करते हैं।

2.3.4.3 **नौकरशाही और विधायिका :** देश के प्रशासनिक तंत्रा की विशिष्टताएँ देश की प्रशासनिक रूपरेखा के विशिष्ट लक्षण निम्नवत् हैं :

1. कार्यपालिका के ऊपर संसद का प्रभुत्व तथा शासन कार्यों के बारे में सूचना मँगाने, प्राप्त करने और उसे सूचित करने का संसद का अधिकार जिससे प्रशासनिक मशीनरी के कार्यों की समीक्षा की जा सके।
2. मंत्रि परिषद् और प्रशासन में प्रधान मंत्री की स्थिति की उत्कृष्टता।
3. संसद के प्रति मंत्रिपरिषद् की सामूहिक जिम्मेदारी।
4. विभागीय नीतियों के लिए कार्यभार सँभालने वाले प्रत्येक मंत्री की व्यष्टिगत जिम्मेदारी। यह उसकी जिम्मेदारी है कि यह इन नीतियों के प्रशासन और अन्य विभागीय कार्यों का पर्यवेक्षण करें।
5. संविधान और कानून के नियम का समर्थन करने के लिए मंत्रियों और असैनिक कर्मचारियों की ओर से बाध्यता।

6. लोकसेवकों का अपने वरिष्ठों जिनमें मंत्री भी शामिल हैं, को सलाह देते समय स्वयं को बेझिझक अभिव्यक्त करने का अधिकार।
7. लोक सेवकों द्वारा राजनीतिक उदासीनता, निष्पक्षता और अनायता ;दवदलउपजलद्ध का पालन। (प्रशासनिक सुधार आयोग, भारत सरकार की मशीनरी पर रिपोर्ट, पृष्ठ–3)

सचिवालय में मंत्रियों के स्तर से नीचे तथा क्षेत्रीय संगठन में अधिकांश पदों पर असैनिक कर्मचारी कार्य करते हैं। उनका कार्य नीति निर्धारण, कार्यक्रम कार्यान्वयन और देश के कानून को चलाने में राजनीतिक कार्यपालिका की सहायता करना है। वे सजीवता से नीतिनिर्धारण प्रक्रिया में भी सहयोग करते हैं क्योंकि वे नीति निर्धारण प्रक्रिया में निवेश उपलब्ध कराने में सक्षम होने के नाते पेशेवर के रूप में माने जाते हैं। अन्तिम निर्णय मंत्री तथा तत्पश्चात् मंत्रिपरिषद् द्वारा लिया जाता है। यह सोचना गलत है कि नीति निर्धारण राजनीतिक नेतृत्व द्वारा किया जाता है तथा कार्यान्वयन एजेन्सी असैनिक सेवा है। वे नीतियों के कार्यान्वयन के लिए उत्तरदायी हैं। साथ ही साथ वे संसद के प्रति जवाबदेह नहीं है। मंत्री संसद के प्रति जवाबदेह होते हैं और नीतियों के कार्यान्वयन से सम्बन्धित मुद्दों को लेकर उठे प्रश्नों का जवाब देते हैं।

2.3.4.4 भारत का संविधान

संविधान के उपबंधों में यह स्पष्ट किया गया है कि उन्हें राजनीतिज्ञों के द्वारा नहीं हटाया जा सकता। लोकतांत्रिक व्यवस्था में उनका अस्तित्व बना रहता है। अनुच्छेद 311 कहता है कि असैनिक कर्मचारी को भारत के राष्ट्रपति द्वारा गठित समिति द्वारा उचित जाँच–पड़ताल किए बिना उसके काम से नहीं हटाया जा सकता। इससे हमारे लोकतंत्र में असैनिक कर्मचारी की विशिष्ट स्थिति का पता चलता है। इसके लिए विद्वानों द्वारा कुछ कारण बताए गए हैं कि स्वतंत्रता के समय एक तरफ हिन्दू और मुसलमानों के बीच हिंसात्मक संघर्ष के तथा दूसरी तरफ जमींदारों और किसानों के बीच झगड़े थे। संविधान निर्माताओं ने इन सामाजिक गुटों से असैनिक कर्मचारियों की स्वतंत्रता की आवश्यकता को जाना और संविधान में असैनिक कर्मचारियों के लिए विशिष्ट उपबंध बनाए। संवैधानिक समीक्षा समिति ने इन उपबंधों को हटाए जाने का सुझाव दिया है। उन्हें फ्रांसीसी प्रणाली की तरह सिविल सेवा आयोग द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है तथा उनका प्रबंधन किया जा सकता है। अनुच्छेद 309 केन्द्र सरकार को उचित प्राधिकरण द्वारा बनाए गए अधिनियम के माध्यम से सेवा शर्तों ओर भर्ती को विनियमित करने की शक्ति प्रदान करता है। वे केन्द्रीय सिविल सेवा आचरण नियमावली, 1964 द्वारा विनियंत्रित होते हैं। शासकीय गोपनीयता अधिनियम, 1923 में राज्य के हितों के प्रतिकूल सूचना के अप्राधिकृत प्रकटीकरण के लिए कठोर कार्रवाई का प्रावधान किया गया है। उन्हें पर्याप्त सुरक्षा मुहैया कराई गई है क्योंकि वे सरकार के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। यदि वे अपने उत्तरदायित्वों में कोई कोताही करते हैं तो राज्य के विभिन्न अधिनियमों के अधीन राज्य द्वारा उनपर अभियोग लगाया जा सकता है।

अक्सर यह शिकायत रहती है कि वे भ्रष्टाचार में संलग्न हैं और सत्ता का दुरुपयोग करते हैं तथा उनपर भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम 1947 के अधीन कार्रवाई करना आसान नहीं है क्योंकि संयुक्त सचिव अथवा उससे ऊपर के स्तर के असैनिक कर्मचारियों के विरुद्ध अभियोग लगाने के लिए किसी को भी उससे उच्चतर प्राधिकारी की अनुमति लेना आवश्यक है।

2.3.4.5 विलंबित सुधार

असैनिक कर्मचारियों को एक विशेष स्थिति/राज्य में उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं, जहाँ राज्य सरकार उन पर अभियोग नहीं चला सकती। प्रायः वे केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं जो संघवाद की भावना के प्रतिकूल है। ऐसा पेशागत दृष्टिकोण जहाँ ज्ञान और प्रबंधन योग्यताओं की आवश्यकता होती है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने सुझाव दिया है कि उन विभागों में जहाँ तकनीकी अर्हता अपेक्षित है, भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी तैनात न किए जाएँ। इनमें से अधिकांश सुझाव केवल फाइल तक सीमित है। आधुनिक राज्य और अर्थव्यवस्था में जानकार प्रबन्धकों की माँग है। सूचना प्रौद्योगिकी आने से, ई–शासन की माँग है। यह कूरियनों द्वारा उठाई गई माँग है जिन्होंने एक सबसे बड़ी सहकारी दुग्ध विकास परियोजना का सफल प्रबंधन किया हुआ है।

अलघ समिति ने सुझाव दिया है कि ज्ञान पर बल देते हुए भर्ती नियमों में बदलाव की आवश्यकता है।

2.3.4.6 न्यायपालिका से सम्बन्ध

न्यायपालिका और असैनिक सेवा के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं है। कुछ वरिष्ठ असैनिक कर्मचारियों ने जिनमें मुख्य सचिव भी शामिल हैं पहले ही अदालत की अवमानना वाले मामलों में मुकदमेबाजी की है और उन्हें उचित रूप से दंडित किया गया है। उन्हें कानून और संविधान का अपना ज्ञानवर्धन करना चाहिए जिससे वे न्यायपालिका के मित्रवत् बन सकें। उन्हें मानव अधिकारियों के अनुसार संवेदनशील होना चाहिए और जनता की आवश्यकताओं के प्रति प्रतिक्रियाशील होना चाहिए। राज्य सरकारों द्वारा सूचना के अधिकार को पारित कर दिया गया है और असैनिक कर्मचारियों को अपनी सेवाएँ

तुरन्त तथा प्रभावी ढंग से मुहैया कराएँ जिससे वे जनता के प्रति जवाबदेह बने रहें। लोक सेवाओं के प्रबंधन के लागू होने से, असैनिक सेवा जनता और संसद दोनों के प्रति जवाबदेह है।

2.3.4.7 विकेन्द्रीकरण

73वें और 74वें संविधान संशोधनों के साथ पंचायत प्रणाली मजबूत हुई है। सरकार ने एक तीन स्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था को स्वीकार किया है। प्रत्येक स्तर पर जन–प्रतिनिधि हैं जो जनहितकारी नीतियाँ बनाने में सहायता कर सकते हैं और इन नीतियों के प्रशासन पर निगरानी रख सकते हैं। इनमें जिला समाहर्ता की शक्तियाँ होती हैं। उन्हें जिला विकास परिषदों के मुख्य अधिशासक के रूप में जाना जाता है।

इससे जिला समाहर्ताओं और जिला न्यायाधीशों के मुखौटों में बदलाव आया है। लोकतंत्र में, असैनिक कर्मचारी को अपने कार्य करने के व्यवहार और शैली में सुधार करना पड़ता है जिससे वह लोकतंत्र की आवश्यकताओं के अनुरूप सिद्ध हो। जैसा कि पी. के. माटू कहते हैं, ''देशव्यापी आधार पर पंचायत राजसंस्थानों को स्थापित किया जाना और सिविल सेवा तंत्र के कुछ परम्परागत कार्यों को इन नए संस्थानों को अंतर्नित किए जाना सिविल तंत्र में एक नई नीति के रुझान का प्रतीक है। नियमानुसार, सरकार लोकतांत्रिक सिद्धांतों के विकेन्द्रीकरण के लिए वचनबद्ध है। परिणामतः, प्रशासन में एक ग्रामीण पक्षधर की शुरुआत करने के लिए अब उचित बल दिया जा रहा है।''

2.3.4.8 असैनिक सेवा/राजनीतिक परिवेश

नागरिक अपने राजनीतिक परिवेश में फलती फूलती है। यह राजनीतिक कार्यपालिका से स्वतंत्र नहीं है। उनका निष्पादन राजनीतिक कार्यकारिणी की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। राजनीतिक नेतृत्व की गुणवत्ता में अधोपतन से लोकतंत्र को आघात पहुँचा है। असैनिक सेवा के निष्पादन में कमी आई है। असैनिक सेवा में सुधार एक सतत प्रक्रिया है। उनके निष्पादन का मूल्यांकन राजनीतिक कार्यकारिणी और असैनिक समाज दोनों द्वारा किए जाने की आवश्यकता है। जनता अच्छे और सक्षम अधिकारियों को मान्यता दे रही है। वे राजनीतिक नेतृत्व के प्रति भी जवाबदेह हैं। उन्हें एक तटस्थ और लक्ष्यपरक तरीके से काम करना पड़ता है। गठबंधन राजनीति के युग में, उनकी ग़ैर भागीदारी भूमिका लोकतंत्र को मजबूती प्रदान करेगी। उन पर राजनीति के नाम पर कुछ विहित हितार्थियों द्वारा दबाव डाला जा रहा है। बोहरा समिति ने राजनीतिज्ञों और अपराधियों तथा असैनिक कर्मचारियों के बीच साठ–गाँठ का अध्ययन किया है। यह लोकतांत्रिक नेतृत्व और असैनिक सेवा दोनों के लिए एक चेतावनी है। सिविल सेवा आयोग द्वारा शासकीय गोपनीयता अधिनियम को समाप्त करने के लिए माँग की जा रही है जिससे वे बहादुरी और निर्भीकता से काम कर सकें। ये ख़तरे लोकतंत्र में बेहतर निष्पादन के लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

2.3.4.9 राजनीतिक नेतृत्व से सम्बन्ध

असैनिक सेवा और राजनीतिक नेतृत्व के बीच लोकतंत्र में एक निश्चित सम्बन्ध होता है। राजनीतिक नेतृत्व सार्वजनिक बनाने में सक्रिय भूमिका अदा करता है। यह सार्वजनिक नीति के कार्यान्वयन के लिए असैनिक प्रशासन स्पष्ट दिशा–निर्देश देता है। वे उन्हें नीति के कार्यान्वयन में विफलता के लिए जवाबदेह बनाते हैं। भारतीय लोकतंत्र में आपात्काल को छोड़कर नेहरू और इन्दिरा गाँधी की अवधि में उत्तम गुणवत्ता वाला नेतृत्व देखने को मिलता है। नेहरू के काल में भारत ने नियोजित विकास का रास्ता अपनाया। नियोजित विकास के दौरान असैनिक सेवा को प्रत्येक योजना के लिए नियत लक्ष्यों को पूरा करना पड़ता है। यह नेहरू के ओजस्वी नेतृत्व और उस प्रत्येक योजना में उत्कृष्ट बुद्धिमत्तापूर्ण घटक के कारण संभव था जो यथार्थ वास्तविकता पर आधारित थी। श्रीमती गाँधी ने असैनिक कर्मचारियों और वैज्ञानिकों की सहायता से हरित क्रांति की नीति के कार्यावन्वयन के लिए पहल की। वह भारत को एक आधिक्य खाद्य वाला राज्य बनाने में सफल हुई। ऐसे कुछ उदाहरण है जो ऐसे नेतृत्व की गुणवत्ता को दर्शाते हैं जो असैनिक सेवा को जोश के साथ काम करने के लिए क्रियाशील बना सकता है तथा उनमें राष्ट्र की सेवा करने की इच्छा जाग्रत कर सकता है। तत्पश्चात् राजनैतिक नेतृत्व और असैनिक सेवा के बीच समीकरण बदल गए हैं। इन सम्बन्धों में वस्तुतः असैनिक सेवा अधिक प्रभुत्व वाली है। यह भारतीय लोकतंत्र के लिए शुभ शगुन नहीं है। भूमंडलीकरण के युग में यह पर देखा गया है कि असैनिक सेवा राजनीतिक नेतृत्व का अनुसरण करने की बनाए विश्व बैंक की नीतियों को लागू करने के लिए अधिक तत्पर है। ऐसा प्रतीत होता है कि 1991 से अब तक भूमंडलीकरण के पहले दशक में कुछ मंत्रालयों में जो विश्व बैंक के निकट सम्पर्क में थे, असैनिक कर्मचारियों ने सार्वजनिक नीतियाँ बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे एक राष्ट्र की संप्रभुता प्रभावित होती है।

2.3.5 लोकतंत्रा में सैन्य बल

विगत उननिवेशीय विश्व में, सेना की राजनीति में निर्णायक भूमिका रही है। 1960 और 1980 के बीच लैटिन अमेरिकी तीन चौथाई राज्यों, एक तिहाई एशियाई राज्य तथा आधे अफ्रीकी राज्य, ने बलात् राज्य परिवर्तन महसूस किया। 1980 में यह प्रवृत्ति बलात् बनी रही। यह इतिहास की परिचर्चा का विषय है कि विश्व के कुछ हिस्सों में बलात् सत्ता परिवर्तन हुए हैं

अथवा उसका प्रयास किया गया है। एक विश्व बैंक अध्ययन से पता चलता है कि 1948 से प्रत्येक पाँच वर्ष में प्रत्येक विकासशील देश में कम से कम एक बार सत्ता परिवर्तन का प्रयास अवश्य किया गया है।

2.3.4.1 सत्ता परिवर्तन की पृष्ठभूमि में मतान्तर

राजनीति में सेना की भूमिका सामाजिक वैज्ञानिकों, विशेषतः राजनीतिक वैज्ञानिक के बीच बहस का विषय रहा है। उनके शास्त्रीय मत के अनुसार लोकतांत्रिक राजनीति में सेना की कोई भूमिका नहीं है। वे असैनिक नेतृत्व से एक दूरी बनाए रखते हैं। वे प्रत्यक्षतः राजनीति में रुचि नहीं लेते। यह मध्ययुगीन घटनाक्रम है। संघीय अवधि के दौरान कमजोर शासक उनके सैनिक कमाण्डरों द्वारा प्रतिस्थापित किए गए हैं। आधुनिक राजनीति में ऐसा नहीं होता है। लोकतंत्र में सेना की एक संवैधानिक भूमिका है। उनसे असैनिक नेतृत्व का अनुपालन करने की अपेक्षा की जाती है। तथ्य इस परिकल्पना का अनुमोदन नहीं करते। राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने वाली सेना के समर्थन में अनेक राजनीतिक मतान्तर हैं। आधुनिकीकरण के मत के अनुसार परम्परागत समाज में सेना एक आधुनिकीकृत बल है। वे आधुनिक दृष्टिकोण से लोगों को शिक्षा दे रहे हैं। वे जानते हैं कि परम्परागत समाज को आधुनिक कैसे बनाया जाए। इससे उन्हें राजनीतिक सत्ता में आने में मदद मिलती हैं। इसके अतिरिक्त वे संगठित लोग हैं जिनके पास हथियारों का नियंत्रण तथा प्रशिक्षित सैनिक कर्मी हैं। वे असैनिक नेतृत्व से सत्ता हड़पने के लिए अभिप्रेरित होते हैं। असैनिक नेतृत्व के पास न तो हमेशा अपेक्षा आधुनिकीकरण की निपुणता रहती है और न उनके पास आधुनिक प्रशिक्षित जवाब होते हैं जो सत्ता के लिए प्रतिस्पर्धा कर सकें। राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के एक समूह ने एक सिद्धांत दिया है कि विकासशील देश, अपने लेशमात्र संसाधनों के कारण राजनीतिक लोकतंत्र लाने के लिए ऐसे बहुमूल्य संसाधनों को व्यर्थ नहीं गँवा सकते हैं। उनके अनुसार राजनीतिक लोकतंत्र ग़रीबों के लिए विलासिता हैं। ग़रीब को रोटी चाहिए न कि स्वतंत्रता। सामाजिक वैज्ञानिकों का एक तीसरा समूह सांस्कृतिक सिद्धांत की बात करता है कि तृतीय विश्व के अधिकांश देशों के पास लोकतंत्र की सांस्कृतिक परम्परा नहीं है। उनकी जीवन के प्रति अधिकारिक पहुँच है। उनकी पारिवारिक रूपरेखा सत्तावादी है जो सैनिक शासन का समर्थन करती है। अक्सर एकमात्र धार्मिक समूह जिसका एक राष्ट्र पर नियंत्रण है राष्ट्र पर शासन करने के लिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रयोग करता है। सेना सत्तासीन समुदाय के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की द्योतक है। इसके अतिरिक्त, कुछ राजनीतिक वैज्ञानिक महसूस करते हैं कि जब कोई देश राजनीतिक दलों के बिखराव के कारण अत्यधिक राजनीतिक अस्थिरता पैदा करता है, तो वहाँ पर राजनीतिक स्थिरता के नाम पर सेना की दखलन्दाजी होती है। ये वैज्ञानिक मानते हैं कि राजनीतिक स्थिरता की बजाए सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था अधिक महत्त्वपूर्ण है। सांवैधानिक सूक्ष्मताओं जैसे संसदीय क्रियाविधि, लोकप्रिय समझौता अथवा राजनीतिक प्रतिनिधित्व की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है क्योंकि निर्वाचित सभा भंग हो जाती है जिसके तुरन्त बाद सत्ता सेना के हाथ में चली जाती है। चुनाव स्थगित हो जाते हैं और राजनीतिक दलों पर रोक लगा दी जाती है।

2.3.4.2 भारतीय राजनीति में सैन्यबल

भारत तृतीय विश्व का देश होने के कारण एक स्थायी राजनीतिक लोकतंत्र है। ''उत्तरकालीन उपनिवेशी भारत में सैनिक–असैनिक सम्बन्ध तृतीय विश्व में कुछ आदर्श के रूप में रहे हैं जिसमें सैनिक क्षमता में अत्यधिक उपनिवेशी इतिहास से सैनिक तथा असैनिक प्राधिकारियों के बीच पर्याप्त तनाव का पता चलता है तथा इस अवधि के दौरान नीतिगत बहसें भारतीय जीवन में सेना की उचित भूमिका पर एक विवादग्रस्त दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं।'' (गिलन एल बुड एंड डेनियल वैगनीज, ''इंडियन डिफेन्स पॉलिसी : ए न्यू फेस'' एशियन सर्वे, वोल्यूम ग्ग्प्ट, नं. 7, जुलाई, 1984)।

2.3.4.3 राजनीतिक नेतृत्व से सम्बन्ध

सैनिक–असैनिक सम्बन्ध प्रधानमंत्री के रूप में नेहरू के समय में विकसित हुए। उसने समाज के आर्थिक और मानव विकास को अधिक प्राथमिकता दी। उसने एक प्रभावी विदेश नीति के माध्यम से भारत के रिश्ते अधिकांश विदेशी राष्ट्रों के साथ बनाए रखे। उसका रक्षा मंत्री वी.के.एस. मेनन इन सम्बन्धों को दक्षतापूर्ण ढंग से चलाने में निपुण था। मेनन ''नेहरू काल में सेना के असैनिक नियंत्रण का प्रतीक तथा सेना के पेशेगत कारबार में राजनीतिक हस्तक्षेप का प्रतीक बन गया।'' (वुड एंड वैगानीज)। 1962 का भारत चीन युद्ध भारतीय सेना के लिए स्पष्टतः पनढाल के समान था। भारत सरकार ने भारतीय सेना का आधुनिकीकरण, चाहे वह हथियारों की आपूर्ति हो अथवा गोला बारूद की, अथवा सैनिक कर्मियों का प्रशिक्षण, आरंभ कर दिया है तथा भारत ने संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस दोनों के साथ रक्षा सम्बन्ध स्थापित किए हैं। इसकी सैनिक प्रक्रिया बंगलादेश के सृजन के समय पूर्ववर्ती स्थिति में उस समय पहुँची जब श्रीमती गाँधी प्रधानमंत्री थीं। भारतीय सेना ने रक्षा नीति बनाने में एक निर्णायक भूमिका अदा की है। भारत 1974 में परमाणु बम के विस्फोट के साथ नाभिकीय क्लब का छठा सदस्य बन गया है। भारत नाभिकीय विकास में अपनी स्वायत्त नीति की ओर अग्रसर है तथा उसने अपने नाभिकीय हथियार भी विकसित किए हैं।

2.3.4.4 सैन्य क्षमता

भारतीय सेना चीन, रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद विशालतम सेनाओं में चौथे स्थान पर है। वायुसेना ने कुछ सुसज्जित लड़ाकू विमान प्राप्त किए हैं। सेना और वायुसेना भारत की रक्षा के लिए एकीकृत योजना बनाती प्रतीत होती

हैं। 1980 और 1990 के दौरान, भारतीय नौसेना ने भी अपने प्रतिस्थानी के साथ–साथ आधुनिकीकरण का रास्ता चुना। भारतीय नौसेना के पास 100 जहाज, रक्षा बजट में 1971 से वृद्धि हुई है और यह सकल घरेलू उत्पाद के लगभग 3 प्रतिशत तक पहुँच गया है। भारत के रण क ौशल लक्ष्य और रक्षा व्यय के लिए अपने आन्तरिक सेवा अनुपात अपेक्षाकृत स्थायी रहे हैं।

2.3.4.5 निर्णय करने की प्रक्रिया में सैन्यबल की भूमिका

निर्णय लेने की प्रक्रिया में सैन्यबल की भूमिका भारत एशिया में एक क्षेत्रीय शक्ति है और संयुक्त राष्ट्र परिषद् में एक स्थायी सदस्य के रूप में उभर रही है। थलसेना, वायुसेना और नौसेना के अध्यक्ष प्रभावी रक्षा नीति बनाने में एक सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। वे मंत्रिमण्डलीय बैठकों में रक्षा मंत्री का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके द्वारा रक्षा सचिव जो आमतौर पर एक भारतीय प्रशासनिक सेवा का अधिकारी होता है, की सहायता से एक सुस्पष्ट नीति प्रारूप तैयार किया जाता है। वे राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् के सदस्य हैं। भारतीय सेना विशाल पैमाने पर साम्प्रदायिक आन्दोलनों अथवा प्रजातीय संघर्ष की स्थिति को छोड़कर मुश्किल से ही आन्तरिक राजनीति में प्रयोग की जाती है। लोकतांत्रिक राजनीति में उनकी कोई भूमिका नहीं है। वे एक सांवैधानिक भूमिका निभा रहे हैं जिससे भारतीय लोकतंत्र मजबूत हो रहा है।

2.3.6 सारांश

राज्य का निग्रही स्वरूप पुरातन भारतीय इतिहास का अंग है। आधुनिक राज्य में, सांवैधानिक कानून राज्य के प्रभावी कार्यचालक के लिए प्रत्येक संस्थान/अंग के कार्यों के लिए दिशा–निर्देश देते हैं। पुलिस, असैनिक सेवा और सेना निग्रही स्वरूप के मूल अंग हैं। इस इकाई में, इन तीन अंगों का विस्तार से अध्ययन किया गया है। समकालीन युग में, राज्य बहुत–सी समस्याओं से घिरा रहता है और पुलिस बल के सामने ढेर सारी चुनौतियाँ हैं। इसके विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका और जनता के साथ सम्बन्धों का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

भारत में असैनिक सेवा का ब्रिटिश पूर्व युग से एक विशिष्ट स्थान है। उसके कार्यों में नीति निर्माण, कार्यक्रम कार्यान्वयन और प्रशासन में राजनीतिक कार्यकारिणी की सहायता करना शामिल है। इस प्रकार वह नीति निर्माण प्रक्रिया में सक्रिय रूप से सहयोग करती है। तथापि, इस प्रशासनिक मशीनरी से सम्बन्धित सुधार किए जाने बाकी हैं। सेना, उत्तरकालीन उपनिवेशी विश्व में एक निर्णायक भूमिका निभा रही है। उसका हथियारों पर नियंत्रण है और उसके पास सैन्य प्रशिक्षित कर्मी है। वे प्रभावी रक्षा नीति बनाने में औज़ार स्वरूप हैं। उपरोक्त तीनों भारतीय लोकतंत्र को मजबूत बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

2.3.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. सामाजिक परिवर्तनों का संतुलन बनाए रखने में पुलिस के सामने क्या चुनौतियाँ हैं?
2. पुलिस के विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के साथ सम्बन्धों में पुलिस की भूमिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. असैनिक सेवाओं के लिए सांविधिक उपबंध क्या हैं? आपकी राय में, इस प्रशासनिक तंत्र पर सुधारों का क्या प्रभाव पड़ेगा?
4. शास्त्रीय सिद्धांत कहता है कि सेना की लोकतांत्रिक राजनीति में कोई भूमिका नहीं है। कृपया संक्षिप्त में विश्लेषण करें।
5. राज्य का निग्रही स्वरूप किस प्रकार लोकतंत्र सुनिश्चित करता है?

अध्याय 4
कानून–व्यवस्था और न्यायपालिका

2.2.17 उद्देश्य
2.2.18 प्रस्तावना
2.2.19 भारत में न्यायपालिका की उत्पत्ति
2.4.3.1 भारत में आधुनिक न्यायपालिका
2.4.3.2 संविधान सभा : पृष्ठभूमि
2.2.20 न्यायपालिका की संरचना
2.4.4.1 सर्वोच्च न्यायालय
2.4.4.2 संघटन और नियुक्तियाँ
2.4.4.3 सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार
2.4.4.4 उच्च न्यायालय
2.4.4.5 उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार
2.4.4.6 अधीनस्थ न्यायालय
2.2.21 न्यायिक पुनरीक्षण एवं जनहित याचिका
2.2.22 न्यायिक सुधार कार्यसूची
2.2.23 सारांश
2.2.24 अभ्यास प्रश्नावली

2.4.1 उद्देश्य

हमारे लोकतंत्र में न्यायपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका को प्रतिपादित करता हुआ यह अध्याय लिखा गया है। न्यायपालिका संविधान की मौलिक अधिकारों की संरक्षक है। संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन का उल्लेख इसे और महत्वपूर्ण बनाता है। न्यायिक सक्रियता को स्पष्ट करती हुई जनहित यायिका भी हमारे लोकतंत्र को सुदृढ़ता प्रदान करती है। सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय ओर अधीनस्थ न्यायालयों के क्षेत्राधिकारों का भी इसमें उल्लेख किया गया है। हमारी न्यायपालिका की स्वतंत्रता और निष्पक्षता भी निश्चित की गई है। यही इस अध्याय का उद्देश्य है।

2.4.2 प्रस्तावना

आधुनिक राष्ट्र–राज्य संस्थाओं की एक श्रृंखला के माध्यम से काम करता है। संसद और न्यायपालिका, कार्यपालिका तंत्र जैसे कि नौकरशाही एवं पुलिस, तथा संघ–राज्य संबंधों के औपचारिक प्राधार एवं चुनाव प्रणाली संविधानवाद की धारणा द्वारा गठित संस्थाओं की श्रृंखलाएँ हैं। उनकी व्यवस्थाएँ, निर्भरताएँ एवं अन्तर्निर्भरताएँ परा–राजनैतिक–कानूनी दस्तावेज संविधान, द्वारा सीधे आकार प्रदान की जाती हैं।

कानून–व्यवस्था अपना अधिकार संविधान से प्राप्त करती है और राजनीतिक व्यवस्था में गहरे निहित है; न्यायपालिका की विद्यमानता अन्य दो अंगों के भीतर सत्ता–पार्थक्य सिद्धांत को सिद्ध करती है, यथा विधायिका एवं कार्यपालिका इससे सापेक्ष रूप से दूर स्थित हैं। संसदीय लोकतंत्र 'सत्ता विलय' के सिद्धांत पर काम करता है, और कानून–निर्माण में, विधायिका एवं कार्यपालिका की सीधी भागीदारी होती है।

यह न्यायपालिका ही है जो अन्य अंगों को संविधान से परे न जाने देकर नागरिकों के हितों की रक्षा करते हुए स्वतंत्र और सशक्त रहती है। यह, इसी कारण, विधायिका एवं कार्यपालिका की यादृच्छिकता और असंवैधानिकता पर एक नियंत्रण के रूप में काम करती है।

न्यायपालिका ही संवैधानिक व्यवस्थाओं की व्याख्या करने में अन्तिम निर्णायक है। यह दरअसल उन नियामक मूल्यों की अभिभावक और विवेक–रक्षक है जो 'राज्य द्वारा अधिकारपूर्वक विनिहित किए जाते हैं'। लोकतंत्र एवं विकास की प्रकृति

इस बात पर ज़्यादा निर्भर है कि समग्र सामाजिक– आर्थिक एवं राजनीतिक पर्यावरण को कायम रखने के लिए कानून–व्यवस्था स्वयं को किस प्रकार संचालित करती है।

2.4.3 भारत में न्यायपालिका की उत्पत्ति

भारतीय न्यायपालिका संघ के साथ–साथ राज्यों के लिए भी अदालतों की एकमात्र एकीकृत व्यवस्था है, जो संघ व राज्य दोनों के कानूनों की देख–रेख करती है, और सम्पूर्ण व्यवस्था के शीर्ष पर स्थित है भारतीय सर्वोच्च न्यायालय। न्यायिक व्यवस्था का यह विकास आधुनिक राष्ट्र–राज्यों एवं संविधानवाद की वृद्धि में देखा जा सकता है।

प्राचीन काल में, न्याय की संकल्पना विकट रूप से धर्म से जुड़ी थी और सामाजिक रूप से स्तरीकृत जाति–समूहों के आरोप्य मानदण्डों में निहित थी। जाति पंचायतें स्थानीय स्तर पर न्यायपालिका की भूमिका निभाती थीं, जो कि राजाओं द्वारा बनाए गए धार्मिक कानूनों से सम्बद्ध होती थीं। अधिकांश राजाओं के दरबार 'धर्म' के अनुसार न्याय प्रदान करते थे।

यह धर्म जीवन के चार चरणों (आश्रमों) में पालन किए जाने वाले वैयक्तिक कर्त्तव्य तथा व्यक्ति की सामाजिक स्थिति (वर्ण) के अनुसार उसकी प्रतिष्ठा पर आधारित शाश्वत नियमों की एक कड़ी होता था।

कानून–निर्माण संबंधी राजा की शक्ति धार्मिक उद्धरणों पर आधारित होती थी और राजा को कार्यतः 'अपनी ही पहल–शक्ति और संतुष्टि पर' कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं था।

प्राचीन राज्यीय कानून आमतौर पर प्रथागत कानून थे और उससे किसी प्रकार का विचलन अथवा धर्म से विवाद को समुदाय द्वारा निरस्त कर दिया जाता था।

मध्यकालीन युग में 'राजा कोई गलती नहीं कर सकता' सिद्धांत लागू किया जाता था और राजा न्याय देने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वयं अनधिकार से अपनाता था। वह न्याय–प्रचारक होता था और इस प्रकार राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश भी। शायद, घोर यादृच्छिकता एवं सत्तावाद को प्रकट करते हुए सांस्थानिकवाद सिद्धांत ने ही न्याय को दिशा प्रदान की।

2.4.3.1 भारत में आधुनिक न्यायपालिका

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के साथ ही, भारत में आंग्ल–सैक्सनी स्मृति–न्यायशास्त्र के आधार पर पुरस्थापित एक न्याय पद्धति देखी गई।

वर्ष 1661 में जारी चार्ल्स द्वितीय के शाही घोषणापत्र ने गवर्नर और कौन्सिल को इंग्लैण्ड के कानूनों के मुताबिक असैनिक व आपराधिक दोनों ही मामलों में फैसला सुनाने का अधिकार दे दिया। हालाँकि, 1773 के रैग्युलेटिंग एक्ट ने पहली बार कलकत्ता में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की, जिसमें सम्राट् की अदालत, न कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अदालत, के रूप में काम करते हुए 'क्राउन' द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधीश और तीन न्यायाधीश (बाद में दो हो गए) होते थे।

तदोपरांत, सर्वोच्च न्यायालय मद्रास और बम्बई में स्थापित किए गए। इस न्यायालय का अधिकारक्षेत्र ''तत्र महान् की प्रजा'' पर होता था। इस काल में न्याय–व्यवस्था में अदालतों की दो भिन्न पद्धतियाँ थीं शाही दरबारों वाली इंग्लिश पद्धति, जो कि महाप्रांतों में इंग्लिश कानून व प्रक्रिया अपनाती थी और अदालत/सद्र कचहरियाँ, जोकि प्रांतों में नियमन कानूनों व वैयक्तिक कानूनों का पालन करती थीं।

हाई कोर्ट एक्ट, 1861 के तहत ये दोनों पद्धतियाँ विलीन कर दी गईं और बदले में उच्च न्यायालयों वाले कलकत्ता, बम्बई व मद्रास के महाप्रांत कस्बों में सर्वोच्च न्यायालय एवं देशी अदालतें (सद्र दीवानी अदालत एवं सद्र निज़ामत अदालत) बना दी गईं। तथापि, पुनरावेदन हेतु उच्चतम न्यायालय प्रिवि कौन्सिल की न्याय–समिति ही थी। भारतीय कानून व्यवस्था को एक एकरूप न्यायालय व्यवस्था के रूप में विकसित करने के ब्रिटिश प्रयास किए गए। भारतीयों के पास न तो अपने कानून थे, न ही अपनी अदालतें, साथ ही अदालतें व कानून दोनों ही औपनिवेशिक सत्ता की आवश्यकतापूर्ति के लिहाज से बनाए गए थे।

1935 के गवर्नमैण्ट ऑव इण्डिया एक्ट (धारा 200) ने फ़ैडरल कोर्ट ऑव इण्डिया की स्थापना की जिसे भारतीय संविधान की व्याख्या में आवेष्टित विषयों के संबंध में उच्च न्यायालयों एवं प्रिवि कौन्सिल के बीच एक मध्यवर्ती पुनर्वादी की भूमिका निभानी थी। उसे 'एक घोषणात्मक निर्णय के अलावा किसी भी निर्णय को घोषित' नहीं करना होता था जिसका मतलब था कि वो यह तो सिद्ध कर सकता था कि कानून क्या है परन्तु उसे अपने निर्णयों के अनुपालन की अपेक्षा रखने का अधिकार नहीं था। 'न्यायिक जाँच' संबंधी फ़ैडरल कोर्ट का अधिकार आमतौर पर एक काग़ज़ी कार्रवाई था और इसी कारण यह एक बहुत सीमित अधिकार वाला निकाय था। उस पर लगाए गए प्रतिबंधों के बावजूद फ़ैडरल कोर्ट 26 जनवरी 1950 तक काम करता रहा, जब तक कि स्वतंत्र भारत का संविधान प्रभाव में नहीं आ गया। इसी बीच, संविधान सभा कानून–व्यवस्था एवं न्यायपालिका के मूल ढाँचे का प्रारूप तैयार करने में व्यस्त हो गई।

2.4.3.2 संविधान सभा : पृष्ठभूमि

संविधान सभा के सदस्यों ने न्यायपालिका को अधिकारों के और न्याय के बुर्ज के रूप में देखा। वे न्यायालयों को भीतरी ताकतों एवं सरकार के बाहर से होने वाले सप्रयास अवपीड़न से मुक्त करना चाहते थे। न्यायपालिका पर सप्रू समिति की रिपोर्ट और सर्वोच्च न्यायालय पर संविधान सभा की तदर्थ समिति की रिपोर्ट ने न्यायपालिका के लिए दिशा–निर्देशों का अधिकांश भाग तैयार किया। ए.के. अय्यर, के. सन्थानम, एम.ए. अयंगर, तेज बहादुर सप्रू, बी.एन. राव, के.एम. मुंशी, सादुल्ला और भीमराव अम्बेडकर ने भारत की न्याय–प्रणाली को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई। एकात्मक न्याय–प्रणाली किंचित् मात्र प्रश्नों के साथ ही स्वीकार हो गई लगती है। सर्वोच्च न्यायालय को वैयक्तिक अधिकारों की रक्षार्थ एक विशेष, देशव्यापी उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना था। अम्बेडकर शायद इस सभा में सबसे बड़े अग्रदूत थे जिसकी उन्होंने 'एक स्वतंत्र एकीकृत न्यायपालिका जिसके पास न्याय– अधिकार है और जो सांवैधानिक कानून, नागरिक कानून, अथवा आपराधिक कानून के अन्तर्गत उठने वाले 'देश की एकता कायम रखने के लिए ज़रूरी, सभी मामलों में उपाय प्रदान करता है' के रूप में व्याख्या की।

2.4.4 न्यायपालिका की संरचना

हमारे संविधान के अन्तर्गत संघ के साथ–साथ राज्यों के लिए भी न्यायालयों की एक स्वतंत्र एकीकृत व्यवस्था है, जो संघ व राज्य दोनों के कानूनों का पालन करते हैं, और इस व्यवस्था के शीर्ष पर भारतीय सर्वोच्च न्यायालय स्थित है। सर्वोच्च न्यायालय के नीचे विभिन्न राज्यों के उच्च न्यायालय होते हैं और प्रत्येक उच्च न्यायालय के नीचे 'अधीनस्थ न्यायालय' होते हैं, यानी उच्च न्यायालयों के मातहत और उनके नियंत्रण में।

2.4.4.1 सर्वोच्च न्यायालय

सर्वोच्च न्यायालय भारत में कानून की सबसे बड़ा न्यायालय है। यह उच्च न्यायालयों के ऊपर अपील–संबंधी अधिकारक्षेत्र रखता है और देश का उच्चतम न्यायाधिकरण है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित कानून भारत के राज्यक्षेत्र में सभी लघु न्यायालयों पर बाध्यकारी होता है। इसको संविधान की व्याख्या करने का निर्णायक प्राधिकार प्राप्त है। इस प्रकार, स्वाधीनता एवं अखण्डता, शक्तियाँ एवं प्रकार्य तथा न्यायिक जाँच के मुद्दे सर्वोच्च न्यायालय से जुड़े होकर अत्यधिक महत्त्व रखते हैं।

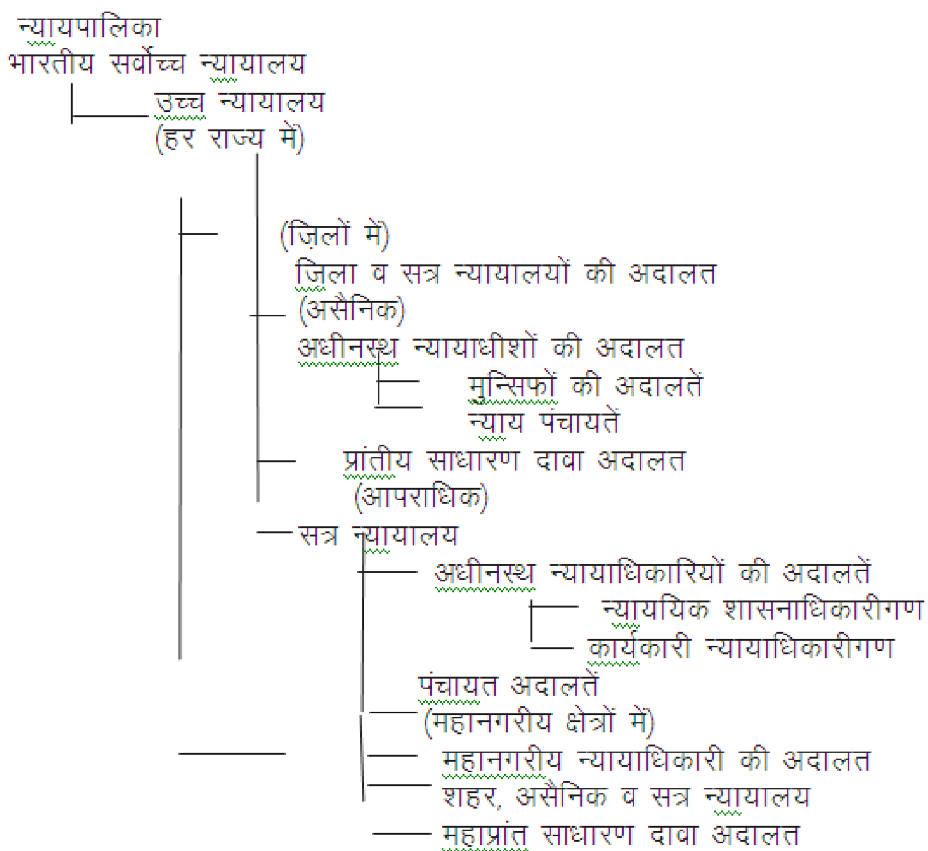

2.4.4.2 संघटन और नियुक्तियाँ

सर्वोच्च न्यायालय में होते हैं भारत के मुख्य न्यायाधीश और 25 की संख्या तक अन्य न्यायाधीश। स्थायी न्यायाधीशों की गणपूर्ति अभाव को पूरा करने के लिए एक अस्थायी अवधि के लिए तदर्थ न्यायाधीश हो सकते हैं। तथापि, संसद के अधिकार है कि सर्वोच्च न्यायालय के गठन, संगठन, अधिकार क्षेत्र एवं शक्तियों को नियमित करने के लिए कानून बनाए। संविधान में यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के और उच्च न्यायालयों के, जैसा वह आवश्यक समझे, इसी प्रकार के न्यायाधीशों का परामर्श लेकर भारत के मुख्य न्यायाधीश को नियुक्त करेगा। साथ ही, सर्वोच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में, न्यायाधीशों के अतिरिक्त, मुख्य न्यायाधीश का परामर्श अनिवार्य है।

सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताएँ अपेक्षित हैं :

अ) वह भारत का नागरिक हो, और

ब) पद्ध एक लब्धप्रतिष्ठ विधिवेत्ता हो; अथवा

29) कम से कम पाँच वर्ष किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रहा हो, अथवा

30) कम से कम दस वर्ष किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा हो।

नियुक्त होने के बाद, एक न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु होने तक अपने पद पर बना रहता है। वह राष्ट्रपति को सम्बोधित कर लिखित में देकर अपना पद छोड़ सकता है अथवा उसे 'सिद्ध दुराचार' एवं 'अक्षमता' के आधार पर संसद के प्रत्येक सदन के एक विशेष बहुमत द्वारा पारित कराकर इस आशय के अभिभाषण के बाद राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है। न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्ते ऊँचे निर्धारित किए जाते हैं ताकि उनकी स्वतंत्रता, दक्षता एवं निष्पक्षता सुरक्षित रहें। संविधान यह भी व्यवस्था देता है कि न्यायाधीशों के वेतन, किसी वित्तीय आपात्स्थिति के समय छोड़कर, अन्यथा उनके अहित में नहीं परिवर्तित होंगे। सर्वोच्च न्यायालय के प्रशासनिक व्यय, न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि भारतीय संचित निधि के नाम लिखे जाते हैं।

न्यायाधीशों की राजनीतिक विवादों से रक्षा करने के लिहाज से, संविधान न्यायालय को शक्ति प्रदान करता है कि वह उनके खिलाफ़ अवमानना का मुकदमा चलाये जो न्यायाधीशों को उनके सरकारी कर्त्तव्य के पारिपालन में अभिप्राय आरोपित करें। यहाँ तक कि संसद भी किसी न्यायाधीश के आचरण पर चर्चा नहीं कर सकती है, बशर्ते उसके समक्ष उक्त न्यायाधीश को हटाने के लिए कोई प्रस्ताव न हो।

2.4.4.3 सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

सर्वोच्च न्यायालय के पास विस्तृत अधिकार क्षेत्र है और उसकी स्थिति को इस बात से मज़बूती मिलती है कि यह एक पुनरावेदन न्यायालय के रूप में, संविधान के एक अभिभावक के रूप में और अपने ही निर्णयों के एक समीक्षक के रूप में काम करता है। अनुच्छेद 141 यह घोषित करता है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बनाए गए कानून भारत के राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों के लिए बाध्यकारी होंगे। इसका अधिकार क्षेत्र चार श्रेणियों में बँटा है

अ) मूल अधिकार क्षेत्र एवं परमादेश अधिकार

अनुच्छेद 131 संघ व किसी राज्य के बीच, एक राज्य व दूसरे के बीच, अथवा राज्य–समूह व अन्य के बीच किसी विवाद में अनन्य एवं मौलिक क्षेत्राधिकार प्रदान करता है। यह, इसीलिए, एक संघीय न्यायालय के रूप में काम करता है, यथा विवाद के पक्षकार एक संघ की इकाइयाँ होने चाहिए। भारत में अन्य कोई भी न्यायालय ऐसे विवादों को निपटाने का अधिकार नहीं रखता है।

सर्वोच्च न्यायालय ही मौलिक अधिकारों का संरक्षक है और इस प्रकार मौलिक अधिकारों के प्रतिशासक के रूप में ग़ैर–विशिष्ट असली क्षेत्राधिकार रखता है। इसको परमादेश जारी करने का अधिकार है, जैसे कि बंदी प्रत्यक्षीकरण *(Habeas Corpus)*] अधिकार पृच्छा *(Quo Warranto)*] प्रतिषेधादेश (Prohibition)] उत्प्रेषण–लेख *(Certiorari)* तथा न्यायिक आदेश *(Mandamus)*। इन परमादेशों को जारी करने के अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय के पास कार्यकारिणी को उचित निर्देश व आदेश देने का अधिकार का है। संविधान का अनुच्छेद 32 नागरिकों को अधिकार देता है कि वे संविधान के भाग–III में उल्लिखित मौलिक अधिकारों में से किसी को भी लागू कराने के लिए सीधे सर्वोच्च न्यायालय जा सकते हैं।

ब) परामर्शी क्षेत्राधिकार

संविधान का अनुच्छेद 143 राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि कानून–संबंधी किसी भी प्रश्न अथवा सार्वजनिक महत्त्व के कार्य अथवा उन संविधान–पूर्व संधियों व समझौतों से उठने वाले विवादों से संबंधित मामलों के संबंध में जो उसके मूल अधिकार क्षेत्र में वर्जित हैं, परामर्श प्राप्त करे। इस क्षेत्राधिकार में कोई सुरख़ाब के पर नहीं लगे होते, परामर्शी राय सरकार

पर बाध्यकारी नहीं है, यह न्यायालय के किसी फ़ैसले के रूप में निष्पन्य नहीं है और न्यायालय विवादास्पद राजनीतिक मामलों में अपना मत सुरक्षित रख सकता है, जैसा कि बाबरी मस्जिद मामले में हुआ है।

स) अपील–संबंधी क्षेत्राधिकार

सर्वोच्च न्यायालय सभी न्यायालयों से पुनरावेदन का सबसे बड़ा न्यायालय है। इसका अपील–संबंधी क्षेत्राधिकार निम्नलिखित में बाँटा जा सकता है :

xiii) संविधान की व्याख्या वाले मामले   नागरिक, आपराधिक अथवा अन्य बातों में;

xiv) नागरिक मामले, किसी भी संवैधानिक प्रश्न पर ध्यान दिए बग़ैर; और

xv) आपराधिक मामले, किसी भी संवैधानिक प्रश्न पर ध्यान दिए बग़ैर।

अनुच्छेद 132 उच्च न्यायालय के प्रमाणन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय से की गई अपील हेतु व्यवस्था देता है, सर्वोच्च न्यायालय उस अपील के लिए विशेष अनुमति दे सकता है। अनुच्छेद 133 नागरिक मामलों में अपील की व्यवस्था देता है, और 134 सर्वोच्च न्यायालय को आपराधिक मामलों में अपील–संबंधी क्षेत्राधिकार की व्यवस्था देता है। तथापि, सर्वोच्च न्यायालय के पास किसी भी न्यायालय अथवा कचहरी द्वारा पारित अथवा बनाए गए किसी भी मुकदमे अथवा मामले में किसी भी मत, आज्ञप्ति, निर्णय अथवा आदेश से, अपने विवेक से, विशेष अनुमति अपील स्वीकार करने का विशेष अपील–संबंधी क्षेत्राधिकार है।

द) पुनरीक्षण क्षेत्राधिकार

सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार है कि अपने द्वारा घोषित किए गए किसी भी निर्णय अथवा आदेश की पुनरीक्षा करे। अनुच्छेद 137 सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्णय अथवा आदेशों के पुनरीक्षण की व्यवस्था देता है जिसमें, संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून अथवा अनुच्छेद 145 के तहत बनाए गए किन्हीं भी नियमों के प्रावधानों के अधीन, सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार होगा कि उसके द्वारा किसी भी घोषित अथवा किए गए निर्णय की पुनरीक्षा करे।

तथापि, सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र संघ सूची में उल्लिखित विषयों में से किसी के भी मद्देनज़र बढ़ाया जा सकता है जैसा कि संसद कानूनन मुहैया कराती है। संसद, कानूनी रूप से, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रयोग किए जाने वाले अधिकारों व प्रकार्यों की सीमाएँ बढ़ा सकती है अथवा उन्हें लागू कर सकती है। चूँकि संसद व न्यायपालिका संविधान द्वारा ही बनाए गए हैं, इस प्रकार के उपर्युक्त कार्यों को दोनों ही के बीच साम जस्यपूर्ण संबंध को प्रवृत्त करना चाहिए, और संविधान के मूल ढाँचे को बदल देने का इरादा नहीं रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त, ये सभी अधिकार देश में किसी आपात्स्थिति की घोषणा होने पर स्थगित अथवा प्रतिस्थापित भी किए जा सकते हैं।

2.4.4.4 उच्च न्यायालय

हर एक राज्य के लिए उच्च न्यायालय होगा (अनुच्छेद 214), और प्रत्येक उच्च न्यायालय तथ्यों, घटनाओं आदि के लिखित विवरण वाली अदालत होगा और स्वयं की अवमानना हेतु दण्डाधिकार समेत इस प्रकार की अदालत की सभी शक्तियाँ धारण करेगा (अनुच्छेद 215) तथापि, संसद, कानूनी रूप से, दो अथवा अधिक राज्यों तथा किसी केन्द्रशासित प्रदेश के लिए एक सर्वमान्य उच्च न्यायालय स्थापित कर सकती है (अनुच्छेद 231)। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा ऐसे अन्य न्यायाधीश होंगे जिन्हें राष्ट्रपति समय–समय पर ज़रूरी समझने पर नियुक्त कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाने वाले अतिरिक्त न्यायाधीशों एवं कार्यकारी न्यायाधीशों हेतु प्रावधान भी संविधान में दिए गए हैं। राष्ट्रपति न्यायाधीशों को नियुक्त करते समय भारत के मुख्य न्यायाधीश हो, राज्य के राज्यपाल एवं मुख्य न्यायाधीश के अलावा किसी अन्य न्यायाधीश का नियुक्ति के मामले में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से भी से परामर्श करेगा। एक उच्च न्यायालय का न्यायाधीश 62 वर्ष की आयु तक अपने तक अपने पद पर बना रहेगा। एक न्यायाधीश त्यागपत्र देकर, किसी सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होकर, अथवा राष्ट्रपति द्वारा किसी अन्य उच्च न्यायालय को स्थानान्तरण द्वारा अपना पद छोड़ सकता है। एक न्यायाधीश को राष्ट्रपति द्वारा दुराचार अथवा अक्षमता के आधार पर हटाया जा सकता है, ठीक वैसे ही जिस प्रकार एक सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जा सकता है।

2.4.4.5 उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार

किसी राज्य के उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र उस राज्य की क्षेत्रीय सीमाओं के साथ समसीमान्त बिन्दु वाला होता है। उच्च न्यायालय के मूल अधिकार क्षेत्र में शामिल हैं मौलिक अधिकारों का बाध्यकरण, संघ व राज्य विधानमंडलों के चुनाव से संबंधित विवादों का निपटारा तथा राजस्व मामलों पर क्षेत्राधिकार। इसका अपील–संबंधी क्षेत्राधिकार नागरिक व आपराधिक दोनों ही मामलों तक विस्तीर्ण है। नागरिक पक्ष में, उच्च न्यायालय से की गई कोई अपील या तो प्रथम अपील होती है या फिर द्वितीय। आपराधिक अपील–संबंधी क्षेत्राधिकार में निम्नलिखित के निर्णयों हेतु की गई अपीलें शामिल होती हैं :

अ) सत्र न्यायाधीश, अथवा एक अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश जहाँ कारावास की दण्डाज्ञा 7 वर्ष अधिक हो।

ब) सहायक सत्र न्यायाधीश, महानगरीय दण्डाधिकारी अथवा 'खुदरा' मामलों के अलावा कुछ दूसरे प्रमाणित मामलों में अन्य न्यायिक दण्डाधिकारी।

उच्च न्यायालय के परमादेश क्षेत्राधिकार का अर्थ है मौलिक अधिकारों के बाध्यकरण हेतु तथा रिवाजी स्थानीय अधिकारों के मामलों में भी परमादेशों आदेशों प्रचालन। उच्च न्यायालय को, सशस्त्र बलों के साथ क्रिया–व्यापार का करने वालों को छोड़कर, अन्य सभी अदालतों व कचहरियों की निगरानी करने का अधिकार है। वह नियम भी बना सकता है और तीव्रतर एवं प्रभावी न्यायिक उपाय हेतु निर्देशों के साथ समय–समय पर दिशा–निर्देश हेतु अनुदेश भी जारी कर सकता है। उच्च न्यायालय के पास मामलों को संविधान की व्याख्या से संबंधित अधीनस्थ न्यायालयों से अपने पास स्थानांतरित कर लेने का भी अधिकार है। तथापि, संसद, कानूनी रूप से, एक उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार किसी केन्द्रशासित प्रदेश तक विस्तीर्ण कर सकती है, अथवा एक उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार वहाँ से समाप्त कर सकती है। मौलिक एवं अपील–संबंधी क्षेत्राधिकार से मत्तालिक् उच्च न्यायालय की शक्ति संघ के अधीन सेवाओं के लिहाज से, केन्द्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के बनाये जाने से भी सीमाबद्ध है तथा उसको संघ– संबंधी किसी भी प्रशासनिक प्राधिकरण द्वारा बनाये गए केन्द्रीय आधिनियम, नियम, विज्ञप्ति अथवा आदेश को अमान्य ठहराने का अधिकार नहीं है।

2.4.4.6 अधीनस्थ न्यायालय

वे न्यायालय जो पदानुक्रम में उच्च न्यायालयों के अधीन आते हैं अधीनस्थ न्यायालय कहलाते हैं। यह राज्य सरकारों का काम है कि अधीनस्थ न्यायालय बनाए जाने हेतु कानून बनाएँ। इन अधीनस्थ न्यायालयों की नामावली राज्य–राज्य में भिन्न–भिन्न होती है परन्तु मोटे तौर पर संगठनात्मक संरचना के लिहाज से इनमें एकरूपता होती है।

उच्च न्यायालय के नीचे होते हैं प्रत्येक ज़िले के लिए ज़िला न्यायालय, और वह ज़िला–विशेष में अपील–संबंधी क्षेत्राधिकार रखता है। ज़िला न्यायालयों के अधीन होती हैं निचली अदालतें, जैसे कि अतिरिक्त ज़िला न्यायालय, अवर–न्यायालय, मुन्सिफ़ मजिस्ट्रेट कोर्ट, द्वितीय श्रेणी विशेष न्यायिक शासनाधिकारी कोर्ट, प्रथम श्रेणी विशेष न्यायिक शासनाधिकारी कोर्ट, फ़ैक्टरीज़ एक्ट एवं श्रम कानून आदि हेतु विशेष मुन्सिफ़ मजिस्ट्रेट कोर्ट। अधीनस्थ न्यायालयों के नीचे क्षण–मूल स्तर पर होते हैं पंचायत न्यायालय (न्याय पंचायत, ग्राम पंचायत, पंचायत अदालत आदि)। इनको, हालाँकि, आपराधिक न्यायालय अधिकार क्षेत्र की व्यवस्था करने वाली धारा के अधीन न्यायालय नहीं माना जाता है।

ज़िला अदालतें खास दर्जे के तहत असली मामलों को संज्ञान ले सकती हैं। राज्यपाल, उच्च न्यायालय के परामर्श से ज़िला अदालतों से सम्बद्ध नियुक्तियाँ करता है। किसी राज्य की न्यायिक सेवा हेतु ज़िला न्यायाधीशों के अलावा अन्य लोगों की नियुक्ति उच्च न्यायालयों व राज्य लोकसेवा आयोग से परामर्श के बाद राज्यपाल द्वारा उसकी ओर से बनाए गए नियमों के अनुसार उसी के द्वारा की जाती है। उच्च न्यायालय राज्य न्यायिक सेवा से संबंधित सभी लोगों के लिए तैनाती, तरक्की तथा अवकाश प्रदान जैसे मामलों में ज़िला न्यायालयों व उनके अधीनस्थ न्यायालयों पर प्रशासनिक नियंत्रण रखता है।

2.4.5 न्यायिक पुनरीक्षण एवं जनहित याचिका

न्यायिक पुनरीक्षा का अर्थ है जन प्राधिकरणों के कार्यकारी एवं विधायी, दोनों ही कार्यों की संवैधानिक वैधता घोषित करने हेतु न्यायपालिका का अधिकार। किसी भी लोकतांत्रिक समाज में, न्यायिक पुनरीक्षा उस व्यवस्था–विशेष की जान होती है क्योंकि इसके बग़ैर लोकतंत्र तथा कानून का शासन दोनों ही कायम नहीं रखे जा सकते हैं। भारत में न्यायिक पुनरीक्षण संविधान का एक अभिन्न हिस्सा है और इसमें संविधान का 'मूल प्राधार' निहित है। न्यायिक पुनरीक्षा की सम्पूर्ण संहिता एक केस–दर–केस आधार पर न्यायाधीशों द्वारा विकसित की गई है। परिणामतः, न्यायिक पुनरीक्षण की शरण पाने का अधिकार हर वाद–विशेष के तथ्यों पर निर्भर करता है; हालाँकि, कानून के किसी दुर्बोध प्रस्ताव की पुनरीक्षा नहीं हो सकती है।

यद्यपि हमारे संविधान में 'न्यायिक पुनरीक्षा' का कोई उल्लेख नहीं है, न्यायपालिका द्वारा यह अधिकार विभिन्न प्रावधानों से व्युत्पन्न किया गया है। प्रथमतः, संविधान और खासकर मौलिक अधिकारों की तुलना में अनुच्छेद 13(2) विषयक सीमाओं की व्याख्या करने का अधिकार जो यह सुझाता है कि मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने वाला कोई भी कानून अमान्य घोषित होगा। यह सर्वोच्च न्यायालय का कर्त्तव्य है कि लोगों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करे और इस प्रकार वह अनुच्छेद 32 के तहत न्यायिक पुनरीक्षा अधिकार एवं संविधान की व्याख्या करने के अधिकारादि से सम्पन्न है।

न्यायिक पुनरीक्षा संबंधी सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार संवैधानिक संशोधनों तक विस्तीर्ण है। तथापि, मौलिक अधिकारों के संबंध में न्यायपालिका द्वारा संवैधानिक संशोधन पुनरीक्षा व उसकी कानूनी वैधता एक विवादग्रस्त राजनीतिक मुद्दा रहा है। संसद अनुच्छेद 368 के तहत संविधान में संशोधन कर सकती है परन्तु आवश्यक है कि ऐसे संशोधन मौलिक अधिकारों का हनन अथवा उल्लंघन न करते हों और इस नियम के उल्लंघन में बनाया गया कोई भी कानून अमान्य होगा (अनुच्छेद 13)।

गोलकनाथ केस (1967) से पूर्व न्यायालयों का दावा था कि संविधान संशोधन अनुच्छेद 13 के आशय का कानून नहीं है और इस प्रकार, यदि वह किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन करता है तो अमान्य नहीं ठहराया जाएगा। गोलकनाथ केस में यह तय किया गया कि

1. सभी संशोधन कानून हों,
2. मौलिक अधिकार अर्न्जात एवं अपरिवर्तनीय हैं, अतः संशोधित नहीं किए जा सकते हैं, तिस पर भी मौलिक अधिकारों में संशोधन करने के लिए एक नई संविधान सभा बुलायी जाने की आवश्यकता है, और
3. संविधान संशोधन एक नियमित विधायी शक्ति है।

1971 में, संसद ने, 24वें संविधान संशोधन द्वारा, गोलकनाथ के निर्णयों को यह घोषित करते हुए बदल दिया कि अनुच्छेद 368 के तहत किए गए संविधान संशोधन अनुच्छेद 13 के आशय से 'कानून' के रूप में नहीं होंगे और संविधान संशोधन अधिनियम की वैधता इस आधार पर प्रश्नार्थ अनवरुद्ध नहीं होगी कि यह अधिकारों का हनन करती है अथवा उन्हें प्रभावित करती है ख्अनु. 1972 में, संसद ने मौलिक अधिकारों के अतिक्रमण हेतु विधायिका को अनुमति देते हुए 25वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया बशर्ते इसे राज्य के नीति–निदेशक सिद्धांतों को लागू करने के अनुकूल बताया गया हो। 28वें संशोधन अधिनियम ने भारतीय राज्यों के औपचारिक शासकों को प्रदान मान्यता समाप्त कर दी और उनके राजभत्ते भी बंद कर दिए गए।

प्रसिद्ध केशवानन्द भारती केस, 1973 में, न्यायालय ने दृढ़तापूर्वक कहा कि संसद मौलिक अधिकारों में भी संशोधन कर सकती है, परन्तु वह संविधान के 'मूल प्राधार' अथवा 'ढाँचे' को बदल डालने में सक्षम नहीं है। 42वें संशोधन अधिनियम (1976) ने यह घोषित किया कि अनुच्छेद 368 उसमें धारा (4) व (5) का सन्निवेश करके न्यायिक पुनरीक्षा के अधीन नहीं आता। तथापि, 1980 में मिनर्वा मिल्स केस में, न्यायालय ने अनुच्छेद 368 से धाराएँ (4) व (5) हटा दीं और दृढ़तापूर्वक कहा कि 'न्यायिक पुनरीक्षा' भारतीय संविधान व्यवस्था का मूल अभिलक्षण है जो कि संविधान में संशोधन द्वारा भी छीना नहीं जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय, तभी से, 'मूल प्राधार' को केस–दर–केस परिभाषित करता रहा है।

जनहित याचिका समाज के विशेष तौर पर कमज़ोर तबकों तक न्याय पहुँचाने हेतु न्यायपालिका द्वारा चलाया गया एक सामाजिक–आर्थिक आन्दोलन है। यह विचार रोमन स्मृति–न्यायशास्त्र के *'एशियो पॉप्यूलैरिस'* से आया, जो कि सार्वजनिक अपराधों के मामलों में अदालत तक प्रत्येक नागरिक की पहुँच प्रदान करता है। जनहित याचिका का उद्देश्य एक व्यक्ति के अधिकार को दूसरे के विरुद्ध लागू करना नहीं है बल्कि समाज के वंचित वर्गों तक न्याय पहुँचाना है। न्यायालय किसी इतर–संवैधानिक अधिकार क्षेत्र का प्रयोग नहीं कर रहा है और अब अनुच्छेद 14 व अनुच्छेद 21 में मज़बूती से जमा है, जो कि क्रमशः सभी प्रकार की यादृच्छिकता एवं अराजकता के विरुद्ध संरक्षण, तथा दूसरों के लिए न्यायाकूल संबंध एवं कमज़ोर वर्गों हेतु व्यहृत निदेशक सिद्धांतों समेत जीवन–रक्षा हेतु हर उस चीज को मूर्त रूप दिए जाने की व्यवस्था देता है जो एक प्रतिष्ठापूर्ण जीवन के लिए आवश्यक होती है।

जनहित याचिका हेतु अधिकार प्रदान किए जाने ने न्यायालयों में मुकदमों के आधिक्य की ओर प्रवृत्त किया है, जो कि न्यायपालिका द्वारा लोकतांत्रिक अधिकारों के विकास का सूचक है। एस.पी. साठे तजवीज करते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय निम्नलिखित प्रतिमानों के अन्तर्गत काम करता रहा है :

1. व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ, इस दृष्टि से कि राज्य के अन्य अंगों पर न्यायिक नियंत्रण बढ़ाया जाए ताकि लोगों के लिए स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा, समानता एवं न्याय तथा शासी संस्थाओं की अधिक उत्तरप्रदता सुनिश्चित हो।
2. व्याख्यात्मक रणनीतियाँ, इस दृष्टि से कि सामाजिक परिवर्तन सुसाध्य हो, जो अल्पसंख्यकों, समाज के कमज़ोर वर्गों एवं राजनीतिक व धार्मिक भिन्न–मतावलम्बियों की अधिक सुरक्षा को प्रोत्साहन दे।
3. न्याय तक पहुँच बढ़ाने के लिए नए तरीके ईज़ाद करना (जैसे जनहित याचिका एवं लोक अदालतें)।

2.4.6 नयायिक सुधार कार्यसूची

न्यायपालिका को मुकुलित होते लम्बित मामलों को निपटाने हेतु नए तरीके व साधन अवश्य तलाशने चाहिए। इसमें न्यायपालिका को एक संगठन के रूप में विशेषज्ञता एवं सही वैशिष्ट्य की आवश्यकता है ताकि मसले हल हो सकें। लोक अदालतों एवं कचहरियों को और अधिक प्रभावशाली बनाया जाना चाहिए। न्यायपालिका को न्यायाधीशों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर करनी चाहिए और सभी प्रकार का तदर्थवाद समाप्त होना चाहिए। जैसा कि दसवें कानून आयोग ने सुझाया था, संवैधानिक न्यायालय एवं क्षेत्रीय अदालतें गठित की जा सकती हैं। एक कार्यकारी लोकतंत्र को एक स्वतंत्र न्यायपालिका की दरकार होती है जो एक प्रभावशाली कार्यकारिणी एवं एक उत्तरदायी विधायिका द्वारा भलीभाँति समन्वित हो।

2.4.7 सारांश

किसी प्रजातंत्र में, वृहत्तर सामाजिक पर्यावरण में कानून–व्यवस्था एवं न्यायपालिका महत्त्वपूर्ण घटक हैं। भारत में आधुनिक न्यायपालिका अपने ोत संविधान से व्युत्पन्न करती है, और विधायिका एवं कार्यपालिका के यादृच्छिक निर्णयों पर एक नियंत्रण के रूप में काम करती है। संविधान सभा ने अधिकारों एवं न्याय के संरक्षक के रूप में न्यायपालिका के महत्त्व को पहले ही जान लिया था। जबकि सर्वोच्च न्यायालय भारत में कानून का सबसे बड़ा न्यायालय है, जिसके निर्णय सभी पर समान रूप से बाध्यकारी होते हैं, उच्च न्यायालय एवं अधीनस्थ न्यायालय क्रमशः राज्य एवं ज़िला स्तरों पर न्याय सुनिश्चित करते हैं। न्यायिक पुनरीक्षा एवं जनहित याचिका हेतु प्रावधान यह सुनिश्चित करते हैं कि कानून का शासन बरकरार रहे, जिससे सभी के लिए एक गौरवमय जीवन एवं न्यायाकूल संबंध प्रस्तुत हों। इस प्रकार, यह इकाई मोटे तौर पर एक विस्तृत ढाँचे में न्यायपालिका के प्राधार, प्रक्रिया, व्यवहार एवं अन्तर्क्रिया का विश्लेषण करती है ताकि विकास एवं लोकतंत्र के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।

2.4.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. भारत में न्यायपालिका की उत्पत्ति एवं क्रम–विकास को संक्षिप्त रूप से स्पष्ट करें।
2. सर्वोच्च न्यायालय को भारत में कानून का सबसे बड़ा न्यायालय क्यों माना जाता है? न्यायपालिका– संबंधी इसका प्रयोजन स्पष्ट करें।
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :

   अ) उच्च न्यायालय का अधिकारक्षेत्र

   ब) अधीनस्थ न्यायालय

   स) न्यायिक पुनरीक्षा
4. ''न्यायपालिका ही नागरिकों के अधिकारों एवं हितों की रक्षार्थ सर्वाधिक प्रभावशाली अंग है।'' क्या आप इस बात से सहमत हैं?

इकाई–3

अध्याय–1 : संघवाद

संरचना

2.2.25 उद्‌देश्य

2.2.26 प्रस्तावना

2.2.27 भारतीय संघवाद का विशिष्टीकरण : संघीय संघ का सहज रूप

2.2.28 भारतीय संघवाद के प्रमुख लक्षण

2.2.29 संघ' शब्द का अर्थ और प्रभाव

2.2.30 अंतर–राज्यीय समन्वयन

2.2.31 सामर्थ का वितरण

2.2.32 संघीय तंत्र की कार्यप्रणाली

2.2.33 संघ द्वार की गई विकेंद्रीकरण की पहल

2.2.34 अंतिम टिप्पणी

2.2.35 सांराश

2.2.36 अभ्यास प्रश्नावली

3.1.1 उद्‌देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्‌देश्य भारत के संघीय स्वरूप का विश्लेषण करना है। भारतीय संविधान में संघ शब्द के स्थान पर ''राज्यों का संघ'' शब्दावली प्रयुक्त की गई है जो इसे विशेष बनाती है। संघीय राज्य की विशेषताओं के साथ भारत में एंकात्मकता की प्रकृति भी पाई जाती है जिसका उल्लेख इस अध्याय में किया गया है। संघवाद को प्रमुख चुनौतियाँ केन्द्र राज्य संबंधों में तनाव है जिनके निवारण हेतु सरकारिया आयोग, प्रशासनिक सुधार आयोग आदि द्वारा सुझाव दिए गए है यह हमारी संघवाद की विलक्षणता ही है कि इतने वर्षों तक अनेकानेक उतार–चढाव के साथ सफलतापूर्वक संचालित हो रहा है और हमारे संविधान की बुनियादी विशेषता भी है जिसका विवरण इस अध्याय में दिया गया है।

3.1.2 प्रस्तावना

संघवाद राष्ट्र और राज्य निर्माण का एक गतिशील सिद्धांत है। प्रमुखतः यह संस्थागत राजनीतिक सहयोग और सामूहिक सह–अस्तित्व के बारे में एक सिद्धांत है। दूसरे शब्दों में, जिसे डेनियल इलजार ने संकल्पनात्मक रूप से 'स्वयंशासन और सहयोजित शासन' का नाम दिया है, के आव्यूह प्रबंधन में 'साथ साथ रहने' की एक महान संरचना है। इसका प्रमाण चिह्न, रशीदुद्दीन खान के अनुसार, 'राजतंत्र की एकता तथा समाज की अनेकता' है। राष्ट्रनिर्माण के सिद्धांत के रूप में संघवाद राज्य–समाज रिश्तों को इस तरीके से परिभाषित करना चाहता है जिससे सामाजिक समूहों को सांविधिक तौर पर सुरक्षित और अधिदेशित संस्थागत वातारण में फलने–फूलने के लिए पहचान की स्वायत्तता मिल सके। संघीय संविधान जनता, विशेष रूप से अल्पसंख्यकों के विशेष सांस्कृतिक अधिकारों को मान्यता देता है। इस अर्थ में, यह विविध संस्कृति के सिद्धांत के बहुत निकट होते हुए भी भिन्न है क्योंकि संविधान की बारीकियाँ विविधताओं के सैद्धांतीकरण पर संघात्मक बल देने में तथा 'सहयोजित शासन' के विभिन्न संरचनात्मक विन्यास के माध्यम से दो भिन्न प्रकार की पहचानों के बीच सामाजिक राजनीतिक सहयोग के सुगमीकरण में निहित हैं।

राज्य निर्माण सिद्धांत के रूप में, संघवाद के तीन मुख्य संघटक है : (i) राज्यों के गहन तथा संघीय–स्थानीय प्रशासन का क्षेत्रीकरण इस प्रकार हो जिससे जनता और सरकार के बीच संपर्क को बढ़ावा मिले; (ii) ग़ैर–केंद्रीकृत आधार पर संघीय शक्तियों का वितरण; और (iii) सहयोजित शासन की संस्थाओं का सृजन। प्रथम संघटक का अवश्यमेव अर्थ है 'स्वशासन की संस्थाओं का सृजन। उच्च स्तर पर स्वशासन की संस्थाओं का अर्थ है राज्यों का सृजन तथा निम्न स्तर पर यह स्थानीय स्व–शासन की संस्थाओं का हवाला देता है। राज्य अथवा प्रशासन की क्षेत्रीय इकाइयाँ आमतौर पर जनता, संस्कृति और क्षेत्र के बीच देश–काल के संदर्भ में अंतर्क्रिया प्रतिदर्श की सापेक्ष निरंतरता अथवा सांतरता के आधार पर गठित की जाती है। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य है 'जीवनक्षम सजातीयता' के सिद्धांत पर राज्यों का गठन। राज्य व्यवस्था में अनेक उपराज्य प्रबंधन शामिल हो सकते हैं जैसे भू–प्रजातीय दायरों में रहने वाले लोगों की विशिष्ट सांस्कृतिक और प्रशासनिक अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए क्षेत्रीय परिषदें अथवा जिला परिषदें। द्वितीय संघटक एक

सापेक्षतः स्वायत्तता आधार पर संघीय शक्तियों और कार्यों के बँटवारे का हवाला देता है जहाँ प्रत्येक इकाई के पास आंबटित क्षेत्र, अपने कार्यों को दक्षतापूर्वक और प्रभावी ढंग से पूरा करने के लिए पर्याप्त विधायी सक्षमता, कार्यकारी प्राधिकार और वित्तीय संसाधन होते हैं।

हाल के वर्षों में क्षमता विभाजन और वितरण की धारणा अस्तित्व में आई है। सामर्थ्य अथवा क्षमता संघीय–क्षेत्रीय प्रशासन की विभिन्न इकाइयों के क्रियात्मक रूप से परिष्कृत तथा सांविधिक रूप से संरक्षित होने की ओर इशारा करती है स्पेनिश उदाहरण के मद्देनजर, फर्नान्डिज सेगाडो ने क्षमताओं को निम्न पाँच प्रकार के वर्गों में वर्गीकृत किया है :

(क) आंतरिक क्षमताएँ : वे हैं जिनमें एक मात्र प्राधिकरण–आमतौर पर राज्य–विशेष कार्य से संबधित सभी प्रकार के सार्वजनिक कार्यों को करता है, (ख) अनन्य परंतु सीमित क्षमताएँ : वे हैं जिनमें एक प्राधिकरण के पास पूर्ण सक्षमता होती है परंतु विशिष्ट तरीके से विशिष्ट सीमा तक। इस प्रकार, यह कार्य नहीं हैं अपितु ऐसा मामला है जो विखंडित है। (ग) सहयोजित सक्षमताएँ : वे हैं जिनमें राज्य और स्वायत्त समुदाय (परिषद्) दोनों एक ही मामले में एक ही जैसे कार्य के संपूरक अंशों को व्यावहारिक रूप देने के लिए हकदार है। यह ऐसा मामला है जिसमें उन मामलों की पुनरावृत्ति होती है जिनमें राज्य ने अपने लिए मौलिक कानून बनाया हुआ है और स्वायत्त समुदाय विधायी विकास में लगा हुआ हैं। (घ) सहवर्तन (concurring) क्षमताएँ : वे हैं जिनमें राज्य तथा स्वायत्त समुदाय की सक्षमताएं भिन्न होती हैं परंतु एक ही मौलिक उद्देश्य पर लागू होती हैं (च) अभिन्न क्षमताएँ : वे हैं जो बिना किसी विशिष्टता के राज्य और स्वायत्त समुदायों को दी गई हैं और उन्हें एक ही मामले का अलग–अलग तरीके से निपटान करने के लिए सक्षम बनाती हैं।

उपरोक्त से यह तथ्य प्रकट होता है कि क्षमताओं का वितरण क्षेत्रीय आयात और नीति निर्माण और उसके कार्यान्वयन के लिए अनन्य अथवा सहयोजित नियंत्रण हेतु विषय के सामुदायिक महत्त्व के आधार पर विषयों की पहचान और वितरण का बहुविध अभ्यास है। सहयोजित 'समताओं की रंगभूमि में किसी विषय पर नीति की विषय वस्तु का विभाजन और वितरण होता है। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य विषय के क्षेत्रीय विभाजन से है। आवंटित क्षमता के दायरे में प्रत्येक इकाई निर्णय और कार्यान्वयन के लिए तकरीबन पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त है। यहाँ इस तथा की चर्चा करना उपयुक्त रहेगा कि संघवाद वर्षानुवर्ष नीति विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है जहाँ अनुशासन का मूलभूत उद्देश्य अभिलक्षित उद्देश्यों और नीतियों की दक्षता और प्राप्ति के रूप में प्रतीत होता हैं। यह संघीय सिद्धांत से आगे का चरण है वहाँ यह अपने निर्णायक संसाधन लोकप्रशासन और प्रबंधन केंद्र अनुशासनों से ग्रहण करता है।

प्रशासन और शासन, संघवाद और संघीय व्यवस्था का अनुक्रमणात्मक सिद्धांत निम्न प्रबंधनों जैसे अकेंद्रीकरण विकेंद्रीकरण और विकेंद्रन में किसी एक अथवा सबका संयुक्त रूप से अनुसरण कर सकता है। अकेंद्रीकरण क्षमताओं के परंपराओं से हटकर वितरण का हवाला देता हैं विकेंद्रीकरण का अर्थ है क्षमता का एक संघीय संरचना से किसी अन्य अधीनस्थ अधिशासी प्राधिकरण और संरचनाओं को सशर्त परंपराक्रनुम में वितरण और अकेंद्रन का अर्थ है आमतौर पर अधिशासी प्राधिकार और कार्यों का एक प्राधिकरण से दूसरे प्राधिकरण को भार का आंशिक निष्कासन। संघवाद का आवश्यक लक्षण है ऐसी संघीय राजनीतिक संस्कृतिक का सृजन जिसमें आपसी बातचीत के माध्यम से मतभेदों का पता लगाया जाए तथा सर्वनिष्ठ चिंता और राष्ट्रीय महत्त्व के ऊपर सामंजस्य बनाया जाए।

तीसरा घटक सहयोजित शासन के प्रतिष्ठानों से संबंधित है। यह संघवाद को हस्तांतरणीय महत्त्व और पारंपरिक चिंतन के मामलों पर स्वाशासन तंत्र से हटकर सामूहिक शासन तंत्र की ओर ले जाता है। सहयोजित शासन संस्थान विभिन्न प्रकार के प्रतिष्ठानों का रूप ले सकते है जैसे क्षेत्रीय परिषद्, शासन संस्थान, मंत्रालयीन परिषद्, अंतरराज्यीय परिषद् स्वतंत्र संवैधानिक प्राधिकरण जैसे बोर्ड, आयोग, नियोजन एवं अन्य नियामक निकाय। सहयोजित शासन प्रतिष्ठनों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य सिंचाई संबंधी और राष्ट्रीय महत्त्व तथा अंतरराज्यीय विवादों को हल करने के मामलों पर नीति मानदण्ड और दृष्टिकोण की विकासशील एकरूपता निर्धारित करना है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि संघवाद का कोई अनन्य अथवा सार्वभौमिक प्रतिदर्श नहीं है। दो संघीय राज्य तंत्र कुछ उभनिष्ठ विशेषताओं को शेयर करते है परंतु शासन संरचना और प्रक्रिया में व्यापक रूप से भिन्न होते हैं। संघीय राज्यतंत्र अपने अनन्य 'संघीय संघ' और 'संघीय राष्ट्र का अपने निजी जिला सामाजिक संगठन, सामाजिक ग्रुपों के मध्य सांस्कृतिक विभेदन, पहचान और विकास की क्षेत्रीय और उपक्षेत्रीय गतिशीलता, तथा अपने संविधान और राष्ट्रवाद के अपेक्षित उद्देश्यों और विशिष्टताओं के अनुसार निर्माण करते हैं। यथार्थ कारण यह है कि प्रत्येक संघीय राज्य संघ तंत्र एक विशिष्ट प्रकार के संघवाद से मिलकर बनता है। यही स्थिति भारतीय संघवाद के मामले में है।

3.1.3 भारतीय संघवाद का विशिष्टीकरण : संघीय संघ का सहज रूप

परंपरागत–विधि सम्मत पांडित्य ";बीवसवतेीपचद्ध ने भारतीय संघवाद को 'अर्ध–संघीय' के रूप में विशिष्टता प्रदान की है जिसका अर्थ है'' एक ऐसा एकीकृत राज्य जो आनुषंगिक एकीकृत सिद्धांतों वाला संघीय राज्य न हो अपितु जिसके आनुषंगिक संघीय सिद्धांत हो'' (के॰सी॰ हिअरे)। ऐसा विशिष्टीकरण संभवतया भारतीय संघवाद के पूर्णतावादी परिप्रेक्ष्य, उसके गठन, वृद्धि और विकास को हिसाब में नहीं लेता है। यह सत्य है कि भारतीय संघवाद में, कतिपय परिस्थितियों के

अध्यधीन, केंद्रीकरण की अंतर्निमित प्रवृत्ति होती है जो उसे, उसके बावजूद भी, अर्धसंघीय बनाती है। आबंटित क्षेत्र में राज्य उतना ही संप्रभु होता है जितना संघ। इस संबंध में संविधान सभा में बी॰आर॰ अंबेडकर के भाषण पुनः स्मरणीय है 3 अगस्त 1949 को आपात्काल उपबंधों पर एक चर्चा के दौरान उसने कहा था

मैं सोचता हूँ कि यह सर्वसम्मत है कि हमारा संविधान, इसके अंदर अनेक प्रतिबंधों जिनके तहत केंद्र को राज्यों के ऊपर अधिभावी शाक्तियां प्रदान की गई हैं, के बावजूद भी एक संघीय संविधान है और जब हम यह कहते हैं कि हमारा संविधान एक संघीय संविधान है तो इसका तात्पर्य है कि राज्य अपने क्षेत्र में जो उनको दिया गया है उतने ही संप्रभु है जितना कि केंद्र उस क्षेत्र में संप्रभु है जो उसको सौंपा गया है। दूसरे शब्दों में, उन उपबंधों के रहते हुए भी जो केंद्र को किसी भी कानून जो राज्यों द्वारा पारित किया गया है, के ऊपर अधिभावी

होने की अनुमति देता है, वहीं राज्यों को शांति, व्यवस्था और अपने राज्य के अच्छे शासन के लिए कोई कानून बनाने का पूर्ण अधिकार होता है। अब, जब संविधान के राज्यों को संप्रभु बनाता है और उन्हें पूर्णाधिकार प्रदान करता है कृ केंद्र अथवा किसी अन्य प्राधिकरण द्वारा हस्तक्षेप पर रोक होनी चाहिए क्योंकि ऐसा करना राज्य की संप्रभुता पर आक्रमण होगा, जिसे कि हमें स्वीकार करना चाहिए कि हमारा एक संघीय संविधान है।

भारतीय संविधान के लिए आवश्यकीय और एक मात्र लक्षण केंद्रवाद के अभियोग को अस्वीकार करते हुए अंबेडकर ने उस सभा में 25 नवंबर 1949 को कहा था :

संविधान का मूलभूत सिद्धांत यह है कि केंद्र और राज्यों के बीच विधायी और कार्यकारी शक्तियाँ केंद्र द्वारा बनाए गए कानून से विभाजित नहीं है अपितु स्वयमेव संविधान में ऐसा किया गया है। यह वैसा ही है जैसा संविधान में अपेक्षित है राज्य किसी भी स्थिति में अपने विधायी अथवा कार्यकारी प्राधिकारों के लिए केंद्र पर आधारित नहीं हैं इस मामले में केंद्र और राज्य बराबरी पर हैं। यह पता लगाना मुश्किल है कि इस संविधान को किस सीमा तक केंद्रवादी कहा जा सकता है। यह हो सकता है कि संविधान ने केंद्र को अपने विधायी और कार्यकारी प्रचालन के लिए अति विशाल क्षेत्र आवंटित किया हो जो अन्य संघीय संविधान में नहीं है। ऐसा हो सकता है कि अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को न देकर केंद्र को सौंपी गई हों। परंतु ये लक्षण संघवाद के सार तत्व नहीं हैं। संविधान की प्रमुख पहचान अंतर्निहित है कृ संविधान द्वारा केंद्र और इकाइयों के बीच विधायी और कार्यकारी प्राधिकारों के आबंटन में। यह हमारे संविधान का अंतर्निहित सिद्धांत है इसके बारे में कोई गलती नहीं हो सकती। यह कहना गलत है कि राज्यों को केंद्र के अधीन रखा गया है। केंद्र स्वयमेव उस स्थिति की सीमाएँ नहीं बदल सकता। न्यायपालिका भी ऐसा नहीं कर सकती है।

जिस सिद्धांत को लेकर इसके प्रवर्तकों ने शक्तियों का केंद्र और राज्यों के बीच विभाजन किया, वह सिद्धांत था कि शक्तियों के विभाजन जिम्मेदारियों के वितरण के अनुरूप होना चाहिए। केंद्र को (प) राष्ट्र निर्माण और राष्ट्रीय संरक्षण (पप) राष्ट्रीय एकता और अखंडता को बनाए रखने तथा उसकी सुरक्षा करने, और (पपप) संपूर्ण भारत संघ में संवैधानिक राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने की महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ सौंपी गई हैं। राज्यों को केवल वे विषय सौंपे गए हैं जो स्वभाव से पूर्णरूपेण स्थानीय हैं। इसके अतिरिक्त, उसको सोंपे गए विषयों पर कानून बनाने, उसका विनिमयन करने तथा उसके कार्यान्वयन की स्वायत्तता होने के कारण, राज्यों से संघ की नीतियों, विशेष रूप से राष्ट्र निर्माण के पहलू से संबंधित, के समन्वयन, सहयोग और कार्यान्वयन की अपेक्षा की जाती है।

संविधान निर्माताओं द्वारा यथा निर्धारित संघीय संघ के अनिवार्य रूप से तीन संघटक होंगे : (i) सामाजीय स्तर पर, एक जैसे सामाजिक संघ के निर्माण की अपेक्षा करता है जो धर्मनिरपेक्षता के व्यापक दायरे में बहुवादिता (सामूहिक जीवन की) को फलने–फूलने दे। सामाजिक संघ स्थानीय–स्व–सरकार के साधन के माध्यम से कार्य करेगा। (ii) राष्ट्रीय राजनीतिक स्तर पर, यह एक राजनीतिक संघ की स्थापना करना चाहता है जो संसदीय लोकतंत्र और संघवाद की संश्लेषित रचना के माध्यम से कार्य करे। यह उभरकर आने वाला प्रतिदर्श उस संसदीय संघवाद का है जो संघीय राष्ट्र के तीन मूलभूत उद्देश्यों नामतः जबावदेही स्वायत्तता और अखंडता को प्राप्त करने की अपेक्षा करे। (iii) संघीय संघ सुनियोजित राष्ट्रीय आर्थिक विकास के माध्यम से एक आर्थिक संघ की स्थापना की भी अपेक्षा करता है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था अपेक्षा करती है कि क्षमता निर्माण तथा धन, संसाधन, उद्योग और प्रौद्योगिकी के ध्रुवीय संचयन पर रोक के विभिन्न माध्यमों से क्षेत्रों और वर्गों के बीच श्रेणीबद्ध असमानता समाप्त हो। आर्थिक संघ परिसंघ की प्रत्येक इकाई के लिए न्यूनतम स्तर वाला खेल का मैदान उपलब्ध करने की अपेक्षा करता है।

इस संदर्भ में यह चर्चा की जा सकती है कि संस्थापक पूर्वजों ने विशेष रूप से संघवाद को राष्ट्र निर्माण के उपस्कर के रूप में देखा था, अतः राजनीतिक तंत्र को पर्याप्त रूप से लचीला और राष्ट्रीय विकास में प्रजा द्वारा अपनाए जाने योग्य बना दिया था। यह राष्ट्रीय विकास की अनिवार्यताओं और राष्ट्रीय एकता और अखंडता के रखरखाव के इसीलिए अनुरूप है कि संघवाद की स्थिति समय–समय पर बदलती रहती है। भारतीय संघवाद किसी अकेले सामान्यीकरण अथवा विशिष्टीकरण की अवज्ञा करने के लिए पर्याप्त जटिल है। श्रेष्ठतम स्थिति यह है कि कोई भी इसे 'संघवत् संघीय तंत्र' के रूप में विशिष्ट रूप दे सकता है। इस प्रकार का राजतंत्र में आमतौर पर द्वैत संघवाद (जैसे लाभांश, सुंप्रभता)

सहयोगी–सहयोगी संघवाद (सामूहिकवाद का प्रतिदर्श जहाँ संघ और राज्य उभयनिष्ठ चिंतन के मुद्दों को सामूहिक रूप से उठाते है और उन पर निर्णय लेते हैं); और पारस्परिक निर्भर संघवाद (पारस्परिक निर्भरता प्रतिदर्श, यदि राज्य आर्थिक सहायता के लिए संघ सरकार पर बुरी तरह निर्भर करते हैं तो संघ सरकार भी अपनी नीतियों और कार्यक्रमों के कार्यान्वियन के लिए राज्यों पर निर्भर करती है) के लक्षणों को स्वयोजित करता है।

3.1.4 भारतीय संघवाद के मुख्य लक्षण

संघवत् संघीय राज्यतंत्र दो अंतर्निहित प्रवृत्तियों नामतः संघीकरण और क्षेत्रीकरण के अनिवार्य संतुलन के लिए पूर्वानुमान करता है। संघीकरण प्रक्रिया भारतीय संघवाद को उस समय अद्वैतवादी लक्षणों सामान्यतया जिनका केंद्रीकृत संघवाद के रूप में हवाला दिया जाता है को अंगीकार करने की अनुमति देती है जब एक तरफ राष्ट्रीय एकता, भारत की अखंडता और क्षेत्रीय संप्रभुता को बनाए रखने तथा दूसरी तरफ राज्यों में संवैधानिक–राजनीतिक व्यवस्था के रखरखाव को स्पष्ट खतरा हो। तथापि संघ की बोधगम्यता का विशेषाधिकार तथा 'धमकी' की परिभाषा निरपेक्ष नहीं हैं। यह उच्चतम–न्यायालय की समीक्षा के अध्यधीन है। यह एस॰आर॰ बोम्बई मामले में उच्चतम न्यायालय के विनियमन से पूर्णरूपेण स्पष्ट हो चुका है। केवल असामान्य स्थिति (जैसा कि आपात्कालीन उपबंधों की भावना में निहित है) में भारतीय संघवाद अद्वैतवादी स्वरूप को ग्रहण करता है। तथापि, इससे भी अधिक संघीकरण प्रक्रिया संवैधानिक तौर पर संघ सरकार पर लागू होती है जिसके पास मिश्रित अर्थव्यवस्था के साधनों और उपायों तथा राज्य विनियमित कल्याणकारी नियोजन के माध्यम से क्षेत्रीय और सामाजिक क्षेत्रकों में संतुलित आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन प्राप्त करने का अतिरिक्त उत्तरदायित्व होता है। इस प्रयास में संविधान संघ सरकार के सहयोगी भागीदार के रूप में राज्यों की भूमिका निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त, संघीकरण प्रक्रिया की कोई और अधिक राजनीतिक अर्थ और सुसंगतता नहीं है।

संघीकरण सिद्धांतों के साथ भारत का संविधान 'क्षेत्रवाद' और 'क्षेत्रीकरण' को भी राष्ट्र निर्माण और राज्य के गठन के वैध सिद्धांतों के रूप में मान्यता देता है। संवैधानिक उपबंधों की एक गहन संवीक्षा से पता चलता है कि भारत का संविधान शक्ति वितरण की विभिन्न अवस्थाओं वाले बहुस्तरीय अथवा बहुपर्त्तीय संघ के गठन को स्वीकृति और मान्यता देता है। बहुपर्त्तीय संघ में संघ, राज्य, उपराज्यीय संस्थागत प्रबंध जैसे क्षेत्रीय विकास, स्वायत्त परिषदें और निम्न स्तरों पर स्थानीय स्व–शासन की इकाइयाँ शामिल हैं। संघ और राज्य मिलकर संघीय अपसंरचना का गठन करते हैं तथा शेष दो घटक संघीय अवसंरचना का निर्माण करते हैं। प्रत्येक स्तर पर संवैधानिक रूप से गठित विनिर्दिष्ट संघीय कार्य होते हैं, जिन्हें वे लगभग एक दूसरे से स्वतंत्र निष्पादित करते हैं। तथापि अपसंरचना का अब उपसरंचनाओं पर कतिपय वित्तीय और राजनीतिक नियंत्रण होता है। उपसंरचना को विभागीय विधियाँ दो अपसंरचनाओं द्वारा निर्मुक्त की जाती है। क्षेत्रीय परिषदों के कई निर्णय संबद्ध राज्यों के अनुमोदन के अध्यधीन होते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि भारत का संविधान सक्षमता के सममितिक और असमितिक दोनों प्रकार के वितरण को प्रोत्साहित करता है। यह बहुरंगी व्यवस्था संघ के सभी राज्यों के प्रति सममितिक अनुप्रयोग के साथ शक्ति वितरण का सामान्य सिद्धांत अवनिर्धारित करती है। तदोपरांत संघ और चुनिंदा राज्यों के बीच सक्षमता के विशेष वितरण और शक्ति सहभागिता प्रबंधन के लिए उपबंध हैं। संविधान में अनुच्छेद 370, 371, 371–क से ज, पाँचवीं और छटी अनुसूचियाँ जैसे कई उपबंध हैं जो विशेष प्रकार के संघ–राज्य संबंधों की अनुमति देते हैं। संक्षिप्त में, ये उपबंध कई संघीय नियमों के अनुप्रयोग को सीमित करते है, संसद और समृद्ध राज्य विधायिकों की विधि निर्माण शक्ति को प्रभावित करने वाले संसदीय कार्यों के अनुप्रयोग की क्षेत्रीय सीमा का परिसीमन करते हैं और कुछ राज्यों जैसे अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम, असम, मणिपुर, नागालैंड, जम्मू व कश्मीर, महाराष्ट्र और गुजरात में विशेष शक्तियों और उत्तरदायित्व वाले राज्यपाल के कार्यालय पर लागू होते हैं। यदि हम उपरिचर्चित संविधान के उपबंधों की सूक्ष्मता से जाँच करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में संघवाद प्रजातीय विविधता और प्रजातीय माँगों जैसे दीवानी और फौजदारी न्याय आदि के प्रशासन में परंपरागत कानून के अनुप्रयोग को समायोजित करने के लिए स्वरबद्ध किया गया है। नीतियों के गठन में प्रजातीय स्वरूप को समायोजित करने का कारण यह है कि संविधान विशेष रूप से सृजित संस्थाओं जैसे स्वायत्त क्षेत्रीय और जिला परिषदों के माध्यम से प्रजातीय स्वशासन की अनुमति देता है। ऐसी दर्जनों परिषदें पूर्वोत्तर क्षेत्रों और भारत के अन्य हिस्सों में विद्यमान हैं। ये परिषदें देशी पहचान और विकास के संरक्षण और प्रोत्साहन की अपेक्षा करती हैं। चौथे स्तर स्वशासन की इकाइयाँ विद्यमान हैं। 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों के पारित होने के बाद, भारत का संविधान गांव और नगरपालिका स्तरों पर अपनी शक्तियों और प्राधिकारों को और अधिक संघीकृत करता है। पंचायत राज संस्थान प्रमुखतः विकासोन्मुखी कार्य कर रहे हैं। प्रत्यक्ष चुनाव से गठित पंचायतों और नगरपालिका निकायों से (प) सड़क, परिवहन आदि जैसी विकास की अवसंरचना का निर्माण करने; (पप) सामुदायिक परिसंपत्तियों का निर्माण और रखरखाव करने; (पपप) लघु सिंचाई के प्रबंधन और नियंत्रण तथा जल प्रबंधन, भूमि संरक्षण और भूमि सुधार के माध्यम से कृषिक विकास को बढ़ावा देने; (पअ) सामाजिक वृक्षारोपण, पशुपालन, दुग्ध और मुर्गीपालन उद्योग को बढ़ावा देने; (अ) ग्रामीण उद्योग के विकास को बढ़ावा देने; और (अप) स्थानीय स्तर पर शिक्षा और स्वास्थ्य के प्रबंधन और नियंत्रण की अपेक्षा की जाती है

संक्षिप्त में पंचायत राज संस्थाएँ स्व–शासन के लिए लोगों को शक्ति संपन्न बनाने की संस्थाएँ हैं। संघीय दृष्टिकोण से पंचायत राज्य संस्थानों, राज्य और केंद्र के बीच रिश्ता 'एक के प्रति एक' आधार पर विद्यमान है। जहाँ केंद्र की बहुत सी विकास योजनाएँ राज्य के हस्तक्षेप के बिना पंचायतें द्वारा लागू की जाती हैं, वहीं राज्य सरकार अपनी विकास योजनाओं और बजट का कुछ प्रतिशत पंचायतों को आबंटित करती हैं।

उपर्युक्त से इस तथ्य का पता चलता है कि भारत में संघवत् संघवाद अवश्यमेव क्षेत्रीय विकेंद्रीकरण के आधार पर कार्य करता है जो केंद्रीय परिसर और संघवाद के गैर–केंद्रीकरण प्रतिदर्शों को आपस में जोड़ता है। यदि भारत में संघवाद प्रतिष्ठित संदर्भ से अमेरिकी संघवाद के प्रति अंतरित होता है तो यह मात्र विविधताओं को समायोजित करने तथा राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के प्रयोजनार्थ है। परंतु इससे किसी भी प्रकार संघीय शासन के सहभागिता स्वरूप पर कोई फर्क नहीं पड़ता है। ऐसा इसके बहुपर्त्तीय होने के कारण है जिसे कोई भी शक्ति वितरण की सममितिक और असममितिक दोनों व्यवस्थाओं में पा सकता है।

3.1.5 संघ' शब्द का अर्थ और प्रभाव

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 1 भारत को राज्यों के संघ के रूप में घोषित करता है जिससे भारत के संघ और उसकी एकता के अविनाशी होने का पता चलता है। निहितार्थ यह है कि किसी भी इकाई के पास छोड़ने का अधिकार नहीं है भारत की विद्यमान आंतरिक सीमाओं के विभाजन, विलय और रूपांतरण से राज्यों का गठन करना संघ का एक मात्र विशेषाधिकार है। संघ के पास भारत के संघ में नये क्षेत्र का शामिल करने का अधिकार होता है। आज भारत 28 राज्यों और 7 संघीय राज्य क्षेत्रों से मिलकर बना है। कुल मिलाकर, भारत के संघ ने राज्य के गठन के चार संस्थागत सिद्धांतों पर अपनी इकाइयों को मान्यता दी है। राज्य पुनर्गठन आयोग (1955) द्वारा यथा–अवधारित सिद्धांतों में शामिल हैं: (प) भारत की एकता और सुरक्षा को संरक्षित और मजबूत करना; (पप) भाषाई और सांस्कृतिक एकरूपता; (पपप) वित्तीय, आर्थिक और प्रशासनिक पहलुओं पर विचार करना; और (पअ) राष्ट्रीय योजना का सफल प्रचालन। भारत ने 'अभिज्ञात सीमा' और 'प्रशासनिक सीमा' के सापेक्ष समरूपता के आधार पर अपनी इकाईयों के पुनर्गठन का यथासंभव प्रयास किया है। भाषा, संस्कृति और परिस्थिति विज्ञान का पुनर्गठन की सतत प्रक्रिया पर निर्णायक प्रभाव होता है। यद्यपि संघ को राज्य के गठन का एक मात्र विशेष अधिकार है, तब भी ऐसा प्रभावित राज्यों की विधान सभा द्वारा पारित संकल्प के आधार पर किया जाता है।

शब्द 'संघ' का एक और निहितार्थ यह है कि भारतीय संघवाद दो पहले से ही विद्यमान संप्रभु सत्ताओं के बीच सुसंहत ;बवउचंबजमकद्ध संघवाद नहीं है। यह संघ राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान पोषित, मात्र भारत की जनता के एकीकृत संकल्प से अस्तित्व में आया है। संभवतया यही कारण है कि उच्च सदन (राज्य सभा) जिससे संघ की इकाईयों के हितों का प्रतिनिधित्व करने की उम्मीद की जाती है, संतुलित (बराबर) प्रतिनिधित्व नहीं करता। यह जनसंख्या आकार के समानुपाती आधार पर गठित है। जनसंख्या आकार के अनुसार, प्रत्येक राज्य को राज्य सभा में सापेक्ष संख्या में सीटों का आबंटन किया गया है। इस प्रकार जहाँ उत्तर प्रदेश के पास 31 सीटें हैं वहीं मणिपुर, गोवा जैसे छोटे राज्यों को मात्र एक सीट आबंटित की गई है।

शब्द 'संघ' के तर्कसंगत परिणामस्वरूप, संघ और इसकी संघटक इकाइयाँ एकमात्र संविधान द्वारा विनियंत्रित हैं। प्रत्येक इकाई एक ही संविधान से अपना प्राधिकार प्राप्त करती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि संघ और राज्यों के पास संविधान के आवश्यक अथवा मूलभूत स्वरूप को बदलने के लिए मौलिक प्राधिकार नहीं हैं। संघ और राज्यों के विधायी प्रकार से संवैधानिक उद्देश्यों को प्राप्त करने तथा संघ और राज्य के सुचारू प्रशासनिक कार्यचालन को आसान बनाने के लिए उपायों में संशोधन की शक्ति है परंतु उसे एक पक्षीय तौर पर प्रयोग नहीं किया जा सकता है। सातवीं अनुसूची की तीन सूचियों में प्रविष्टियों का संशोधन, संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व, अनुच्छेद 368 में यथा अवधारित संशोधन के उपबंध और क्रियाविधि, संघ न्यायपालिका और राज्यों के उच्च न्यायलय से संबधित विधायी सम्बन्ध, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का चुनाव, संघ और राज्यों की कार्यकारी शक्तियों की सीमा, संघ राज्य क्षेत्रों के लिए उच्च–न्यायालयों से संबधित उपबंध जैसे अनेक उपबंध हैं जिन्हें संघ के न्यूनतम आधे राज्यों के समर्थन और अनुमोदन के बिना संघ संसद द्वारा संशोधित नहीं किया जा सकता। इससे राज्यों के संघ के बराबर संघीय आधार का पता चलता है।

एक अखंड संघीय संघ प्रास्थिति और अवसर की समानता के सिद्धांत के आधार पर संघीय राष्ट्र का सृजन करता है। इस प्रकार भारत में किसी को दोहरी नागरिकता प्राप्त नहीं हो सकती। सांस्कृतिक रूप से भारत के लोग और विविध हो सकते हैं परंतु राजनीतिक तौर पर वे एक राष्ट्र एक सुसभ्य–राजनीतिक राष्ट्र का निर्माण करते हैं। ऐसे राष्ट्र का एक सर्वनिष्ठ अखिल भारतीय प्रशासनिक और न्याययुक्त फ्रेमवर्क होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि संघटक इकाइयों का अपना निजी प्रशासनिक तंत्र नहीं हो सकता। अखिल भारतीय सेवाएँ संघ और राज्य के लिए सार्वजनिक है। उनका मूलभूत कार्य कुल मिलाकर भारत के क्षेत्र की सीमाओं में संघ के हितों को प्राप्त करना है। संविधान के अनुच्छेद 312 में प्रावधान है, ''यदि राज्य परिषदों ने विद्यमान और मतदान कर रहे कम से कम दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्पित संकल्प

द्वारा घोषणा की है कि ऐसा करना राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक अथवा समीचीन है, उस स्थिति में संसद कानून बनाकर संघ और राज्यों के लिए एक अथवा एक से अधिक सार्वजनिक अखिल भारतीय सेवाओं का प्रावधान कर सकती है।'' ये संघवत् संघवाद के कुछ सामान्य लक्षण हैं। भारतीय संघवाद में संघीय शक्तियों के केंद्रीकरण के दो व्यापक प्रकार मिलते है परिस्थितिजन्य और सामंजस्य पूर्ण। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संविधान ने केंद्र को 'आंतरिक कलह' और 'बाहरी खतरा जैसे युद्ध और आक्रमण से संरक्षण के लिए महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ सौंपी हैं। आंतरिक कलह मे प्राकृतिक आपदा की स्थिति में भौतिक विफलता, राजनीतिक और संवैधानिक, विफलता तथा वित्तीय–आर्थिक संकट शामिल हैं। अनुच्छेद 352 से 360 तक कतिपय आपत्कालीन स्थितियों और संघीय व्यवस्था कार्यचालन पर उसके प्रभाव के बारे में हैं। संविधान, यहाँ 'सुरक्षा बाल्व' के सिद्धांत को मान्यता देता है जिसके उद्देश्यों में निम्नवत् शामिल है :

1. बाहरी आक्रमण, आंतरिक आक्रमण, विनाशकारी आतंकवादी गतिविधियाँ और राज्य के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह से संघ की इकाइयों का संरक्षण।
2. संविधान का अभिरक्षण : इसके कारण, संवैधानिक राजनीतिक व्यवस्था पुनः प्रतिष्ठापित होती है। जो अन्यथा गलत प्रशासन, मंत्रालयीन/लिपिक वर्गीय (डपदपेजतपंस) संकट (अस्पष्ट मतदाता चुनाव अथवा निलंबित संसद/ विधानसभा अथवा बार–बार दल बदल और दल व्यवस्था की विफलता के कारण शासकीय अस्थिरता), प्राकृतिक आपदाएँ और इसी प्रकार की अन्य भौतिक तथा राजनीतिक अव्यवस्था।
3. संघीय राष्ट्र की एकता और अखंडता का संरक्षण : संघ इस स्थिति में राज्य सरकार की शक्तियों को स्वंय ग्रहण कर सकता है जब कोई विशेष राज्य सरकार स्वंय भारत की क्षेत्रीय अखंडता के विरूद्ध जाती है अथवा राज्य मे संवैधानिक प्रक्रिया समाप्त हो सकती है।
4. संघ और प्रांतों को वित्तीय संकट और आर्थिक अव्यवस्था से बाहर लाना : वित्तीय आपातकाल का सार सर्वोत्कृष्ट तथ्य की इस प्राप्ति में निहित है कि देश की आर्थिक संरचना एक और अविभाज्य है। यदि कोई राज्य वित्तीय रूप से अभावग्रस्त है तो यह केंद्र के वित्त को प्रभावित करेगा, यदि केंद्र त्रस्त है तो सभी राज्य संकटग्रस्त हो जाएँगे। इस प्रकार राज्यों और केंद्र की अंतरनिर्भरता इतनी

विशाल है कि देश की संपूर्ण वित्तीय अखंडता एक है और ऐसा समय आ सकता है जब निरपेक्ष रूप से एकात्मक नियंत्रण की आवश्यकता पड़े।'' के॰एम॰ मुंशी ने 16 अक्टूबर 1949 को संविधान सभा में कहा था।

परिस्थितिजन्य केंद्रीकरण का एक अन्य आयाम भी है। राज्य परिषद् (राज्य सभा) के संकल्प पर, संघ संसद राज्य सूची में दिए गए किसी मामले के संबंध में अथवा भारत क्षेत्र के संपूर्ण अथवा किसी हिस्से के लिए संकल्प में यथानिर्दिष्ट कानून बना सकती हैं।

भारतीय संघवाद का एक अन्य लक्षण यह है कि यह *सहमति द्वारा केंद्रीकरण अथवा सामंजस्यपूर्ण केंद्रीकरण* के लिए प्रावधान करती है। अनुच्छेद 252 में प्रावधान है,'' यदि दो या दो से अधिक राज्यों की विधान सभाओं को यह वांछनीय प्रतीत होता है कि ऐसा कोई मामला जिसके बारे में संसद को अनुच्छेद 249 और 250 में यथाप्रदत्त को छोड़कर राज्यों के लिए कोई कानून बनाने की शक्ति नहीं है, उन राज्यों के लिए संसद द्वारा कानून बनाकर विनियमित किया जायेगा और यदि उन राज्यों की सभी विधान सभाओं द्वारा उस प्रभाव के कोई संकल्प पारित किए जाते हैं तो संसद के लिए तदनुसार उस मामले के विनियमन हेतु कानून पारित करना विधिसंगत होगा।'' इस उपबंध में दो राज्यों के बीच सार्वजनिक चिंतन के मुद्दों को विनियमित करने का उद्देश्य संनिहित है, जो अन्यथा स्थिति में कानून की विविधता और मुद्दों के विविध परिप्रेक्ष्य के कारण संभव नहीं हैं। सामंजस्यपूर्ण केंद्रीकरण केंद्र को राज्य सूची में उन विषयों पर मध्यस्थत करने तथा सार्वजनिक नीति अभिगम का निर्माण करने की अनुमति देता है जिन्होंने राष्ट्रीय अथवा परास्थानीय (ज्तंदेसवबंस) महत्त्व प्राप्त कर लिया है। समर्थकारी उपबंध अंत मुद्दों के बेहतर समन्वयन के लिए प्रावधान करते है।

3.1.6 अंतर–राज्यीय समन्वयन

अंतरराज्यीय और संघ राज्य संबंधों के समन्वयन तथा संघीय तंत्र के सामंजस्य पूर्ण कार्यचालन के लिए संविधान व्यक्त रूप से अंतर राज्यीय परिषद के गठन अथवा अन्य इसी प्रकार के विषयों और क्षेत्रीय विशिष्ट परिषदों के लिए प्रावधान करता है। सबसे पहली अंतरराज्यीय परिषद का गठन 28 मई 1990 को हुआ था। प्रमुखतः एक संस्तुतिकारी निकाय होने के नाते, परिषद से निम्न कर्तव्यों को पूरा करने की अपेक्षा की जाती है।

क) उन विषयों की तलाश करना और उन पर चर्चा करना जिनमें कुछ अथवा सभी राज्य अथवा राज्य, अथवा संघ और एक या एक से अधिक राज्यों का सर्वजनीन हित हो, जैसा उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाए;

ख) किसी विषय पर संस्तुति करना और विशेषकर उस विषय के संबंध में नीति और कार्रवाई के बेहतर समाधान के लिए संस्तुति करना; और

ग) राज्यों के लिए सामान्य हित के उन मामलों पर विचार विमर्श करना जिन्हें अध्यक्ष द्वारा परिषद् को भेजा गया हो।

इस संदर्भ में इस तथ्य की पुनरावृत्ति वांछनीय है कि संघवाद से संबधित सांविधिक उपबंध दुहरे संघवाद के अन्य लक्षणों से बचते हैं। भारतीय संघवाद की मूलभूत लौकिक नीतियों का समन्वयन किया जाता है और जहाँ संघ की सफलता के लिए केंद्र और राज्य बराबर के भागीदार है वहाँ संघ के कार्यों में सहयोग किया जाता है। अधिकांशतः संघीय शक्तियों के केंद्रीकरण और राज्यों की स्वायत्तता पर प्रबंध के लिए केंद्र की अधिभाविता भी परिस्थितिजन्य है। केंद्र उन शाक्तियों का स्वेच्छा से प्रयोग नहीं कर सकता है। पर्याप्त रूप से संसदीय जबाव देही, संवीक्षा, अनुमोदन तथा कानून की उचित प्रक्रिया के अध्यधीन हैं।

3.1.7 सामर्थ्य का वितरण

वित्तीय शक्तियों का वितरण आवश्यक रूप से क्षेत्रीयता की धारणा और तदनुसार विषयों के विशिष्टीकरण पर आधारित है। इस प्रकार स्थानीय हितों के मुद्दों और वे विषय जिनका सीमाओं के पास निहितार्थ नहीं है, राज्य सूची में एक साथ रखे गए हैं। सूची में 62 मुद्दे अथवा प्रविष्टियाँ है जिन पर राज्य सरकार को कानून बनाने और उसे अमल में लाने की अनन्य सामर्थ्य होती है। सूची में सार्वजनिक व्यवस्था और पुलिस, स्थानीय शासन, जन स्वास्थ्य और स्वच्छता, कृषि, जंगल, मछली उद्योग, बिक्रीकर और अन्य कर्तव्य जैसे विषय शामिल हैं। संघ सूची में 96 मुद्दे हैं जो संघीय संसद को विदेशी मामलों, राज्य, मुद्रा, नागरिकता, संचार, बैंकिंग संघ के शुल्क, कर आदि पर कानून बनाने की शाक्ति प्रदान करते हैं।

तथापि, उद्योग, खान और खनिज जैसे ऐसे मुद्दे हैं जो दोनों सूचियों में शामिल हैं। इसका सुस्पष्ट उत्तर प्राप्त करने के लिए भारत की संघीय योजना में उपलब्ध सामर्थ्य के प्रकारों पर चर्चा करनी पड़ेगी। व्यापक तौर पर तीन प्रकार की सामर्थ्य हैः एक, जिस पर सरकारों की अनन्य और विशिष्ट सामर्थ्य होती है। यह इस अर्थ में दुर्लभ है कि रक्षा, विदेश मामले आदि जैसे मुद्दों पर, प्राधिकार का प्रत्यायोजन संघ सरकार द्वारा किया जाता है। दो, उद्योग, खान और खनिज जैसे मुद्दों पर राज्य सरकार की अनन्य परन्तु सीमित सामर्थ्य होती है। इन विषयों पर, इसकी सामर्थ्य, विशाल सार्वजनिक और राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के लिए संघ सरकार द्वारा विनिमयन के अध्यधीन होती हैं। अंततः कुछ समवर्त्ती अधिकार क्षेत्र (तृतीय सूची) के मुद्दे हैं जिन पर संघ की प्रत्येक इकाई की अनन्य परंतु समवर्त्ती सामर्थ्य होती है। विवाद की स्थिति में आमतौर पर संघ का कानून राज्यों के कानूनों पर लागू होता है। गै़र संगठित मद के मामलों में, संघ सरकार को कानून बनाने की अवशिष्ट शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। जहाँ तक कार्यकारी प्राधिकार के वितरण का संबंध है, यह आमतौर पर विधायी शक्तियों के वितरण की योजना का अनुसरण करता है। दूसरे शब्दों में, संघ और राज्य सरकारों की कार्यकारी शक्तियाँ अपनी संबद्ध विधायी सामर्थ्य के साथ सह–विस्तृत हैं। राज्य सरकार के मामले में, विधायी क्षेत्र के ऊपर इसकी कार्यकारी प्राधिकार 'क्षेत्रीय गठबंधन के सिद्धांत' तक गुणात्मक प्रतिबंध के अध्यधीन है। तथापि, जैसा कि डी॰डी॰ वसु टिप्पणी करते हैं, जहाँ कोई नयापन लागू किया गया है वह समवर्त्ती क्षेत्र में आएगा। ''जहाँ समवर्त्ती विधायी सूची (अर्थात सूची 3) में शामिल मामलों का संबंध है, कार्यकारी क्रियाकलाप सामान्यतः राज्य के पास रहेगे परंतु वे संविधान के उपबंधों अथवा संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून के अध्यधीन होंगे जो व्यक्त रूप से ऐसे कार्य संघ को सौंपता है। इस प्रकार, भूमि अधिग्रहण अधिनियन, 1894 और औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (अनुच्छेद 73 का उपन्तुक) के अधीन, केंद्र ने इन दो अधिनियमों से संबधित सभी कार्यकारी क्रियाकलाप स्वंय को सौंपे हुए हैं। तथापि, संघ की कुछ अनन्य कार्यकारी शक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी राज्यों द्वारा अवहेलना अथवा अमान्यता स्थिति में राजनीतिक कार्रवाई की जाएगी क्योंकि यह संविधान का उल्लंघन हैं। इसमें संघ की वे शक्तियाँ शामिल हैं जो राज्य सरकारों को दिशा निर्देश देती हैं; संघीय कानून का उचित अनुपालन सुनिश्चित करती हैं : राज्य की कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग इस तरह सुनिश्चित करती है जिससे संघ की कार्यकारी शक्तियों में हस्तक्षेप न हो, राज्य द्वारा राष्ट्रीय अथवा सैनिक महत्व के संचार साधनों का निर्माण और रखरखाव सुनिश्चित करती हैं; राज्य के भीतर रेलवे की सुरक्षा सुनिश्चित करती हैं; राज्यों में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए आवश्यक निदेशों में विनिर्दिष्ट योजनाओं को तैयार करना और उनका कार्यान्वयन सुनिश्चित करती है; प्राथमिक चरण पर मातृ भाषा में अनुदेश देने के लिए राज्य द्वारा पर्याप्त उपबंध सुनिश्चित करती है और सबसे ऊपर यह सुनिश्चित करती हैं कि राज्य सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार कार्य कर रही है। किसी प्रकार के आपात्काल के दौरान भी, संघ सरकार उस तरीके से निर्देश जारी करने की अपनी शक्ति के माध्यम से विनिमयन कर सकती है जिस तरीके से राज्य की कार्यकारी शक्ति का प्रयोग होता है। दूसरे शब्दों में, राज्य को भारत के संघीय संविधान के अंतर्गत; कतिपय अनिवार्य कर्तव्य सौंपे गए हैं।

केंद्र राज्य प्रशासनिक रिश्ते नीति और नियोजन में विभाजन (किसी विक्रय वस्तु के ऊपर निर्णयों के नियंत्रण और कार्यान्वयन का क्षेत्रीय विभाजन), समन्वयन और सहयोग के सिद्धांत पर आधारित है। कई क्षेत्रों में, यद्यपि केंद्र के पास अनन्य विधायी सामर्थ्य होती है तदपि यह स्वतंत्र निर्णय लेने के लिए आनुषंगिक विधायी और कार्यकारी सामर्थ्य राज्यों को प्रत्यायोजित करती है। केंद्र प्रत्यक्षतः रक्षा, विदेशी कार्य जिनमें पासपोर्ट भी शामिल हैं, संचार (डाक व डाकतार, दूरभाष,) संघ सूची कर और औद्योगिक विनियमन के मामलों पर प्रशासन करता है। संघ सूचियों में शेष मामलों पर, सांविधिक

अथवा कार्यकारी प्रत्यायोजन" के तहत प्रशासनिक कार्य राज्यों द्वारा किए जाते हैं। भारतीय संविधान पर एक भाष्य मे सही इंगित किया गया है कि "अधीनस्थीकरण का कोई घटक प्रतीत नहीं होता है तथापि समय-समय पर सहयोग अनिवार्य किया गया है। संविधान संघ-राज्य प्रशासनिक संबंधों के आवश्यक सभाओं के बारे में बताता है तथा उनके बीच पृथक्कीकरण की कोई दीवार खड़ी नहीं करता है। उत्तरदायित्वों के आवंटन का भी कोई कठोर प्रतिदर्श नहीं है। संघीय संसद संघ सूची मामलों से संबधित कानून के अधीन शक्तियाँ प्रदान कर सकती है और शुल्क लगा सकती हैं। राष्ट्रपति ऐसे किसी मामले के संबंध में जिसे संघ की कार्यकारी शक्ति प्रदान करते हैं, राज्य सरकारों को कार्य सौंप सकता है राज्य अधिशासी कार्य, किसी बात के होते हुए भी, सशर्त अथवा बिना किसी शर्त के केंद्र सरकार को सौंपे जा सकते हैं व्यावहारिक रूप में राज्य संघ सरकार के प्रशासनिक क्षेत्र में भी बड़े पैमाने पर अधिशासी प्राधिकार का प्रयोग करते हैं क्" (*कागजी का भारत का संविधान,* खंड 1, 2001)।

संघ और राज्य के बीच वित्तीय संबंध संसाधनों की सहभागिता और न्याय संगत वितरण पर आधारित है। संविधान "कर उद्ग्रहण के लिए विधायी शक्ति तथा इस प्रकार उद्ग्रही कर के आगम के विनियोग के लिए शक्ति के बीच अंतर भी रखता है। केंद्र और राज्यों को करों के अधिरोपण और उद्ग्रहण के लिए कतिपय मुद्दे सौंपे हुए हैं। संघवाद की इकाईयो में किसी को भी करों के अधिरोपण और ऋण के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए भी उपबंध किए गए है।" सहायता अनुदान की राशि संसद द्वारा निश्चित की जाती है। किसी राज्य द्वारा अपने राज्य में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण को बढ़ावा देने के प्रयोजनार्थ केंद्र के पूर्व अनुमोदन से आरंभ की गई विकास परियोजना अथवा अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के स्तर को उठाने के लिए केंद्र द्वारा सहायता अनुदान के रूप में कोष दिया जाता है जो भारत की समेकित निधि पर प्रभावित होता है।

वित्तीय सामर्थ्य के आवंटन में, प्रत्येक इकाई को अनन्य करों की स्वीकृति दी गई है। संघ को अनन्य करों की सूची मे सीमा शुल्क, निगम कर, व्यष्टियों तथा कंपनियों की परिसंपत्तियों के पूँजी मूल्य पर कर, आयकर पर अधिकार आदि शामिल है। इसी प्रकार राज्यों को अनन्य करों में भूमि राजस्व, स्टाम्प शुल्क, उत्तराधिकार और संपदा शुल्क, कृषि भूमि पर आय पर बिक्री कर (यह अब मूल्य संवर्धित कर की नई प्रणाली द्वारा अनुपूरित किया जा रहा है) आदि शामिल है। इस तथ्य के बावजूद कि राज्य द्वारा विभिन्न कर संसाधनों से प्राप्त राजस्व की मात्रा उसके बजट और योजना प्रस्तावों को पूरा करने के लिए काफी पर्याप्त सिद्ध नहीं हो सकती है, संविधान में संघ द्वारा अर्जित करों के आगम के विभाजन का प्रावधान है। संग्रहण, विनियोजन और विभाजन का तरीका एक मामले से दूसरे मामले में बदल सकते हैं। इस प्रकार जबकि कुछ शुल्क जैसे स्वास्थ्य शुल्क तथा चिकित्सीय तथा प्रसाधन सामग्री पर उत्पाद शुल्क यद्यपि संघ सूची में है, संघ द्वारा उद्ग्रही किए जाते है परंतु राज्यों द्वारा संग्रही एवं विनियोजित होते हैं। (अनुच्छेद 268)। वस्तुओं की बिक्री और खरीद पर कर और वस्तुओं की सुपुर्दगी पर कर संघ द्वारा उद्ग्रहीत और संग्रहित होते हैं परंतु आगम तदोपरात्त उन राज्यों को सौंपे जाते हैं जिनके भीतर उनका उद्ग्रहण किया गया है। कुछ कर जैसे ग़ैर कृषि आय पर कर, उत्पाद शुल्क संघ सूची में शामिल हैं परंतु चिकित्सीय और प्रसाधन सामग्री संघ पर उत्पाद शुल्क द्वारा उद्गीत और संगृहीत किए जाते हैं और तदोपरांत निश्चित अनुदान में संघ और राज्यों के बीच विभाजित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, संघ और राज्यों को ग़ैर-कर राजस्व की अलग सौंपे गए हैं। संघ के ग़ैर-राजस्वों के प्रमुख ोत रेलवे, डाक एवं तार, संघ के पास औद्योगिक और वाणिज्यिक उपक्रमों जैसे एअर इंडिया, इंडियन एअर लाएंस आदि हैं। इसी प्रकार राज्य के ग़ैर-कर राजस्व में जंगलों, सिंचाई तथा वाणिज्यिक उद्यमों जैसे विद्युत, सड़क परिवहन तथा औद्योगिक उपक्रमों अर्थात साबुन, चंदन, कर्नाटक लोहा और इस्पात, मध्य प्रदेश में कागज, मुम्बई में दुगध आपूर्ति, गहरे समुद्र में मछली पकड़न तथा पश्चिम बंगाल में रेशम शामिल है।

यह सच है कि राज्य का कर आधार राज्य के सभी खर्चों और विकास अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए काफी पर्याप्त नहीं हैं। यह भारतीय अर्थव्यवस्था के समग्र स्वरूप के कारण है। जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, संघीय संघ ऐसे सूक्ष्मत एकीकृत आर्थिक संघ को प्रतिष्ठापित करने की अपेक्षा करता है जहाँ संघ को राष्ट्र के सामाजिक आर्थिक पुनर्गठन का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सौंपा गया है। अर्थव्यवस्था राष्ट्रीय है जहाँ क्षेत्रीय विकास की देखभाल संघ द्वारा की जाती है इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए संघीय वित्त पोषण को निर्देशित किया जाता है। तथापि, समुदाय, वर्ग और क्षेत्रों के बीच आर्थिक असंतुलनों को दूर करने के लिए हमेशा पर्याप्त सावधानी रखी जाती है। संघ के विभिन्न विशेष सहायता कार्यक्रमों के माध्यम से समाज के पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए भी विशेष सावधानी रखी जाती है।

3.1.8 संघीय तंत्र की कार्यप्रणाली

संविधान के कार्यान्वयन के प्रथम चार दशकों के दौरान, भारत में संघवाद ने प्रबल केंद्रीकृत प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया जिसमें संघ सरकार ने अपनी संवैधानिक सामर्थ्य से अधिक शक्तियों का संचयन किया। यह सत्य है कि संविधान संघ मे संघीय शक्तियों के परिस्थितिजन्य केंद्रीकरण की अनुमति देता है परंतु यह कभी भी सामान्य स्थिति में भी राज्यों की संघीय स्वायत्तता और शक्तियों का निलम्बन नहीं करता है केन्द्र ने किस प्रकार राज्यों की स्वायत्तता में हस्तक्षेप किया है?

संघ सरकार ने अतिक्रमण के कई तरीके अपनाए: सर्वाधिक इसकी यह परिभाषित करने की शक्ति है कि क्या राष्ट्रीय है और क्या लोक हित है। इस विशेषाधिकार को अक्सर विधायी सामर्थ्य की वृद्धि के लिए तथा राज्य सूचियों के मामलों में राज्य की विधायी शक्तियों के अतिक्रमण के लिए प्रयुक्त किया है। सातवीं सूची केवल मुख्य विषयों की प्रविष्टि करती हैं वर्षों से केंद्र ने मुख्य विषयों को प्रभावी करने अथवा व्यापक लोक हित में विशेष मुद्दे पर राष्ट्रीय एकरूपता प्राप्त करने के लिए आनुसंगिक मामलों/विषयों पर कानून बनाने की परंपरा विकसित की है। परिणामस्वरूप, केंद्र ने उन विषयों पर भी अधिक्रमण किया है जो मूलतः राज्यों को सौंपे गए थे। उदाहरण के लिए, "संघ सूची की प्रविष्टि 52 (उद्योग) और 54 (खान और खनिजों के विकास का विनियमन) के कारण संसद द्वारा पारित अधिनियम विशिष्ट उदाहरण हैं। प्रविष्टि 52 के तहत, संसद ने (उद्योग विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 को पारित किया है। परिणामस्वरूप, संघ अधिनियम की अनुसूची 1 में उल्लिखित उद्योगों की विशाल संख्या पर अब नियंत्रण रखता है। इसका संवैधानिक प्रभाव यह है कि इस अधिनियम के कारण संघ द्वारा रखे गए नियंत्रण की सीमा तक, राज्य सूची की प्रविष्टि 24 के अंतर्गत 'उद्योग' विषय के संबंध में राज्य विधायिकों की शक्ति कम हुई है।" इस अधिनियम से कृषि उत्पादों जैसे चाय, काफी आदि को केंद्रीय विनियमन के तहत लाया गया है। इसी प्रकार, संसद ने, संघ सूची की प्रविष्टि 54 के अधीन लोकहित की अपेक्षित उद्घोषणा करके, खान और खनिज (विकास एवं विनियमन) अधिनियम, 1957 को अधिनियमित किया है। इसका विधिक प्रभाव यह है कि इस अधिनियम द्वारा लागू सीमा तक "राज्य सूची की प्रविष्टि 23 (खान और खनिज विकास अधिनियमन) के अधीन राज्य विधायिकाओं की विधायी शक्तियाँ बेदखल हो गई हैं" केंद्र राज्य संबंधों के ऊपर सरकारिया आयोग की टिप्पणी है। परिणामस्वरूप, लगभग 93 प्रतिशत संगठित उद्योग प्रत्यक्ष रूप से संघ के नियंत्रण में आ गए हैं।

संविधान की सातवीं अनुसूची के अंतर्गत, संघ सरकार ने विलोपन, संवर्धन और अंतरण के द्वारा विभिन्न संशोधन अधिनियमों के माध्यम से केंद्र और राज्य के बीच सामर्थ्य के वितरण में परिवर्तन किए हैं। इस प्रकार बयालसीवें संशोधन अधिनियम ने राज्य सूची की प्रविष्टि 2 (शिक्षा), 19 (जंगल), 20 (वन्य जीवन का संरक्षण), 29 (वजन और मापन) तथा सातवें संशोधन अधिनियम ने प्रविष्टि 36 (संपत्ति का अधिग्रहण अथवा अधियाचन) को हटा दिया है। परिणामत; राज्य सूची में मूलतः जोड़े गए 66 विषयों के स्थान पर अब मात्र 61 विषय हैं। दूसरी तरफ बयालीसवें संशोधन अधिनियम ने अंतरण के माध्यम से समवर्त्ती सूची में चार विषय जोड़े हैं। इनमें 11 क (न्याय का प्रबंधन), 17 क (जंगल), 17 (ख) (जंगली पशुओं और पक्षियों का संरक्षण), 20 क (जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन) तथा 33 (वजन और मापन) शामिल हैं, इसके अतिरिक्त, प्रविष्टि 25 (शिक्षा) और 33 (व्यापार और वाणिज्य) में महत्त्वपूर्ण प्रतिस्थापन किए गए। परिणामस्वरूप समवर्त्ती सूची में हमारे पास 51 प्रविष्टियाँ हैं। संघ सूची में, हमें तीन महत्वपूर्ण प्रविष्टियाँ मिलेगी : 2 क (सशस्त्र बलों का नियोजन), 92 क (अंतर राज्यीय व्यापार और वाणिज्य के दौरान वस्तुओं की बिक्री और खरीद पर कर) तथा 92 ख (वस्तुओं की सुपुर्दगी पर कर)

इसके अतिरिक्त प्रतिस्थापन विधि से, केंद्र ने अपने 'उत्कृष्ट क्षेत्र में वृद्धि की है। इसी के साथ "योजना आयोग के माध्यम से केंद्रीकृत नियोजन एक ऐसा षडयंत्रकारी उदाहरण है जिसके माध्यम से संघ की भूमिका का कई क्षेत्रों में विस्तार हुआ है जैसे कृषि, मछलीपालन, भूमि और जल संरक्षण, लघु सिंचाई, क्षेत्रीय विकास, ग्रामीण निर्माण एवं गृह निर्माण आदि जो अनन्यतः राज्य क्षेत्र में आते हैं।" डी॰डी॰ वसु द्वारा सही संकेत दिया गया है कि "योजना आयोग के क्रिया कलाप मात्र रक्षा और विदेश कार्यों को छोड़कर धीरे-धीरे प्रबंधन के संपूर्ण क्षेत्र में इस कदर बढ़ गए हैं कि किसी समालोचक ने इसका "कुल मिलाकर संपूर्ण देश के आर्थिक मंत्रिमंडल" के रूप में वर्णन किया। एक सलाहकारी समिति होने के बावजूद, इसके राजनीतिक और नौकरशाही निशानों ने राज्यों के संघीय अनुदानों के स्वरूप को शीर्षाभिमुख कर दिया है अब यह नियामक निकाय के रूप में अधिक प्रतीत होता है जो संघ के आदेश पर राज्यों को संसाधनों के अंतरण के राजनीतिकरण को कमजोर कर रहा है।

संस्थापक पूर्वजों की बुद्धिमत्ता के प्रतिकूल, अनुच्छेद 356 का 100 बार से अधिक प्रयोग, गलत प्रयोग, दुरुपयोग और अधिप्रयोग किया गया है। एक लक्ष्यपरक आकलन के आधार पर, यह लगभग 30 बार 'संविधान के रखरखाव के लिए प्रयुक्त किया गया है तथा उससे शेष बार केंद्र में शासक दल द्वारा, आमतौर पर, आदेश पर राजनीतिक संख्या के निपटान के लिए इसका दुरूपयोग किया गया है। इसके दुरुपयोग का सबसे हानिकारिक पहलू यह है कि अधिकांश मामलों में इसके संसदीय लोकतंत्र और संघवाद के मौलिक रूप की अवहेलना की गई है। यह अनुच्छेद इसके दुरुपयोग पर रोक लगाने के लिए व्यापक मानदंड अवधारित करने की अपेक्षा करता है। इस संबंध में सहकारिता आयोग की सिफारिशों के अलावा एस॰आर॰ बोम्बई बनाम भारत संघ (1994) के ख्याति प्राप्त मामले में यहाँ (उच्चतम न्यायालय की) न्यायिक उद्घोषणा चर्चा के योग्य है। न्यायालय ने निर्णय दिया था कि राष्ट्रपति की संतुष्टि, भले ही स्वरूप से लक्ष्यपरक हो, इस अनुच्छेद का सार है। तथापि, राष्ट्रपति की संतुष्टि कुछ सुसंगत तथा वस्तुपरक सामग्री पर आधारित होनी चाहिए। राष्ट्रपति की शक्ति सशर्त है और स्वरूप से निरपेक्ष नहीं है। यदि न्यायालय राष्ट्रपति की उद्घोषणा को निरस्त करता है, तो उसे बर्खास्त सरकार को कार्यालयीन करने तथा विधान सभा को पुनर्जीवित करने तथा पुनः क्रियाशील बनाने की शक्ति होती है। जब तक उद्घोषणा का दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन नहीं हो जाता तब तक विधान सभा को

भंग नहीं किया जाना चाहिए अपितु उसे निलंबित स्थिति में रखना चाहिए, उद्घोषणा के संसदीय अनुमोदन पर बर्खास्त सरकार को राज्य में बहाल करना चाहिए' तथापि, राज्य की धर्मनिरपेक्षता पर न्यायालय की टिप्पणी दूरगामी महत्व की है न्यायालय ने निर्णय दिया: ''धर्म निरपेक्षता संविधान के मौलिक लक्ष्यों में से एक है। जबकि भारत में सभी व्यक्तियों के लिए धर्म की स्वतंत्रता अभिनिश्चित है, राज्य के दृष्टिकोण से, किसी व्यक्ति का धर्म, विश्वास अथवा आस्था नगण्य है। राज्य के लिए सभी बराबर है और बराबरी का व्यवहार किए जाने के लिए हकदार है। राज्य के मामले में धर्म को नहीं मिलाया जा सकता है। कोई राज्य सरकार जो अधर्मनिरपेक्ष नीतियों अथवा अधर्मरिनपेक्ष कार्रवाई पर प्रतिक्रिया करती है, संवैधानिक आदेश के प्रतिकूल कार्य करती है तथा अनुच्छेद 356 के अधीन स्वयंमेव सहज कार्रवाई के लिए प्रस्तुत होती है।'' इसके दुरूपभोग को रोकने के लिए दुहरी कार्रवाई अपेक्षित है: (1) राष्ट्रपति और राज्यपाल द्वारा इस शक्ति के प्रयोग में नियम और समागम द्वारा अधिकतम, वस्तुपरकता और पारदर्शिता सुनिश्चित करना, और (2) उन अवधारित आधारों को संहिताबद्ध करना जो इस अनुच्छेद पर लागू हो सकते हैं। इसके प्रतिबंधित प्रयोग को सुनिश्चित करने के लिए, इस अनुच्छेद के अंतर्गत मौलिक उद्देश्य राज्य में संवैधानिक व्यवस्था कायम करना होना चाहिए।

राज्यपाल द्वारा राज्य विधेयकों का आरक्षण, संघ और राज्य के बीच संसाधनों का वित्तीय आबंटन, राज्यपाल के प्रतिष्ठान का बढ़ता हुआ राजनीतिकरण और व्यक्तिपरकता, संघ के दिशा निर्देश, अर्द्धसैनिक बलों का नियोजन आदि जैसे कई अन्य समालोचनायोग्य क्षेत्र हैं जिन्होंने संघ–राष्ट्र संबंधों के सहज कार्यचालन को प्रभावित किया है। इसका निवल प्रभाव संघ में शक्तियों का अधिकेंद्रीकरण है। इस प्रकार जो अब अपेक्षित है वह है केंद्र की 'शक्तियां कम करना' तथा उनका 'विकेंद्रन' अथवा उनको राज्य को 'हस्तांतरित' करना है और राज्यों से पंचायतों और नगरपालिका निकायों को अंतरित करना। वास्तव में संविधान की तीन अनुसूचियों 7, 11 और 12 के बीच सामर्थ्यों का पुनर्वितरण अपेक्षित है। संविधान की मौलिक योजना को बाधित किए बिना, स्वायत्तता के सिद्धांत को वास्तविकता बनाने के लिए संघीय पुनर्गठन की आवश्यकता है। राज्य–समाज संबंधों के बदलते हुए संदर्भ में सभी संभावनाओं में सामर्थ्यों के पुनर्वितरण से संविधान के तीन मौलिक उद्देश्यों, एकता, सामाजिक क्रांति और लोकतंत्र को प्राप्त करना सहज हो जाएगा। पारस्परिक रूप से निर्भर होने के कारण, जैसा कि ग्रेन बिले ऑस्टिन चेतावनी देता है, इनमें से किसी एक को 'ध्यान न देने अथवा अधिक ध्यान देने से भारतीय राष्ट्र का स्थामित्व बाधित होगा तथा स्थायित्व के लिए प्रयास केंद्र का एक मात्र विशेषाधिकार नहीं होना चाहिए। यह संघ, राज्य और जनता का सामूहिक प्रयास है।

3.1.9 संघ द्वारा की गई विकेंद्रीकरण की पहल

आज के संदर्भ में, सहकारिया आयोग की रिपोर्ट संघीय व्यवस्था के सफल प्रचालन हेतु लचीलापन मुहैया कराने के लिए आंशिक प्रयास के रूप में मानी जाती है। आयोग ने कुल मिलाकर, संघवत् संघीय राजतंत्र का पता लगाया है जो भारत के संघीय राष्ट्र निर्माण के लिए उपयुक्त ही नहीं अपितु आवश्यक है। तथापि, इसने संघ के कुछ कार्यों को राज्य को सौंपने की सिफारिश की तथा अनुच्छेद 356 आदि जैसे कुछ विवादस्पद संघीय उपबंधों के कार्यान्वयन में पारदर्शी क्रियाविधिक मानदंड विकसित करने की आवश्यकता को रेखांकित किया। इसने सहकारी–सहचारी संघीय संस्कृति को विकसित करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया जिसमें संघ और राज्य दोनों एक अखंड संघीय के निर्माण में समान भागीदारों के रूप में कार्य करेंगे। कुल मिलकर आयोग ने 230 विशिष्ट सिफारिशें की। आगे प्रगति के तौर पर, भारत सरकार ने 1990 में अंतरराज्यीय परिषद् का गठन किया। परिषद को सबसे पहले सहकारिया आयोग की रिपोर्ट की जाँच करने और अंतरराज्यीय संबंधों की संरचना और प्रक्रिया में संभव परिवर्तन पर सामंजस्य विकसित करने का कार्य सौंपा गया है। सरकारिया आयोग की 230 सिफारिशों जिन पर परिषद् के निर्णय लिया में से 108 सिफारिशों पर अभी तक कार्यान्वयन हुआ है, 35 अस्वीकार कर दी गई हैं तथा 8 पर कार्यान्वयन होना है। अनुच्छेद 356 से संबंधित शेष 17 सिफारिशें, राज्यों में अर्द्धसैनिक बलों का नियोजन, संघ के निर्देशों और संसद द्वारा (अनुच्छेद 256 और 257) बनाए गए कानून का अनुपालन और उनके अनुपालन में विफलता के प्रभाव, अथवा संघ सरकार द्वारा दिए गए निदेशों को लागू करना आदि पर परिषद की उप समिति द्वारा विचार किया गया है। संसद ने राज्यपाल की भूमिका से संबंधित 6 सिफारिशों तथा अखिल भारतीय सेवा पर 18 सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया है। वित्तीय संबंधों पर 44 सिफारिशों में से परिषद ने 40 सिफारिशों स्वीकार की हैं तथा शेष 4 सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया है। वैसी ही स्थिति 'विधेयकों के आरक्षण' के साथ है। शीर्ष ''आर्थिक और सामाजिक नियोजन' से संबधित 33 सिफारिशों पर केंद्र और राज्य के बीच कोई असहमति प्रतीत नहीं होती है। राज्यपाल की भूमिका, उद्योगों, खान और खनिजों आदि जैसे मुद्दों पर विचारों की विविधता अभी भी बनी हुई है।

परिषद् के कुछ एकमत निर्णयों में शामिल हैं : (i) कानून की अवशिष्ट शक्तियाँ संघ सूची (प्रविष्टि 97) से समवर्त्ती सूची को अंतरित कर दी जाएँ; (ii) समागम के मामले के रूप में, समवर्त्ती सूची पर कानून बनाते समय केंद्र द्वारा राज्यों से सक्रिय परामर्श प्राप्त किया जाए। यह विशेष रूप से समवर्त्ती सूची में मामलों से संबंधित संघ द्वारा अधिनियमित कानूनों के कारण है जिन्हें राज्य की मशीनरी के माध्यम से लागू किया जाता है और एकरूपता प्राप्त करने के लिए परामर्श

आवश्यक है; (iii) राज्यपाल की नियुक्ति और चयन के मामलों में केंद्र द्वारा राज्यों के साथ परामर्श अनिवार्य किया जाए इसे लागू करने के लिए संविधान में उपयुक्त संशोधन किया जाए। राज्यपाल के कार्यालय की निष्पक्षता और उदासीनत सुनिश्चित करने के लिए इस तरह नियुक्त व्यक्ति सक्रिय राजनीति से न जुड़ा हो। ''अल्पसंख्यक समुदायों से जुड़े व्यक्तियों के बारे में राज्यपाल के पदों पर नियुक्त करने के लिए भी विचार किया जाए''। राज्यपाल को, समागम के तौर पर, ''कार्यालय छोड़ने के बाद सक्रिय विभाजन राजनीति में वापस नहीं आना चाहिए भले ही वह द्वितीय अवधि के लिए अथवा भारत के राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति के कार्यालय के लिए पात्र हो। स्वतंत्र और निष्पक्ष तरीके से राज्यपाल के कार्यों को सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक था(है)''। इसके अतिरिक्त, कुछ राज्यों में राज्यपाल को प्रदत्त विशेष शक्तियों उसकें विवेकानुरूप प्रयोग किया जाना चाहिए। जब किसी मुख्य मंत्री के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लंबित हो, राज्यपाल सदन के सत्रावसान हेतु उसके अनुरोध न माने अपितु राज्यपाल निजी तौर पर सभा का आह्वान करे राज्यपाल के स्थान (राजभवन) पर सिरों की गिनती करने की बजाय सदन के तल पर बहुमत सिद्ध किया जाना चाहिए, (iv) राज्य विधेयक समयबद्ध निपटान के लिए राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को भेजें जाएँ। राज्य विधेयक आमतौर पर राष्ट्रपति के विचारणीय नहीं होते बशर्ते कि संवैधानिक विशिष्टीकरण अथवा इस प्रयोजनार्थ सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कोई हवाला न दिया हो; (v) केंद्रीय करों में राज्य के अंश के अंतरण तथा संघ सूची से समवर्ती सूची के अंतरण के लिए वैकल्पिक योजना का अनुमोदन; (vi) अनुच्छेद 356 में संशोधन (संवैधानिक मशीनरी की विफलता के आधार पर राज्य में आपात्काल की उद्घोषणा) जिससे ऐसा ठोस आधार बने जिसके कारण इस उपबंध की उद्घोषण की जा सके; (vii) राज्य सरकारों को वन्य भूमि को विकास हेतु दिक्परिवर्तन के लिए शक्तियों का प्रत्यायोजन; (viii) खान और खनिजों (विनियमन और विकास) अधिनियम के अंतर्गत, चार साल के बजाए प्रत्येक दो साल में रॉयल्टी दरें का संशोधन; (ix) राज्यों में विधायी परिषद् के सृजन अथवा उन्मूलन पर समान नीति का सूत्रीकरण; (x) केंद्रीय उपक्रमें के वाणिज्यिक प्रचालन पर राज्यों के स्थानीय निकायों द्वारा अधिरोपित करों पर व्यापक केंद्रीय कानून का सूत्रीकरण आदि। परिषद् के इन निर्णयों में से अधिकांश संघीय पृथा के राजनीतिक–कार्यकारी मानदंडों को अवधारित करने के स्वरूप में हैं। इसके लिए संविधान के व्यापक संशोधन की आवश्यकता नहीं है।

3.1.10 अंतिम टिप्पणी

वर्षों से, भारतीय संघवाद ने संघीय राज्य गठन के विभिन्न दबावों को संरचनात्मक और राजनीतिक रूप से अपनाने और समयोजित करने के लिए पर्याप्त लचीलापन दर्शाया है। इसने प्रांतीयता के लिए पहचान से जुड़ी विभिन्न मांगों को समायोजित किया है। इसने, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, सामाजिक स्वायत्तता के संस्थाकरण को भी वरीयत दी है जैसा भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्रों में प्रतिबिंबित हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि भारत में संघवाद, जनता की शक्तिसंपन्नता के औजार के रूप में, सार्वजनिक रूप से दृश्यमान है और उस सीमा तक संघीय लोकतंत्र सफलतापूर्वक कार्य करता प्रतीत होता है। इसी प्रकार, संघ–राज्य रिश्तों की रणभूमि में भारतीय संघवाद के सहयोगी–सहयोजित निर्माण में सरकारिया आयोग की सिफारिशों के अनुसार राजनीतिक दलों और संघ की इकाइयों के बीच लगभग एकसमता क पता चलता है। यथार्थ रूप से यही कारण है कि आज अनुच्छेद 356 आदि को समाप्त करने की, जैसी विगत वर्षों की तरह, कोई मांग नहीं करता। गठबंधन शासन के वर्तमान युग में राष्ट्रीय नीति–निर्माण प्रक्रिया में क्षेत्रीय दलों की बढ़ती हुई प्रमुखता भारतीय संघवाद की बढ़ती हुई शक्ति की प्रतीक है।

एक अन्य ध्यान देने योग्य विकास जिसका कोई भी प्रमाण देता है, राज्यों के बीच स्पर्धात्मक संघवाद का बढ़ना है। भारत की विद्यमान उदारीकृत बाज़ार व्यवस्था में, केंद्र स्वयमेव सामाजिक आर्थिक विकास के कई निर्णायक क्षेत्रों से वापस हो रहा है। राज्य को विदेशी प्रत्यक्ष निवेश पर बातचीत के लिए (वस्तुतः केंद्र द्वारा बनाए गए नियम और विनिमयन के अंतर्गत) अनुमति दी गई है। इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्यों को संधि करने की शक्ति दी गई है। प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद का दूसरा आयाम भी है। आंध्रप्रदेश, कर्नाटक आदि जैसे विकसित अथवा विकासशील और निष्पादक राज्य केंद्र द्वारा किये जा रहे वित्तीय आबंटन में और अधिक हिस्से की मांग कर रहे हैं। उनका तर्क है कि केंद्रीय आबंटन राज्य के निष्पादन स्तर से जोड़ा जाना चाहिए। इस प्रकार खेल क्षेत्र के न्यूनतम स्तर में ढील दी जानी चाहिए। कुछ भी हो इससे बिहार, उत्तर प्रदेश आदि जैसे अविकसित राज्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि एक आर्थिक संघ का मौलिक उद्देश्य वृद्धि और विकास के संदर्भ में न्यूनतम क्षेत्रीय संतुलन को बनाए रखना है। यहाँ केंद्र की भूमिका निर्णयात्मक संघीय महत्त्व प्राप्त करती है। राष्ट्र निर्माण के उपाय के रूप में, भारत में संघवाद एक संघीय राष्ट्र और एक संघीय संघ निर्माण में व्यापक रूप से सफल हुआ है।

3.1.11 सारांश

इस इकाई में भारतीय संघवाद के स्वरूप और प्रमुख लक्षणों पर केंद्रित रहते हुए संघवाद की धारणा, उसके अर्थ और सार की शुरुआत की है। संघवाद (i) जनता और सरकार के बीच निकट संपर्क को बढ़ावा देने के लिए संघीय–स्थानीय प्रशासन के राज्यों और क्षेत्रों के गठन; (ii) गैर केंद्रीकृत आधार पर संघीय शक्तियों के वितरण; और (iii) सहयोजित

शासन के संस्थानों के सृजन के माध्यम से सामूहिक शासन को वरीयता देता है। भारतीय संघवाद को कतिपय परिस्थितियों के अधीन केंद्रीकरण की अंतर्निमित प्रवृत्ति वाले 'अर्धसंघीय' का स्वरूप दिया गया है। भारतीय संविधान द्वारा विधायी और कार्यकारी प्राधिकार को राज्य और केंद्र के बीच में विभाजित किया गया है। यद्यपि भारत राज्यों का संघ है, किसी इकाई के पास अतिक्रमण का अधिकार नहीं है और वे एकमात्र संविधान द्वारा शासित होती हैं।

केवल असाधारण परिस्थितियों में ही (आपात्काल की तरह) भारतीय संघवाद एकल राजतंत्र का स्वरूप ग्रहण करता है। संघ की इकाइयों को बाहरी आक्रमण से बचाने, संविधान को बनाए रखने, राष्ट्र की अखंडता की रक्षा करने तथा संघ को वित्तीय संकट से उबारने के लिए संघीय शक्तियों के केंद्रीकरण के परिस्थितिजन्य और सामंजस्यपूर्ण दो व्यापक प्रकार हैं। संघीय शक्तियाँ स्थानीय हित के मामलों वाले विषयों की क्षेत्रीयता और विशिष्टता के आधार पर राज्यों और संघ के बीच वितरित की गई हैं जैसे सार्वजनिक अव्यवस्था, पुलिस, कृषि, स्वच्छता, मछलीपालन, बिक्रीकर को राज्य सूची में रखा गया है। विदेशी कार्य, रक्षा मुद्रा आदि जैसे विषय संघ सूची में रखे गए हैं।

वर्षों से, भारत में संघवाद ने विभिन्न माध्यमों से अपने क्षेत्र का विस्तार करते हुए मूलतः राज्यों को सौंपे गए विषयों पर अतिक्रमण करते हुए प्रबल केंद्रीकृत प्रवृत्ति का इज़हार किया। सरकारिया आयोग की रिपोर्ट संघीय व्यवस्था के सफल प्रचालन के लिए लचीलापन मुहैया कराने का एक प्रयास मानी गई है। संघवत् संघीय राज्यतंत्र भारत के लिए आवश्यक माना गया है परंतु आयोग ने संघ के कुछ कार्यों को राज्यों को अंतरित करने तथा कुछ विवादास्पद संघीय उपबंधों के कार्यान्वयन के लिए पारदर्शी मानदंड विकसित करने की सिफारिश की। भारत में संविधान जनता की शक्तिसंपन्नता के औजार के रूप में दृश्यमान है और उस सीमा तक एक राष्ट्र निर्माण के उपाय के रूप में संघीय संघ के निर्माण में सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है।

3.1.12 अभ्यास प्रश्नावली

1. क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं कि भारत ''सहायक एकात्मक सिद्धांतों वाले संघीय राज्य की अपेक्षा सहायक संघीय सिद्धांतों वाला एक एकात्मक राज्य'' है?
2. भारत में संघीय शक्तियों के परिस्थितिजन्य और सामंजस्यपूर्ण केंद्रीकरण पर चर्चा करें।
3. भारत में संघीय तंत्र के कार्यचालन पर चर्चा करें।

अध्याय–2

सत्ता–हस्तांतरण एवं स्थानीय स्वशासन

संरचना

3.2.1 उद्देश्य
3.2.2 प्रस्तावना
3.2.3 पंचायती राज व्यवस्था
3.2.4 पंचायत व्यवस्था का पुनर्गठन
3.2.5 विकेन्द्रीकरण
3.2.6 संवैधानिक संशोधन
3.2.6.1 73 वाँ संशोधन
3.2.6.2 76 वाँ संशोधन
3.2.6.3 संशोधन की सीमाएँ
3.2.7 सारांश
3.2.8 अभ्यास प्रश्नावली

3.2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य स्थानीय स्वशासन की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसके प्रभावी क्रियान्वयन में 73 वें 74 वें संशोधनों की भूमिका का उल्लेख किया गया है। 73 वें संविधान संशोधन ने ग्रामीण व 74 वे संशोधन में नगरीय स्वशासन को पल्लवित किया है। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण ने कमजोर वर्गों के सशक्तीकरण में भूमिका निभाई है यद्यपि इसके क्रियान्वयन में अनेक बाधाऐं व अवरोध है लेकिन जन जागरूकता के माध्यम से इन्हें दूर किया जा सकता है।

3.2.2 प्रस्तावना

स्थानीय स्व–शासन का विचार भारत में प्राचीन काल में भी विद्यमान था। यदि हम रिपॅन के संकल्प के साथ एक संगठनात्मक संकल्पना के रूप में इसके आरम्भ को स्वीकार भी करते हैं तो यह एक शती और दो दशकों से भी पुराना है। अपनी कोलाहलपूर्ण जीवनयात्रा में इसने अनेक उतार–चढ़ाव देखे हैं। 1957 में बलवंत राय मेहता समिति के सिफ़ारिश की बाद, 1959 में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा एक औपचारिक उद्घाटन के बावजूद ये संस्थाएँ देश में अपनी जड़ें ठीक से नहीं जमा सकीं। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कह दिया कि पंचायती राज संस्थाएँ अशक्त देवता की मानिंद हैं। जनता सरकार ने इन संस्थाओं के कायाकल्प हेतु अशोक मेहता समिति नियुक्त की। परन्तु 73वें व 74वें संशोधन ने, जो 1992 में पास हुए और अप्रैल 1994 में लागू हुए, स्थानीय स्वशासन की धारणा ग्रामीण व शहरी दोनों का उन्हें संवैधानिक दर्ज़ा देकर वस्तुतः कायापलट कर दिया है। ये संशोधन भारत में स्थानीय स्वशासी संस्थाओं के अनुभव के आलोक में पारित किए गए। इन्होंने इन संस्थाओं के सामने सीमाबद्धता से पार पाने के लिए गंभीर प्रयास किए हैं।

एक संगठनात्मक संकल्पना के रूप में भारत में विकेन्द्रीकरण की धारणा का आरम्भ 1882 में रिपॅन–संकल्प में देखा जा सकता है जो ब्रिटिश शासन के तहत ग्रामीण क्षेत्रों के प्रबंधन में जन–भावना से ओत–प्रोत लोगों के प्रबुद्ध वर्ग को शामिल करने पर अभिलक्षित था। आने वाले वर्षों में स्वास्थ्य, मार्गों व शिक्षा की देखभाल करने के लिए नामांकित सदस्यों वाले ज़िला बोर्ड एवं तालुका बोर्ड बनाए गए। परन्तु यह प्रयास गाँवों को स्थानीय स्वशासन की आधारभूत इकाई बनाने में सफल नहीं हुआ। 1918 के एक प्रस्ताव में फिर कहा गया है कि स्वशासन का उद्देश्य लोगों को उनके निजी स्थानीय मामलों के प्रबंधन में प्रशिक्षित करना है। 1922 के ज़िला बोर्ड अधिनियम ने बोर्डों के पुनर्गठन की ओर प्रवृत्त किया। उन्हें मार्गों के रखरखाव, वृक्षारोपण, अस्पतालों, स्कूलों व अपवहन आदि के दायित्व सौंपे गए। गाँव द्वारा पंचायतें बनाई गईं।

3.2.3 पंचायती राज व्यवस्था

1920 का पंचायत अधिनियम स्थानीय न्यायालयों के रूप में लिया गया और यह स्वभावतः पूर्णरूपेण न्याय–सम्मत था। चूँकि वित्त–साधन व दायित्वों का हस्तांतरण मुश्किल से होता था, प्रशासन, विकास व ग्रामीण उत्थान की स्थानीय इकाई के रूप में इसकी भूमिका निष्क्रियात्मक ही रही।

भारतीय नेताओं में, महात्मा गाँधी ने ग्राम समानता प्रधान समाजों हेतु बड़ी ज़ोरदार दलील दी। संविधान के भाग–प्ट में दिए गए राज्य–नीति के निदेशक सिद्धांतों के तहत अनुच्छेद 40 ने सरकार को सलाह दी कि ग्राम पंचायतों को संगठित करने हेतु कदम उठाये और उन्हें ऐसी शक्तियाँ व अधिकार प्रदान करे जो उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में काम करने में सक्षम बनाए। राज्य सरकारों से अपेक्षा की गई कि इस उद्देश्य से उचित कानून व विधान बनाए जाएँ।

भारतीय नियोजकों एवं नीति–निर्माताओं ने ग्रामीण जनसमुदाय की स्थिति सुधारने के उद्देश्य को लेकर एक बहुउद्देश्यीय समुदाय विकास योजना शुरू की। यह योजना प्रशिक्षण तथा विकास विभाग, खण्ड विकास अधिकारियों (बी.डी.ओ.), विस्तार अधिकारियों एवं ग्राम–स्तर कर्मियों को गाँवों में भेजने पर अभिलक्षित थी। अधिकारियों के इस दल से एक परिवर्तन अभिकर्त्ता बतौर काम करने की अपेक्षा थी। उनसे उम्मीद थी कि वे प्रोत्साहन, प्रदर्शन एवं भौतिक सहायता की पेशकश के माध्यम से ग्रामीण जन–समुदाय को प्रेरित करेंगे। केन्द्रीय विकास कार्यक्रम इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहे। योजना आयोग ने बलवन्त राय मेहता की अध्यक्षता में एक लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था हेतु विचार विकसित करने के लिए एक समिति का अनुरोध किया जो ग्रामीण विकास–प्रयासों को नियंत्रित करे। बलवंत राय मेहता समिति की रिपोर्ट ऐसी अनेक अनुशंसाओं के साथ आयी जो कि आगामी वर्षों में विभिन्न राज्यों के पंचायत कानून–निर्माण में समाविष्ट कर ली गईं। इस समिति ने एक त्रि–पंक्ति प्राधार (गाँव–खण्ड–ज़िला) के साथ लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सिफ़ारिश की। उसने त्रि–पंक्ति व्यवस्था के माध्यम से विभिन्न विकास योजनाओं हेतु संसाधनों व दायित्वों के हस्तांतरण एवं स्थायी सरकारी ऋण के उचित मार्गीकरण की भी सिफ़ारिश की। इस रिपोर्ट ने आंध्रप्रदेश व तमिलनाडु जैसे राज्यों में खण्ड योजना तथा महाराष्ट्र व गुजरात जैसे अन्य राज्यों में ज़िला योजना हेतु अवसर पैदा किए।

उन्नीस सौ साठ के दशक में पंचायती राज संस्थाओं को एक ऐसे भगवान् के रूप में पेश किया गया जो असफल था। इस असफलता का एक मुख्य कारण था राज्य के उन राजनयिकों द्वारा तोड़फोड़, जो शक्तियों को ज़िला स्तर या उससे नीचे हस्तांतरित किए जाने के प्रति उत्साही नहीं थे। वे सशंक थे कि वास्तविक शक्तियों वाली पंचायती राज संस्थाएँ उनकी सत्ता व प्रभाव पर ख़तरा पैदा करेंगी। साठ के दशकांत में जब इंदिरा गाँधी एक तरक्क़ीयाफ्ता जामा पहन रही थीं और भूमि–सुधार लागू करना चाहती थीं, यह तर्क दिया गया कि पंचायती राज संस्थाएँ आवेष्टित नहीं की जा सकती हैं क्योंकि उन पर उच्च जाति व भूमि–सम्पन्न घटकों का प्रभुत्व है। साठ के दशक ही में हरित क्रांति का आगमन भी देखा गया जिसने केन्द्रीकृत योजना को आवश्यक बना दिया और जो विकेन्द्रीकरण–संबंधी उन प्रतिमानों के विरोध में आयी जिनपर पंचायती राज संस्थाएँ आधारित थीं। चूँकि देश के अनेक भागों में ग्रामीण क्षेत्र अब भी सामंती भूमिसम्पन्न अधिकार संरक्षण में ही थे, हरितक्रांति को प्रवेश देने हेतु सरकार–समर्थित निवेश उनके द्वारा एकाधिकार में लाये जा सकते थे। केन्द्र व राज्य सरकार दोनों ने ही इस अवधि के दौरान उपमार्ग अपनाना और इस प्रकार पंचायती राज्य संस्थाओं के प्राधिकार व महत्त्व का तलोच्छेन शुरू कर दिया था। केन्द्र सरकार ने इन्दिरा सरकार के अनेक कार्यक्रमों को लागू करने के लिए अपनी ही प्रशासनिक कार्यप्रणाली को जन्म दिया, जैसे कि आर्थिक न्याय पर अभिलक्षित लघु किसान विकास अभिकरण, सूखा संभावित क्षेत्र योजना, एकीकृत ग्रामीण विकास योजना एवं राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार योजना। संसाधन अभाव, समन्वय अभाव, ज़िला विकास कर्मचारीगण पर निर्भरता, प्रभावी प्राधिकरण के प्रत्यायोजन का अभाव, उच्च जातियों व समाज के ज़्यादा खुशहाल वर्गों द्वारा प्रभुत्व ने विकेन्द्रीकरण व विकास की संस्थाओं के रूप में पंचायती राज संस्थाओं को निष्प्रभावी व उद्देश्यहीन प्रदर्शित किया। सत्तर के दशकमध्य तक केन्द्र के साथ–साथ राज्यों में भी सरकारें पंचायती राज संस्थाओं के प्रति उदासीन हो गयी थीं। वे मृत हो गयी थीं; इन संस्थाओं के चुनाव नहीं कराये जा रहे थे और अधिकतर स्थानों पर प्रतिनिधि परिषदें या तो भंग कर दी गई थीं या फिर स्थगित।

3.2.4 पंचायत व्यवस्था का पुनर्गठन

कायाकल्प प्रक्रिया पश्चिम बंगाल में पंचायतों के पुनर्गठन तथा सत्तर के दशकांत में जनता पार्टी 'सरकार द्वारा अशोक मेहता कमेटी की नियुक्ति द्वारा आरम्भ हुई। सत्तर के दशकमध्य में, शासन प्रक्रिया में स्थानीय समुदायों को वृहत्तर राजनीतिक स्थान प्रदान किए जाने के पक्ष में एक ज्ञेय मत–परिवर्तन भी देखा गया। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं से अपेक्षा थी कि सामाजिक सत्ता समीकरणों के पुनर्विन्यास में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएँ। जिस प्रकार जनता पार्टी सरकार ने गाँधीवादी दर्शन के प्रति अपनी वचनबद्धता प्रकट की थी, सारा वातावरण लगता था कि पंचायती राज संस्थाओं के पुनरुत्थान हेतु ही सहायक हो। एक अन्य सत्य–प्रतीयमान कारण यह तथ्य लगता है कि सत्तर के दशकांत तक हरित क्रांति दशकायु हो चुकी थी और वह ऐसे धनी कृषक वर्ग को जन्म दे चुकी थी जो हरित क्रांति से लाभान्वित हुआ था। धनी व मध्यवर्गी किसान विकेन्द्रीकृत शासन–तंत्र, ज़्यादा विस्तृत रूप से उसकी निकासी व्यवस्था, तक सीधी पहुँच के महत्त्व को पूरी तरह समझते थे। ग्राम परिषदों पर कब्ज़ा करना इस वर्ग की नई–नई अर्जित आर्थिक शक्ति एवं राजनीतिक रूप से महत्त्व रखने हेतु उनकी प्रेरणा से मेल खाता था। पंचायती राज संस्थाओं की केन्द्रीय स्थिति फिर से मजबूत हो गई।

अशोक मेहता कमेटी रिपोर्ट में पंचायती राज संस्थाओं के विफलता–कारणों के रूप में कार्यालयी लालफ़ीताशाही, बेलोच वित्त, समाज के आर्थिक व सामाजिक रूप से विशेषाधिकारप्राप्त वर्गों द्वारा स्थानीय संस्थाओं पर प्रभुत्व के माध्यम से विकास–कार्यक्रम की जड़ें जमाने का उल्लेख था। अशोक मेहता कमेटी की रिपोर्ट ने इस बात को मानने से इंकार किया कि पंचायती राज एक विफल देवता था। वस्तुतः उन्होंने भारत की धरती में लोकतंत्र का बीज बोने की प्रक्रिया शुरू करने और नागरिकों को उनके अधिकारों के प्रति पहले से अधिक सचेत बनाने के लिए इन संस्थाओं को ही श्रेय दिया। अन्य सकारात्मक दुष्परिणामों में था नौकरशाह अभिजात वर्ग व जनता के बीच दरार को पाटना। इसने एक आधुनिकतावादी दृष्टि और सामाजिक–परिवर्तनोमुखी दृष्टिकोण वाले एक सक्रिय नेतृत्व को भी जन्म दिया। मेहता ने यह भी निश्चयपूर्वक कहा कि इसने ग्रामीण जनता का एक विकास मानस तैयार करने में मदद की।

मेहता कमेटी कई मायनों में परिवर्तनकारी थी। पंचायती राज चुनाव में राजनीतिक दलों की भागीदारी की दलील दी गई ताकि उन्हें अधिक उत्तरदायी बनाया जा सके और उन्हें उच्चतर स्तर पर राजनीतिक प्रक्रिया से जोड़ा जा सके। मेहता को उम्मीद थी कि चुनाव ग़रीबों के हाथ में राजनीतिक शक्तियों में परिणत होंगे, जिसकी वजह है उनकी सांख्यिक शक्ति और संगठन। कमेटी ने पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं की भागीदारी के लिए भी ज़ोरदार वकालत की। इस रिपोर्ट में महिलाओं के साथ–साथ समाज के कमज़ोर तबकों के आरक्षण की भी पेशकश की गई थी। जनता सरकार के पतन ने मेहता रिपोर्ट के लिए सीटों के परिपालन हेतु एक प्रतिकूल वातावरण पैदा किया। इसके बावजूद, कर्नाटक, आन्ध्र व पश्चिम बंगाल की ग़ैर–कांग्रेसी राज्य सरकारों ने पंचायती राज संस्थाओं को पुनः सक्रिय बनाने हेतु ठोस कदम उठाये। कर्नाटक में जो पंचायती राज संस्थाएँ अस्तित्व में आयीं उन्होंने मेहता रिपोर्ट द्वारा की गई अधिकांश सिफ़ारिशों को शामिल किया। जबकि ग़ैर–कांग्रेसी राज्य सरकारें अशोक मेहता कमेटी की सिफ़ारिशें लागू करने में लगी थीं, केन्द्र में नई कांग्रेस सरकार ने अन्य आयोग नियुक्त कर दिए। 1983 को सी.एच. हनुमन्तराव के कार्यरत दल तथा 1985 की जी.वी.के. राव कमेटी ने विकास कार्यक्रमों व प्रशासन वाली पंचायती राज व्यवस्था के एकीकरण की आवश्यकता पर बल दिया। 1986 की एल.एम.सिंघवी कमेटी रिपोर्ट द्वारा पंचायती राज विषयक संकल्पना–पत्र ने सुझाव दिया कि पंचायती राज संस्थाएँ ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के नियोजन एवं कार्यान्वयन में करीब से जुड़ी होनी चाहिए। सिंघवी तथा अशोक मेहता, दोनों ने संवैधानिक आधार पर लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सिफ़ारिश की।

केन्द्र–राज्य संबंधों के गतिविज्ञान को समझने के लिए गठित सरकारिया आयोग ने दुष्क्रियात्मक पंचायती राज संस्थाओं का उल्लेख किया और ज़िला परिषदों व नगर निगमों के पुरुत्थान के लिए उनके नियमित

चुनावों व सत्रों के लिए कानूनी प्रावधानों का सुझाव दिया। ज़िला योजना के लिए ज़िले में राजनीतिक व प्रशासनिक प्राधार किस प्रकार का हो इस बात का सुझाव देने के लिए 1988 में बनाई गई पी.के. थुंगन कमेटी ने पंचायती राज संस्थाओं के लिए संवैधानिक दर्जे की वक़ालत की। थुंगन कमेटी ने पंचायती राज संस्थाओं के समय पर और नियमित चुनाव सुनिश्चित करने हेतु संवैधानिक प्रावधानों का भी समर्थन किया। इस कमेटी के अनुसार, ज़िला परिषद् ही किसी ज़िले में एकमात्र विकास अभिकरण हो।

विकेन्द्रीकरण

हस्तांतरण एक प्रकार का विकेन्द्रीकरण ही है जो प्रकार्यों एवं उत्तरदायित्वों के साथ सरकार के स्वतंत्र प्राधिकार–स्तर को बनाने का प्रयास करता है। यह केन्द्र अथवा राज्य सरकारों के लिए एक व्यवस्था है ताकि वे अपने कुछ कार्य सरकार की उन नई इकाइयों पर छोड़ सकें जो उनके नियंत्रण से बाहर हों। ऐसा संविधान में ही इसकी व्यवस्था करके अथवा देश के सामान्य कानून द्वारा किया जा सकता है। भारत में स्थानीय स्वशासी संस्थाओं की विफलता हेतु प्रमुख कारणों में एक उन्हें शक्तियों का हस्तांतरण उत्साह–अभाव के साथ किया जाना रहा है। 73वें तथा 74वें संशोधनों में ग्रामीण (पंचायती राज संस्थाओं) तथा शहरी (नगरपालिकाओं) स्थानीय स्वशासी संस्थाओं को शक्तियों व जिम्मेदारियों के हस्तांतरण हेतु प्रावधान भी थे। इन संशोधनों ने क्रमशः यह व्यवस्था दी कि गाँव, खण्ड व ज़िला स्तरों पर पंचायतों के पास ग्रामीण महत्त्व के वे 29 विषय होंगे जो कि 11वीं अनुसूची में दर्ज हैं और स्वायत्तशासन–सम्पन्न नगरों के पास शहरी महत्त्व के 18 विषय होंगे जो कि 12वीं अनुसूची में दर्ज हैं। इन संशोधनों ने स्थानीय स्वशासी निकायों ग्रामीण व शहरी दोनों को स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं पर आधारित अनेक विकास योजनाएँ बनाने व लागू करने की जिम्मेदारी सौंपी है। वे भारत में विकेन्द्रीकृत सामाजिक–आर्थिक विकास में सहायतार्थ स्थान–संबंधी योजना तथा लघु स्तरीय योजना संबंधी संकल्पनाओं को कार्यरूप देते हैं। इन शक्तियों की मदद से स्थानीय स्वशासी संस्थाओं से अपेक्षा की जाती है कि वे कृषि, उद्योग, वांछित आधारभूत ढाँचा व पर्यावरण विकास, दरिद्रता उन्मूलन तथा महिलाओं, बच्चों, अनसूचित व पिछड़ी जातियों के विकास को प्रोत्साहन दें। ये विकास कार्य पेय–जल आपूर्ति, पथ–प्रकाश, स्कूलों व अस्पतालों आदि का रखरखाव जैसे अवश्यकरणीय कार्यों के अतिरिक्त हैं।

ऐसी बहसों की भरमार लगती है जिनमें स्थानीय स्वशासी संस्थाओं की संकल्पना, उपादेयता एवं प्रभावशीलता शामिल है। आरम्भिक ग्राम परिषदों में समुदाय की सहमति एवं एक सक्रिय समझदारी द्वारा सरकार का प्रबन्ध जाति विभाजनों पर

किया जाना प्रचलित था। शुरुआत से ही, पंचायती राज संस्थाओं के ये अभिलक्षण उन्हें वैध सिद्ध करने में प्रयोग किए जाते रहे थे। लीटन एवं श्रीवास्तव के अनुसार, ग्राम पंचायतें स्थानीय स्वशासन की इकाइयों के रूप में स्थापित की गई थीं और देश में विकास के केन्द्र–बिन्दु सामान्यतः बहुत प्रायिक रूप से पुरुष संभ्रांतों में स्वेच्छाचारी एवं निरपवाद रूप से भ्रष्ट नेताओं के कब्ज़े में थे। जैसा कि कुछ अन्य विद्वानों ने दावा किया है, ये संस्थाएँ ग्रामीण शक्तिसम्पन्नों द्वारा अपने फ़ायदों के लिए ही प्रयोग की जाती थीं। पॉल ब्रास का विचार था कि पंचायती राज संस्थाओं को ज़िला स्तर पर अधिक शक्तियाँ हस्तांतरित करने में राजनयिकों की अनिच्छा के कारण ही विफल किया गया क्योंकि उन्हें डर था कि ऐसी स्थानीय संस्थाओं को यदि वास्तविक शक्तियां मिल गयीं तो वे प्रभाव एवं संरक्षण की वैकल्पिक स्त्रोत बन जाएँगी। रजनी कोठारी के अनुसार ग्राम परिषदें आकर्षक नारों के सिवा कुछ नहीं थीं और ये दावे झूठे थे कि शासकगण विद्रोह व प्रतिरोध बलों को रखने तथा जन–असंतोष को संगठित होने से बचाने में समर्थ थे। अशोक मेहता जो पंचायती राज विषयक दूसरी कमेटी के प्रमुख थे, ने पंचायती राज संगठनों के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण रखने से इंकार कर दिया। उनका सोचना था कि भारत की धरती में लोकतंत्र के बीज बोने की प्रक्रिया ने लोगों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत कर दिया है और उनमें एक विकासात्मक मानस भी जगाया है। उनका मत था कि ये संस्थाएँ विफल रही क्योंकि विकास योजनाएँ कार्यालयी सरकारी नौकरशाही के माध्यम से चलायी जाती थीं, वित्त बेलोच रहता था और इन संस्थाओं पर समाज के विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों का प्रभुत्व था। नूरजहाँ बाबा का तर्क है कि केन्द्रीकृत योजना व प्रशासन को अर्थव्यवस्था को दिशानिर्देशित व नियंत्रित करने तथा औपनिवेशिक शासनों की लम्बी अवधियों से उद्गमित होते नए राष्ट्रों को एकीकृत व एकरूप करने हेतु आवश्यक माना जाता था। ऐसा संभव हो सकता है क्योंकि जैसा कि लीटन एवं श्रीवास्तव सोचते हैं, भारतीय राज्य एक ज्ञानसम्पन्न दृष्टिकोण एवं एक विकासात्मक दूतकार्य रखने के लिए सुविख्यात् था। बाबा के अनुसार, साठ के दशक में केन्द्रीकृत योजना के साथ एक बड़ा मोहभंग हुआ क्योंकि यह विकासशील देशों में क्षेत्रों व समूहों के बीच आर्थिक वृद्धि के न्यायसंगत लाभ–वितरण को दिलाने में असफल रही थी। हैनरी मैडिक का मत है कि लोकतंत्र, विकेन्द्रीकरण एवं विकास के बीच एक त्रिकोणीय संबंध होता है।

देश के विभिन्न राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं का अनुभव एक–सा नहीं रहा है। औपचारिक शुरुआत तब हुई जब जवाहरलाल नेहरू ने अक्तूबर 1959 में राजस्थान के नागौर में पंचायती राज संस्थाओं का उद्घाटन किया। पंचायती राज संस्थाओं का राजस्थान मॉडल तीन पंक्तियों   ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा ज़िला परिषद् के इर्द–गिर्द घूमता रहा। खण्ड स्तर पर पंचायत समिति राजस्थान मॉडल का मुख्य काबला था। पंचायत समिति की कार्यकारी भूमिका की तुलना में ज़िला परिषदें परामर्शी निकाय थीं। महाराष्ट्र व गुजरात ने एक ऐसा मॉडल अपनाया जिसमें ज़िला परिषदें योजना, विकास व प्रशासन की मुख्य इकाइयों के रूप में मध्य बिन्दु थीं। महाराष्ट्र में ज़िला परिषद् न सिर्फ़ समुदाय विकास योजना के तहत कार्यक्रम ही बल्कि विभिन्न सरकारी विभागों के कार्यक्रमों का एक बड़ा हिस्सा भी चलाती थी। कनार्टक में, पंचायत सुधार अधिनियम, 1985 लागू होने के बाद विकास विभागों के सभी कार्य व कार्यकर्त्ता पंचायती राज संस्थाओं को हस्तांतरित कर दिए गए। ज़िला ग्रामीण विकास अभिकरण पंचायती राज संस्थाओं के साथ मिला दिए गए। विकेन्द्रीकरण के विचार को कार्य रूप देने के लिए, कर्नाटक का राज्य बजट पंचायती राज संस्थाओं के लिए एक पृथक् बजट प्रदान करते हुए दो भाग कर दिया गया। वहाँ मण्डल पंचायतों द्वारा बनाई गई योजनाओं व बजट को ज़िला परिषद् अथवा राज्य सरकार द्वारा बदला नहीं जा सका। इसी प्रकार ज़िला परिषद् की ज़िला योजनाओं को राज्य सरकार द्वारा छुआ नहीं जा सका। आंध्र प्रदेश में, सीमित प्रकार्यसम्पन्न ज़िला परिषदों ने शिक्षा के क्षेत्र में उत्साहवर्धक परिणाम दर्शाये हैं। तमिलनाडु में भी पंचायती राज संस्थाओं ने शिक्षा, जलापूर्ति, सड़कों व पोषण आदि क्षेत्रों में एक प्रशंसनीय कार्य किया है।

सफलता के विभिन्न मापदण्डों के साथ पंचायती राज संस्थाएँ पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, गुजरात व आंध्र प्रदेश में काम करती रहीं। किन्तु जब से 73वाँ व 74वाँ संशोधन अधिनियम बने हैं स्थानीय स्वशासी संस्थाओं के क्षेत्र में अनुभव गुणात्मक रूप से भिन्न रहा है क्योंकि उन्होंने हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र को सही मायने में सहभागितापूर्ण बना दिया है। इन संशोधनों ने समाज के कमज़ोर वर्गों, जैसे दलितों, जनजातियों व महिलाओं के सशक्तीकरण के मार्ग की बाधाओं को दूर कर दिया है। इस अधिनियम के लागू होने के फलस्वरूप लगभग सभी राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों ने अपने विधान अधिनियमित कर दिए हैं। पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव देशभर में कराये जा चुके हैं। देश के विभिन्न भागों में पंचायती राज संस्थाओं के चुनावों से कुछ उत्साहजनक तथ्य सामने आये हैं। कर्नाटक सबसे अधिक संख्या में महिलाओं को पंचायती राज संस्थाओं में भेजता है, उसके बाद केरल व मणिपुर का स्थान है। उत्तर प्रदेश इस सूची में सबसे नीचे है। महिला सशक्तीकरण का रास्ता कोई आसान नहीं रहा है। ऐसे उदाहरण भी सामने हैं जहाँ महिला सदस्याएँ अपने पतियों अथवा परिवार के किसी पुरुष सदस्य के साथ ही रही हैं। महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश ने सभी महिला पंचायतों को चुने जाने में विशिष्टता हासिल की है। अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटों के आरक्षण संबंधी प्रावधान ने इन तबकों से लोगों के अधिक प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित किया है।

अनेक राज्यों में सरकारी महकमों के स्थानीय स्तरीय कार्यकर्त्ताओं को पंचायतों के नियंत्रण में रखा गया है। गुजरात, कर्नाटक व केरल की सरकारों ने इस आशय के आदेश पारित किए हैं। मध्यप्रदेश में स्कूल अध्यापकों की भर्तियाँ खण्ड

स्तर पर शुरू हुई हैं और उनके कौशल प्रदर्शन के मूल्यांकन एवं स्थायीकरण की शक्तियाँ खण्ड में ही पंचायती राज संस्थाओं को सौंप दी गई हैं। राजस्थान व हरियाणा में अपनी सेवाओं को राज्य सरकारों द्वारा पंचायतों के नियंत्रण व पर्यवेक्षण के तहत हस्तांतरित कर दिए जाने की मुहिम के खिलाफ़ शालिहोत्री व शिक्षा विभागों के कर्मचारियों द्वारा हड़ताल देखी गई। शीर्ष ज़िला स्तरीय विकास अभिकरण ज़िला ग्रामीण विकास अभिकरण (डी.आर.डी.ए.) उड़ीसा, मध्यप्रदेश व महाराष्ट्र में पंचायती राज संस्थाओं के साथ विलय की स्थिति में है। कर्नाटक में यह विलयन 1987 में ही हो गया था। राजस्थान सरकार विलयन के पक्ष में नहीं रही है। इसकी बजाय उसका लक्ष्य है डी.आर.डी.ए. तथा ज़िला परिषद् के बीच प्रभावी समन्वय सुनिश्चित करना।

3.2.5 संवैधानिक संशोधन

अपने प्रधानमंत्रित्व काल की समाप्ति की ओर बढ़ते हुए राजीव गाँधी ने पंचायती राज संस्थाओं में गहरी रुचि दिखाई। कांग्रेस कुछ राज्यों में चुनाव हार चुकी थी। पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से लोगों को अधिकार प्रदान करने का सम्पूर्ण विचार चुनाव पूर्व लोगों को प्रभावित करने का एक नारा अधिक था। उत्तरप्रद प्रशासन पर उन्होंने पाँच कार्यशालाएँ आयोजित कीं जिनमें उन्होंने देश के सभी ज़िलों के ज़िला न्यायाधीशों व ज़िलाधीशों से बातचीत की। इन कार्यशालाओं ने संवैधानिक प्रावधान एवं पंचायती राज संस्थाओं के अनिवार्य नियमित चुनावों का असंदिग्ध रूप से पक्ष लिया। राजीव गाँधी सरकार ने 64वाँ संविधान संशोधन विधेयक 1989 में सामने रखा। इस संशोधन के साथ मुख्य समस्या यह थी कि इसने राज्यों को नज़रअंदाज कर पंचायती राज संस्थाओं से सीधा नाता जोड़ने का प्रयास किया। चूँकि स्थानीय शासन एक राज्य–संबंधी विषय था, इसको संघवाद के लिए ख़तरा समझा जाता था क्योंकि इस अधिनियम ने प्रस्ताव किया था कि पंचायती राज को राज्य सूची से निकालकर समवर्ती सूची में शामिल किया जाए। इसी प्रकार, पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव केन्द्रीय चुनाव आयोग की देखरेख में कराने संबंधी विचार, साथ ही इन संस्थाओं को केन्द्रीय वित्त आयोग द्वारा वित्त प्रदान करने के विचार ने भी राजीव गाँधी सरकार के बारे में आशंकाएँ पैदा कीं। 73वाँ व 74वाँ संशोधन, दोनों कई मायनों में अशोक मेहता रिपोर्ट के प्रस्तावों का एक किंचित् हेर–फेर वाला रूप लगता था। इन संशोधनों ने पंचायती राज व नगरपालिका संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा दिलाया। उन्होंने संविधान में भाग–IX व भाग–IX–ए जोड़ दिए, जहाँ अनुच्छेद 243 से 243–ओ वाला भाग–IX पंचायतों से संबंधित है, अनुच्छेद 243–पी से 243–जैड–जी वाला भाग–IX–ए नगर पालिकाओं से संबंध रखता है। उन्होंने पंचायत व नगरपालिका संस्थाओं के साथ–साथ इन निकायों के अध्यक्ष पद हेतु भी महिलाओं के लिए 33ः आरक्षण प्रदान किया। इन निकायों में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए उस पंचायत में उनके जनसंख्या अनुपात के अनुसार सीटों के आरक्षण हेतु प्रावधान किए गए। अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए कुल सीटों का एक–तिहाई इन जातियों/जनजातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित किया जाएगा। अनुच्छेद 243–के राज्य चुनाव आयोग हेतु व्यवस्था देता है। संबद्ध राज्य के राज्यपाल को राज्य चुनाव आयुक्त को नियुक्त करने तथा उसे चुनाव–संबंधी सूची तैयार करने व पंचायतों के चुनाव कराने की जिम्मेदारी सौंपने का अधिकार है। चुनाव आयोग की निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त ध्यान रखा गया है। एक बार नियुक्त होने के बाद, चुनाव आयुक्त को पद हटाया नहीं जा सकता है, जहाँ चाल–चलन एवं एक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की भाँति आधार अपवाद हैं। नियुक्त होने बाद उसके पद के नियम व शर्तें उसे लाभ पहुँचाने के लिहाज से नहीं बदले जा सकते हैं। पाँच वर्ष की अवधि पूरी होने के बाद और उनके विसर्जन के छह माह के भीतर स्थानीय निकायों के नियमित चुनाव कराना राज्य चुनाव आयोग की ज़िम्मेदारी है। संविधान का अनुच्छेद 243–आई यह व्यवस्था देता है कि राज्य स्तरीय वित्त आयोग वित्त–साधनों की पुनरीक्षा करे। संविधान यह भी अपेक्षा रखता है कि केन्द्रीय वित्त आयोग पंचायतों के संसाधनों को बढ़ाकर पूरा करने के लिए राज्य की संचित निधि को संवर्धित करने के उपायों की सिफ़ारिश करे।

3.2.6.1 73वाँ संशोधन

73वाँ संशोधन अधिनियम एक त्रि–पंक्ति पंचायती राज व्यवस्था मुहैया कराता है ग्राम, माध्यमिक (खण्ड अथवा तालुका) तथा ज़िला स्तर। बीस लाख से कम आबादी वाले छोटे राज्यों को माध्यमिक स्तर पर पंचायत गठित करने या न करने की छूट दी गई है। इस अधिनियम ने ग्रामीण लोगों के सशक्तीकरण में ग्राम सभा (जनसाधारण की सभा) की भूमिका को स्वीकारा और पंचायती राज संस्थाओं के सफलतापूर्वक कार्य–सम्पादन के लिए ग्राम सभाओं को मज़बूत किए जाने की व्यवस्था दी। इस अधिनियम का अभिप्राय इसे एक सशक्त निकाय बनाना था, यथा लोकतांत्रिक शक्ति का चरम ोत और ग्राम पंचायत स्तर पर जनशक्ति का निचोड़। ग्राम सभा में एक गाँव के सभी निवासी होते हैं, और जो 18 वर्ष की आयु से बड़े होते हैं गाँव के चुनाव–संबंधी सूचियों में होते हैं। लगभग सभी राज्य अधिनियम ग्राम सभा के प्रकार्यों का उल्लेख करते हैं। ग्राम सभा के इन प्रकार्यों में शामिल हैं वार्षिक लेखा विवरण, प्रशासन, सरकारी बयान, दरिद्रता–विरोधी कार्यक्रमों के लाभग्राहियों का चुनाव आदि विषयक चर्चा। हरियाणा, पंजाब व तमिलनाडु के राज्य अधिनियम ग्राम सभा को बजट स्वीकृति का अधिकार प्रदान करते हैं। ग्राम सभा द्वारा एक ग्राम प्रधान चुना जाता है। वह ग्राम पंचायत के अन्य सदस्यों को भी चुनती है। सदस्य–संख्या राज्य–राज्य में भिन्न–भिन्न होती है, और उनकी आबादी

के अनुसार उनमें से कुछ स्थान अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित किए गए हैं तथा कुल सीटों की एक–तिहाई संख्या महिलाओं के लिए आरक्षित की गई है। ग्राम पंचायत के अनिवार्य कार्यों में शामिल होते हैं स्वच्छ पेयजल की व्यवस्था, सार्वजनिक कुओं, तालाबों, औषधालयों, प्राथमिक व माध्यमिक स्कूलों का रखरखाव आदि। अब ग्राम पंचायतों को विकासात्मक कार्य भी सौंपे गए हैं, जैसे लघु सिंचाई योजनाएँ, ग्रामीण वैद्युतीकरण, कुटीर व लघु उद्योग तथा दरिद्रता उन्मूलन कार्यक्रम। खण्ड स्तरीय पंचायती राज संस्थाओं को देश के विभिन्न भागों में विभिन्न नामों से जाना जाता है। गुजरात में उन्हें तालुका पंचायत कहा जाता है, उत्तर प्रदेश में क्षेत्र समिति और मध्यप्रदेश में उन्हें जनपद पंचायत कहा जाता है। इनमें शामिल हैं : (1) पंचायतों के सरपंच, (2) उस क्षेत्र के संसद सदस्य, विधायक व पार्षद, (3) ज़िला परिषद् के निर्वाचित सदस्य तथा (4) उस क्षेत्र की नगरक्षेत्र समिति का अध्यक्ष। पंचायत समिति की शक्तियों में शामिल हैं बीजों व उर्वरकों की उन्नत किस्मों का प्रावधान, स्कूलों, अस्पतालों का रखरखाव, दरिद्रता– विरोधी कार्यक्रम लागू करना और ग्राम पंचायतों के कार्यप्रणाली की देखरेख करना। ज़िला परिषद् ही पंचायती राज संस्थाओं का शीर्ष निकाय है। यह पंचायत समितियों की गतिविधियों का समन्वय करती है। इसमें होते हैं ज़िले की पंचायत समितियों के प्रधान, ज़िले से निर्वाचित सांसद व विधायकगण, ज़िले की प्रत्येक सहकारी समिति से एक–एक प्रतिनिधि, और ज़िले की नगरपालिकाओं का अध्यक्ष भी। ज़िला परिषद् पंचायत समितियों के बजट स्वीकृत करती है। वह शैक्षणिक संस्थानों, सिंचाई परियोजनाओं का रखरखाव करती है, और कमज़ोर तबकों के लिए कार्यक्रम चलाती है।

3.2.6.2 74वाँ संशोधन

74वाँ संशोधन अधिनियम शहरी क्षेत्रों में तीन प्रकार की स्थानीय स्वशासी संस्थाओं के गठन हेतु व्यवस्था देता है। यह दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकता, इलाहाबाद, लखनऊ, पटना आदि जैसे प्रमुख शहरों के लिए नगरनिगमों की व्यवस्था करता है। मध्यम श्रेणी के शहर नगर परिषदें तथा अपेक्षाकृत छोटे कस्बे नगर पंचायतें रखते हैं। प्रत्येक नगर निगम में एक महापरिषद् होती है। इसमें शहर के वयस्क नागरिकों द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं। इन सदस्यों को पार्षद कहा जाता है। निर्वाचित सदस्यों के अलावा, परिषद् में निर्वाचित पार्षदों द्वारा चुने गए वयोवृद्ध जन भी होते हैं। सांसद व विधायक भी इसके सदस्य होते हैं। महापौर सदस्यों द्वारा स्वयं के बीच से ही चुना जाता है। कुछ राज्य महापौर के सीधे चुनाव की व्यवस्था करते हैं। उसे शहर के प्रथम नागरिक के रूप में जाना जाता है। नगर–निगम आयुक्त निगम का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। महापौर निगम आयुक्त को किसी भी विषय पर रिपोर्ट तैयार करने व प्रस्तुत करने को कह सकता है। एक नगर निगम के अनिवार्य कार्यों में शामिल हैं अस्पतालों का रखरखाव, स्वच्छ पेयजल आपूर्ति, बिजली, स्कूल चलाना और जन्मों व मौतों का लेखाजोखा रखना। नगर निगम के विकासात्मक प्रकार्यों में कमज़ोर वर्गों के लिए दरिद्रता उन्मूलन कार्यक्रम शुरू करना शामिल है। नगरपालिका स्थानीय जनता द्वारा निर्वाचित पार्षदों से मिलकर बनती है। अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए शहर में आबादी से उनके अनुपात के अनुसार सीटों का आरक्षण होता है और सीटों का एक–तिहाई महिलाओं के लिए आरक्षित होता है। नगर–निगम कोर्ड का पीठासीन अधिकारी अध्यक्ष कहलाता है जो शहर के मतदाताओं द्वारा चुना जाता है। कुछ राज्यों में नगर–निगम बोर्ड का अध्यक्ष प्राथमिक स्कूल अध्यापकों और निचले स्तर के कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार भी रखता है। एक कार्यकारी अधिकारी नगरपालिका के दिन–प्रति–दिन के प्रशासन को देखता है। अनिवार्य कार्यों में आते हैं बिजली, पेयजल, स्वास्थ्य सुविधाएँ, विद्यालय आदि मुहैया कराना और सड़कों का रखरखाव करना तथा समाज के कमज़ोर वर्गों का हिसाब रखना। छोटे शहर नगर पंचायतें रखते हैं। इसके सदस्य शहर के वयस्क नागरिकों द्वारा चुने जाते हैं। जैसा कि अन्य स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में है, अनुसूचित जातियों व जनजातियों तथा महिलाओं के लिए सीटें आरक्षित हैं। उनके कार्यों में शामिल हैं पेयजल की व्यवस्था, प्राथमिक विद्यालयों का रख–रखाव तथा जन्मों व मौतों का पंजीकरण।

3.2.6.2 संशोधनों की सीमाएँ

73वें संशोधन द्वारा क्रांतिकारी परिवर्तन लाये जाने के बावजूद वह कुछ गंभीर सीमाबद्धताओं को झेल रहा है। पंचायतों के प्रकार्यात्मक अधिकारक्षेत्र के विषय में संदिग्धार्थकता इसकी गंभीर सीमाबद्धताओं में से एक है। समुचित रूप से परिभाषित अधिकारक्षेत्र के अभाव में, वह कार्य सौंपे जाने के लिए राज्य विधानमंडलों के विवेक पर निर्भर रहता है। यह अधिनियम ग्राम सभा की शक्तियों व प्रकार्यों का उल्लेख नहीं करता है। यह संशोधन यह उल्लेख करता है कि ग्राम सभा ऐसे किन कार्यों का निष्पादन करेगी जो राज्य विधानमंडल द्वारा उसे सौंपे जा सकते हैं। अधिकांश राज्यों द्वारा अधिनियमित कानूनों में ग्राम सभा से संबंधित प्रावधान ग्राम सभा को एक शक्तिहीन निकाय में लघुकृत कर देते हैं जो ग्राम पंचायत द्वारा लिए गए निर्णयों पर नित्यक्रम से ठप्पा लगाता है। अगस्त 1997 में नई दिल्ली में आयोजित मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में आदेश पारित हुआ कि ग्राम सभा को इन अधिकारों से सम्पन्न करना आवश्यक होगा आम सभाओं में लाभों को स्वीकृत करना व बाँटना, मसले को अधिकारियों व अन्य प्राधिकरणों के पास ले जाए बग़ैर पेयजल के हैण्डपम्प आदि का स्थान निर्धारित करना। इस सम्मेलन में दृढ़तापूर्वक यह भी कहा गया कि ग्राम पंचायतों में प्राकृतिक संसाधनों का स्वामित्व विहित करना आवश्यक है और साथ ही, ग्राम सभा में ऐसे संसाधनों के प्रबंधन व उनसे आय से संबंधित निर्णयन् अधिकार भी। पंचायती

राज संस्थाओं की एक अन्य महत्त्वपूर्ण सीमाबद्धता, संशोधन उपरांत यह है कि वे अभी तक राज्य की लालफ़ीताशाही की गिरफ़्त में रहकर काम करती हैं। ग्राम प्रधान को तकनीकी व वित्तीय अनुमोदनों के लिए खण्ड कार्यालय के एक महीने में कई–कई चक्कर काटने पड़ते हैं। तथापि इस अधिनियम की एक अन्य त्रुटि यह है कि इसमें पंचायत के कर्मचारियों व उनकी प्रशासनिक स्वायत्तता का कोई ज़िक्र नहीं है। पूर्व में पंचायतें परिणाम देने में विफल रहीं क्योंकि वे कार्यक्रमों को लागू करने हेतु कार्यरत लोगों पर समुचित नियंत्रण नहीं रखती थीं। जब कभी भी स्वास्थ्य व प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में उत्तरदायित्व हस्तांतरित हुए हैं, पंचायती राज संस्थाओं का इन विभागों के कर्मचारियों व बजट पर कोई काबू नहीं रहा है। राज्य सरकारों के हाथ में पंचायती राज संस्थाओं की विसर्जन शक्ति को संशोधन–उपरांत पंचायती राज संस्थाओं की एक सीमाबद्धता के रूप में देखा जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि उनका विसर्जन–संबंधी अधिकार निर्वाचकगण के पास होना चाहिए, न कि किसी अन्य प्राधिकरण के पास। यहाँ तक कि मताधिकार सहित अथवा रहित क्रमशः ज़िला परिषद् व पंचायत समिति संबंधी सांसद/विधायक की वैकल्पिक सदस्यता हेतु प्रावधान को भी एक सीमाबद्धता के रूप में देखा जाता है क्योंकि यह पंचायती राज संस्थाओं की शक्तियों पर नियंत्रण रख सकता है। पूर्व में, पंचायती राज संस्थाओं के मार्ग में मुख्य अवरोध उनके सामने आने वाला संसाधन–निर्णायक क्षण रहा है। ऐसा पंचायती राज संस्थाओं के इख़्तियार में अपर्याप्त संसाधनों के कारण था। यहाँ तक कि नया संशोधन भी पंचायती राज संस्थाओं के लिए राजस्व का कोई साधन उत्पन्न नहीं करता। उसने इन्हें राज्य वित्त आयोग के विचारार्थ छोड़ दिया है। शहरी स्थानीय–शाली संस्थाओं को भी जनसंख्या वृद्धि के कारण न्यूनता और नौकरियों व बेहतर जीवन की तलाश में ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों को आ रहे लोगों को झेलना पड़ रहा है।

सारांश

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि 73वें व 74वें संशोधनों ने देश में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण एवं स्थानीय स्वशासन के क्रम–विकास में उल्लेखनीय विकास को न सिर्फ़ नया जन्म दिया है बल्कि उसका कायाकल्प भी किया है। उन्होंने समाज के कमज़ोर वर्गों के सशक्तीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और उनके लिए कुछ निश्चित सीटों के आरक्षण की व्यवस्था दी है। इस संशोधनों द्वारा किए गए हितकर परिवर्तनों के बावज़ूद, जैसा कि अनुभव दर्शाता है, इन संस्थाओं को अब तक अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। देशभर में उनका कार्य–प्रदर्शन एक–सा नहीं है। बुलन्द स्थानीय स्वशासी संस्थाओं के लिए जो आवश्यक है वो है राज्य सरकार की सशक्त राजनीतिक इच्छा और नौकरशाही से सहयोग। उन्हें सफल बनाने के लिए लोगों की ओर से भी एक दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है।

3.2.6 अभ्यास प्रश्नावली

1. भारत में विकेन्द्रीकरण की धारणा का मूल कहाँ ढूँढा जा सकता है?
2. वे प्रस्तावित सुधार क्या हैं जो कि अशोक मेहता कमेटी की रिपोर्ट द्वारा निरूपित किए गए हैं?
3. भारत में विकेन्द्रीकरण व स्थानीय स्वशासन पर एक विश्लेषणात्मक टिप्पणी लिखें।
4. पंचायती राज व्यवस्था विषयक 73वें व 74वें संविधान संशोधन के मुख्य प्रावधान क्या हैं?
5. पंचायत व्यवस्था से संबंधित संशोधनों की सीमाबद्धताओं को संक्षेप में प्रस्तुत करें।

अध्याय–3
राजनैतिक दल एवं राजनैतिक सहभागिता

संरचना

3.2.9 उद्देश्य
3.2.10 प्रस्तावना
3.2.11 राजनैतिक सहभागिता की परिकल्पना
3.2.12 राजनैतिक सहभागिता का रूप
3.2.13 राजनैतिक सहभागिता लोकतंत्र एवं राजनैतिक दल
3.3.5.1. सैद्धान्तिक चर्चा एवं व्यवहारिक भिन्नताएं
3.2.14 भारत में राजनैतिक सहभागिता एवं राजनैतिक दल
3.3.6.1 विकासशील प्रतियोगी दल प्रणाली के माध्यम से राजनैतिक सहभागिता
3.3.6.2 अधिक मतदाता उपस्थिति
3.3.6.3 दलों की राजनैतिक सहभागिता की सामाजिक प्रकृति
3.2.15 गैर–पार्टी संस्थाएं एवं राजनैतिक सहभागिता
3.2.16 राजनैतिक सहभागिता एवं भारतीय लोकतंत्र
3.2.17 सारांश
3.2.18 अभ्यास प्रश्नावली

3.3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय में सफल लोकतंच की एक मजबूत व अनिवार्य आवश्यकता राजनैतिक सहभागिता की परिकल्पना का उल्लेख किया गया है। राजनीतिक सहभागिता में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका है। राजनीतिक दलों के माध्यम से चुनावों में भाग लेना, सरकार की आलोचना करना, मतदान करना राजनीति सहभागिता को स्पष्ट करता है। यह सहभागिता सकारात्मक हो ऐसा प्रयास राजनीतिक दलों को करना चाहिए और अपनी भी सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिए।

3.3.2 प्रस्तावना

सहभागिता एक कार्यकलाप तथा अभिवृत्ति दोनों हैं। कार्यकलाप के रूप में यह एक सामाजिक कार्यकलाप है। सुबह सैर करता हुआ व्यक्ति किसी कार्यकलाप में शामिल नहीं है जबकि 100 मीटर की दौड़ में भाग लेने वाला है। किसी के पड़ौस में कोई लम्बे समय से रह रहा है और उसे अपने पड़ोसी तक के बारे में पता नहीं तो इसे सहभागिता की अभिवृत्ति न होना कहा जाएगा। तो फिर राजनैतिक सहभागिता क्या है ? 1950 के दशक के बाद से इस पर व्यापक चर्चाएं हुई हैं तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीति वैज्ञानिकों में राजनैतिक सहभागिता के महत्व तथा आवश्यकता पर आम समझौता हुआ है किन्तु इस दृष्टिगोचर समझौते में राजनैतिक सिद्धांत तथा व्यावहारिक राजनीति दोनों के स्तर पर प्रमुख विवाद दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। इन सभी पहलुओं पर विस्तृत चर्चा करने से पहले हमें यह समझना होगा कि आखिर राजनैतिक सहभागिता क्या है ?

3.3.3 राजनैतिक सहभागिता की संकल्पना

राजनीति विज्ञान में राजनैतिक सहभागिता की परिकल्पना को व्यावहारवादियों ने लोकप्रिय बनाया है। वास्तव में, अधिक राजनैतिक सहभागिता के पक्ष में रूसो के बाद से गणतंत्रवादी तथा लोकतंत्रवादी सिद्धांतकारों द्वारा तर्क दिए गए थे जिन्हें आज की समकालीन राजनैतिक सिद्धांतवादी उपयोग में ला रहे हैं। व्यवहारवादी प्रतिमान राजनीति के उदारवादी मत पर आधारित हैं। पुरातन दृष्टि से ऐसे मत से एक ओर तो राज्य तथा व्यक्ति के बीच तो दूसरी ओर सार्वजनिक और निजी के मध्य भेद किया जाता है। इस मत के अन्तर्गत बाद की श्रेणियों की ओर भी झुकाव परिलक्षित होता है। तदनुसार, जब सहभागिता को अभिवृत्ति के रूप में देखा जाता है तो इसका अर्थ व्यक्ति के राज्य या सरकार के प्रति अनुकूल अभिविन्यास से माना जाता है। इसी आधार पर अमरीकियों को ''सहभागितापूर्ण राजनैतिक संस्कृति'' वाले माना गया।

संस्कृति तथा राजनैतिक संस्कृति की परिकल्पना का प्रणालीबद्ध उपयोग 1950 के दशक से आरम्भ हुआ। इसमें राजनैतिक संस्कृति को राजनैतिक प्रणाली की मान्यताओं से संक्षिप्त अभिव्यक्ति के रूप में लिया जाता है। यह राज्य के सार्वजनिक विचारों तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के गुणों के कहीं बीच स्थित है।

गैब्रियल एमंड ;ळंइतपमस ।सउवदकद्ध के अनुसार यह उन राजनैतिक उद्देश्यों के प्रति ''अभिविन्यास का विशिष्ट पैटर्न'' है जिनसे राजनैतिक प्रणाली बनी है। अभिविन्यास राजनैतिक कार्य से पूर्व की स्थिति है तथा परम्परा, ऐतिहासिक स्मरणों, उद्देश्यों, मापदण्डों, भावनाओं व प्रतीकों द्वारा निर्धारित होने के कारण संस्कृति सहजप्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। इन विन्यासों को संज्ञात्मक विन्यास (राजनैतिक प्रभावों का ज्ञान तथा जानकारी), प्रभावकारी विन्यास (लक्ष्यों से संबंधित भावनाएं) तथा मूल्यांकन विन्यास (उनके संबंध में निर्णय) में वर्गीकृत किया जा सकता है। एमंड बाद में (वरबा के साथ) आदर्श संस्कृति अथवा नागरिक प्रकार का प्ररूपविज्ञान विकसित किया हैं जहां पर अधिकांश जनता आरम्भिक प्रक्रियाओं में अभिमुख होती है तथा स्वयं को नीतियों के निर्माण में अपेक्षित तथा सहायक मानती है तो राजनैतिक संस्कृति सहभागी मानी जाएगी; ब्रिटिश, अमरीकी तथा स्कैंडेनेवियन राजनैतिक प्रणालियां इसके तहत आती हैं। इसी प्रकार से व्यक्ति के कार्यकलापों के संदर्भ बिन्दु के तौर पर सरकार कार्यकलाप के ही रूप में राजनैतिक सहभागिता की विशेषता बन जाती है। इस प्रकार से बिर्च ;ठपतबीद्ध ने लिखा है ''राजनैतिक सहभागिता सरकार की प्रक्रिया में सहभागिता है तथा राजनैतिक सहभागिता का मामला अनिवार्य रूप से कई निजी नागरिकों (सार्वजनिक अधिकारियों अथवा चुने हुए राजनेताओं से भिन्न) का मामला है जिससे वह नेताओं के चुनने की प्रक्रिया और/अथवा सरकारी नीतियों को तैयार करने तथा कार्यान्वयन की प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभा सके।''

सहभागिता की उदारवादी परिकल्पना के ''व्यष्टिवाद'' तथा सरकार के सहभागिता के क्षेत्र में होने के कारण समुदायवादी इससे सहमत नहीं है। उनका मत है कि ''अधिकार की राजनीति'' के माध्यम से सरकार की प्रक्रिया में सहभागिता से अधिक महत्वपूर्ण है ''सर्वहिताय राजनीति'' के लिए समुदाय के स्तर पर सहभागिता। उनका यह भी मत है कि सरकार की प्रक्रिया में सहभागिता से महत्वपूर्ण है – स्वायतता का उपयोग, जिसे विशेष प्रकार के सामाजिक पर्यावरण में विकसित कर उपयोग में लाया जा सकता है, ऐसी स्वायतता जो समुदाय को सहयोग करे न कि सरकार को। इस प्रकार से राजनैतिक सहभागिता को, मोटे रूप से, विभिन्न एजेन्टों के माध्यम से तथा सहभागिता के स्तरों जैसे किसी धार्मिक समूह द्वारा सामुदायिक हैल्थ क्लब चलाना अथवा किसी गैर–सरकारी संगठन द्वारा प्रायोजित साक्षरता अभियान में भाग लेना, पर सामुदायिक अथवा नागरिक समाज के राजनैतिक जीवन में सहभागिता के रूप में देखा जा सकता हे। इसी तर्क के अनुसार राजनैतिक सहभागिता किसी लोकतांत्रिक नागरिक के राजनैतिक कर्तव्य के पालन के लिए हो सकती है ताकि वह सहभागितापूर्ण सामाजिक जीवन व्यतीत कर सके न कि केवल कानून एवं व्यवस्था के मुद्दे पर सरकार के प्रति नागरिक जिम्मेदारी निभाए। अधिक राजनैतिक सहभागिता में विस्तृत आर्थिक उद्यमों से बाहर अथवा भीतर कुछ हद तक लोकतांत्रिक नियंत्रण, क्षेत्र अथवा स्थान के रूप में सरकार का छोटी इकाईयों में विकेन्द्रीकरण, समुद्देश्कों/जनमत संग्रह का पर्याप्त उपयोग इत्यादि को अवश्य शामिल किया जाना चाहिए।

3.3.4 राजनैतिक सहभागिता के रूप

राजनैतिक सहभागिता की परिकल्पना में राजनैतिक सहभागिता के निम्नलिखित प्रमुख रूपों को शामिल किया गया है :

1. स्थानीय अथवा राष्ट्रीय चुनावों में मतदान;
2. जनमत संग्रह में मतदान;
3. चुनाव प्रचार अथवा अन्य प्रकार के चुनाव अभियान;
4. किसी राजनैतिक दल की सक्रिय सदस्यता;
5. किसी दबाव समूह की सक्रिय सदस्यता;
6. राजनैतिक उद्देश्य से राजनैतिक प्रदर्शनों, औद्योगिक हड़तालों, सार्वजनिक गृहों में किराए संबंधी हड़तालों तथा सार्वजनिक नीति बदलने के उद्देश्य से चलाए जा रहे इसी प्रकार के कार्यकलापों में भाग लेना;
7. नागरिक अवज्ञा के गई रूप जैसे कर अदायगी अथवा अनिवार्य सैनिक सेवा से इन्कार;
8. सरकार की परामर्शदात्री समितियों की सदस्यता;
9. सार्वजनिक स्वामित्व के उद्योगों के लिए उपभोक्ता परिषद की सदस्यता;
10. सामाजिक नीतियों के कार्यान्वयन में ग्राहकों की भागीदारी;
11. विविध प्रकार के सामुदायिक कार्यकलापों के रूप, जैसे गृह संबंधी अथवा आस.पास के क्षेत्र में पर्यावरणीय मुद्दे।

यदि हम राजनैतिक सहभागिता की व्यापक परिकल्पना को माने तो हम इसके रूपों की सूची में संभवतः इन्हें भी शामिल कर सकते हैं:

1. सामाजिक ड्यूटी जैसे न्यायिक अथवा सैनिक ड्यूटी करना;
2. विवादास्पद मुद्दों पर शहर/गांव की बैठकें तथा सार्वजनिक चर्चा;
3. सह.निर्धारण के विविध रूप जैसे विश्वविद्यालय में छात्र–संकाय समितियां तथा सरकार परामर्शदात्री समितियां;
4. पूर्ण सांझेदारी, प्रतिनिधित्व अथवा सशक्तिकरण जैसे लाभ–हिस्सेदारी अथवा विकास परियोजनाओं को शामिल करते हुए मिलजुल कर परियोजना प्रबंधन;
5. वैयक्तिक तथा सामूहिक अभेदवाद से संबंधित नए सामाजिक आंदोलन जैसे महिलाओं के आंदोलन तथ जातीय–सांस्कृतिक अभेदवाद के आंदोलन।

कुल मिलाकर, कई स्तरों पर तथा कई रूपों के माध्यम से लोग राजनैतिक सहभागिता रख सकते थे जैसे किसी अन्य द्वारा चलाई गई आर्थिक तथा राजनैतिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जुड़कर, अथवा पूर्व–निर्धारित परिमापों के अनुसार कार्यक्रम के संभावित लाभ प्राप्तकर्त्ता के रूप में अथवा किसी नीति के राजनैतिक स्तर पर सह–वैकल्पित न्यायिकता के रूप में या फिर राज्य से स्वतंत्र चयन तथा दिशा निर्धारित करना।

3.3.5 राजनैतिक सहभागिता, लोकतंत्रा एवं राजनैतिक दल

राजनैतिक सहभागिता का रूप हो भी रहा है, यह राजनैतिक कार्रवाई का प्रतिनिधित्व करती है तथा निर्धारित ढांचागत परिमापों के अनुसार कई सामाजिक कारक इसमें शामिल होते हैं। इनकी संरचना सन्निहित, संबंधित तथा संस्थानगत हो सकती है। राजनैतिक सहभागिता से जुड़े अथवा उत्तरदायी कई सामाजिक कारकों में से राजनैतिक दल एक हैं। अन्य भी कई कारक हैं जैसे –स्वैच्छिक संस्थाएं, संस्थानगत समूह और सामाजिक–सांस्कृतिक समुदाय। राजनैतिक सहभागिता के लिए इन कारकों की भूमिका ढांचागत प्रबंध में अंतर की प्रकृति से प्रभावित होती है। अन्य कारकों की तुलना में राजनैतिक दल का कारक के रूप में सापेक्षिक महत्व ऐसे ढांचागत प्रबंधों से प्रभावित होता है जैसाकि राजनैतिक दल की एजेन्सी के माध्यम से राजनैतिक सहभागिता की प्रकृति होती है। ऐतिहासिक रूप से सन्निहित संरचनाएं राजनैतिक सहभागिता के रूप तथा प्रकृति को स्पष्ट रूप से प्रभावित करती हैं। उदाहरण के तौर पर, आधुनिक भारत में जनसंघ अथवा मुस्लिम लीग जैसी पार्टियों का उदय ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान अस्पष्ट साम्प्रदायिक जागरूकता को मूर्त रूप देने के रूप में माना जा सकता है, जिसके कारण पहली बार भारत में जनगणना तथा मानचित्रीकरण आरम्भ हुआ। राजनैतिक दलों पर सापेक्षिक संरचना के प्रभाव के उदाहरण के रूप में भारतीय समाज में जातीय विवाद अथवा कृषि संबंधों का संदर्भ दिया जा सकता है, प्रथम के कारण जस्टिस पार्टी अथवा बहुजन समाज पार्टी जैसी जाति पर आधारित पार्टियों तथा दूसरे के कारण लोकदल जैसी पार्टी के उदय का उदाहरण दिया जा सकता है। इस दृष्टि से राजनैतिक दल विभिन्न संरचनात्मक हितों तथा सिद्धान्तों की सहभागिता सुनिश्चित करते हैं। राजनैतिक दल कैसी राजनैतिक सहभागिता सुनिश्चित करते हैं यह संस्थानगत संरचना की प्रकृति पर भी निर्भर करता है। राजनैतिक पार्टियों के माध्यम से सहभागिता की प्रकृति, उदाहरण के तौर पर, राजनैतिक प्रणाली की प्रकृति के अनुसार भिन्न–भिन्न हो सकती है। कुछ आधुनिक तानाशाह शासनों में जैसे जर्मनी में हिटलर के शासन में सरकारी नीतियों के बारे में सहयोग प्राप्त करने के लिए शासक पार्टी में व्यापक सदस्यता को बढ़ावा दिया गया। इसी प्रकार से, संस्थानगत प्रबंध जैसे लोकतंत्र में चुनावी प्रणाली राजनैतिक दलों की सहभागिता की भूमिका को प्रभावित करती है। चुनावी प्रणाली को तीन प्रमुख श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है – अनेकता– बहुसंख्यक प्रणाली, आनुपातिक प्रतिनिधित्व (पी आर) प्रणाली तथा सेमि.पी आर प्रणाली। फर्स्ट–फास्ट–द–पोस्ट (एफ पी टी पी) प्रणाली जिसके अंतर्गत उम्मीदवार एकल सदस्य जिलों से चुने जाते हैं के तृतीय दलों के लिए बाधक सिद्ध होते हैं जिससे दो दलीय प्रणाली की स्थापना को बढ़ावा मिलता है। ऐसा तब होता है जब जीतने वाले दल को सभी चुनावी जिलों से एक समान सहयोग प्राप्त होता है। उदाहरण के तौर पर एक पार्टी 52 प्रतिशत वोट प्राप्त कर 60 प्रतिशत सीटें प्राप्त कर सकती हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसी अवस्था में राजनैतिक दल राजनैतिक सहभागिता के सीमित एजेन्ट बन जाते हैं। पी आर प्रणाली के परिणामस्वरूप अक्सर बहु–दलीय प्रणाली का विकास होता है तथा इस प्रकार से मतदाता के पास चयन की अधिक स्वतंत्रता रहती है। यद्यपि इससे सरकार कम प्रभावी हो जाती है क्योंकि एक पी टी वी के स्पष्ट बहुमत के न होने पर गठबंधन का बहुमत होने से सरकारें अस्थिर होती हैं किन्तु यह मानना भी गलत होगा कि पार्टी–प्रणाली की प्रकृति का निर्धारण अकेले चुनावी प्रणालियों की प्रकृति से होता है। सन्निहित तथा सापेक्षिक संरचना का आमतौर पर संस्थानगत संरचना पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। यदि हम भारत का उदाहरण लें तो हम देखते हैं कि राष्ट्रीय तथा राज्य के स्तरों पर प्रत्येक पांच वर्ष में नियमित चुनाव कराए जाते हैं। यदि हम केवल संस्थानगत दृष्टि से राजनैतिक सहभागिता के स्तर तथा प्रकृति का मूल्यांकन करें तो हम दलों की संख्या, मतदाताओं की

उपस्थिति, चुनाव परिणामों, उम्मीदवारों की संख्या तथा अन्य की गणना इस विचार से करेंगे कि जितनी संख्या अधिक होगी, उतनी ही अधिक सहभागिता होगी किन्तु इससे हम पार्टी कार्यकर्ताओं तथा गैर–मतदाताओं की राजनैतिक सहभागिता के व्यापक स्तर को अनदेखा करेंगे और हम यह भी नहीं समझ पाएंगे कि भारत में चुनाव राजनैतिक त्यौहार है जिसमें सहभागिता व्यक्ति विशेष की तर्कसंगत गणना, जिसमें चुनाव की हर अवस्था शामिल होती है– टिकट प्राप्त करना, चुनाव अभियान तथा बैलट पेपर पर चिन्ह अंकित करना, की अपेक्षा जनता की इच्छा का शान्तिपूर्ण प्रदर्शन होता है। यहां हमारी एफ पी टी पी प्रणाली है परन्तु भारत में व्यापक सामाजिक तथा क्षेत्रीय भिन्नताएं रही हैं। जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को देशभर से समर्थन मिला तो पार्टी को अधिक सीटें मिलीं। परन्तु जब जब सामाजिक तथा क्षेत्रीय भिन्नताओं के कारण नई पार्टियां एकजुट हुईं तो मतदाता के समर्थन में अन्तर्जिला भिन्नता के कारण उसे यह लाभ कम मिला और किसी न किसी रूप में बहु दलीय प्रणाली आई।

राज्य स्तरीय चुनावों की संघीय संरचना के कारण इस प्रक्रिया में सहायता मिली। हम इकाई के अगले भाग में हम राजनैतिक सहभागिता में आए इस परिवर्तन के महत्व पर चर्चा करेंगे परन्तु उससे पहले लोकतंत्र में राजनैतिक सहभागिता के महत्व की चर्चा करना अधिक रूचिकर होगा।

3.3.5.1. सैद्धान्तिक चर्चा एवं व्यावहारिक भिन्नताएं

सैद्धान्तिक दृष्टि से सहभागिता न केवल व्यवहारात्मक अपितु प्रामाणिक परिकल्पना है। अधिकांश लोगों का मत है कि सहभागिता एक अच्छी बात है परन्तु सहभागिता के वांछित स्तर अथवा राजनैतिक सहभागिता के एक या अन्य रूप के सापेक्षिक महत्व पर कई विचारकों का मत भिन्न है। सहभागिता को अक्सर राजनैतिक प्रणाली की कार्यात्मक आवश्यकताओं की दृष्टि से तर्कसंगत ठहराया जाता है जिससे नागरिकों के लिए बेहतर संचार अथवा अधिक अनुपालन सुनिश्चित किया जा सकता है। व्यक्ति विशेष के लिए सहभागिता लाभप्रद मानी जाती है जबकि लाभ की गणना लागत को कम करके शुद्ध लाभ, गैर–पदार्थों के पुरस्कारों तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में माना जा सकती है। कुछ विद्वान सहभागिता को अमूल्य मानते हैं क्योंकि एक क्षेत्र में सहभागिता से अन्य क्षेत्रों में सहभागिता बढ़ती है। उनमें से अधिकांश लोग जो लोकतंत्र में प्रतिव्यक्ति सहभागिता के पक्षधर है, इस संबंध में रूढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं तथा औसत नागरिक की योग्यता पर संदेह करते हैं परन्तु कई इस मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि सहभागिता से प्राधिकारियों को अपने निर्णयों को वैधानिक रूप देने का अवसर प्राप्त होता है। कई विद्वानों को चुनावी लोकतंत्र के क्षेत्र में राजनैतिक सहभागिता की कारगरता पर संदेह है तथा वे सामुदायिक स्वः सरकार के विविध रूपों के माध्यम से सहभागिता के पक्षधर हैं। व्यावहारिक स्तर पर भी हम राजनैतिक सहभागिता की प्रकृति, स्तरों तथा रूपों में भिन्नता पाते हैं। कई देशों जैसे – आस्ट्रेलिया, बेल्जियम तथा इटली में मतदान अनिवार्य किया गया है। अनुमोदन अथवा पैनल के मापदण्ड अति विनम्र हैं परन्तु इन मामलों में राष्ट्रीय चुनावों में मतदाताओं की उपस्थिति बहुत अधिक होती है, जिसमें कुल मतदाताओं के 90 प्रतिशत से अधिक मतदान करते हैं। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रीय चुनावों में मतदाताओं की उपस्थिति बहुत कम होती है किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में कम मतदान के साथ–साथ एकल मुद्दे वाले दबाव समूहों की संख्या तथा सक्रियता में वृद्धि हुई है। संस्थानगत दृष्टि से, कई यूरोपीय दल व्यापक स्तर पर सदस्यताएं स्वीकार कर रहे हैं तथा प्रत्येक शहर में शाखाएं खोल रहे हैं और स्थानीय बैठकों में सामाजिक कार्यकलापों के लिए सघन कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। इस प्रकार के दलों के उदाहरण ब्रिटिश कन्ज़रवेटिव पार्टी तथा जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के रूप में देखे जा सकते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से अमरीकी दल इनके समक्ष बहुत छोटे हैं। कार्यकलापों की दृष्टि से भी, यूरोपीय दलों की तुलना में अमरीकी दल बहुत छोटे प्रतीत होते हैं।

उदाहरण के तौर पर, ब्रिटिश कन्ज़रवेटिव पार्टी तथा लेबर पार्टी का व्यापक प्रकाशन व्यवसाय है, इनके चर्चा समूह हैं तथा इनके द्वारा युवा आंदोलन चलाए जा रहे हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप दोनों में जनमत संग्रहों में वृद्धि हुई है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसे आरम्भ करने के लिए अभियान तथा जनमत संग्रह 1880 तथा 1890 के पाप्यूलिस्ट आंदोलन से हुआ। 1978 में राज्य के नियमों में कैलीफोर्निया में प्रस्ताव 13 के लागू होने से अभूतपूर्व परिवर्तन आया जब सम्पत्ति कर को आधे से कम करने का प्रस्ताव रखा गया। यह प्रवृत्ति शीघ्र ही हर ओर फैल गई तथा 1970 और 1986 के बीच 22 राज्यों तथा कोलम्बिया जिले में मतदाताओं ने 158 राज्यव्यापी इनिशिएटिव पारित किए। स्विटज़रलैण्ड में मतदाताओं ने यह निर्णय लिया कि उनका देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक में तो शामिल होगा परन्तु संयुक्त राष्ट्र (United Nation) या यूरोपीय यूनियन में नहीं। 1992 में डेनमार्क तथा फ्रांस में मैस्ट्रिच्ट समझौते में संशोधन लाने पर जनमत संग्रह हुए। यदि हम राजनैतिक सहभागिता के व्यापक रूप पर दृष्टिपात करें तो हम यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों में गैर–दलोन्मुख राजनैतिक सहभागिता के हाल ही के रूप पाएंगे। ब्रिटेन में ग्राहक सहभागिता कई रूपों में विकसित हुई है जैसे स्थानीय समुदाय स्वास्थ्य परिषदें,

''रोगी'' सहभागिता समूह, किराएदार संघ, स्कूलों के शासी निकायों में अभिभावकों तथा छात्रों की भागीदारी। संयुक्त राज्य अमेरिका में परमाणु हथियारों के विरोधी समूह जबकि जर्मनी में पर्यावरणीय समूह अत्यंत सक्रिय हैं।

3.3.6 भारत में राजनैतिक सहभागिता एवं राजनैतिक पार्टियां

उपरोक्त चर्चा से भारत में राजनैतिक सहभागिता की प्रकृति तथा सीमा और इस संबंध में राजनैतिक दलों की भूमिका की तुलनात्मक जानकारी का तत्काल आधार नहीं मिलता। इसके लिए हमें भारतीय राजनीति की विशिष्टताओं तथा भारत में दलगत राजनीति का उल्लेख अवश्य करना होगा। समकालीन विकासशील समाजों में भारतीय राजनीति की विशेष पहचान है क्योंकि लघु आपातकाल अवधि को छोड़कर 50 वर्ष का लोकतंत्र है जिसकी कुछ विरोधाभासी विशेषताएं हैं– निरक्षरता की उच्च दर तथा कृषि से जुड़ी जनसंख्या होने के बावजूद अधिक मतदाता उपस्थिति। कई मतदान क्षेत्रों पर संगठित राजनैतिक दलों का संगठन या नियंत्रण न होने पर भी बहुस्तरीय चुनावी प्रक्रिया, जनता और नौकरशाही के बीच बिचौलियों, गैर दलीय आंदोलनों, विशेषकर धार्मिक तथा जातीय समूहों सहित भारतीय प्रकार के हित समूहों के साथ–साथ विविध संगठित हित संघों का होना। भारतीय दल प्रणाली भी विशिष्ट है तथा यूरोपीय और अमरीकी प्रणालियों से काफी भिन्न है। पॉल ब्रास ;च्ंनस ठतेंद्ध के अनुसार ''भारत में दलगत राजनीति की कई विरोधाभासपूर्ण विशेषताएं हैं जिनमें देसी प्रक्रियाओं और संस्थाओं की नौकरशाही संस्था और सहभागिता राजनीति के पश्चिमी तथा आधुनिक रूपों का साथ संगम दृष्टिगोचर होता है।'' भारत के प्रमुख राजनैतिक दल, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस विश्व में सबसे पुराने दलों में से है फिर भी यह संस्थानगत पार्टी प्रणाली का केन्द्रक नहीं बन पाई जो पश्चिम की पार्टी प्रणाली की किसी परम्परागत श्रेणी के लिए उपयुक्त हो। भारत की सामाजिक विविधता ने भारतीय पार्टी प्रणाली की जटिलता को और बढ़ा दिया है। पार्टी प्रणाली में परिवर्तन का केन्द्र भारतीय जनता पार्टी का विकास है। पार्टी प्रणाली में परिवर्तन की प्रकृति के बावजूद दल भारतीय राजनीति के केन्द्र रही हैं। भारत में ओपिनियन पोल ;व्चपदपवद च्वससद्ध ने बार–बार दर्शाया है कि लोग आमतौर पर उम्मीदवार की अपेक्षा पार्टी को वोट देते हैं। कई मामलों में तो पार्टियां मजबूत रही हैं, उन्होंने गहरी वफादारी का संबंध पीढ़ी–दर–पीढ़ी बनाए रखा है और पार्टियों के चुनावी चिन्ह को अत्यधिक मनौवैज्ञानिक महत्व दिया गया है। संविधान के 73वें तथा 74वें संशोधन के बाद दलों ने पंचायत तथा नगर पालिका संस्थानों में कार्य प्रणाली का नया स्तर पाया है। इससे चुनाव तंत्र की पहुंच बढ़ी है तथा राजनैतिक सहभागिता के एजेन्टों के रूप में राजनैतिक दल अधिक महत्वपूर्ण बन गए हैं। इन तथ्यों के मद्देनजर आइए अब हम राजनैतिक सहभागिता के एजेन्ट के रूप में भारतीय राजनीतिक दलों की भूमिका की चर्चा करें।

3.3.6.1. विकासशील प्रतियोगी दल प्रणाली के माध्यम से राजनैतिक सहभागिता

भारतीय राजनैतिक परिदृश्य का कोई भी पर्यवेक्षक राजनैतिक दलों की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि को अनदेखा नहीं कर सकता। यह वृद्धि राष्ट्रीय तथा राज्य दोनों स्तरों पर हुई है। मतदान अंश, सीटों के बंटवारे के रूप में वर्तमान दलों के टूटने, राष्ट्रीय तथा राज्य स्तरों पर चुनावी गठबंधनों के बनने, नई राजनैतिक पार्टियों जैसे भारतीय जनता पार्टी तथा बहुजन समाज पार्टी के उदय तथा एन डी ए जैसे पार्टियों के गठबंधन के कारण इसे और बल मिला है।

कांग्रेस पार्टी पर विहंगम दृष्टिपात से पार्टी के भीतर के स्तर पर राजनैतिक सहभागिता का क्षेत्र संकुचित होते जाने तथा पार्टी के बाहर राजनैतिक सहभागिता के व्यापक होने का पता चलता है। सत्ता हस्तांतरण से पहले कांग्रेस को राष्ट्रवादी आंदोलन का पर्यायवाची समझा जाता था तथा यह जन लहर का प्रतिनिधित्व करती थी और विभिन्न राजनैतिक समूह जैसे साम्यवादी तथा समाजवादी सब इसी में थे। इसमें भारतीय जनता की व्यापक राजनैतिक सहभागिता थी क्योंकि राष्ट्रवादी आंदोलन का उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्ति था। कांग्रेस पार्टी की सहभागिता की भूमिका पर कुछ प्रतिबंध 1946.1950 के बीच लगा जब पार्टी उस पार्टी से भिन्न हो गई जिसने स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इस बात का आभास होने से कि स्वतंत्रता मिलने वाली है, कांग्रेस के भीतर कुछ नए समीकरण बनने लगे। साम्यवादियों, मुस्लिम अलगाववादियों तथा समाजवादियों सहित कई समूहों ने कांग्रेस से संबंध विच्छेद कर लिया जिससे पार्टी के भीतर सहभागिता कुछ हद तक कम हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस संगठन का सर्वाधिक प्रभावी वृतांत रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक ''पॉलिटिक्स इन इंडिया'' ;1970द्ध में दिया है। इसमें उन्होंने एक विशिष्ट प्रणाली को प्रस्तुत किया है जिसमें पार्टी संगठन के विभिन्न रूपों को सरकार की समकक्ष संरचना के साथ जोड़ा गया था जिससे राजनैतिक केन्द्र की प्रधानता के साथ.साथ पार्टी के बाहर से असहमति को स्थान मिल सका तथा विपक्षी दल कांग्रेस से भिन्न मतावलम्बी के रूप में कार्य कर सके। कोठारी ने इसे '' कांग्रेस प्रणाली'' का सरल नाम दिया है। इससे राजनैतिक सहभागिता प्रमुखतः दल संबंधी विवादों के कारण सुनिश्चित की जा सकी। इस पर ब्रास ;ठतेंद्ध ने लिखा है–

''औपचारिक चुनावों से पहले सदस्यता प्राप्त करने की होड़ के माध्यम से, जिसमें प्रतियोगी गुट के नेताओं ने नामांकन का प्रयास किया तथा अधिक से अधिक सदस्य सहयोगियों के माध्यम से, भले ही इनकी संख्या कागजों पर ही क्यों न हो, प्रत्येक स्तर पर महत्वपूर्ण समितियों के नियंत्रण के लिए दलों ने चुनाव लड़ा। यद्यपि पनप चुके दलगत विवाद अक्सर

गहरा गए, इनमें कड़वाहट आ गई तथा ''जाली नामांकन'' के अक्सर आरोप लगाए गए तथापि इनसे पार्टी संगठन को जिन्दा रखा जा सका तथा पार्टी नेताओं पर देशभर में जिला और स्थानीय निकायों में सहयोग प्राप्त करने के लिए दबाव डाला जा सका।''

1967 के चुनावों में तेजी से राजनैतिक विघटन की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। कांग्रेस के मतों में लगभग 5 प्रतिशत की कमी आई। यह केवल 54 प्रतिशत सीटें प्राप्त करने में सफल रही। पिछले संसदीय चुनावों में इसे 74 प्रतिशत सीटें मिली थीं। कई राज्यों में इसे बहुमत नहीं मिल सका। नौ राज्यों – पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, प0 बंगाल, उड़ीसा, तमिलनाडु तथा केरल में गैर. कांग्रेसी सरकारें आईं। पार्टी के भीतर सिंडिकेट तथा इंदिरा गांधी के बीच मतभेद पैदा हो गए जिससे 1969 में पार्टी में विघटन हो गया। नई बनी कांग्रेस को अपनी पहचान वास्तव में इसके नेता से मिली। 1971 में पार्टी की भारी चुनावी जीत से राजनैतिक केन्द्रीयकरण को और बढ़ावा मिला जिसकी परिणिति 1975 के आपातकाल के रूप में हुई। इसके विरूद्ध लोकप्रिय प्रतिक्रिया होना राजनैतिक सहभागिता की दृष्टि से मील का पत्थर साबित हुआ। इसी के कारण पहली बार गैर–काग्रेस गठबंधन सरकार, जनता सरकार, केन्द्र में आई। विभक्त विपक्ष के अवसर का कांग्रेस ने लाभ उठाय और वह 1980 में वापस सत्ता में आई। आठवें आम सभा चुनाव दिसम्बर, 1984 में श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुए तथा राजीव गांधी कांग्रेस (आई) के नेता के रूप में सत्ता में आए। इससे भी पार्टी में राजनैतिक केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं आया। देश में बढ़ते राजनैतिक मतभेदों तथा बोफोर्स तोप सौदे के विवाद की पृष्ठभूमि में 1989 में आम चुनाव हुए। कांग्रेस (आई) को हार का मुंह देखना पड़ा, इसे लोक सभा में केवल 197 सीटें मिलीं। नैशनल फ्रंट को यद्यपि बहुमत प्राप्त नहीं था, तथापि इसने भारतीय जनता पार्टी तथा वामपंथी दलों के बाह्य समर्थन से सरकार बनाई तथा वी0 पी0 सिंह0 इस सरकार के प्रधानमंत्री बने। सरकार केवल एक वर्ष चली तथा कांग्रेस (आई) के समर्थन से चन्द्रशेखर सरकार बनी, कांग्रेस ने अपना समर्थन वापस ले लिया और नौंवी लोकसभा अपने गठन के डेढ़ वर्ष के भीतर ही भंग हो गई। आम चुनाव होने से पहले ही राजीव गांधी की हत्या हो गई तथा सहानुभूति और इसके पक्ष में चुनावी समर्थन से कांग्रेस (आई) की स्थिति कुछ हद तक सुधरी परन्तु फिर भी इसे बहुमत प्राप्त नहीं हुआ तथा 232 सीटों के साथ यह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में आई। पार्टी के चुने गए नेता, पी0 वी0 नरसिंह राव को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। बाद में राव को जनता दल अजीत सिंह घटक का समर्थन मिलने से बहुमत प्राप्त हो गया परन्तु पार्टी संगठनात्मक शक्ति को फिर से प्राप्त नहीं कर पाई तथा धीरे–धीरे पतन की ओर बढ़ने लगी जिसकी परिणिति 1996 के चुनावों के बाद से सत्ता के हटने के रूप में हुई जब भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। हालांकि इसे बहुमत नहीं मिला था तथा विभिन्न क्षेत्रीय पार्टियां जैसे तेलगु देशम पार्टी, डी एम के, जी पी तथा जनता दल, जी के मूपनार की अध्यक्षता में तमिलनाडु में कांग्रेस से अलग हुआ समूह तथा वामपंथी दलों ने इकट्ठा होकर एन एफ – एल एफ ब्लॉक बनाया जिसे बाद में यूनाइटिड फ्रंट कहा गया किन्तु राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा ने यूनाइटिड फ्रंट को कांग्रेस (आई) के समर्थन के बावजूद भारतीय जनता पार्टी के अटल बिहारी वाजपेयी को सरकार बनाने के लिए बुलाया। वाजपेयी ने सरकार भी बनाई परन्तु यह केवल 7 दिन तक चली। उसके बाद जनता जल के एच0 डी0 देवेगौड़ा ने कांग्रेस

(आई) के सहयोग से सरकार बनाई जब पहली बार किसी वामपंथी दल के इतिहास में सी पी आई केन्द्र में सरकार में शामिल हुई। 1996 में ही भारतीय जनता पार्टी ने शिव सेना के साथ गठबंधन किया।

1998 में हिन्दुत्व के प्रति नये रवैये की छवि को अपनाकर इसने अपने गठबंधनों को सुदृढ़ किया तथा क्षेत्रीय अथवा राज्य आधारित कांग्रेस विरोधी अथवा कांग्रेस से गठबंधन की क्षेत्रीय विपक्षी पार्टी (पंजाब, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, हरियाणा, उड़ीसा) या कांग्रेस के अलग हुए किसी घटक (तृणमूल कांग्रेस) बनाम प्रमुख क्षेत्रीय पार्टी (प0 बंगाल) की सहयोगी पार्टी के रूप में उभर कर सामने आई। यह राष्ट्रीय एज़ेन्डा अपनाने में सफल रही तथा चुनाव के बाद भी इसके सहयोगी बने (चौटाला का हरियाणा लोकदल) तथा बाह्य समर्थन से (टी डी पी, एन से) केन्द्र में गठबंधन सरकार बनाने में सफल रही। कांग्रेस पुनः सत्ता में नहीं आ सकी क्योंकि भारतीय जनता पार्टी अपना वर्चस्व बनाए रखने तथा उसी गठबंधन में और पार्टियां जोड़ने में सफल रही जिसका औपचारिक नाम राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एन डी ए) है जिसमें टी डी पी, गोवा की एम जी पी तथा कर्नाटक जनता दल का पटेल गुट शामिल हैं तथा यह गठबंधन तमिलनाडु और हरियाणा में सहयोगी दल बदल चुका है। उपरोक्त प्रवृत्तियों से कांग्रेस के पतन तथा केन्द्रीय स्तर पर सत्ता के नए दावेदारों के उभरने से पता चलता है कि चुनावी गठबंधनों के साथ–साथ पार्टी प्रणाली में विघटन का पैटर्न आता जा रहा है जिससे पार्टी

प्रणाली की सक्षमता में विकास हुआ है तथा सत्ता में अधिक पार्टियों की भागीदारी हुई है जिसके कारण राष्ट्रीय स्तर पर कुछ हद तक द्विदलीय प्रणाली का आविर्भाव हो रहा है।

स्वतंत्र पार्टी (IND)	अन्य	प्रजा समाजवादी पार्टी (SSP), (SOC)	बहुजन समाज पार्टी (BSP)	समाजवादी पार्टी (SP)1991 में (JP)	लाकदल (LKD) (JPS) 1980 में (INCO)	भारतीय मार्क्सवाद साम्यवादी पार्टी (CPIM)	भारतीय मार्क्सवाद साम्यवादी पार्टी (CPI)	जनता दल (United) 1999 में (JD) 1989-98	भारतीय जनता पार्टी (BJP) (BLD) in 1977 (BJS)	भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (INC), 1980 Esa
		1962 तक		1989 तक	1977 तक			(SWA) 1971 तक	1971 rd	
38 15.9%	47 16.59%	12(254) 10.0%	-	-	-	-	16(49) 3.3%	-	3(94) 3.1%	(479)
42 19.4%	31 7.6%	-	-	-	-	-	27(110) 8.9%	-	4(130) 5.9%	(490)
20 11.1%	34 10.5%	6(107) 2.7%	-	-	-	-	29(137) 9.9%	18(173) 7.9%	14(196) 6.4%	(488)
35 13.7%	45 10.0%	23(122) 4.9%	-	-	-	19(62) 4.4%	23(106) 5.0%	44(178) 8.7%	35(251) 9.4%	(516)
14 8.4%	53 13.8%	3(93) 2.4%	-	-	16(238) 10.4%	25(85) 5.1%	23(87) 4.7%	8(56) 3.1%	22(160) 7.4%	(441)
9 5.5%	52 9.9%	-	-	-	3(19) 1.7%	22(53) 4.3%	7(91) 2.8%	-	295(405) 41.3%	(492)
9 6.4%	35 8.5%	-	-	31(432) 19.0%	41(294) 9.4%	36(63) 6.1%	11(48) 2.6%	-	-	(492)
5 8.1%	44 10.0%	-	-	10(219) 6.7%	3(174) 5.6%	22(64) 5.7%	6(66) 2.7%		2(229) 7.4%	415 (517)

12 5.2%	44 12.2%	-	-	0(156) 1.0%	0(117) 0.2%	33(4) 6.5%	12(50) 2.6%	142(243) 17.7%	86(226) 11.5%	48.1% (510)
1 3.9%	41 12.1%	-	-	5(345) 3.4%	0(78) 0.1%	35(60) 6.2%	14(42) 2.5%	59(307) 11.8%	120(468) 20.1%	252 (492)
9 6.3%	115 21.5%	-	11(117) 3.6%	17(111) 3.3%	-	32(75) 6.1%	12(43) 2.0%	46(196) 8.1%	16(471) 20.3%	36.5% (140)
6 2.4%	141 26.3%	-	5(249) 4.7%	20(164) 5.0%	-	32(71) 5.2%	9(58) 1.8%	6(190) 3.2%	179(384) 25.5%	20.0% (474)
6 2.8%	143 27.1%	-	14(225) 4.2%	26(515) 3.8%	-	33(72) 5.4%	4(54) 1.5%	21(60) 3.1%	182(339) 23.8%	(453)

बी एल डी : भारतीय लोकदल

बी जे एस : भारतीय जनसंघ

एस डब्ल्यू ए : स्वतंत्र पार्टी

उपरोक्त प्रवृत्ति न केवल राष्ट्रीय स्तर पर रही है अपितु इसने में राज्यों को भी प्रभावित किया है। गैर–कांग्रेस वोट को मजबूती? 1967.1989 के बीच हुए आम चुनावों (मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश इत्यादि) राज्य पर आधारित छोटी पार्टियों के साथ कांग्रेस गठबंधन (केरल, त्रिपुरा) वामपंथी गठबंधन तथा इसी प्रकार के अन्य गठबंधन हुए हैं। ऐसा ही राज्य विधानसभा चुनावों में भी हुआ। यहां संसदीय चुनावों की अपेक्षा कांग्रेस की स्थिति और विकट हो गई है तथा प्रमुख चुनौती देने वाली पार्टियों अथवा गठबंधनों का सुदृढ़ीकरण हुआ है। राज्य स्तर पर गठबंधन की प्रक्रिया जटिल अथवा बहुपक्षीय है परन्तु यह नोट करने योग्य है कि इनका गठबंधन सैद्धान्तिक विचारों अथवा सामाजिक वर्ग की अपेक्षा कुल वोटों की संख्या बढ़ाने से अधिक हुआ। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत में राजनैतिक पार्टियां एजेन्टों के रूप में न केवल बढ़ी हैं अपितु सत्ता के बंटवारे तथा इसके रख–रखाव में भी इनकी भागीदारी बढ़ी है।

3.3.6.2. अधिक मतदाता उपस्थिति

भारत में राजनैतिक सहभागिता के अध्ययन से संबंधित तथ्य यह है कि भारत में वोटरों की उपस्थिति बढ़ रही है। प्रथम आम चुनावों में यह 47.5 थी जबकि 1999 के चुनावों में यह 59.5 हो गई (जोया हसन, 2002, पृष्ठ 1)। तालिका में इस वृद्धि को दर्शाया गया है :

तालिका 1 : चुनाव आंकड़े, भारतीय संसदीय चुनाव 1952.91

वर्ष	कुल मतदाता (मिलियन में)	म्तदान केन्द्र	डाले गए (मिलियन वोट में)	उपस्थिति (प्रतिशत)
1952	173.2	132,560	80.7	45.7
1957	193.7	220,478	91.3	47.7
1962	217.7	238,355	119.9	55.4

1967	250.1	267,555	152.7	61.3
1971	274.1	342,944	151.5	55.3
1977	321.2	373,908	194.3	60.5
1980	355.6	434,442	202.3	56.9
1984	375.8	479,214	238.4	64.1
1989	498.9	579,810	309.1	62.0
1991	488.4	594,811	276.8	56.7

स्रोत : पॉल ब्रॉस, 1997, पृष्ठ 104

मतदाताओं की उपस्थिति में वृद्धि की यह प्रवृत्ति विधानसभा चुनावों में भी देखने को मिलती है। 16 राज्यों में किए गए अध्ययनों के आधार पर योगेन्द्र सिंह (1998) ने उच्च राजनैतिक सहभागिता तथा राजनीति में नागरिकों की बढ़ती भागीदारी की दृष्टि से भारतीय लोकतांत्रिक राजनीति में नए चरण का आरम्भ पाया है। आंकड़ों के लिए कृपया नीचे दी गई तालिका 2 देखें :

तालिका–2 : विधानसभा चुनावों में मतदाताओं की प्रतिशत उपस्थिति, 1984.1995

राज्य	1984.5	1989.90	1993.5	बढ़ोतरी
आन्ध्र प्रदेश	66.7	67.6	71.1	3.5
अरूणाचल प्रदेश	76.3	68.9	81.4	12.3
बिहार	55.1	62.2	61.8	–0.4
दिल्ली	55.6	54.3	61.8	–
गुजरात	47.7	51.1	64.7	13.6
गोवा	71.9	68.7	71.7	3.0
हिमाचल प्रदेश	69.6	66.7	71.7	5.0
कर्नाटक	66.3	63.8	68.8	5.0
मध्य प्रदेश	48.6	52.8	59.0	6.2
मणिपुर	87.3	80.6	88.8	8.2
महाराष्ट्र	58.3	61.1	72.0	10.9
मिज़ोरम	70.6	80.4	80.8	0.4
उड़ीसा	51.4	55.5	73.8	18.3
राजस्थान	54.0	56.5	60.6	4.1
सिक्किम	62.6	69.5	81.0	11.5
उत्तर प्रदेश	44.8	48.5	57.1	8.6
कुल	55.3	60.3	64.2	3.9

स्रोतः योगेन्द्र यादव, 1998, पृष्ठ 18

न केवल मतदाताओं की संख्या में वृद्धि हुई है अपितु उम्मीदवारों की संख्या भी 1990 के दशक में अभूतपूर्व रूप से बढ़ी है। यादव के अनुसार :

''पिछले कुछ दशकों में उम्मीदवारों की संख्या में धीरे–धीरे वृद्धि हुई है यद्यपि इसमें उल्लेखनीय वृद्धि 1990 के दशक में हुई। यह वृद्धि लगभग एक उम्मीदवार प्रति चुनाव क्षेत्र की मामूली दर से आरम्भ हुई जिससे चुनावी दंगल में धीरे–धीरे आ रही गंभीरता का पता चलता है परन्तु 1980 के दशक के बीच के वर्षों के दौरान इसमें अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। 1993.95 के दौरान उम्मीदवारों की संख्या में वृद्धि का यह दौर जारी रहा। यदि 1960 के दशक में प्रथम लोकतांत्रिक क्रान्ति आई तो 1990 का दशक स्वतंत्र भारत की दूसरी लोकतांत्रिक क्रान्ति का समय रहा।

चुनावी प्रक्रिया में गहनता इन तथ्यों से भी स्पष्ट होती है : संसदीय चुनावों के लिए उम्मीदवारों की कुल संख्या 1952 में 1874 थी, 1991 में यह बढ़कर 8953 हो गई। मतदान केन्द्रों की संख्या 1952 में 132ए560 थी जो 1991 में बढ़कर 594ए797 हो गई।

3.3.6.3. दलगत राजनैतिक सहभागिता की सामाजिक प्रकृति

विकासशील प्रतियोगी पार्टी प्रणाली एक प्रकार से क्षेत्रीय तथा राज्य पर आधारित पार्टियों की देन है किन्तु इस मुद्दे पर विस्तृत चर्चा का अर्थ पार्टी प्रणालियों के सामाजिक विदलन सिद्धान्त की साधारण स्वीकृति होगा। कांग्रेस पर किए गए अध्ययनों से पता चला कि पार्टी संगठनों के कुछ सम्पर्क तीव्र सामाजिक घटकों से जुड़े हैं। कांग्रेस एक विजातीय राष्ट्रीय पार्टी नहीं है अपितु उन राज्य समूहों का गठबंधन है जिनका राजनैतिक आधार संबंधित राज्य तथा समुदाय में विघटन और विवाद है किन्तु अन्तर्समूह विवादों की भौगोलिक विशिष्टता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। समूह विवादों का राजनैतिक महत्व एक राज्य से दूसरे राज्य में इस सीमा तक भिन्न होता है कि सामाजिक समूहों तथा पार्टियों के बीच सम्पर्कों की सुदृढ़ता भिन्न हो जाती है। भारतीय लोकतंत्र सहयोगात्मक तथा विरोधात्मक विशेषताओं के वर्णन से यह माना जाता है कि राजनैतिक दलों में प्रतियोगिता के माध्यम से अत्यन्त विभक्त समाज के सामाजिक विभक्तिकरण को व्यक्त किया जा सकता है। इस संबंध में 1990 के दशक में ऐतिहासिक रूप से विकास का लाभ न उठा पाई जातियों के स्वयं को राजनैतिक रूप से स्थापित करने का मामला है। मंडल कमीशन की सिफारिशों के साथ–साथ हाल ही के वर्षों में दलित–बहुजन जातियों का उदय हुआ है जिन्होंने अक्सर मुस्लिम अल्पसंख्यकों को भी अपने साथ जोड़ने की कोशिश की है। इन सामाजिक समूहों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनैतिक दल हैं – बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी तथा जनता दल के घटक – पुरानी जस्टिस पार्टी के बाद से जाति पर आधारित दलों की संख्या इस प्रकार तेजी से बढ़ी हैं कि भारत में सामाजिक बहुलवाद प्रतियोगी पार्टी प्रणाली में अधिक से अधिक परिलक्षित होने लगा है जो राजनैतिक सहभागिता का कारण है। अतः यह कहा जा सकता है कि कोई राजनैतिक दल राजनैतिक सहभागिता के एजेन्ट के रूप में कार्य करते हुए प्रायः अपने संगठन में आंतरिक बहुलवाद को दर्शाता है। द्रविड़वादी पार्टियों पर हाल ही में किए अध्ययन में नरेन्द्र सुब्रहमण्यन ने यह बताया है कि न केवल सामाजिक बहुलवाद अपितु दलों के आंतरिक बहुलवाद से अधिक प्रतिनिधित्व तथा आपातिक समूहों की सहभागिता और सार्वजनिक संस्कृति व सहिष्णुता के पुनर्स्थापन को बढ़ावा मिला है परन्तु इसका अर्थ यह बिल्कुल नहीं है कि भारत में सभी दल बराबर संगठनात्मक या आंतरिक बहुलवादी हैं।

मतदाताओं की उपस्थिति में वृद्धि की सामाजिक प्रकृति के स्पष्ट पैटर्न नहीं है। महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों की उपस्थिति अधिक रही है परन्तु महिलाओं में सहभागिता दर पुरुषों की अपेक्षा तेजी से बढ़ी है। महिलाओं की उपस्थिति 1975 के 38ण्8 प्रतिशत की तुलना में 1989 में 20 प्रतिशत बढ़कर 57.3 प्रतिशत हुई है किन्तु यह भी देखा गया है कि राजनीति में महिलाओं की भागीदारी अभी भी पुरुषों से बहुत कम है। संसदीय तथा विधानसभा चुनावों में महिला उम्मीदवारों और प्रतिनिधियों की संख्या में कमी का रूझान है यद्यपि स्थानीय स्तर पर आरक्षण के कारण महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है। 1980 के दशक के बाद से देश के अधिकांश भागों में स्वायत महिला समूहों का विकास हुआ है जिसने भारत में राजनैतिक सहभागिता को नया सामाजिक आयाम दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में मतदाता उपस्थिति अधिक थी। राज्यवार आंकड़ों से मोटे रूप से पता चलता है कि मतदाता उपस्थिति दक्षिणी राज्यों, विशेषकर केरल तथा प0 बंगाल में अधिक रहती है किन्तु यादव का यह कहना है कि नई लोकतांत्रिक क्रान्ति की एक विशेषता यह है कि व्यावहारिक रूप से हर स्थान पर ग्रामीण चुनाव क्षेत्र में मतदाता उपस्थिति अधिक रही है। जबकि मुस्लिम बहुल चुनाव क्षेत्रों में मुस्लिम मतदाताओं तथा आरक्षित (अनुसूचित जाति) चुनाव क्षेत्रों में मतदाता उपस्थिति पहले की अपेक्षा अधिक नहीं थी परन्तु आन्ध्र प्रदेश, गुजरात तथा महाराष्ट्र में आरक्षित (अनुसूचित जाति) चुनाव क्षेत्रों में मतदाता उपस्थिति औसत उपस्थिति की तुलना में अधिक थी। इसी प्रकार की प्रवृत्ति महाराष्ट्र के विदर्भ तथा मराठवाड़ा, पूर्वी दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड जैसे पिछड़े क्षेत्रों में देखने को मिली। यद्यपि भारतीय चुनावों में भाग लेने वाले नए सामाजिक चुनाव क्षेत्र का सिद्धान्त पूरी तरह से विकसित नहीं हुआ है, फिर भी कम से कम इस

बात में कोई संदेह नहीं है कि जहां संभव हो ऐसा चुनाव क्षेत्र अब राजनैतिक दलों द्वारा व्यापक रूप से संघटित किया गया है।

3.3.7 गैर दलीय संस्थान एवं राजनैतिक सहभागिता

ऐसे संस्थानों, जैसे ट्रेड यूनियनों, किसान संगठनों तथा विश्वविद्यालयों को राजनैतिक दलों से पूरी तरह से अलग रखना निश्चित रूप से गलत होगा। इनके राजनैतिक दलों के साथ संबंध रहे हैं तथा आज भी है किन्तु कई विचारकों ने इन संस्थानों की राजनैतिक सहभागिता के कारण बनने तथा राजनैतिक पार्टियों को प्रभावित करने में इनकी अक्षमता का उल्लेख किया है। 1980 के दशक के बाद से यह परिवर्तन अधिक स्पष्ट हो गया है। हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप वर्तमान कृषक आंदोलनों का प्रभाव क्षेत्र सीमित हुआ तथा इनमें विदृश्यता आई। दूसरी ओर, वैश्वीकृत शक्तियों ने ट्रेड यूनियनों को कमजोर बना दिया है जिसके कारण पार्टी संगठनों में उनका प्रभाव कम हुआ है जो पार्टियों द्वारा, ट्रेड यूनियनों को कम महत्व देने के रूप में तथा उनके साथ–साथ, यहां तक कि वामपंथी दलों द्वारा चुनावों में प्रायोजित उम्मीदवारों में ट्रेड यूनियन नेताओं के नाम न रखने के रूप में परिलक्षित होता है। विश्वविद्यालयों की संस्था में वृद्धि तथा उनके गिरते स्तर के कारण नागरिक समाज में सहभागी संस्थानों के रूप में उनका प्रभाव कम हो गया है। कई नए समूह, जिन्हें कई बार गैर–सरकारी संगठनों का नाम दिया गया है, प्रमुखतः सरकरी कार्यक्रमों अथवा प्रायोजित विकास परियोजनाओं के कार्यान्वयन से संबंधित राजनैतिक सहभागिता के एजेन्ट के रूप में उभरे हैं। कुल मिलाकर इनकी संख्या कम नहीं है परन्तु फिर भी लोकप्रिय भागीदारी की दृष्टि से उनके महत्व का मूल्यांकन करना अभी उचित नहीं होगा।

''नए सामाजिक आंदोलनों'', ऐसे आंदोलन जो अन्य बातों के साथ–साथ नागरिक स्वतंत्रता तथा मानवाधिकारों के हनन, महिलाओं के प्रति हिंसा या लिंग भेद, पर्यावरण के ह्रास, जनजातीय सभ्यता अथवा जीवन के तरीके के विनाश की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उभरे हैं, के माध्यम से कुछ सीमा तक राजनैतिक सहभागिता में बढ़ोतरी हुई हैं। कई विचारकों ने इन आंदोलनों को ''प्रति प्राधान्य'' ;ब्वनदजमत ीमहमउवदपबद्ध का नाम दिया है तथा इन प्रमुख श्रेणियों का उल्लेख किया है : नारी आंदोलन, वन आंदोलन, बड़े बांध विरोधी आंदोलन। सामान्यतया इनमें से प्रत्येक आंदोलन दूसरे से स्वतंत्र रूप से विकसित होता है तथा परम्परागत राजनैतिक दलों से स्वयं को अलग रखता है। अभेदवाद पर बल तथा ''स्वायतता आंदोलनों' के मामले बढ़े हैं। कई आंदोलनों में तो हिंसात्मक तरीके भी अपनाए गए हैं जो समकालीन भारत में राजनैतिक सहभागिता के गैर.दलीय आधारित माध्यमों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

3.3.8 राजनैतिक सहभागिता एवं भारतीय लोकतंत्रा

राजनैतिक दलों में बढ़ती हुई प्रतियोगिता, मतदाता उपस्थिति में वृद्धि, सहभागिता के नए रूपों के विकास जैसे – नए सामाजिक आंदोलनों, निचले स्तर की राजनीति के संस्थानों तथा ऐतिहासिक दृष्टि से वंचित जातियों और सजातीय–धार्मिक समूहों की स्थानीय स्तर की राजनीति और राजनैतिक प्रधानता के कारण भारत में राजनैतिक सहभागिता में निश्चित तौर पर वृद्धि हुई है। स्पष्टतया यह भारतीय लोकतंत्र के विकास की दिशा में यह अच्छी प्रवृत्ति है। क्या अब भारत में सहभागिता की संस्कृति बन चुकी है ? यद्यपि उच्च राजनैतिक एकजुटता तथा अधिक मतदाता भगीदारी अपने आप में सहभागिता की संस्कृति में योगदान नहीं देते तथापि लोकप्रिय अभिमुखता नियमित प्रशासन तथा समाज के परम्परागत अधिकार प्राप्त चिन्हों पर निर्भरता की अपेक्षा दैनिक जीवन में जन प्रतिनिधित्व, चाहे वह प्रमाणपत्रों, सहायता अथवा स्वेच्छाचारिता के संबंध में हो, की ओर उल्लेखनीय रूप से अग्रसर हुई है परन्तु सहभागिता में इस क्रान्ति को लोकतंत्रीकरण की भारतीय प्रक्रिया की जटिलता के मद्‌देनजर समझा जाना चाहिए। यह संदेहास्पद है कि चुनावी क्षेत्र में अपनी नागरिकता की सर्वप्रभुतासम्पन्न शक्तियों का प्रयोग करने वाले किसी युक्तिसंगत व्यक्ति को कितना महत्व दिया गया है। यह संदेह प्रक्रियात्मक लोकतंत्र की आधारभूत आवश्यकताओं जैसे सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार ;न्दपअमतेंस ।कनसज थ्तंदबीपेमद्ध कानून एवं आधारभूत अधिकारों के नियमों के न पूरा हाने से नहीं अपितु लोकतांत्रिक प्रक्रिया में व्यक्ति की अर्थपूर्ण तथा युक्तिपूर्ण भागीदारी पर दबावों के कारण उठता है। सर्वप्रथम छोटी–छोटी असंख्य पार्टियों, जो उचित रूप से संस्थानगत नहीं हैं, तथा पूर्ण रूप से करिश्माई नेताओं तथा कुछ बड़ी पार्टियों, जो संस्थानकरण में कोई रुचि नहीं रखते, के पूर्ण नियंत्रण में होने के कारण जन विशेष की भागदारी अत्यंत बाध्य हो जाती हैं क्योंकि अभी भी राजनैतिक दल भारतीय लोकतांत्रिक प्रक्रिया का केन्द्र हैं। दूसरे, हाल ही के वर्षों में हुए विकास से मतदाताओं के अधिकार पर बाध्यताएं लगी हैं जैसे कि चुनावी उम्मीदवारों की योग्यताओं तथा सम्पत्ति को पारदर्शी बनाने का विफल प्रयास, इलैक्ट्रानिक वोटिंग मशीनों का अधिक से अधिक इस्तेमाल जिससे कि मतदाता अपना मत ''बेकार'' न कर सकें तथा इस प्रकार से उम्मीदवारों के प्रति अपनी असहमति व्यक्त न कर सकें। तीसरे, राजनैतिक विदलन द्वारा सामाजिक विदलन को निष्प्रभावित करने की अपेक्षा असैद्धान्तिक एकजुटता के कारण, भारत में राजनैतिक विदलन स्वयं को सामाजिक विदलन पर स्थापित करता है जिससे कि ''अभिशासन का संकट'' उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार से जन साधारण को दलों द्वारा एक जुट करने तथा उनके राजनीतिकरण से भारतीय लोकतंत्र में गहराई आने की अपेक्षा यह अधिक सम्मिलित हुआ है परन्तु इस सम्मिलन की समस्या यह है कि इसकी शर्तें सदैव इसमें समाविष्ट और आधुनिक नहीं

होती परन्तु प्रायः अनन्य होती हैं तथा ''किसी गैर–यूरोपीय अवस्था में लोकतांत्रिक राजनीति के आधुनिक विचारों, आदर्शों तथा संस्थानों के प्रभावी क्रिओलीकरण'' (यादव, 1998, पृ0 187) की दिशा में कदम आगे बढ़ाती हैं। अंत में, प्रभावोत्पादक राजनैतिक कार्यकलापों के गैर–चुनावी तरीकों के लिए संस्थानगत क्षेत्र यूरोपीय अवस्थाओं के क्षेत्र के अनुसार नहीं बढ़ा है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत में राजनैतिक दल राजनैतिक सहभागिता की सर्वाधिक प्रभावी एजेन्ट सिद्ध हुए हैं। भारतीय लोकतंत्र में हाल ही के वर्षों में राजनैतिक सहभागिता के नए रूप सामने आए हैं तथा राजनैतिक सहभागिता भी पहले से बढ़ी है फिर भी भारतीय राजनीति में इनकी वास्तविक प्रकृति तथा महत्व विवाद का विषय है।

3.3.9 सारांश

राजनैतिक सहभागिता की परिकल्पना भारतीय लोकतांत्रिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण बन गई है। इस परिकल्पना को लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अनिवार्य पहलू बनाने का श्रेय व्यावहारविदों को जाता है। राजनैतिक सहभागिता के विविध रूप हैं – जनमत संग्रह में मतदान, राजनैतिक दलों तथा दबाव समूहों की सदस्यता, सरकारी परामर्शदात्री समितियां, सामाजिक नीतियों के कार्यान्वयन में शामिल होना इत्यादि। विकासशील प्रतियोगी प्रणाली में राजनैतिक दलों की संख्या में वृद्धि से समाज के विभिन्न वर्गों में राजनैतिक सहभागिता का क्षेत्र बढ़ाने में सहायता मिली है। गैर.दलीय संस्थान जैसे गैर–सरकारी संगठन नारी आंदोलनों, बड़े बांध विरोधी आंदालनों इत्यादि के माध्यम से लोगों की समस्याओं को उजागर कर रहे हैं। राजनैतिक सहभागिता के अन्य प्रमुख कारकों में शामिल हैं – अधिक मतदाता उपस्थिति, जातीय एवं धार्मिक समूहों तथा वंचित समूहों के स्वयं को राजनैतिक रूप में स्थापित करने के प्रयास इत्यादि। प्रभावी सहभागिता तथा भारतीय लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अंतिम मूल्यांकन को कई रूपों में परिभाषित किया जा सकता है तथा यह एक विवादास्पद मुद्दा है।

3.3.10 अभ्यास प्रश्नावली

1. राजनैतिक सहभागिता की व्यावहारविदों की परिकल्पना का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए।
2. राजनैतिक सहभागिता के भारत में राजनैतिक दलों पर प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।
3. राजनैतिक दलों की राजनैतिक सहभागिता की सामाजिक प्रकृति पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।
4. सहभागिता के गैर दलीय संस्थान कौन–कौन से हैं ? वे लोकतांत्रिक प्रक्रिया के पूरक के रूप में कैसे कार्य करते हैं ?
5. राजनैतिक सहभागिता ने भारतीय लोकतंत्र को अधिक समादेशित बना दिया है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

अध्याय–4
भारत में श्रमिक वर्ग एवं कृषक आन्दोलन

संरचना

3.2.19 उद्देश्य
3.2.20 प्रस्तावना
3.2.21 भारत में श्रमिक वर्ग आन्दोलन
3.4.3.1. भारत में पूर्व कालीन तथा समकालीन श्रमिक वर्ग का उदय एवं संबंधित कुछ पहलू
3.2.22 भारत में कृषक आंदोलन
3.4.4.1. औपनिवेशिक भारत में कांग्रेस, साम्यवादी एवं कृषक आंदोलन
3.4.4.2. औपनिवेशिकोत्तर भारत में ग्रामीण निर्धन आंदोलन
3.2.23 सारांश
3.2.24 अभ्यास प्रश्नावली

3.4.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य भारत में श्रमिक व कृषक आंदोलनों का वर्णन करना है। स्वतंत्रता के पूर्व व स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय श्रमिकों व कृषको ने अपने हित के लिए आंदोलन किए। उन्हीं प्रमुख आंदोलनों का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है। यद्यपि इन आंदोलनों के समक्ष कई चुनौतियाँ रहीं लेकिन फिर भी ये किसानों में जन जागृति जगाने में सफल रहें।

3.4.2 प्रस्तावना

हाल ही के वर्षों में भारत में सामाजिक आंदोलनों पर होने वाले अध्ययनों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। इसमें रुचि बढ़ने का प्रमुख कारण औपनिवेशिकोत्तर भारत में हुए आंदोलनों की संख्या बढ़ना है। आंदोलनों को आमतौर पर मोटे रूप में दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है– ''नए'' आंदोलन जैसे पर्यावरणीय आंदोलन, अथवा ''पुराने'' आंदोलन जैसे कृषक या श्रमिक वर्ग आंदोलन। जहां तक दृष्टिकोणों का संबंध है ये अध्ययन या तो मार्क्सवादी अथवा गैर.मार्क्सवादी ढांचे पर आधारित हैं। अध्ययनों में उन आंदोलन के जन्म के कारणों, आंदोलनों के आधार, आंदोलनो में नेताओं द्वारा अपनाई गई रणनीति तथा आंदोलनों और संबंधित मुद्दों पर प्राधिकारियों की प्रतिक्रिया पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस इकाई में हम देश के दो प्रमुख सामाजिक आंदोलनों, कृषक आंदोलन तथा श्रमिक वर्ग आंदोलन का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

3.4.3 भारत में श्रमिक वर्ग आंदोलन

इकाई के इस भाग में हम देश में श्रमिक वर्ग आंदोलन पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। श्रम इतिहासविदों के अनुसार, भारत में श्रमिक वर्ग कार्यकलापों की अवधि को चार चरणों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। पहला चरण 1850 से 1890; द्वितीय चरण 1890 से 1918; तृतीय चरण 1918 से 1947 तथा अंतिम चरण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का है। श्रमिक वर्ग आंदोलन पर विस्तृत चर्चा औपनिवेशिक तथा औपनिवेशिकोत्तर भारत में श्रमिक वर्ग के अनिवार्य पहलुओं पर चर्चा के बाद ही होगी। तथापि हम अपनी चर्चा भारत में औद्योगिक श्रमिक वर्ग तक सीमित रखेंगे क्योंकि यही वह क्षेत्र है जिसमें श्रमिक काफी सीमा तक संगठित हैं जबकि असंगठित क्षेत्र के श्रमिक अधिकांशतः संगठित श्रमिक वर्ग के कार्यकलापों की सीमा में नहीं आते।

3.4.3.1. भारत में पूर्वकालीन तथा समकालीन श्रमिक वर्ग का उदय तथा संबंधित कुछ पहलू

आधुनिक भारतीय श्रमिक वर्ग का प्रादुर्भाव भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में फैक्टरी उद्योग के विकास के परिणामस्वरूप हुआ। तथापि 19वीं शताब्दी के अंतिम तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में इसने श्रमिक वर्ग का रूप लिया। श्रमिक वर्ग की कुल जनसंख्या का सही आकलन करना सरल नहीं है परन्तु एन0 एम0 जोशी ने 1931 की जनगणना के आधार पर इनकी जनसंख्या 50 मिलियन कही है जिसमें से लगभग 10 प्रतिशत संगठित उद्योग में कार्यशील थे। जहां तक प्रमुख उद्योगों का संबंध है, 1914 में सूती कपड़ा उद्योग में 2.6 लाख तथा पटसन उद्योग में 2 लाख श्रमिकों को रोजगार मिला हुआ था जबकि 1912 में रेलवे ने लगभग 6 लाख श्रमिकों को रोजगार दिया। इनकी संख्या

बढ़ती गई और द्वितीय विश्व युद्ध के समय 2 मिलियन श्रमिकों को निर्माण उद्योग में, 1.5 मिलियन को रेलवे में तथा 1.2 मिलियन को ब्रिटिश आधिपत्य वाले बागाानों मे रोजगार मिला हुआ था।

इनकी संख्या में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उल्लेखनीय वृद्धि हुई तथा यह अधिकांशतः विविध क्षेत्रों मे आधुनिक निर्माण उद्योगों के बढ़ने तथा सार्वजनिक क्षेत्र की जनोपयोगी सेवाओं, निगमों तथा सरकारी कार्यालयों की बढ़ोतरी के परिणामस्वरूप हुआ। 1981 की जनगणना के अनुसार भारत में अकेले आधुनिक निर्माण उद्योग में श्रमिकों की कुल जनसंख्या लगभग 2.5 मिलियन थी। 1993 में औसत दैनिक रोजगार फैक्टरियों में 8.95 मिलियन, खदानों मे 7.79 लाख तथा बागानों में 10.84 लाख था। इसके अतिरिक्त व्यापक स्तर पर श्रमिक बागानों, खदानों, भवन निर्माण, जनोपयोगी सेवाओं, यातायात इत्यादि में रोजगार प्राप्त थे (भारत सरकार, श्रम ब्यूरो, 1997)। हाल ही के वर्षों में कई कारणों से रोजगार की दर मे कमी आई है तथा इससे रोजगार की संभावनाओं और श्रमिक वर्ग की स्थिति पर प्रभाव पड़ा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले तथा बाद में श्रमिक वर्ग की प्रकृति पर कुछ रोचक टिप्पणियां की गई हैं। सर्वप्रथम, जहां तक स्वतंत्रता पूर्व के श्रमिक वर्ग का संबंध है, यह संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त था तथा यह अंतर आज भी विद्यमान है। दूसरे, श्रमिक वर्ग तथा कृषक वर्ग के मध्यम अपर्याप्त वर्ग विभाजन किया गया था। श्रम इतिहासविदों ने पाया कि वर्ष के कुछ समय में श्रमिक अपने गांव चला जाता था और कृषक के रूप में कार्य करता था। तीसरे, स्वतंत्रता पूर्व के वर्षों में तथा कुछ हद तक आज भी यह वर्ग, जाति, भाषा, समुदाय इत्यादि के अनुसार विभाजित है। चौथे, आज निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार प्राप्त श्रमिकों के बीच भेद किया गया है तथा इन दोनों क्षेत्रों के मध्य कई श्रेणियां हैं जैसे – बहुराष्ट्रीय कम्पनियां तथा घरेलू कम्पनियों इत्यादि के श्रमिक। आमतौर पर सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार प्राप्त श्रमिकों के कार्य करने की स्थिति निजी क्षेत्र में रोजगार प्राप्त श्रमिकों से बेहतर है।

स्वतंत्रता पूर्व की अवधि में श्रमिक वर्ग आंदोलन जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है कि श्रम इतिहासविदों ने देश के श्रमिकों के आंदोलनों को चार अलग.अलग चरणों में वर्गीकृत किया है। इकाई के इस भाग में हम देश में स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व के श्रम आंदोलनों पर चर्चा करेंगे।

प्रथम चरण : 1850 से 1918 तक

इस चरण में श्रमिक वर्ग के कार्य अनियमित तथा असंगठित प्रकृति के थे तथा इस प्रकार से, अधिकांशतः अप्रभावी थे। मद्रास में 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तथा बम्बई में बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के दौरान संघ बनाने के गंभीर प्रयास किए गए, ताकि संगठित रूप में विरोध प्रकट किए जा सकें। इससे पहले 1880 के दशक के दौरान कुछ मानवप्रेमियों ने काम करने की अवस्थाओं में सुधार लाने के लिए भारत में ब्रिटिश प्राधिकारियों से इस संबंध में कानून बनाने का अनुरोध किया। इनमें से प्रमुख नाम हैं : बम्बई में एस0 एस0 बंगाली, बंगाल में शशिपदा बैनर्जी तथा महाराष्ट्र में नारायण लोखाण्डे।

राष्ट्रवादी इतिहासविद् प्रायः यह तर्क देते हैं कि देश में संगठित श्रमिक वर्ग आंदोलन भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े थे परन्तु यह आंशिक रूप से ही सत्य है। कांग्रेस द्वारा श्रमजीवी वर्ग की समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किए जाने से पहले ही कई आंदोलन हो चुके थे। यद्यपि कांग्रेस का गठन 1885 में हो चुका था परन्तु इसने श्रमिक वर्ग को संगठित करने पर गंभीरतापूर्वक विचार 1920 के दशक के आरम्भिक वर्षों में ही किया। 1920 के दशक से बहुत पहले देश में श्रमजीवी वर्ग पूंजीपतियों के विरूद्ध संघर्षमय था। लेटन ने बताया है कि 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में बम्बई, कुर्ला, सूरत, वर्धा, अहमदाबाद तथा अन्य स्थानों पर हड़ताले हुईं। सरकारी स्रोतों के अनुसार प्रत्येक फैक्टरी में प्रतिवर्ष दो बार हड़तालें हुईं किन्तु ये छुट.पुट, स्वतः प्रवर्तित, स्थानीय थीं तथा कम समय तक चलीं और इनका कारण मजदूरी में कमी, जुर्माना, किसी श्रमिक को नौकरी से बर्खास्तगी अथवा फटकार थी। इन हड़तालों तथा संघर्ष से श्रमजीवी वर्ग मे एकता तथा जागरूकता आई जोकि इससे पहले नहीं थी। उनकी मध्यस्ता बाहय वर्ग के लोगों अथवा नेताओं ने की। इन संघर्षों ने वैयक्तिक मुद्दों से उठकर विस्तृत आर्थिक समस्याओं को उठाया जिसमें आगे जाकर धीरे.धीरे और सुधार हुआ।

द्वितीय चरण – 1918 से स्वतंत्रता प्राप्ति तक

प्रथम विश्व युद्ध के बाद देश में श्रमजीवी वर्ग के संघर्ष ने अन्य चरण में प्रवेश किया। श्रमिकों के असंगठित आंदोलन ने संगठित रूप ले लिया ; आधुनिक समय की ही ट्रेड यूनियनों का जन्म हुआ। इस संबंध में 1920 का दशक कई रूपों में महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम, 1920 के दशक में कांग्रेस तथा साम्यवादी लोगों द्वारा श्रमजीवी वर्ग को प्रेरित करने के गंभीरतापूर्वक प्रयास किए गए जिसके बाद से राष्ट्रीय आंदोलन का श्रमजीवी वर्ग से सम्पर्क जुड़ा। दूसरे, 1920 के दशक में ही अखिल भारतीय स्तर की संस्था बनाने के पहली बार प्रयास किए गए। बम्बई के कांग्रेसी लोकमान्य तिलक का चमन लाल तथा संस्था के अन्य पदाधिकारियों के साथ मिलकर अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (ए आई टी यू सी) का गठन करने में बहुत बड़ा हाथ है। तीसरे, इस दशक में भारत में कई हड़तालें हुईं जिनमें श्रमिकों ने भाग लिया तथा ये लम्बे समय तक चलीं। इसके बाद के दशकों मे हड़तालों की संख्या तथा इनमें भाग लेने वाले श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती चली गई। हम इस विषय पर कांग्रेस तथा साम्यवादी पार्टी के श्रमिकों के प्रति दृष्टिकोण पर संक्षिप्त टिप्पणी के उपरांत पुनः चर्चा

करेंगे।भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1920 के दशक से श्रमजीवी वर्ग को प्रेरित करने पर विचार किया। इसके पीछे कम से कम दो कारण थे : पहला, उसने यह महसूस किया कि यदि श्रमजीवी वर्ग को अपने नियंत्रण में नहीं लिया गया तो भारत में जनक्रान्ति आ सकती है। दूसरे, उसने यह भी माना कि साम्राज्यवाद के विरूद्ध कारगर संघर्ष आरम्भ करने के लिए अनिवार्य था कि भारतीय समाज के सभी वर्गों को अभिप्रेरित किया जाए। यद्यपि कुछ कांग्रेसियों ने 1920 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन किया तथा 1920, 1922, 1924 तथा 1930 में अखिल भारतीय कान्फ्रेंसों में प्रस्ताव पारित किए गए, तथापि इस संबंध में कांग्रेस की स्पष्ट नीति 1936 में खुलकर सामने आई जब इसने श्रम संबधी मामलों की जांच करने के लिए एक समिति का गठन किया। अतः 1930 के दशक के अंतिम वर्षों के बाद से देश में कांग्रेस के श्रमजीवी वर्ग के साथ सम्पर्क बने परन्तु कांग्रेस का वर्गों के बीच सौहार्द की गांधीवादी नीति में विश्वास था, इसलिए इससे श्रमजीवी वर्ग के क्रान्तिकारी आंदोलन नहीं हुए। वास्तव में दो अलग.अलग नीतियां अपनाई जा रही थीं, एक क्रान्तिकारी प्रकार की थी जो विदेशी पूंजीपतियों के स्वामित्व वाले उद्योगों में थीं जबकि दूसरी कम उग्र थीं जो भारतीय के स्वामित्व वाले उद्योगों में चल रही थीं। ऐसा इसलिए था क्योंकि कांग्रेस ने आरम्भ से ही ऐसी राजनैतिक पार्टी बनाने का प्रयास किया जो पूंजीपतियों सहित भारतीय समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चलना चाहती थी। अतः कांग्रेस ने श्रमिक वर्ग को नियंत्रण में लिया परन्तु क्रान्तिकारी श्रमजीवी वर्ग आंदोलनों में उसकी गंभीरतापूर्वक रुचि नहीं थी।

1920 के दशक में साम्यवादियों के उदय के बाद वे श्रमजीवी वर्ग की समस्याओं में गंभीरतापूर्वक ढंग से रुचित लेने लगे तथा इसके लिए उन्होंने श्रमिक एवं कृषक दलों ;वतामते दक के माध्यम से, जिनमें वे देशभर में सक्रिय थे, श्रमजीवी वर्ग को अभिप्रेरित करने के प्रयास किया। साम्यवादियों की इस संबंध में गंभीरता के परिणामस्वरूप श्रमिक एवं कृषक दल श्रमजीवी वर्ग को काफी हद तक संगठित करने में सफल हुए। श्रमिक एवं कृषक दल भारत के अन्य शहरों की अपेक्षा बम्बई में सर्वाधिक सफल हुए जहां इन्होंने 1928 में हड़ताल का आयोजन करवाया। 1930.35 की अवधि के दौरान साम्यवादियों ने श्रमिक वर्ग को अभिप्रेरित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई परन्तु 1930 के दशक के उतरार्द्ध में ''यूनाइटिड नैशनल फ्रंट'' की नीति को अपनाते हुए वे श्रमजीवी वर्ग के बीच पकड़ मजबूत करने में सफल हुए।

आइए अब हम फिर से देश में संगठित श्रमजीवी वर्ग आंदोलन की चर्चा करें जिसका आरम्भ सामान्यतया प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद से माना जाता है। वास्तव में 1920 के दशक में कई हड़तालें हुईं। सरकारी स्रोतों के अनुसार 1921 में 396 हड़तालें हुई जिनमें 600,000 श्रमिकों ने हिस्सा लिया। 1921.1925 की अवधि के दौरान औसतन 400,000 श्रमिक प्रतिवर्ष हड़ताल पर गए। इसी प्रकार से 1928 में देशभर में दीर्घकालीन हड़तालें हुईं। बम्बई की हड़तालों के अतिरिक्त कलकत्ता की पटसन की मिलों तथा पूर्वी रेलवे में हड़तालें हुईं और यहां तो ये चार महीने तक चलीं। समग्र रूप से 1920 के दशक के अंतिम वर्षों तक श्रमजीवी वर्ग के कार्यकलाप उग्र हो चुके थे परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी बीच नरमदल तथा साम्यवादियों के मध्य मतभेद बढ़े जिसके परिणामस्वरूप अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का विभाजन हुआ तथा नरमदल के नेताओं जैसे एन एम जोशी, वी वी गिरी, बी शिवराव इत्यादि ने नैशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन का गठन किया। वामपंथी नेताओं के मध्य भी मतभेद उभर कर सामने आए जिनके काण उग्र विचारधारा के वामपंथी नेताओं ने एस के देशपांडे तथा बी टी रानादेव की अध्यक्षता में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से नाता तोड़कर आल इंडिया रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (आर टी यू सी) का गठन किया।

1920 के दशक के दौरान श्रमजीवी वर्ग में अत्यंत सक्रियता के उपरांत 1930 के दशक के आरम्भिक वर्षों, 1930.1934 के दौरान, इसमें कमी आई। चमनलाल रेवड़ी के अनुसार इस अवधि के दौरान सम्पूर्ण ट्रेड यूनियन आंदोलन को धक्का पहुंचा और यह मेरठ षडयंत्र मामले के कारण था जिसमें कई प्रमुख साम्यवादी नेताओं को गिरफ्तार किया गया तथा दूसरे, ऐसा ट्रेड यूनियन कांग्रेस में बार.बार हुए विभाजनों के कारण हुआ। मंदी के कारण यद्यपि यूनियनें कमजोर पड़ गईं तथा इसका श्रमजीवी वर्ग के रहन.सहन की अवस्था पर प्रभाव पड़ा और 1931.34 के दौरान श्रमिकों ने अपना आर्थिक संघर्ष जारी रखा। औद्योगिक विवादों की संख्या 1929 की 141 से बढ़कर 1930 में 148 तथा 1931 में 166 हो गई जिनमें प्रतिवर्ष एक लाख से अधिक श्रमिकों ने भाग लिया। 1931 तथा 1934 के बीच 589 विवाद हुए जिनमें से 52 प्रतिशत विवाद सूती कपड़ा उद्योग में हुए जिनका प्रमुख कारण वेतन से संबंधित मुद्दें थे।

1930 के दशक के आरम्भिक वर्षों में कमजोर हो चुकी यूनियनों की अध्यक्षता वामपंथी दलों ने की परन्तु वे 1934 तक अपना प्रभाव पुनः स्थापित करने में सफल हुए। भारत में हड़तालों का नया दौर शुरू हुआ। जिन कारणों से इन हड़तालों का जन्म हुआ उनमें से प्रमुख थे वेतन कटौती को समाप्त करना, वेतनवृद्धि तथा श्रमिकों के विरूद्ध नए प्रकार के प्रतिकूल अभियानों को बंद करना। वर्ष 1935 में 135 विवाद हुए जिनमें भारी नुकसान हुआ। 1936 में पिछले वर्ष की तुलना में 12 अधिक विवाद हुए परन्तु इनमें शामिल श्रमिकों की संख्या पिछले वर्ष की तुलना में काफी अधिक थी। उल्लेखनीय हड़तालें थीं – सूती कपड़ा उद्योग, पटसन उद्योग तथा रेलवे की हड़ताल। इन दो वर्षों में पंजीकृत ट्रेड यूनियनों की संख्या में भी वृद्धि हुई। 1935 में देश में 213 पंजीकृत यूनियनें थी तथा इनके 284,918 सदस्य थे। 1936 तक यूनियनों की संख्या बढ़कर 241 हो गई।

1935 में रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (आर टी यू सी) का अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ;।प्ज्न्ब्द्ध में विलय हो गया तथा नैशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन (NTUF) ने 1938 में स्वयं को ;।प्ज्न्ब्द्ध के साथ सम्बद्ध कर लिया। इनके परिणामस्वरूप, 1930 तथा 1940 के दशकों के दौरान ट्रेड यूनियनों की संख्या तथा इनके कार्यकलापों में वृद्धि हुई। 1930 के दशक के अंत तक हड़तालों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। 1937.1939 के दौरान हड़तालें बार.बार हुई तथा इनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। 1937 में 379 तथा 1938 में 399 हड़तालें हुईं। इस अवधि के दौरान दो उल्लेखनीय प्रवृत्तियां उभर कर सामने आईं – प्रथम, हड़तालें देश के कई छोटे औद्योगिक शहरों में भी हुईं दूसरे, इन संघर्षों के दौरान श्रमजीवी वर्ग ने न केवल आत्मरक्षात्मक रवैया अपनाया अपितु अन्य मुद्दों के साथ.साथ वेतन कटौती को वापस लेने, यूनियन के अधिकारों को मान्यता देने तथा श्रमिकों पर नए प्रकार के शोषण को बंद करने की भी मांगें की। इसके साथ–साथ कई महिला श्रमिक भी इन आंदोलनों में उभर कर सामने आई।

यह आंदोलन 1940 के दशक में एक निर्णयात्मक चरण में पहुंच गया तथा यह चरण राष्ट्रीय आंदोलन के अंतिम चरण के साथ.साथ 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन से आरम्भ होकर अंतिम चरण में पहुंच गया। औद्योगिक दृष्टि से, 1939 के बाद श्रमिकों की काम करने की अवस्थाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। काम करने के घंटे बढ़ाए गए, एक से अधिक पालियों ;ेपिजिद्ध में काम होने लगा, वेतन में उल्लेखनीय कमी आई तथा कुल मिलाकर, श्रमिक वर्ग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप देशभर में हड़तालें हुई तथा श्रमिकों की संभवतः सबसे प्रमुख मांगें बढ़ती हुई कीमतों तथा जीवन लागत के कारण महंगाई भत्ते की मांग थी। 1942 में 694 विवाद थे जिनकी संख्या बढ़कर 1945 में 820 हो गई। इनमें शामिल श्रमिकों की संख्या बढ़कर 1945 में 7.47 लाख हो गई। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के उपरांत 1945. 1947 के बीच श्रमजीवी वर्ग को दो विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ा। प्रथम, बड़े पैमाने पर छंटनी की समस्या तथा दूसरे, आय में कमी की समस्या जिनके कारण हड़तालों की संख्या बढ़कर 1947 में सर्वाधिक हो गई। कुल 1811 हड़तालें हुईं जिनमें 1840 हजार श्रमिकों ने भाग लिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के आंदोलन

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति तथा सत्ता के हस्तांतरण से देश में पूरे श्रमजीवी वर्ग के लिए अलग माहौल बना। आंदोलन एक नए चरण में प्रवेश कर गया। स्वतंत्रता के आरम्भिक वर्षों में, 1947.

1960 के दौरान, पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान निजी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र में कई नए उद्योगों के स्थापित होने से देश में श्रमिक वर्ग की दशा में कुल मिलाकर सुधार हुआ जिससे संगठित कार्यवाही की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ी जिसके कारण 1947 से 1960 के दौरान हड़तालों सहित विवादों की संख्या में कमी आई तथापि 1960 तथा 1970 के दशकों के दौरान स्थिति में परिवर्तन आया। 1960 के दशक के बीच के मुद्रा स्फीति के वर्षों में श्रमिक वर्ग के वास्तविक वेतन में कमी आई जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में विवादों की संख्या बढ़ी। 1964 में 2151 विवाद हुए जिनमें 1002 हजार श्रमिकों ने भाग लिया जिससे 7725 मानव दिवसों की क्षति हुई। मानव दिवसों की क्षति सभवतः आंदोलनों की भीषणता का संकेतक है।

ट्रेड यूनियनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता उन ट्रेड यूनियनों की स्थापना रही है जिन पर राजनैतिक दलों का वर्चस्व रहा जिसके कारण अधिकांश यूनियनें अपने मूल दलों की ही भाषा बोलती रहीं। राजनैतिक दलों के यूनियनों पर नियंत्रण के कारण यूनियनों की स्वायतता समाप्त हो गई तथा प्रत्येक महत्वपूर्ण दृष्टि से दलों के कार्यक्रम तथा नीतियां यूनियनों के कार्यक्रम तथा नीतियां बन गईं। देश में राष्ट्रीय यूनियनों की संख्या में कई गुणा वृद्धि हुई। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक देश में दो अखिल भारतीय संस्थाएं थीं– भारतीय मजदूर संघ ;प्दकपंद थ्मकमतंजपवद व िस्इवनत.प्थ्स्द्ध तथा सबसे बड़ी यूनियन अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ;।प्ज्न्ब्द्ध। 1949 तक चार यूनियनें बन गईं तथा ये किसी न किसी राजनैतिक दल से संबंधित या नियंत्रित थीं। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस साम्यवादी नियंत्रण था; भारतीय मजदूर संघ एम0 एन0 राय की रेडिकल डैमोक्रेटिक पार्टी से संबंधित था ; आई एन टी यू सी पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नियंत्रण था और हिन्द मजदूर सभा का समाजवादी पार्टी क सदस्यों की प्रधानता थी। बाद में हिन्द मजदूर सभा में विभाजन हुआ तथा यू टी यू सी का जन्म हुआ। 1970 में ए0 आई0 टी0 यू0 सी0 में भी विभाजन हुआ तथा भारतीय ट्रेड यूनियन केन्द्र (Centre of Indian Trade Unions - CITU) का जन्म हुआ जो मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी से संबद्ध हुई।

देश के लिए कुल मिलाकर 1960 के दशक के अंतिम वर्षों तथा आपातकाल लागू होने के बीच की अवधि राजनैतिक उथल.पुथल से भरी थी जिसका उल्लेखनीय प्रभाव देश के श्रमिक वर्ग आंदोलन पर पड़ा। 1971 के चुनावों के बाद श्रीमती गांधी ने सत्ता का केन्द्रीकरण करना तथा अपने हाथ में अधिकांश अधिकार रखना आरम्भ कर दिया। इसका लाभ उठाते हुए पूंजीवादी वर्ग ने नए आक्रामक तरीके आरम्भ कर दिए जिनमें से प्रमुख था तालाबंदी, जिसके कारण कई मानव दिवसों की क्षति हुई। उदाहरण के तौर पर 1971.75 की अवधि के दौरान तालाबंदी के कारण वार्षिक कार्यदिवसों की क्षति 60.23 हजार तक हुई। 1976.80 की अवधि में यह बढ़कर 105.46 हजार हो गई। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में कार्यरत श्रमजीवी वर्ग पर केन्द्रीकृत नौकरशाही राज्य प्रणाली का सीधा प्रभाव पड़ा। इसके परिणामस्वरूप दोनों क्षेत्रों के श्रमजीवी

वर्ग ने हड़तालें कीं जिनके कारण देश में विवादों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। रूडोल्फ एवं रूडोल्फ ने पाया (1998) कि 1965.1975 की अवधि के दौरान कार्यदिवसों की संख्या में क्षति में (हड़तालों अथा तालाबंदी के कारण) लगभग 500 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई। सर्वाधिक महत्वपूर्ण हड़ताल 1974 की रेलवे की हड़ताल थी जो देश में श्रमजीवी वर्ग की सीधी कार्यवाही की आज तक की सबसे गंभीर घटना है। यह हड़ताल इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह भारतीय शासन की शक्ति को चुनौती देने में सफल रही।

कुल मिलाकर, देश में आपातकाल के बाद से श्रमजीवी वर्ग को नियोक्ता की कई आक्रामकताओं का सामना करना पड़ा। निजी क्षेत्र में तालाबंदी की घटनाओं में वृद्धि के परिणामस्वरूप कार्यदिवसों के काफी बड़े प्रतिशत की क्षति हुई। 1980.87 के दौरान औद्योगिक विवादों में तालाबंदी के कारण नष्ट हुए कार्य दिवसों का प्रतिशत 29 से बढ़कर 65 प्रतिशत हो गया। 1980 के दशक के दौरान कार्यदिवसों की क्षति बढ़ती गई। एक आकलन के अनुसार हड़तालों की तुलना में 1985, 1987 तथा 1988 के दौरान तालाबंदी के कारण नष्ट हुए कार्यदिवस क्रमशः 55, 52 तथा 71 प्रतिशत अधिक थे। तालाबंदी की वृद्धि ने देश के औद्योगिक श्रमजीवी वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है क्योंकि इससे श्रमजीवी वर्ग को बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ता है। अन्य समस्याओं के साथ.साथ 1980 के दशक में श्रमजीवी वर्ग बीमारू उद्योगों का भी शिकार हुआ। 1976 में 241 बड़ी औद्योगिक इकाईयां बीमार थीं 1986 में यह संख्या बढ़कर 714 हो गई। मध्यम दर्जे की औद्योगिक इकाईयों में 1986 में 1250 इकाईयां आर्थिक घाटे के कारण बंद हो गई। 1980 के दशक के दौरान लघु बीमार इकाईयों की संख्या में भी वृद्धि हुई। उदाहरण के तौर पर 1988 में 217,436 लघु इकाईयां घाटे में चल रही थीं। इस प्रकार से 1980 के दशक के दौरान श्रमजीवी वर्ग को तालाबंदी, उद्योग बंद होने तथा इनके बीमारूपन की समस्या का सामना करना पड़ा। तालाबंदी की समस्य आज भी जारी है तथा इसने और भी गंभीर रूप धारण कर लिया है। श्रम ब्यूरो के अनुसार 1999 में 387; 2000 में 345 तथा 2001 में 345 तालाबंदी की घटनाएं हुईं (भारत सरकार, श्रम ब्यूरो, 2002)।

1980 के दशक के अंतिम वर्षों तथा 1990 के दशक के दौरान श्रमजीवी वर्ग को दो नई प्रकार की आक्रामकताओं का सामना करना पड़ रहा है जो पहले नहीं थीं। प्रथम समस्या है हिन्दुत्व पर आधारित राजनैतिक दलों का विकास, नामतः भारतीय जनता पार्टी तथा शिव सेना और इसके परिणामस्वरूप उनके श्रम संगठनों में विकास अर्थात् क्रमशः भारतीय मजदूर संघ तथा भारतीय कामगार सेना, जिन्होंने श्रमजीवी वर्ग को साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित कर दिया। दूसरे, 1991 में नई आर्थिक नीति के लागू होने तथा उसके परिणामस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापीकरण के करण देश का श्रमिक वर्ग पूंजी की प्रधानता की समस्या को अलग रूप से झेल रहा है। पहली समस्या विभाजक प्रकृति की है तथा इसने साम्प्रदायिक आधार पर श्रमिक वर्ग को विभाजित कर दिया है जबकि दूसरी समस्या से श्रमिक वर्ग काफी हद तक प्रभावित हुआ है तथा इससे देश में संगठित श्रमिक वर्ग आंदोलन के समक्ष चुनौतियां आई हैं। इस समय दूसरी समस्या अधिक गंभीर है तथा अब हम इसकी चर्चा करेंगे।

1991 में नई आर्थिक नीति के लागू होने के बाद से देश में श्रमिक वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। नई आर्थिक नीति के कई पहलू हैं पर उदारीकरण, निजीकरण तथा सार्वभौमिकरण पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। उदारीकरण का अर्थ है निजी क्षेत्र पर सरकारी नियंत्रण में कमी जिसके परिणामस्वरूप श्रमिकों और पूंजीपतियों के बीच सौदागरी में कमी आई है। निजीकरण की नीतियों के अंतर्गत देश में कई प्रमुख सार्वजनिक क्षेत्र की इकाईयों के निजी कम्पनियों को बेचे जाने से देश के श्रमिकों तथा ट्रेड यूनियनों के समक्ष नई चुनौतियां उभर कर सामने आई हैं। समग्र रूप से इन नीतियों के परिणामस्वरूप संभावित समस्याएं होंगी – श्रमिक के लिए कोई वैधानिक न्यूनतम मजदूरी नहीं होगी, छंटनी के मार्ग में कोई बाधा नहीं होगी। इस प्रकार से नियोक्ता के पास भर्ती और बर्खास्तगी ;भ्पतम ंदक थ्पतमद्ध का पूर्ण अधिकार रहेगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था में पिछले एक दशक या उससे अधिक समय से होने वाले विकास से श्रमिक वर्ग के सामने मूल समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं तथा ट्रेड यूनियनें श्रमिकों के अधिकारों पर पूंजी की घुसपैठ को रोकने में स्वयं को असमर्थ महसूस कर रही है।

इस भाग के निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले हमारे लिए इस आंदोलन के कमजोर पक्ष की जानकारी उपयोगी सिद्ध होगी। सर्वप्रथम, देश में श्रमिक वर्ग का बहुत बड़ा हिस्सा – असंगठित श्रमिक वर्ग आज भी ट्रेड यूनियनों के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता। कुल मिलाकर इस देश की यूनियनों ने असंगठित क्षेत्र की समस्याओं की सदैव उपेक्षा की है तथा रूडोल्फ एवं रूडोल्फ ने ठीक ही कहा है कि वामपंथी दलों के नेतृत्व वाली यूनियनों सहित सभी ने ''सरलता से संगठित तथा जिनके नियोक्ता – सरकार के बीच प्रतिक्रिया तत्परता से होती है, उन्हें संगठित करने तथा उनकी ओर से मांगे रखने का अधिक सरल तरीका ढूंढ़ा है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कि संगठित क्षेत्र के श्रमिकों की तुलना में असंगठित श्रमिक निर्धन तथा अधिक शोषित है।

श्रमिक वर्ग आंदोलन के समकक्ष दूसरी प्रमुख समस्या ट्रेड यूनियनों की संख्या की है। हमने पहले देखा है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने वाली ट्रेड यूनियनों की संख्या में कई गुणा वृद्धि हुई है। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर केवल दो अखिल भारतीय संस्थाएं थीं, 1949 में अखिल भारतीय संस्थाओं की संख्या 4 हो गई और

आज 10 राष्ट्रीय स्तर की संस्थाएं हैं जो देश की प्रमुख पार्टियों से सम्बद्ध हैं। इस समस्या का कारण विचारधाराओं में मतभेद बताया जाता है यद्यपि वास्तव में ट्रेड यूनियनें कम सिद्धांतवादी होती हैं तथा प्रमुख रूप से आर्थिक मुद्दों पर श्रमिकों को संगठित करती हैं। किसी लोकतंत्र में राजनैतिक पार्टियों की अधिक संख्या एक सामान्य बात हो सकती है परन्तु एक पूंजीवादी प्रणाली में यूनियनों की अधिक संख्या श्रमिक वर्ग को विभाजित तथा सभी दबाव में आने वाला बनाए रखती है।

कुल मिलाकर देश की ट्रेड यूनियनें श्रमिक वर्ग की समस्याओं के प्रति जवाबदेह नहीं रही हैं। फैक्टरी से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक यूनियनें विभाजित हैं जिससे यूनियनों के बीच आपसी कटु दुश्मनी है जिनके कारण वे अक्सर श्रमिक वर्ग के मुद्दों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने में विफल रही हैं। उपरोक्त कारणों से या इस तथ्य के मद्देनजर कि राजनैतिक पार्टियां यूनियनों को नियंत्रित करती हैं, ये यूनियनें श्रमिकों की शिकायतें दूर करने में विफल रही हैं। देश में नई आर्थिक नीति के लागू होने के बाद औद्योगिक इकाईयों के बंद होने, काम से बर्खास्तगी तथा अन्य प्रकार की आक्रामकताओं से आंदोलन के कमजोर होने का पता चलता है। कई अध्ययनों से पता चला है कि देश के औद्योगिक श्रमिक वर्ग ने कृषकों तथा समाज के अन्य वर्गों के साथ सहयोग नहीं किया है ताकि राजनैतिक मुद्दों पर सामूहिक प्रत्यक्ष कार्यवाही की जा सके। इससे श्रमिक वर्ग की निम्नस्तरीय राजनैतिक जागरूकता का पता चलता है। संगठित श्रमिकों के आंदोलन का आरम्भ औद्योगिकरण तथा देश में श्रमिक वर्ग के प्रादुर्भाव के साथ हुआ। तथापि इन आंदालेनों ने प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत ट्रेड यूनियनों के जन्म के साथ संगठित रूप लिया। तब से लेकर आज तक श्रमिकों के आंदोलन चलते रहे हैं परन्तु देश में संगठित आंदोलनों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इन सभी समस्याओं में से प्रमुख हैं– यूनियनों में परस्पर टकराव, यूनियनों की राजनैतिक दलों के साथ सम्बद्धता, स्थापित यूनियनों में मिलिटैंसी की कमी तथा असंगठित क्षेत्र के प्रति आम उपेक्षा। इन सभी के कारण देश में श्रमिक वर्ग आंदोलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

3.4.4 समकालीन भारत में कृषक आंदोलन

समकालीन भारत में कृषि भूमि संबंधी आंदोलनों को मोटे रूप से दो प्रमुख श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहली प्रकार के आंदोलन वे हैं जो निर्धन, सीमान्त अथवा छोटे किसानों से संबंधित हैं। इन आंदोलनों में उनकी आर्थिक दशा सुधारने से जुड़ी मांगे रखी जाती हैं, जैसे– कृषि श्रमिकों की अधिक मजदूरी तथा बेहतर कार्य अवस्था की मांग। दूसरे प्रकार के आंदोलन अधिक समृद्ध कृषकों के लिए होते हैं जिनका ग्रामीण अर्थव्यवस्था में काफी अतिरिक्त उत्पादन रहता है। इन आंदोलनों को प्रायः सामाजिक विज्ञान की भाषा में ''किसान आंदोलन'', ''नया भूमिवाद'' अथवा ''नए कृषक आंदोलन'' का नाम दिया गया है।

पहली प्रकार के आंदोलन औपनिवेशिक काल में आरम्भ हुए। 1974 में कैथलीन गुफ़ (ब्जीसममद ळवनही) ने पाया कि भारत में 77 कृषक आंदोलन ब्रिटिश काल में आरम्भ हो चुके थे (गो 1974)। आरम्भिक वर्षों में ये छुट.पुट आंदोलन जमींदारों तथा अन्य बिचौलियों को बीच से हटाने के उद्देश्य से चलाए गए। हम बाद में यह अध्ययन करेंगे कि ये आंदोलन ग्रामीण निर्धन लोगों की शिकायतों के ईर्द.गिर्द थें और हैं तथा स्वतंत्रता पूर्व के वर्षों में ये राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जुड़े रहे। दूसरी प्रकार के आंदोलन हाल ही के वर्षों में हरित क्रान्ति क्षेत्रों जेसे पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब अथवा दक्षिणी.पश्चिमी महाराष्ट्र अथवा सुदूर दक्षिण जैसे कर्नाटक या तमिलनाडु में आरम्भ हुए तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में समृद्ध, धनी तथा मध्यम कृषकों द्वारा आयोजित किए गए और वे इसमें अग्रणी रहे। हाल ही के वर्षों में ये आंदोलन अधिक प्रमुख बन गए हैं। राज्य तथा नौकरशाही तंत्र इन आंदोलनों के लक्ष्य पर रहते हैं तथा अन्य के साथ.साथ राज्य से फसलों के मूल्य में वृद्धि, कृषि निवेश पदार्थों की कीमतों में कमी, सस्ती दरों पर बिजली मुहैया करवाने इत्यादि की मांग रहती है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान व्यापार में आई कमी पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उनमें ''शहर'' तथा ''गांव'' के बीच के अंतर पर प्रकाश डाला गया है तथा कुछ नेताओं ने (उदाहरणतया शेतकारी संगठन के शरद जोशी) इस बात पर बल दिया है ''भारत'' का शोषण 'इंडिया'' कर रहा है।

इकाई के इस भाग में हम विभिन्न प्रकार के आंदोलनों की प्रकृति, उठाई गई मांगों, संबंधित मुद्दों तथा आंदोलन की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। इसके पहले भाग में हम कांग्रेस तथा भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित व आयोजित आंदोलनों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए औपनिवेशिक काल में कृषि.भूमि संबंधी तथा कृषक आंदोलनों की चर्चा करेंगें। इन कृषक आंदोलन के राष्ट्रीय आंदोलन के साथ संबंध तथा कम्यूनिस्टों द्वारा चलाए गए दो प्रमुख आंदोलनों तेभागा और तेलंगाना आंदोलनों की चर्चा करेंगे जबकि दूसरे भाग में हम स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कृषि – भूमि संबंधी एकजुटता तथा आंदोलनों पर बात करेंगे। अंतिम भाग में हम समकालीन भारत में उल्लेखनीय हुए किसानों के आंदोलनों की चर्चा करेंगे।

3.4.4.1. औपनिवेशिक भारत में कांग्रेस, कम्यूनिस्ट तथा कृषक आंदोलन

औपनिवेशिक भारत में कृषकों को ब्रिटिश राज का सर्वाधिक खामियाजा भुगतना पड़ा। कांग्रेस द्वारा किसानों को एकत्र किए जाने से पहले ही उन्होंने अपने संगठन बना लिए थे तथा वे अपने प्रमुख शत्रु स्थानीय ज़मीदारों,, के विरूद्ध उठ

खड़े हुए थे। इस प्रकार से पूर्व.राष्ट्रवाद युग में भी कृषकों में विक्षोभ था तथा छुट.पुट क्रान्तियां भी हुई। पूर्व राष्ट्रवाद अवधि में दो प्रमुख क्रान्तिंया हुई – 1860 का इंडिगोप्लांटर आंदोलन तथा 1921 में मालाबार में मोप्लाह क्रान्ति।

आरम्भिक वर्षों में कांग्रेस ने भूमि सुधार की आवश्यकता पर अधिक ध्यान नहीं दिया। 1920 के दशक के दौरान ही गांधी ने कांग्रेस संस्था को जनसामान्य की संस्था बनाने के प्रयास किए तथा तभी कृषकों को कांग्रेस के तहत लाने का विचार आया। 1920 के दशक के अंतिम वर्षों में कृषकों तथा कांग्रेस के बीच संबंध स्थापित होने के दो प्रमुख कारण थे – पहला था, किसानों द्वारा निरन्तर कांग्रेस से इस संबंध में सहयोग की अपेक्षा करना तथा दूसरा, राष्ट्रीय आंदोलन के लिए कृषकों का सहयोग प्राप्त करने की कांग्रेस की आवश्यकता।

यद्यपि कांग्रेस ने ग्रामीण भारत में कृषकों तक पहुंचने का कार्यक्रम देरी से आरम्भ किया तथापि, शीघ्र ही यह एक सशक्त संस्था बन गई। चूंकि कांग्रेस भारतीय समाज के सभी वर्गों की राजनैतिक पार्टी बनना चाहती थी, इसलिए इसने संस्था में भूमिहर समृद्ध लोगां को भी आकर्षित किया परन्तु एक बार उनके पार्टी में आ जाने से वे संस्था पर हावी हो गए तथा पार्टी की ग्रामीण रणनीतियां तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे और कांग्रेस कोई क्रान्तिकारी कृषक आंदोलन नहीं आरम्भ कर सकी। कांग्रेस की रुचि राष्ट्रीय आंदोलन के उद्देश्य से अधिक से अधिक किसानों को अपने साथ जोड़ने में थी परन्तु इसने ग्रामीण समाज के उच्च वर्ग में वर्ग युद्ध कराने का प्रयत्न नही किया। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गांधी तथा कांग्रेस की सभी वर्गों में सौहार्दता बनाए रखने की नीति तथा ग्रामीण समुदाय के सामाजिक.सांस्कृतिक उत्थान पर अधिक बल दिए जाने के कारण कांग्रेस देशभर में कोई गंभीर आंदोलन आरम्भ नहीं कर सकी यद्यपि इसके औपनिवेशिक विरोध के आंदोलनों में ग्रामीण समुदाय का बहुत बड़ा वर्ग उसे समर्थन दे रहा था।

कांग्रेस के अतिरिक्त, साम्यवादी नेताओं का भी कृषकों को एकजुट करने में बहुत बड़ा हाथ रहा। यद्यपि सी पी आई का गठन 1920 में हुआ (कुछ के अनुसार 1925), तथापि कृषक वर्ग के साथ इसका गहन संबंध आल इंडिया किसान कांग्रेस, बाद में जिसका नाम बदलकर किसान सभा कर दिया गया, के गठन के बाद आरम्भ हुआ तथा सभा का प्रमुख उद्देश्य किसानों को एकजुट करना था। राष्ट्रीय आंदोलन के सहयोग से ''यूनाइटिड फ्रंट'' की नीति को अपनाते हुए सी पी आई ने कृषक वर्ग में अपनी सदस्यता बढ़ा ली तथा देशभर में अधिकांश क्रान्तिकारी संघर्षों के लिए भूमिका तैयार की, यद्यपि इनमें से अधिकांश संघर्ष, जैसाकि हम बाद में पढ़ेंगे, स्थानीय स्तर पर आरम्भ हुए।

कम्यूनिस्टों की प्रमुख नीति निचले स्तर पर कार्य करने की थी तथा इसका उन्हें भरपूर लाभ मिला। देशभर में उन्होंने किसान सभाओं के माध्यम से कार्य किया। आरम्भ में यह वर्ग पर आधारित संस्था नहीं थी, यह समृद्ध कृषकों का भी प्रतिनिधित्व कर रही थी तथापि इस अवधि में कम्यूनिस्टों ने यह सुनिश्चित किया कि किसान सभा में ग्रामीण निर्धनों के कम से कम कुछ मुद्दों को अवश्य उठाया जाएगा। बहुवर्गीय संस्था पर बल देने के कांग्रेस के समाजवादी दृष्टिकोण के कारण ग्रामीण समृद्ध कृषकों को सभा में प्रतिनिधित्व मिला हुआ था। 1941.43 के दौरान अखिल भारतीय किसान सभा कम्यूनिस्टों के हाथों में आ गई तथा स्वामी शजानन्द ने किसान सभा को ग्रामीण निर्धन लोगों की संस्था बनाने का प्रयास किया तथा इससे धनी तथा मध्यम कृषकों से इसकी दूरी बढ़ गई। वर्ष 1944.45 तक सी पी आई का किसान सभा का पूर्ण नियंत्रण था। किसान सभा की सदस्यता बढ़ती चली गई तथा 1944 तक इसे सदस्यों की संख्या 553,427 हो गई थी (धनागरे, 1980)। इस पर पूर्ण नियंत्रण करने के उपरांत सी पी आई तथा किसान सभा दोनों इस संस्था को निर्धन किसानों, काश्तकारों, फसल में अंशधारियों तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों की संस्था बनाने में सफल रहे। अपना आधार सुदृढ़ करने के उपरांत ही यह बाद के वर्षों में स्वतंत्रता पूर्व के वर्षों में भूमि.कृषि सुधार संबंधी संघर्षों की अगुवाई की। बंगाल के तेभागा आंदोलन (1946.47) तथा पूर्व हैदराबाद राज्य में तेलंगाना आंदोलन (1946.51) की अगुवाई कम्यूनिस्टों ने की तथा अब हम इन आंदोलनों की चर्चा करेंगे।

तेभागा आंदोलन

तेभागा आंदोलन द्वितीय विश्व युद्ध के तत्काल बाद चौथे दशक के मध्य के वर्षों में भारत में हुए दो प्रमुख आंदालनों में से एक है। यह आंदोलन उत्तरी बंगाल में आरम्भ हुआ तथा इसमें पूर्वी बंगाल के दीनजपुर, रंगपुर और पश्चिम बंगाल के जलपाईगुड़ी तथा मालदा ज़िले शामिल थें। यह आंदोलन जोतदार को दिए जाने वाले ''भूमि किराए'' के रूप में जुताई का हिस्सा आधे से घटाकर एक.तिहाई करने के लिए था तथा जोतदारों के भूमि पर अधिक अधिकार थे। इन मांगों के मद्देनजर यह एक प्रकार से क्रांतिकारी आंदोलन था तथा किसान सभा ने जानबूझकर इसका आयोजन किया था। अतः यह आंदोलन देश में पहले कांग्रेस के नेतृत्व में हुए तथा गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित आंदोलनों से भिन्न था।

बंगाल में, जहां यह आंदोलन आरम्भ हुआ, सन् 1793 में स्थायी अधिवास लाया गया जिससे क्षेत्र में भूमि जोत की नई व्यवस्था आरम्भ हुई थी। जमींदारों तथा सीधे कृषक उत्पादकों के बीच कई बिचौलिए जैसे कि जोतदार आ गए। ये जोतदार आगे भूमि को बरगादारों अथवा साझा बुवाईदारों को काश्तकारी के लिए देते थे जो भूमि की जुताई करते थे तथा फसल का एक भाग (आधा) जोतदारों को देते थे जिसे अधी या भाग कहा जाता था। जिस भूमि पर वे जुताई करते थे उस पर बरगादारों के अधिकार अस्थायी थे तथा यह निर्धारित अवधि के लिए अक्सर पांच वर्ष की अवधि के लिए थे।

केवल जोतदार ग्रामीण अर्थव्यवस्था के शोषक नहीं थे अपितु महाजन अथवा साहूकार (प्रायः जमींदार स्वयं) भी थे जो बरगादारों को पैसा उधार देते थे। इस प्रकार से जोतदारों व महाजनों द्वारा बरगादारों का पूर्ण शोषण होता था। कुछ कृषक स्वामी थे (मध्यम कृषक) जिनके पास अपनी जमीन थी तथा अपनी जमीन पर खेती करते थे परन्तु वे सदैव दबाव में रहते थे तथा अक्सर अपनी भूमि खोकर भूमिहीन किसानों की श्रेणी में आ जाते थे और अपनी ही जमीन पर बरगादार बन जाते थे।

यद्यपि बरगादार ग्रामीण जनसंख्या का लगभग पांचवा प्रतिशत हिस्सा थे तथापि इस आंदोलन में सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या शामिल थी। 1943 के बंगाल के सूखे के कारण ग्रामीण भूमिहीनों तथा कृषकों की दशा दयनीय हो गई तथा लगाए गए आकलनों के अनुसार बंगाल के महासूखे में 3.5 मिलियन किसानों की जानें चली गईं। इस आंदोलन का आरम्भ मध्यम किसानों के अपनी ओर से छेड़े गए आंदोलन के रूप में हुआ परन्तु बाद में सांझीदार अथवा बरगादार भी इसमें शामिल हो गए। भवानी सेन के अनुसार तेभागा आंदोलन का आरम्भ 1939 में माना जाता है जब छोटे किसानों ने जोतदारों के विरूद्ध विद्रोह कर दिया । औपचारिक रूप से यह 1946 में आरम्भ हुआ तथापि 1945 के बाद के वर्षों में इसमें तेजी आई।

1946 में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के इस आंदोलन के साथ जुड़ने से इसने क्रान्तिकारी रूप धारण कर लिया। प्रमुख संघर्ष फसल कटाई के मौसमों के दौरान हुए जब सांझीदारों ने जोतदारों को उनके हिस्से का अनाज देने से मना कर दिया। जोतदारों को देने की अपेक्षा बरगदार धान अपने घर अथवा खमार (थ्रेसिंग की जगह) पर ले गए जिससे देशभर में संघर्ष छिड़ गए। अपने हितों की रक्षा के लिए जोतदारों को पुलिस का सहयोग मिला। गांवों में कृषक समितियों को शक्तियां प्राप्त हो गईं तथा वे कृषकों का नेतृत्व करने लगीं। ये समितियां गांवों का प्रशासन चला रही थीं। मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस ने जोतदारों का समर्थन किया और इसके परिणामस्वरूप आंदालेन को दबाने में सफल हो गईं जिससे आंदोलन विफल हो गया तथा 1947 के ग्रीष्मकाल में इसे औपचारिक रूप से समाप्त कर दिया गया। यद्यपि यह आंदोलन विफल हो गया था तथापि इसके भारत में भू.सुधार संबंधी संघर्षों के सम्पूर्ण इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े।

तेलंगाना कृषक क्रान्ति

तेलंगाना कृषक क्रान्ति 1946 के मध्य में आरम्भ हुई तथा अक्तूबर, 1951 तक जारी रही। यह आंदोलन हैदराबाद राज्य के सम्पूर्ण तेलंगाना क्षेत्र तथा आन्ध्र डेल्टा के साथ लगे जिलों में फैला हुआ था। यह अपनी विशेषताओं तथा राजनैतिक उद्देश्यों के कारण भारत के सभी आंदोलनों में सर्वाधिक क्रान्तिकारी माना जाता है। सी पी आई ने अपनी कृषक विंग ''किसान सभा'' के माध्यम से इस आंदोलन का आरम्भ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि सी पी आई ''यूनाइटिड फ्रंट'' की नीतियां छोड़ने तथा विद्रोही संघर्ष की नीतियां अपनाने के बाद ही यह आंदोलन आरम्भ कर सकी।

तेलंगाना क्षेत्र वाले हैदराबाद के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र में दो प्रकार की काश्तकारी होती थी। पहली खलसा अथवा दीवानी काश्तकारी थी जोकि कृषक भूमि स्वामित्व प्रणाली, रैयतवाड़ी के समरूप थी। इस प्रणाली के अंतर्गत भूमि मालिक वास्तविक भू.स्वामी नहीं थे अपितु उन्हें ''पट्टेदार'' (पंजीकृत दखलदार) कहा जाता था तथा इस प्रणाली के अंतर्गत हैदराबाद की 60 प्रतिशत भूमि थी। वास्तविक दखलदारियों को ''शिकमीदार'' कहा जाता था जिन्हें भूमि पर दखलदारी का तो पूर्ण अधिकार था पर वे पंजीकृत नहीं थे। जब भूमि पर दबाव बढ़ा तो शिकमीदारों ने काश्तकारों को यह भूमि पट्टे पर देनी आरम्भ कर दी परन्तु काश्तकार भूमि के वास्तविक स्वामी नहीं थे न ही उन्हें भूमि खाली कराए जाने की सुरक्षा भी थी। दूसरी प्रकार की काश्तकारी ''जागीरदारी'' प्रणाली थी। सर्फ.ए.खास स्वयं निजाम को दी गई विशेष भूमि थी। यह शाही भूमि होती थी तथा निजाम के कुलीन वर्गीय लोग, जिन्हें आपातकाल के दौरान सैनिक सेवाओं के बदले यह भूमि दी जाती थी, वे इस भूमि की देखभाल करते थे। जागीरदारी प्रथा के तहत कृषक अत्यधिक शोषित थे। पूरे हैदराबाद राज्य में से तेलंगाना क्षेत्र में कृषक सर्वाधिक शोषित थे।

कम्यूनिस्टों द्वारा चलाया गया आंदोलन नालगोंडा जिले में 1946 में आरम्भ हुआ तथा उसके बाद आसपास के वारांगल और बिदार जिलों में तथा अन्त में पूरे तेलंगाना क्षेत्र में फैल गया। आरम्भ से ही आंदोलन का उद्देश्य व्यापक था तथा ग्रामीण सामंतवादी अभिजात वर्ग द्वारा कृषक वर्ग के अवैधानिक तथा अत्यधिक शोषण से संबंधित था। उनकी सबसे सशक्त मांग थी कि कृषकों के ऋणों को माफ कर दिया जाए। आंदोलन का दूसरा चरण तब आरम्भ हुआ जब अभिजात वर्ग के शोषण के विरोध में कृषक वर्ग ने सशस्त्र संघर्ष आरम्भ कर दिया। इस प्रकार से, इसके साथ ही इसने क्रान्तिकारी चरण में प्रवेश किया।

आंदोलन क्रान्तिकारी चरण में तब आया जब 2000 से अधिक गांवों ने अपनी ''जन समितियों'' का गठन कर लिया था; इन समितियों ने भूमि का अधिकार अपने हाथों में ले लिया, अपनी सेना का रख.रखाव स्वयं करने लगीं तथा इनका अपना प्रशासन था (मेहता, 1979)। क्षेत्र के काफी बड़े हिस्से में कृषकों का शासन तथा सशस्त्र विरोध 1950 तक जारी रहा तथा बाद में भारतीय सेना ने इसका दमन कर दिया। यह एक ऐसा भूमि कृषि संबंधी संघर्ष था जिसमें ज़मींदार वर्ग की सेना द्वारा तथा बाद में भारतीय सेना द्वारा हैदराबाद राज्य पर आधिपत्य स्थापित करने के बाद कई किसानों की जानें चली

गईं। इस आंदोलन में उठाई गई मांगे व्यापक थीं तथा इस संघर्ष की प्रकृति से यह आंदोलन भारतीय इतिहास का भूमि. कृषि संबंधी सर्वाधिक क्रान्तिकारी आंदोलन बन गया।

3.4.4.2. औपनिवेशिकोत्तर भारत में ग्रामीण निर्धनों के आंदोलन

स्वतंत्र भारत में संसदीय तथा गैर.संसदीय वामपंथी नेता कृषक आंदोलनों के प्रमुख आयोजक रहे हैं। किसानों के एकजुट होने के कई मुद्दे रहे हैं जैसे – कृषि में मजदूरी बढ़ाना, जुताईकर्त्ता को भूमि के अधिकार देना इत्यादि तथा इनका प्रमुख लक्ष्य वे ग्रामीण धनी लोग रहे हैं जिनकी दया पर भूमिहीन श्रमिक तथा सीमान्त किसान निर्भर थे। चूंकि स्थापित कम्यूनिस्टों ने संघर्ष के संसदीय रूप को स्वीकार कर लिया था तथा संघर्ष के रूप में सशस्त्र विद्रोह का लगभग परित्याग कर दिया था, इसलिए स्वतंत्र भारत में नक्सलबाड़ी को छोड़कर देशभर में कोई प्रमुख सशस्त्र क्रांति नहीं हुई है। सी पी आई ने आरम्भिक वर्षों में देशभर में भूमि की जोत की प्रणाली बदलने के लिए क्रांतिकारी कार्यक्रम बनाने के लिए अपनी उम्मीदें कांग्रेस सरकार पर टिकाई हुई थीं। कांग्रेस सरकार द्वारा विभिन्न राज्यों में भूमि सुधार कार्यक्रम चलाए जाने के बाद सी पी आई ने अपना ध्यान कार्यक्रम के कार्यान्वयन पर लगाया।

सी पी आई के कार्यक्रम में उग्रता कम हुई तथा यह अपनी क्रांतिकारी रणनीतियों से और दूर हो गई जब पार्टी ने 1958 में अमृतसर में अपनी कांग्रेस में औपचारिक रूप से समाजवाद की ओर शान्तिमय परिवर्तन का कार्यक्रम अपनाया। इसके लिए अपनाई जाने वाली रणनीति के प्राथमिक प्रश्न पर पार्टी में विभाजन हो गया परन्तु विभाजन के कारण बनने वाली पार्टी सी पी आई (एम) ने भविष्य में इसी प्रकार की रणनीति को स्वीकृति दी तथा अपनाया। अतः इसके कारण ही दो प्रमुख कम्यूनिस्ट पार्टियों ने भारतीय गांवों में भूमि.कृषि संबंधी समस्याओं का हल ढूढंने के लिए गैर.संसदीय तरीके नहीं अपनाए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्यक्ष संघर्षों को प्रमुख वामपंथियों ने छोड़ दिया है और अपनी जन संस्थाओं के माध्यम से एकजुटता व आंदोलनों के संसदीय तरीके को अपनाया है। पार्टियां विभिन्न मुद्दों पर कृषकों तथा कृषि कार्यकर्त्ताओं को संगठित तथा एकजुट करती रही हैं परन्तु ये देश के केवल कुछेक क्षेत्रों में ही ऐसा कर पाई हैं।

दोनों ही प्रमुख कम्यूनिस्ट पार्टियों, सी पी आई तथा सी पी आई (एम) ने संबंधित वर्गो को एकजुट करने के लिए किसान सभा तथा खेतिहर श्रमिक संस्था जैसी कृषक संस्थाएं बनाई हुई हैं तथा उन्हें केरल, प0 बंगाल तथा त्रिपुरा और कुछ अन्य राज्यों में सीमित सफलता भी प्राप्त हुई है। इसी प्रकार से सी पी आई (एम.एल) बिहार में सक्रिय है तथा इसने अपनी कृषक पार्टी, बिहार प्रदेश किसान सभा बना रखी है जो अब झारखण्ड राज्य के कुछ जिलों सहित बिहार के कई जिलों में सक्रिय है तथा ग्रामीण निर्धनों व मध्यम किसानों को भी उन्हें प्रभावित करने वाले मुद्दों पर एकजुट करती रहती है। गैर संसदीय वामपंथी दल, जैसे मार्क्सवादी समन्वय समिति (एम सी सी) या पीपल्स वॉर ग्रुप (पी डब्ल्यू जी) आंध्र प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा तथा पंजाब जैसे राज्यों में ग्रामीण निर्धनों को एकजुट करते रहे हैं तथा ग्रामीण निर्धनों की समस्याओं के समाधान के लिए हिंसा की नीति अपनाते रहे हैं। अतः कह सकते हैं कि देश में कम्यूनिस्टों को ग्रामीण क्षेत्रों में सीमित सफलता प्राप्त हुई है। इस इकाई के अगले भाग में हम सी पी आई (एम) के एक भाग द्वारा समर्थित नक्सलबाड़ी कृषक क्रान्ति की चर्चा करेंगे जो देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुई।

नक्सलबाड़ी कृषक क्रान्ति

पश्चिम बंगाल के उत्तरी हिस्से में हुई नक्सलबाड़ी कृषक क्रान्ति भारत में हुई प्रमुख क्रान्तियों में अंतिम है। यह औपनिवेशिकोत्तर भारत में हुई तथा सी पी आई (एम) के एक भाग द्वारा समर्थित थी। सी पी आई (एम) के दो प्रमुख नेता, जो पार्टी की आधिकारिक स्थिति से सहमत नहीं थे तथा जिन्होंने इस आंदोलन की अगुवाई की, वे थे – कानू सान्याल और चारू माजूमदार। यह पश्चिम बंगाल के पूर्वी हिमालय के तराई क्षेत्र में आरम्भ हुई जिसे दार्जिलिंग जिले के सिलीगुड़ी उप.प्रभाग में नक्सलबाड़ी क्षेत्र कहा जाता है। नक्सलबाड़ी, खारीबाड़ी तथादफान्सीदेवा, तीन पुलिस स्टेशन क्षेत्रों में इस आंदोलन ने सैन्य रूख ले लिया। यह क्षेत्र पूरे प0 बंगाल से भिन्न है क्योंकि इसमें कई चाय के बागान हैं तथा जनजातीय जनसंख्या की अधिकता है। चाय के बागान, बागान अर्थव्यवस्था के अनुसार विकसित हुए हैं जबकि इस क्षेत्र की जनजातीय जनसंख्या में सन्थल, राजबंशी, ओराओं, मुण्डा तथा कुछ तराई गुरखा शामिल हैं। इन दो कारण के एक साथ होने से सम्पूर्ण क्षेत्र का प0 बंगाल में भूमि विवाद का इतिहास है। इस क्षेत्र के खेतिहर किसानों का लम्बे समय से यह कहना रहा है कि उनकी भूमि पर चाय बागान तथा धनी किसान अधिक्रमण करते जा रहे हैं। इस प्रकार से, इस विशिष्टता के कारण नक्सलबाड़ी क्षेत्र में कई कृषक विवाद हुए जिनकी अगुवाई प्रमुखतः स्थानीय कृषक नेताओं ने की न कि बाहर के मध्यम वर्गीय नेताओं ने।

यह क्रान्ति अप्रैल 1967 में प0 बंगाल में नई सरकार के गठन के बाद आरम्भ हुई, जिसमें सी पी आई (एम) की सरकार में प्रमख भागीदारी थी तथा सिलीगुड़ी उप.प्रभाग में जून तक पूर्ण रूप से सक्रिय रही। इस आंदोलन के नेता कानू सान्याल ने दस प्रमुख कार्य लक्ष्य रखे जिनमें अन्य के साथ.साथ गैर स्वामित्व वाली तथा कृषकों द्वारा जोती जाने वाली भूमि का पुनःवितरण, किसानों द्वारा सभी वैधानिक विलेखों तथा कागजातों को जलाया जाना, साहूकारों तथा किसानों के बीच हुए असमान समझौता नामों को खारिज समझा जाना, भंडारित चावल पर किसानों द्वारा कब्जा कर किसानों में बांटा जाना,

सभी जोतदारों की न्यायिक जांच कर उन्हें मृत्युदंड देना इत्यादि शामिल थे। उसने किसानों से स्वयं को परम्परागत हथियारों से तैयार रहने का आहवान किया।

यह आंदोलन मई माह में अपने शिखर पर पहुंच गया। किसानों ने जबरदस्ती कब्जे कर लिए तथा सरकारी स्रोतों के अनुसार जबरन कब्जे, चावल–धान लूटने तथा डराने.धमकाने, मारपीट के 60 मामले सामने आए। आंदोलन के नेताओं का दावा था कि सिलीगुड़ी उप.प्रभाग में लगभग 90 प्रतिशत किसान आंदोलन में शामिल थे। यह आंदोलन तब रूक गया जब केन्द्र सरकार के दबाव के कारण प0 बंगाल पुलिस की पूरे क्षेत्र में तैनाती की गई। बाद में जमींदारों की हत्या संहार रणनीति के तहत की गई। यह आंदोलन बाद में राज्य के अन्य क्षेत्रों, बिहार तथा आन्ध्र प्रदेश में नक्सलबाड़ी आंदोलन के रूप में फैल गया। इस प्रकार से नक्सलबाड़ी कृषक आंदोलन के स्वतंत्र भारत पर दूरगामी प्रभाव पड़े।

ग्रामीण धनी वर्ग के आंदोलन : समकालीन भारत में किसान आंदोलन

अध्याय के इस भाग में हम धनी ग्रामीणों के दो प्रमुख आंदोलनों की चर्चा करेंगे। प्रथम आंदोलन प0 उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा में भारतीय किसान यूनियन (बी के यू) द्वारा चलाया गया जबकि दूसरा आंदोलन प्रमुखतः गन्ना, कपास, तम्बाकू, अंगूर तथा प्याज उत्पादकों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले शेतकारी संगठन द्वारा दक्षिण पश्चिम महाराष्ट्र में चला, यद्यपि गुजरात में भी इसका आधार है। देश में कई अन्य संगठन तथा आंदोलन चल रहे हैं, जैसे कर्नाटक में नंजूदा स्वामी द्वारा चलाया गया कर्नाटक राज्य रैथा संघ तथा तमिलनाडु में नारायणस्वामी नायडू के नेतृत्व में विवासाइगल संगम आंदोलन, गुजरात के दक्षिण में खेद्युत आंदोलन परन्तु हाल ही के वर्षों में महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में हुए भारतीय किसान यूनियन आंदोलन तथा शरद जोशी के नेतृत्व में हुए शेतकारी संगठन आंदोलन ने सशस्त्र होने तथा अधिक क्षेत्र में फैलने के अनुसार राष्ट्रीय ध्यान आकृष्ट किया है। हम पहले भारतीय किसान यूनियन, उसके बाद शेतकारी संगठन तथा अंत में दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

भारतीय किसान यूनियन पर चर्चा करने से पहले आइए हम पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा की ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर नजर डालें जो इस आंदोलन का आधार है। यह क्षेत्र कृषि में अत्यधिक पूंजी निवेश के कारण अति समृद्ध है। अनाजों के अतिरिक्त यहां गन्ना प्रमुख फसल है। इन राज्यों के भूमिहर किसानों का एक वर्ग पूंजीवादी किसान में बदल चुका है जो अपने परिवार की आवश्यकता से अधिक का उत्पादन करता है तथा उसे बाजार में बेचता है। उनके पास पूंजी परिसम्पत्तियां जैसे – ट्रैक्टर, थ्रेशर, पम्पसैट इत्यादि हैं तथा पारिवारिक श्रम पर्याप्त न होने के कारण वे खेती के लिए कृषि श्रमिकों से कार्य करवाते हैं।

भारतीय किसान यूनियन का जन्म 13 अगस्त, 1978 को हरियाणा में चौ0 चरण सिंह के नेतृत्व में हुआ जोकि उत्तर भारत के अविवादित किसान नेता थे। 1987 में चौधरी चरण सिंह की मृत्यु के पश्चात उत्तर भारत के किसानों के लिए राजनैतिक शून्य की स्थिति उत्पन्न हो गई तथा जिसकी पूर्ति महेन्द्र सिंह टिकैत ने की। चरण सिंह की मृत्यु के उपरांत टिकैत ने मुज्जफरनगर जिले में अप्रैल, 1987 के शामली आंदोलन के बाद संस्था को उग्र संस्था में बदलने के प्रयास किए। इस आंदोलन में भारत किसान यूनियन ने बिजली की दरों में वृद्धि तथा बिजली आपूर्ति सही न होने के विरूद्ध आवाज उठाई जोकि पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसानों के लिए महत्वपूर्ण थी। भारतीय किसान यूनियन को मिली सफलता (बिजली की दरों में 1/6 प्रतिशत की कमी) से भारतीय किसान यूनियन तथा इसके नेता, महेन्द्र सिंह टिकैत की प्रसिद्धि बढ़ गई तथा शीघ्र ही कई जिलों के धनी किसान इस संस्था से जुड़ गए। शामली आंदोलन के बाद दो और आंदोलनों से भारतीय किसान यूनियन की स्थिति और मजबूत हुई तथा इसे राष्ट्रीय महत्व मिला। ये दो आंदोलन थे – 1988 के मेरठ तथा दिल्ली के धरने। ये आंदोलन लम्बे समय तक चले तथा आक्रामक प्रकृति के थे और इन्हें व्यापक सहयोग मिला।

मेरठ धरना 25 दिनों तक चला तथा यह प्रभावी और शान्तिपूर्ण था। इन आंदोलनों की प्रमुख मांगें देश में समृद्ध किसानों के अन्य आंदोलनों की मांगों की भांति थी। अधिकांश मांगें बिजली, लाभप्रद कीमतों, आयात की कम लागतों तथा फसलों के दामों के निर्धारण के लिए सरकार द्वारा गठित विविध समितियों में भारतीय किसान यूनियन के प्रतिनिधियों को शामिल करने के बारे में थीं। तब से लेकर आज तक भारतीय किसान यूनियन महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में किसान आंदोलनों को चला रही है।

भारतीय किसान यूनियन के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं का इस चर्चा में उल्लेख अनिवार्य है। यह संस्था पश्चिम उत्तर प्रदेश के सभी धनी किसानों की संस्था के रूप में आरम्भ हुई परन्तु आज यह मूल रूप से समृद्ध "जाट" किसानों की संस्था बन कर रह गई है। प्राथमिक रूप से इसके सदस्य जाट ही हैं। राजपूतों, गुजरों, त्यागियों तथा मुस्लिमों ने (अन्य किसानों) ने भारतीय किसान यूनियन के आरम्भिक वर्षों में इसमें उत्साहपूर्ण भाग लिया परन्तु आज उन्होंने यह संस्था छोड़ दी है। इस प्रकार से भारतीय किसान यूनियन ने बहुजातीय किसान गठबंधन की विशेषता को खो दिया है। भारतीय किसान यूनियन के संगठन से स्पष्ट पता चलता है कि इस संस्था की अराजनैतिक विशेषता को संजोकर रखा है। महेन्द्र सिंह टिकैत को राजनीति से घृणा है तथा उसका यह मत है कि सभी पार्टियां इंडिया की पार्टियां है न कि भारत की।

शरद जोशी के शेतकारी संगठन का जन्म 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में हुआ जब अक्तूबर, 1970 में इसका चकन नामक स्थान, महाराष्ट्र में कार्यालय खुला। यह प्रमुखतः ग्रामीण महाराष्ट्र में कपास, प्याज, तम्बाकू, अंगूर तथा गन्ना उत्पादक किसानों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। शेतकारी संगठन तथा शरद जोशी को तब राष्ट्रीय महत्व मिला जब महाराष्ट्र राज्य में किसानों ने हजारों की संख्या में वर्ष 1980 में रास्ता रोको अभियान चलाया और बम्बई तथा अन्य शहरों की प्रमुख सड़कों पर रास्ते बन्द कर दिए। संगठन का प्रमुख मुद्दा गन्ना तथा कपास की निम्न कीमतें थीं तथा इन उत्पादों की कीमतें बढ़ाने की मांग की गई। आंदोलन सफल रहा क्योंकि इससे इन जिन्सों की कीमतें कुछ हद तक बढ़ीं तथा साथ ही इससे किसानों के आंदोलन को राज्य में अहमियत मिली।

शरद जोशी ने किसानों की समस्याओं के संबंध में अप्रैल, 1981 में निपानी आंदोलन चलाया। इस आंदोलन को 1980 के दशक के मध्य में समर्थन मिलना कम हो गया क्योंकि यद्यपि नेताओं ने कई आंदोलनों की घोषणा की थी, तथापि एक भी आंदोलन गंभीरता से आरम्भ नहीं किया गया। 1980 के आरम्भ में शरद जोशी गुजरात के परिदृश्य पर दिखाई पड़े। गुजरात में उनका योगदान यह रहा कि उन्होंने पहली बार इस बात पर बल दिया कि किसानों के आंदोलन तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि कृषि श्रमिक तथा निर्धन श्रमिक इसके साथ नहीं जुड़ते। इस पर बल देने से वह खेद्युत आंदोलन अथवा किसान आंदोलनों में ग्रामीण निर्धनों का समर्थन प्राप्त करने में सफल रहा। 1985 में शेतकारी संगठन ने महाराष्ट्र में विपक्षी राजनैतिक पार्टियों को समर्थन देकर तथा ग्रामीण क्षेत्र के लोगों से जुड़ी अन्य संस्थाओं व लोगों के साथ मिलकर कार्य करने का अति व्यावहारिक कदम उठाया। इससे संस्था को लाभ मिला तथा इसे व्यापक समर्थन मिला। अगला आंदोलन इसने जनवरी, 1987 में कपास की कीमतों के संबंध में चलाया। तब से लेकर महाराष्ट्र में आंदोलनों में परिपक्वता आ गई है तथा इन्हें महत्व दिया जाता है। परन्तु हाल ही के वर्षों में शेतकारी संगठन के समर्थन में पर्याप्त कमी आई है और ऐसा इसलिए हुआ है कि 1990 के दशक में यह कोई गंभीर आंदोलन नहीं चला पाई साथ ही शरद जोशी जी ने अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का खुलकर समर्थन किया है।

उत्तर भारत के महेन्द्र सिंह टिकैत के भारतीय किसान यूनियन के साथ तुलना करने से पहले हमें शरद जोशी के शेतकारी संगठन आंदोलन के बारे में कुछ बातें ध्यान में रखनी चाहिएं। उत्तर भारत में भारतीय किसान यूनियन की भांति महाराष्ट्र तथा गुजरात का शेतकारी संगठन आंदोलन धनी किसानों का आंदोलन था यद्यपि इसमें ग्रामीण निर्धनों की मांगों और हितों के बारे में आवाज बुलन्द की गई थी। शेतकारी संगठन के संबंध में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि इस आंदोलन का उद्देश्य राज्य की भूमिका कम करना था, राज्य को किसानों का सबसे बड़ा शत्रु माना जाता है। इन्हीं के कारण इसने उदारीकरण, खुले बाजार तथा यहां तक कि डंकल मसौदे को भी आंशिक रूप से स्वीकृति दे दी है।

यद्यपि भारतीय किसान यूनियन तथा शेतकारी संगठन में कई समानताएं हैं तथपि इन दोनों में पर्याप्त भिन्नताएं हैं। गुप्ता (1997) ने दोनों में 6 अंतर बताए हैं किन्तु हम 3 अंतरों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। भारतीय किसान यूनियन मुख्यतः स्वामी जोतदारों, प्रमुख रूप से क्षेत्र के जाटों से संबंधित था जबकि शेतकारी संगठन ने ग्रामीण निर्धनों को एकजुट करने का भी प्रयास किया है यद्यपि यह ग्रामीण धनी किसानों का आंदोलन था। दूसरे, शेतकारी संगठन आंदोलन एक ऐसा आंदोलन है तथा कुछ बुद्धिजीवी इससे जुड़े रहे हैं तथा इसे चलाते रहें हैं जिससे यह भारतीय किसान यूनियन की तुलना में सैद्धान्तिक रूप से संगठित आंदोलन बन गया है, जबकि भारतीय किसान यूनियन केवल अनौपचारिक संस्था है। अंत में, आज भारतीय किसान यूनियन प्रमुखतः समतावादी जाट स्वामी जोतदारों का प्रतिनिधित्व करता है जबकि शेतकारी संगठन प्रमुखतः मराठा जाति का प्रतिनिधि संगठन है यद्यपि यह एकल जातीय संस्था नहीं है। धन्गाड़, माली तथा बंजारा भी इस संस्था में बराबर सक्रिय हैं।

3.4.5 सारांश

समकालीन भारत में किसानों के आंदोलनों के विश्लेषण से पता चलता है कि यद्यपि एकजुटता तथा आंदोलन के दोनों रूप मौजूद हैं तथापि प्रथम का नेतृत्व प्रमुखतः वामपंथी तथा अन्य राजनैतिक पार्टियों की जन संस्थाएं करती हैं तथा द्वितीय समृद्ध कृषक संस्थाओं द्वारा चलाए जाते हैं यद्यपि इसमें विभिन्न क्षेत्रों के सीमान्त तथा निर्धन किसानों को भी आकृष्ट किया गया है। किन्तु धनी वर्ग के आंदोलनों को हाल ही के वर्षों में उनकी संघर्ष करने की क्षमता तथा लम्बे आंदोलनों के कारण अधिक प्रमुखता दी गई है जबकि निर्धन वर्ग के आंदोलनों में वह जुझारूपन देखने में नहीं आया। वास्तव में, वामपंथी दलों, जिन्होंने 1960 के दशक के अंतिम वर्षों तक भूमि–कृषि संबंधी आंदोलन चलाए थे, पिछले 30 वर्षों से कोई गंभीर आंदोलन नहीं छेड़ा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्थापित की गई वामपंथी पार्टियों की तत्काल कार्यसूची में गंभीर वर्ग संघर्ष नहीं है। गैर–संसदीय वामपंथी दल यद्यपि इसका अपवाद है परन्तु इनका भी सीमित ग्रामीण आधार है। धनी किसान वर्ग में जुझारूपन का प्रमुख कारण सामाजिक ढांचे में उनकी स्थिति है जिससे वे निर्धन तथा सीमान्त किसानों की तुलना में आंदोलन चला सकते हैं।

3.4.6 अभ्यास प्रश्नावली

1) स्वतंतत्रता पूर्व काल में श्रमिक वर्ग आंदोलनों के इतिहास की व्याख्या करें।
2) औपनिवेशिकेत्तर काल में श्रमिक वर्ग आंदोलनों के प्रभाव की व्याख्या कीजिए।
3) नई आर्थिक नीति से देश का श्रमिक वर्ग बुरी तरह से प्रभावित हुआ है। व्याख्या कीजिए।
4) भारत में कृषक आंदोलनों के विकास का संक्षिप्त विश्लेषण करें।
5) निम्नलिखित पर लघु टिप्पणी कीजिए:
   क) ग्रामीण आंदोलनों में भारतीय किसान यूनियन की भूमिका
   ख) तेलंगाना कृषक आंदोलन

अध्याय–5
संचार माध्यम और जन नीतियां

संरचना

xvi) उद्‌देश्य
xvii) प्रस्तावना
xviii) जन नीतियां क्या होती हैं?
3.5.3.1 परिभाषाएं
3.5.3.2 जन नीतियां और प्रशासन
xix) जनसंचार और जनतंत्रा:भूमिका और प्रभाव
3.5.4.1 उद्‌भव काल
3.5.4.2 आधुनिक जनतंत्रा और प्रेस
3.5.4.3 संचार माध्यमों की नई प्रौद्योगिकियां और जनतंत्रा
xx) जनसंचार माध्यम और जनमत
xxi) केस अध्ययन
3.5.6.1 सी.एन.जी. पर सरकारी नीति
xxii) सारांश
xxiii) अभ्यास प्रश्नावाली

3.5.1 उद्‌देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्‌देश्य लोकतंत्र के चौथे स्तम्भ संचार माध्यमों के प्रभाव का उल्लेख करता है। संचार साधनो या प्रेस की स्वतंत्रता के माध्यम से जनता की आवाज सरकार तक पहुँचती है और सरकार उन अपेक्षाओं के अनुसार जन नीतियाँ बनाती है। जनता के पक्ष में नीतियाँ बनने व लोकतंत्र को मजबूत बनाने में संचार माध्यमों की महत्वपूर्ण भूमिका है क्योकि ये जनमत निर्माण का प्रमुख साधन है।

3.5.2 प्रस्तावना

जनतंत्रा और संचार माध्यम विकास की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण तत्व हैं क्योंकि आजकल विकास को केवल चुनी हुई सरकारों की ही ज़िम्मेदारी नहीं माना जाता। नीतियां बनाने की पहल करने के बावजूद सरकारों को जनता की भागीदारी की आवश्यकता पड़ती है और विभिन्न चुनाव, जन आंदोलन और बहसों जैसा जनतांत्रिक प्रक्रियाएं जनता की भागीदारी सुनिश्चित करती है। समाचार माध्यमों सहित सभी जनसंचार माध्यम लोगों को विकास से जुड़ी सूचनाएं प्रदान करने के साथ.साथ इन मुद्‌दों पर बहस के लिए स्थान भी मुहैया कराते हैं।

भूमंडलीकरण के इस युग में संचार माध्यम सामाजिक प्रबंध के सबसे सशक्त घट बन कर उभरे हैं। जनमत बनाने में संचार माध्यमों की भूमिका सर्वविदित है। पर कुछ संचार विशेषज्ञ और समाज शास्त्राी सोचते हैं कि जनमत तैयार करने में उन लोगों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है जिनकी बात समाज के लोग मानते हैं। लेकिन पूंजीवादी क्रांति के समय से ही प्रेस को लोगतंत्रा के चौथे स्तंभ का दर्जा ही इसलिए दिया गया था कि लोगों के विचारों को प्रभावित करने और इस प्रकार पूंजीवादी जनतंत्रा के लिए राजनीतिक प्रक्रिया को गति देने की उसकी भूमिका को पहचान लिया गया था।

इस इकाई में हम सामान्य तौर पर नीति निर्माण और विशेष रूप से जनहित की नीतियों के बनाने में संचार माध्यमों की भूमिका पर विचार करेंगे। संचार माध्यमों की भूमिका दोहरी है। एक तरफ तो यह माध्यम शिक्षाविदों, पत्राकारों, विशेषज्ञों, राजनीतिक दलों के नेताओं, धार्मिक नेताओं, मजदूरों और किसानों के संघों, आदि समूहों द्वारा व्यक्त राय को प्रकाशित कर नीति निर्माताओं को प्रभावित करते हैं और दूसरी ओर संचार माध्यम बहस चला कर और जनता को शिक्षित कर नीति निर्माताओं या अधिकारियों को जनता के हितों का ख्याल रखने का दबाव डालते हैं। साथ ही हम लोकतंत्रीकरण का प्रक्रिया, संचार माध्यमों और सामाजिक विकास पर भूमंडलीकरण और प्रौद्योगिकीय प्रगति के प्रभाव की चर्चा भी करेंगे।

हम लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया को आगे ले जाने में माध्यम प्रौद्योगिकियों की भूमिका पर भी विचार करेंगे।

जनहित नीति क्या है?

जनहित नीति वह प्रक्रिया है जो किसी राष्ट्रीय या प्रांतीय सरकार, नगर पालिका और पंचायतों को लोक हित में कुछ कदम उठाने में मदद करती है। स्वास्थ्य, समाज कल्याण, संचार माध्यमों, रक्षा, कृषि, आदि से जुड़े मसले ऐसे है जिनका जन सामान्य पर असर पड़ता है और इसलिए इन्हें जनहित नीतियों के मसले माना जाता है।

3.5.3.1 परिभाषाएं

जन नीतियों की एक परिभाषा वह है जो कोंसीड़ीन ने दी है जिसमें वह कहते हैं जन नीति वह कार्रवाई है जो प्रशासकीय सत्ता को अपने संसाधन निश्चित मूल्यों के समर्थन में करने को बाध्य करती है। उनके अनुसार नीति निर्धारण में जन मूल्यों का स्पष्टीकरण, पैसे और सेवाओं की वचन बद्धता और अधिकार और पद? देना शामिल होता है। (कोंसीडीन, 1994ए पृ. 3)

एक विद्वान के अनुसार जन नीतियां वहां होती है जहां समुदाय समुदायों के तौर पर बातें तय करना चाहते हैं, लेकिन एक अन्य विद्वान कहते हैं कि जन नीतियां सरकार के जनता की समस्याओं को हल करने वाले फैसले और कार्रवाई होती है। जन नीतियों को परिभाषित करते हुए वह यह भी कहते हैं कि जन नीतियां अच्छे समाज की परिभाषा और उसको बनाने के तरीकों के लिए होने वाले संघर्ष का परिणाम होती है।

जन नीतियों की एक और परिभाषा वह हो सकती है जो जन नीतियों को सत्ता, अधिकारों, संसाधनों, सूचनाओं और लाभों के वितरण और प्रबंधन के जरिए जनहित के लक्ष्यों को प्राप्त करने की रणनीति हो।

जैसा हमने देखा, जन नीतियों का दायरा बहुत बड़ा है और इसमें वह सब मामले आ जाते हैं जो जनता से जुड़े हों। भले ही वह स्वच्छता और स्वास्थ्य के मामले हों या पेय जल की समस्या हो इन सभी के लिए नीतियां बनाने और फिर उन्हें कार्यान्वित करने की आवश्यकता है ताकि जनता बेहतर महसूस कर सके।

3.5.3.2 जनहित नीति और प्रशासन

जनतंत्रा में लोग अपने नेताओं को बेहतर प्रशासन उपलब्ध कराने की उनकी योग्यताओं के कई स्तरों पर चुनते हैं। यदि किसी राजनीतिक पार्टी के सरकार बनने वाले नेता जनता को प्रभावित करने वाले मुद्दों पर नीतियां नहीं बनाते हैं तो उन्हें जनता अस्वीकार कर देती है। शासन करने वाली और विपक्ष में बैठने वाली राजनीतिक पार्टियों के पास एक निश्चित परिपेक्ष्य का होना आवश्यक होता है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि नीति निर्धारण, मौजूदा नीतियों पर बहस तथा जननीति के बारे में एक अलग दृष्टिकोण को सामने लाना लोकतांत्रिक शासन के अभिन्न अंग बन जाते हैं।

सरकार के लोकतांत्रिक रूपों में जन नीतियों का मुख्य भाग संसद में विधायी प्रक्रियाओं के माध्यम से बनाया जाता है। लोकतंत्रा में नीति निर्धारण संस्थाओं की राज्य स्तरीय और स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों जैसी कई तहें होती हैं। संसद जनता की भागीदारी का प्रधान, सर्वोच्च प्रतीक है जहां जनता अपने प्रतिनिधि चुन कर भेजती है। वह प्रतिनिधि सरकार द्वारा बनाई जाने वाली सभी नीतियों पर विधान बनने से पहले चर्चा और बहस करते हैं। राजनीतिक पार्टियां जनता के प्रतिनिधित्व का दूसरा रूप है। समान राजनीतिक विचार और रुचियों वाले लोग ऐसे राजनीतिक दल का गठन करते हैं जो लोगों के एक वर्ग की विचारधारा को प्रतिबिम्बित करते हैं। श्रमिक तथा किसान आंदोलन, नागरिक समाज और गैर सरकारी संगठन तथा सामाजिक आंदोलन भी राजनीतिक अभिव्यक्तियों के मंच हैं। संचार माध्यम भी एक अन्य संस्था है जो सरकार और जनता के बीच संप्रेषण को आसान बनाती है।

3.5.3 लोकतंत्रा में संचार माध्यमः भूमिका और प्रभाव

3.5.4.1 प्रारंभिक दौर

मुद्रणालय के अविष्कार के समय से ही और विशेषकर यूरोप में जनतंत्रा की स्थापना के बाद से ही प्रेस और राजनीति का चोली.दामन का साथ रहा है। भले ही यूरोप में मुद्रणालय का आगमन पूंजीवादी क्रांति से बहुत पहले हुआ उसे उसकी असली जगह और महत्व इस क्रांति के दौरान और बाद में ही मिल पाया। सामंती व्यवस्था को इसलिए उखाड़ फेंका गया कि स्वतंत्राता, समानता और भाईचारे के मूल्यों पर निर्भर पूंजीवादी जनतंत्रा स्थापित किया जाना था। हालांकि क्रांति से पहले ही प्रेस विमर्श का एक ऐसा प्रमुख औजार बन गया था जिसके बिना जॉन स्टुआर्ट मिल, हॉब्स, रूसो, बॉल्टेर, मोंतेस्किय के साथ कई अन्य दार्शनिकों और चिंतकों के विचारों का प्रचार संभव नहीं था। पास्कल और देकार्त की बहुचर्चित दार्शनिक बहस भी प्रेस की बजह से संभव हुई। कहना अनुचित न होगा कि प्रेस इस प्रकार की बहसों का

माध्यम बना जिन्होंने पूंजीवादी जनतंत्रा के आन्दोलन को वैचारिक आधार दिया। यही वजह थी कि आधुनिक जनतंत्रा में प्रेस को चौथे स्तंभ का दर्जा दिया गया।

पूंजीवाद के आरंभिक दिनों में पत्राकारिता का काम उभरते हुए जनतंत्रा की उपलब्धियों को प्रचारित करना था। यही वह काल खंड है जहां पत्राकारिता की राजनीतिक विकास में भूमिका तय हुई। वह पूंजीवादी जनतंत्रा के विचारधारात्मक विकास का प्रमुख माध्यम बना और उसने सत्ता के प्रतिनिधि के तौर पर जनता से संवाद किया। जो लोग सत्ता में आए थे वह यह दावा कर रहे थे कि वह कृ जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता की सरकार कृ बना रहे हैं। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रा की जो कुछ बातें बतानी थी वह नहीं बताई जा सकती थीं यदि ऐसा करने से नवस्थापित व्यवस्था की उपलब्धियों का महत्व कम हो या ऐसा करने से समाज पुरानी व्यवस्था की आरे लौटता हो। यही वजह थी कि जनतंत्रा के प्रवक्ताओं ने कहा कि कृ यदि स्वतंत्राता का दुरुपयोग इस हद तक हो कि सही नैतिक मूल्यों और राज्य सत्ता को खतरा पहुंचे तो उस पर नियंत्राण किया जाना चाहिए।

आने वाले वर्षों में पूंजीवादी जनतंत्रा परिपक्व हुआ और उसे लगा कि जनता में जनतांत्रिक चेतना की प्रक्रिया को तब तक तेज़ नहीं किया जा सकता जब तक मौजूदा स्वतंत्रा प्रेस से भी अधिक स्वतंत्रा प्रेस नहीं होगा।

स्वतंत्राता, समानता और भाईचारे के उच्च्व आदर्शों वाले आधुनिक जनतंत्रों ने संसद (विधान पालिका), सरकार (कार्य पालिका) और न्यायालय (न्याय पालिका) की मदद से राज्यों में राजनीतिक प्रक्रिया को नियंत्रित किया। उन्होंने प्रेस को जनतंत्रा का चौथा स्तंभ घोषित किया। तभी से यूरोप और अमेरिका में प्रेस स्वतंत्रा विमर्श का प्रमुख कारक बन गया।

अमेरिकी प्रेस के उद्देश्यों के बारे में हर्बट जे. एल्टथुल ने अपने व्याख्यानों में जनतंत्रा और पत्राकारिता के संबंधों की चर्चा की है। वह कहते हैं:

जनतंत्रा में जनता ही शासन करती है और उनकी आवाज़ें मतदान पेटियों में सुनी जा सकती हैं। मतदान पेटियों में व्यक्त जनता के निर्णय उन्हें प्राप्त सूचनाओं पर निर्भर करते हैं। समाचार माध्यम मूलतः यह सूचनाएं उपलब्ध कराते हैं। अतः समाचार माध्यम जनतंत्रा के बने रहने के लिए अनिवार्य हैं। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए हम कह सकते हैं कि जनतंत्रा एक स्वतंत्रा समाज है। किसी अन्य शासन प्रणाली में नागरिक स्वतंत्रा नहीं होते। अतः समाज के स्वतंत्रा होने के लिए नागरिकों तक सूचनाओं का प्रवाह ऐसे समाचार माध्यमों से होना चाहिए जो स्वतंत्रा हों। आजकल यह केवल अमेरिकियों की ही नहीं बल्कि पूंजीवादी विश्व के अधिकांश नागरिकों की भी यही धारणा है।

3.5.4.2 आधुनिक जनतंत्र और पत्राकारिता

विभिन्न देशों में जनसंचार माध्यम जनतांत्रिक प्रक्रियाओं से अधिकाधिक जुड़ते जा रहे हैं। सरकारी अधिकारी और राजनेता अपने कार्यक्रमों और लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए संचार माध्यमों का इस्तेमाल करते हैं। जनता भी यह निर्णय करने के लिए संचार माध्यमों पर अधिक से अधिक निर्भर करती है ताकि उनके नेता अपने विचारों को कैसे व्यक्त करते हैं, कैसे प्रचार करते हैं, कैसे शासन करते हैं और कैसे जन नीतियों का निर्धारण करते हैं। आश्चर्यजनक है कि संचार माध्यमों के प्रभाव के बढ़ने से मतदाताओं की भागीदारी घटती है। सुसंज्ञानित नागरिक और हमारे लोकतंत्रा के सक्रिय भागीदार होने के लिए जनता को प्रशासनिक प्रक्रिया और उसमें संचार माध्यमों की भूमिका की जानकारी होना आवश्यक है।

आम नागरिक को मनोरंजन और संस्कृति की दुनिया का तो संचार माध्यमों से अच्छा ज्ञान हो जाता है लेकिन इनमें से अधिकांश यह नहीं जानते कि राजनीति और जन नीति के साथ संचार माध्यमों का क्या संबंध है और वह किस तरह से उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। यह आवश्यक है कि वह इन बातों को जाने ताकि वह राजनीति से जुड़े माध्यम संदेशों का विचारवान *उपभोक्ता* बने। संचार माध्यम और जनतंत्रा के बदलते रिश्तों को खोजने के लिए हम उन्हें कैसे प्रेरित कर सकते हैं? ऐसे ही कुछ सवालों पर शिक्षाविदों, पत्राकारों, माध्य प्रबंधकों और नागरिकों को मिलकर सोचना चाहिए।

आधुनिक जनतंत्रों में संचार माध्यमों और जन नीतियों के संबंध लगातार आलोचनात्मक और जटिल हुए हैं। ऐसे समाज में जहां 24 गुणा 7 समाचार वृत्त विभाजित जनता पर सूचनाओं की बौछार करता हो, जहां सूचनात्मक मनोरंजन और विमर्श संस्कृति अक्सर पारंपरिक पत्राकारिता पर छा जाती है वहां जन नीतियों में परिवर्तन करने या उन्हें बनाने के लिए आवश्यक राजनीतिक सहमति बनाना और इसके लिए लक्षितजन विमर्श करना कठिन हो गया है। चुनाव, लक्षित समूह विमर्श के अंश, बहसें विशेष रुचि पर होने वाला व्यापक खर्च और निगमों के लोकप्रयता सूचकांक और प्रसार के दबाव महत्वपूर्ण मसलों को बदशक्ल कर सकते हैं या उन पर ग्रहण लगा सकते हैं।

आधुनिक संचार माध्यमों में यह शक्तियां कैसे टकराती हैं जानना संचार माध्यमों और जन नीतियों के विद्यार्थियों के लिए नितांत आवश्यक हो गया है। यह जानना भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि समाचार कक्षों में जन नीतियों से संबंधित मुद्दों को

शामिल करने के निर्णय कैसे होते हैं, प्रवक्ता अपने संदेशों को आगे बढ़ाने के लिए संचार माध्यमों पर कैसे निर्भर करते हैं और संचार माध्यमों का उपयोग कैसे करते हैं।

3.5.4.3 संचार माध्यमों की नई संचार प्रौद्योगिकी और जनतंत्र

सूचना प्रौद्योगिकी के और विभिन्न संचार प्रौद्यौगिकियों के अभिसरण की वजह से संचार माध्यमों की प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। संचार माध्यम का पहले अर्थ केवल समाचार पत्रा पत्रिकाएं होता था वहीं अब रेडियो, टेलीविजन और कंप्यूटर के इसमें शामिल होने की वजह से इसका अर्थ और व्यापक हो गया है। साथ ही सूचना प्रौद्योगिकी के बढ़ते इस्तेमाल से प्रेस के स्वभाव में कई नए परिवर्तन हुए हैं। सूचनाएं इंटरनेट पर बहुतायत से उपलब्ध हैं जिससे पाठकों और नागरिकों की समाचारपत्राों पर निर्भरता कम हुई है। विश्व भर में सरकारें अब सूचनाएं नागरिकों तक पहुंचाने के लिए न केवल इंटरनेट का इस्तेमाल कर रही हैं बल्कि आवेदन पत्रा जमा करने, उन्हें भरने के लिए, आदेश और विज्ञप्तियां जारी करने जैसे रोजमर्रा के कामों के लिए इंटरनेट और अंकीय प्रोद्योगिकियों का प्रयोग को प्रोत्साहन दे रही है। अंकीय प्रौद्योगिकी के इसी प्रयोग को ई.प्रशासन कहते हैं

अभी कंप्यूटर और इंटरनेट की प्रगति सीमित है लेकिन सूचना प्रौद्योगिकी और दूरसंचार सुविधाओं की कीमतों में और सुधार होने के बाद नई माध्यम प्रौद्योगिकियों में स्वतंत्रा अभिव्यक्त की संभावनाएं ज्यादा होंगी क्योंकि प्रेस, रेडियो और टेलीविजन जैसी प्रौद्योगिकियों की तुलना में इसमें कथ्य पर निजी या सरकारी नियंत्राण कम है। पहले संचार माध्यमों को स्वतंत्राता इसलिए प्रदान की गई थी कि वह जनता का प्रतिनिधित्व करें लेकिन इन प्रौद्योगिकियों की कीमत और प्रबंधन की वजह से इन माध्यमों के मालिकों को अपनी रुचि एवं हितों के अनुसार सामग्री प्रस्तुत करने का विशेषाधिकार मिला हुआ था।

अब ई.प्रशासन और इंटरनेट पर नियंत्राण की कमी की वजह से सरकार और जनता के बीच एक जीवंत संचार माध्यम है और अधिक से अधिक समान हित समूह समानधर्मी लोगों से संबंध कायम कर रहे हैं और अनेक मसलों पर जनमत बनाने में भी सक्षम हैं।

3.5.4 संचार माध्यम और जनमत

यह निश्चितता के साथ कहा जा सकता है कि संचार माध्यम काफी हद तक जनमत तैयार करते हैं। ऐसे कई अध्ययन हुए हैं जो दर्शाते हैं कि संचार माध्यम ही लोगों की राय बनाने के एकमात्रा साधन नहीं है। 1940 के अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव के दौरान पॉल इ लाज़ारफेल्ड और अन्य विद्वानों ने जो शोध किया इससे पाया कि लोगों के निर्णय लेने की प्रक्रिया पर संचार माध्यमों का सीधा प्रभाव नहीं पड़ता। अपनी पुस्तक 'द पीपुल्स चॉइस' में उन्होंने अंतर्वैक्तिक संप्रेषण, हमजोली समूहों और ओपिनियन लीडरों को भी जनमत निर्माण के प्रमुख घटक माना। फिर भी दो पायदानों वाले सूचना माडल में भी जनसंचार माध्यमों की भूमिका को पूरी तरह से नकारा नहीं गया बल्कि उसे जनता और ओपीनियन लीडर तक सूचनाएं प्रेषित करने की अहम भूमिका में दर्शाया गया।

1970 के दौरान संचार सिद्धांतकारों ने जनमत निर्माण में पुनः संचार माध्यमों की भूमिका को रेखांकित किया। जॉर्ज गार्बनर ;1967द्ध ने कल्टीवेशन सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसमें संचार माध्यमों को

समाज का निर्माता घोषित किया। उनका मत था कि संचार माध्यमों का लोगों के नज़रिए पर व्यंजनात्मक प्रभाव पड़ता है क्योंकि उन्होंने दर्शाया कि अपने बार.बार और लम्बे प्रसार की वजह से वह प्रभावी प्रतीकों का निर्माण करता है। उनके शोध समय के अनुकूल थे क्योंकि उस समय विज्ञापन समाज को प्रभावित कर रहे थे। बाद में संचार माध्यमों और राजनीति के संबंधों की पड़ताल भी की गयी और मेक्सवैल मकोम्ब और डोनाल्ड शॉ ;1972द्ध ने चुनावों के दौरान माध्यमों द्वारा एजेंडा तय करने की जांच की। एजेंडा तय करने वाले सिद्धांत के प्रणोताओं का मानना है कि संचा माध्यम लोगों को क्या सोचना है की तुलना में सोचने के लिए क्या.क्या है बताने में सफल होते हैं। इस अध्ययन में संचार माध्यमों द्वारा तय किए गए मुद्दों की तुलना लोगों और राजनेताओं द्वारा तय किए गए मुद्दों से की गई। इस अध्ययन में बताया गया है कि समय के साथ माध्यमों द्वारा तय किए गए मुद्दे जनता के मुद्दे बन जाते हैं।

संचार के दूसरे विद्वानों ने हमें जनसंचार के कई वैकल्पिक सिद्धांत बताए हैं पर हम यहां दो अन्य सिद्धांतों की चर्चा करेंगे। मेल्विन द फ्लर और सैंड्रा बॉल राकीक ने निर्भरता का सिद्धांत सामने रखा जिसमें कुछ सामरिक तथा मनोवैज्ञानिक घटक संचार माध्यमों का उनके पाठकों और दर्शकों पर नियंत्राण रखने से बचाव करते हैं। वह कहते हैं– जनसंचार माध्यमों में न केवल याद्रैच्छिक प्रभाव सत्ता की कमी होती है बल्कि वह याद्रैच्छिक संप्रेषण कर पाने में भी सक्षम नहीं होते। माध्यम और उसके श्रोता या दर्शक समाज के अभिन्न अंग हैं अतः आस.पास का सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ न केवल उनके संदेशों पर नियंत्रा रखते हैं बल्कि उन संदेशों के दर्शकों पर पड़ने वाले प्रभाव को भी नियंत्रित करते हैं। दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत विकास संचार का सिद्धांत कहलाता है जिसे विकासशील देशों के संचार समस्याओं के अध्ययन के लिए मैक्ब्राइड आयोग ने प्रतिपादित किया। संचार की अंतर संरचना के अभाव, यंत्रों और सामग्री के लिए विकसित देशों

पर निर्भरता आदि वह समस्याएं थी जिनका अध्ययन किया गया। अपने.अपने समाजों के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विकास को राष्ट्रीय प्राथमिकता वाला काम मानने की उनकी प्रतिबद्धता और समान हितों वाले देशों की पहचान करना इन देशों के लक्ष्य थे। विकास संचार सिद्धांतकारों की प्रमुख चिंता ग़रीबी उन्मूलन, जनसंख्या नियंत्राण, साक्षरता, रोजगार, आदि के विकास कार्यक्रमों में संचार माध्यमों का इस्तेमाल करने के तरीके ढूंढ़ना था। इस सिद्धांत की सफलता सरकारों पर निर्भर करती है क्योंकि वही विधाई नीतियों की मदद से संचार माध्यमों की स्वतंत्राता या उन पर नियंत्राण लगा सकती हैं।

ऊपर दिए गए तथ्यों से स्पष्ट है कि संचार माध्यम सूचनाओं के प्रसार, लोगों को मुख्य मुद्दों के बारे में शिक्षित करने और उनके मनोरंजन करने के शक्तिशाली औज़ार हैं। संचार माध्यमों की लोगों को प्रभावित करने की इसी क्षमता की वजह से कई बार सरकारें सेंसरशिप जैसे काले कानून लाकर इन पर नियंत्राण करना चाहती है।

3.5.5 केस अध्ययन

जन नीतियों पर संचार माध्यमों का असर जन नीति जन नीति के मुद्दों पर बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। हालांकि हाल ही में तमाम नीतियों में परिवर्तन हुए हैं, लेकिन बेहतर अध्ययन के लिए हम यहां एक जन नीति का उदाहरण लेंगे।

हाल ही में हुए हर एक बदलाव ने जनता को बहस के लिए उकसाया है जैसे कि एम.आर.टी.पी.विनिवेश, श्रम कानून, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, आदि।

3.5.6.1 सी.एन.जी.पर जन नीति

हाल ही में दिल्ली सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय के आदेशानुसार देश की राजधानी में पर्यावरण के अनुकूल सी.एन.जी का प्रयोग लागू किया ताकि वायु प्रदुषण में कमी हो। इस निर्णय से अनेक डीजल वाहन निर्माताओं को झटका लगा, खासकर उन हल्के वाहन उत्पादकों को जो अपने वाहन या तो लाए या फिर डीजल कारें बाजार में लाने वाले थे। सभी जन वाहनों को सी.एन.जी. में परिवर्तित करने की आवश्यकता ने सभी वाहन मालिकों के लिए मुसीबत खड़ी कर दी। इससे सवारियों को काफी परेशानी हुई। सर्वोच्च न्यायालय ने हस्तक्षेप करते हुए नीति को समय से कार्यान्वित करने के आदेश दिए जबकि कई विरोधाभासी हितों के कारण यहां पर कई दबाव थे। अंततः विपक्षी दल भा.ज.पा. और सत्तारूढ़ कांग्रेस में तनाव स्पष्ट दिखाई दिया।

संचार माध्यमों तक यह लड़ाई बढ़ी और उन्होंने कार्यान्वयन के हर स्तर को रिपोर्ट किया। कुछ बड़ी मुख्य खबरें जो अखबारों में इस काल में आई बह्य संचार माध्यमों का इन मामलों में हस्तक्षेप भी स्पष्ट करती हैं। उनमें से कुछ नीचे दी गई हैं :

प्रदूषित दिल्ली को सी.एन.जी. चाहिए, भाजपा ने कहा नहीं

(टाइम्स न्यूज नेटवर्क)

सी.एस.ई. ने सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को सराहा

(एक्सप्रेस न्यूज सर्विस, अप्रैल 6ए 2002)

सी.एन.जी. मुद्दे पर कबीना विभाजित

(हिन्दू अप्रैल 8ए 2002)

खुराना, साहिबसिंह ने सर्वोच्च न्यायालय को नकारा

राम नाइक और अरूण जेटली ने विधाई आदेश का समर्थन किया

(एक्सप्रेस न्यूज, अप्रैल 8ए 2002)

केन्द्र न्यायालय की ताकत को पचा जाना चाहता हैः विशेषज्ञ

(ऐक्सप्रेस न्यूज सर्विस, अप्रैल 8ए 2002)

असल में संचार माध्यमों के अलावा, राजनीतिक दल तथा परिवहन मालिकों और सवारियों के समान हित वाले समूहों के अलावा अन्य दबाव समूह और जनमत बनने वाले अन्य लोग इस खेल में शामिल थे।

सी.एस.ई जोकि एक गैर सरकारी संगठन है उसने सी.एन.जी.को दिल्ली में लागू करते की खूब वकालत की। इसकी जानकारी विस्तार से गैर सरकारी संगठन की वेब स्थली पर उपलब्ध है।

इस बात को पूरी तरह से जाने बिना कि सी.एस.ई. इस मामले में संबंधित पक्ष है जन नीति विश्लेषण का अध्ययन करने वालों को चाहिए कि वह और भी वेबस्थलियों पर जाएं और यह समझें कि

सी.एस.ई. का समर्थन या विरोध करने वालों के क्या तर्क है। फिर भी, सी.एस.ई. द्वारा वेबस्थली पर उपलब्ध कराई गई बातें विभिन्न सरकारों द्वारा अपनाई गई जन नीतियों के विश्लेषण करने के लिए काफी है।

सी.एस.ई. द्वारा जारी की गई कुछ प्रेस कतरनों के अंश जो वायु प्रदूषण और उनमें शामिल विभिन्न राजनीतिक और व्यापारिक हितों और उनके सी.एन.जी. प्रयोग के समर्थन या विरोध का वर्णन करते हैं, नीचे दिए गए हैं:

नवम्बर 1ए 1998

सांसहीन विकास के दो दशक

भारत का सकल घरेलू उत्पाद पिछले 20 वर्षों में ढ़ाई गुना बढ़ा है– और गाड़ियों से होने वाला प्रदूषण

8 गुना बढ़ा है। सी एस ई का कहना है कि दो स्ट्रॉक और डीजल गाड़ियों को बढ़ावा देने वाली

नीतियां इसके लिए ज़िम्मदार हैं।

सी एस ई द्वारा कराए गए अध्ययन के अनुसार, 1975.95 के अंतराल में जहां भारत के सकल घरेलू उत्पाद में ढ़ाई गुना इजाफा हुआ है वहीं कल.कारखानों से होने वाला वायु प्रदूषण चार गुना बढ़ा है और वाहनों से होने वाले प्रदूषण में चौंका देने वाली 8 गुना बढ़ोत्तरी हुई है।

इन आंकड़ों का खुलासा सी एस ई के निदेशक अनिल अग्रवाल ने पहली नवम्बर को सी एस ई के स्वच्छ हवा के अधिकार के अभियान की तीसरी वर्षगांठ के अवसर पर एक आम सभा में किया। इस

प्रचार का आगाज़ पहली नवम्बर 1996 में एक रिपोर्ट धीमी हत्या: भारत में यातायात प्रदूषण की खतरनाक कहानी (Slow Murder: The Deadly Story of Vehicular Pollution in India) के लोकार्पण के बाद किया गया।

इस प्रचार का असर 1996 में इसके लागू होने के एकदम बाद महसूस किया गया, जब सर्वोच्य न्यायालय ने दिल्ली परविहन विभाग को स्लो मर्डर के लोकार्पण के मद्देनजर सुओ मोटो नोटिस जारी किया और कहा कि वह व्यापक कार्य योजना के साथ सामने आए। पहली नवम्बर, 1997 को इसकी वर्षगांठ सम्मेलन के बाद, जब सी एस ई ने यह बताया कि हर घंटे एक व्यक्ति वायु प्रदूषण की वजह से मरता है तब तात्कालिक पर्यावरण मंत्राी सैफुद्दीन सोज़ ने मीडिया अभियान का श्वेत पत्रा लाकर जवाब दिया।

अग्रवाल का कहना था कि सरकार एक सोची समझी योजना सामने लाने में नाकामयाब रही है। इसके बजाए सरकार ने उन प्रमाणों के बावजूद कि ऐसे इंजनों वाले वाहन सबसे अधिक प्रदूषण करते हैं डीजल और दो.स्ट्रोक इंजनों को बढ़ावा दिया। 1975 में दो स्ट्रोक अंजन वाले वाहनों की संख्या संपूर्ण बाहन संख्या का 40 प्रतिशत थी जो 1995 में बढ़कर 70 प्रतिशत हो गई, जबकि इन इंजनों में प्रदूषण का प्रमुख तत्व हाइड्रोकार्बन की पर्यावरण में मौजूदगी से 1980.94 के दौरान 10 गुना इजाफा हुआ।

इसी तरह, डीजल की खतप में 1980.94 के अंतराल में 4 गुना वृद्धि हुई जिससे (संस्पेंडेड पार्टीक्यूलेट मैटर) में 9 गुना वृद्धि हुई। सरकार को खराब गुणवत्ता के डीजल की बिक्री करने पर कोसते हुए श्री अग्रवाल ने कहा कि यदि भारतीय रिफाइनरियां अपनी डीजन गुणवत्ता में सुधार नहीं कर सकती हैं तो देश को डीजल आयात करना चाहिए। श्री अग्रवाल ने यह भी कहा कि भारतीय निजी क्षेत्रा की रिफाइनरियों से बना डीजल विश्व के सर्वोत्तम से 250 गुना गंदा है।

दिल्ली की मुख्यमंत्री का दावा हम होंगे कामयाब

प्रगति मैदान में लगे आटो मेले में सी.एस.ई की प्रदर्शनी में आए दर्शकों को संबोधित करते हुए दिल्ली की मुख्यमंत्राी ने आशा जताई कि समस्या का समाधान कर लिया जाएगा।

चकाचौंध करने वाली कारें और छोटे स्कूटर वार्षिक ओटो प्रदर्शनी के मूल आकर्षण होते हैं। ऐसे में सी एस ई की वायु प्रदूषण पर लगाई गई प्रदर्शनी इस छिपी हुई बात की याद दिला रही थी कि निरंतर बढ़ते हुए ओटोमोबाइल क्षेत्रा की हमें क्या कीमत चुकानी पड़ सकती है। आंकड़ों से यह संकेत मिलता है कि हर बार जब भारतीय सकल घरेलू उत्पाद दो गुना बढ़ता है, वायु प्रदूषण में 8 गुना वृद्धि होती है।

दिल्ली की मुख्यमंत्राी ने प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। उन्होंने बोर्ड पर लिखा वी शैल ओवरकम विथ योर हेल्प (हम आपके सहयोग से कामयाब होंगे)। मुख्यमंत्राी ने कहा कि सरकार सर्वोच्च न्यायालय के सी.एन.जी. बसों के आर्डर को मार्च 2000 तक लागू करने में असमर्थ है, लेकिन कहा कि वर्ष के अंत तक इसे हर हाल में लागू कर दिया जाएगा। मुख्यमंत्राी के अनुसार, देरी का कारण है सी.एन.जी. बसों का निर्माण करने की सहूलियत में कमी और केंद्रीय भूतल परिवहन का 80 सी.एन.जी. स्टेशन स्थापति करने में नाकामी। अब तक केवल 42 स्टेशन स्थापित किए गए हैं, लेकिन अशोक लीलैंड के आर. रामकृषणन के अनुसार उनकी कंपनी सी.एन.जी.बसों का निर्माण करने में सक्षम है। रामाकृष्णन ने कहा, सरकारी जरूरत को पूरा करने और निर्माण में बढ़ोत्तरी के लिए सीसैंड को काफी बड़े पैमाने में आर्डरों की आवश्यकता है ताकि किट बनाने में सहूलियत हो।

उन स्कूली बच्चों के एक सवाल का जवाब देते हुए जो उद्घाटन समारोह में सी.एस.ई. के बच्चों की पत्रिाका गोबर टाइम्स के रिपोर्टर के तौर पर मौजूद थे, श्रीमती दीक्षित ने यह माना कि सरकार ने डीजल इंजनों पर रोक लगाने के

लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए हैं। डीजन वाहन पैट्रोल वाहनों की तुलना में 10 से 100 गुना ज्यादा एस.पी.एम. छोड़ते हैं। टोक्यों और केलीफ्रोर्निया को सम्मिलित करते हुए, विश्व के ऐसे कई बड़े शहरों ने डीजन इंजनों को कम करने की ओर कदम उठाए हैं जिनमें वाहन संख्या अधिक है। जर्मन पर्यावरण मंत्रालय, कैलीफोर्निया पर्यावरण प्राधिकरण और स्वीड कंसल्टेंसी ने अपने अलग.अलग अध्ययनों से इस बात की पुष्ट की है कि पैट्रोल की तुलना में डीजन ज्यादा हानिकारक प्रभाव डालता है।

सी.एस.ई. ने मुख्यमंत्रियों स्मौग अलर्ट प्रणाली के बारे में साचने को कहा जिससे कि नागरिकों को प्रदूषण स्तर के हानिकारक स्तर तक पहुंचने की चेतावनी मिल सके। साथ ही साथ लक्जरी डीजल कारों पर तुरंत प्रतिबंध लगाने को कहा और ऐसी कर प्रणाली लागू करने की सिफारिश की जिससे तकनीक और ईंधन में सुधार हो।

9 अगस्त 2001

सी.एस.ई को इस बात से झटका लगा है कि केंद्रीय पेट्रोलियम मंत्री राज़ नाइक ने सर्वोच्च न्यायालय के सी.एन.जी. पर जारी आदेश को लोगों के दिमाग में गलत डर और अनियमितता बता कर नुकसान पहुंचाने की कोशिश की है।

नई दिल्ली, अगस्त 9, 2001 रू जैसे.जैसे हर यात्री परिवहन की सी.एन.जी. में परिवर्तित करने की तारीख नजदीक आती जा रही है, हर इंसान सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश के लागू करने की तरफ ध्यान दे रहा है, लेकिन केंद्रीय पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस मंत्री राम नाइक देश में गैस आपूर्ति के कर्ताधर्ता, को सी.एन.जी. आपूर्ति की बहाली में कोई रुचि नहीं है। इसके बजाए वह अनियमितताएं पैदा कर रहे है जिसकी चोट दिल्ली में सी.एन.जी. इस्तेमाल करने वालों को लग रही है। राम नाइक मीडिया की भ्रमित करने वाले वक्तव्य दिए जा रहे हैं जिसमें कई ऐसी समस्याएं बताई जा रही हैं जिनका कि कोई हल नहीं है। उन्होंने भटका देने वाला यह वक्तव्य जारी किया है कि परिवहन आवश्यकताओं के लिए दिल्ली में गैस अनुकूल मात्रा में नहीं है या कि गैस पाइपलाइन के फटने की स्थिति में जब इसकी मरम्मत हो रही होगी तब पूरा शहर काम करना बंद कर देगा तथा ऐसे में सी.एन.जी. के दामों में काफी उछाल आएगा।

सी.एस.ई. के निदेशक अनिल अग्रवाल ने आज एक संवादाता सम्मेलन में गैस और पेट्रोलियम मंत्रालय के जाल को गंभीरता से लिया और इसके गलत सूचना प्रचार की भर्त्सना करते हुए कहा यह चौंका देने वाली बात है कि सर्वोच्च न्यायालय के सी.एन.जी. परिवर्तन आदेश के तीन साल बाद भी पेट्रोलियम मंत्री कहते हैं कि शहर के परिवहन के लिए अनुकूल मात्रा में गैस उपलब्ध नहीं है। यह कहना इंद्रप्रस्थ गैस लिमिटेड (आई.जी.एल.) द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को मुहैया कराई गई सूचना के बिल्कुल विपरीत है, यह एक बेहतरीन गलतबयानी का अभ्यास है। हमारे सभी अन्वेषणों से पता चलता है कि डर का या तो कोई अस्तित्व ही नहीं है या फिर इसका समाधान संभव है।

साफ है कि नाइक अपने मंत्रालय के कार्य छिपाना चाहते हैं और उम्मीद लगाए हुए हैं कि यूरो.2 डीजल को साफ ईंधन करार किया जाए तथा कोई अतिरिक्त काम करने से बचे रहना चाहते हैं और जो बाजार में उपलब्ध है उससे काम चलवाना चाहते हैं।

11 अक्टूबर 2001

राजधानी में एक और सी.एन.जी. बस में आग लगी तथा दिल्ली और जिम्मेवार मंत्रालय चुप्पी साधे हुए है। सुरक्षा पर्यवेक्षण और निर्माता को जिम्मेवार ठहराने के लिए उनके पास कोई कार्ययोजना नहीं है।

नई दिल्ली, अक्टूबर, 2001

तीन महीने के छोटे अंतराल में लगातार चौथी बार सी.एन.जी. बस में आग लगने की घटना और इस पर चुप्पी साधे सरकार को देख सी.एस.ई. को काफी अचंभा है। केवल सी.एन.जी. तकनीक को नाकाम करार करने की इच्छा करने वाली अधिकारिक एजेंसियां अपना सही काम करना भूल गई। एक ऐसी समिति जो कि घटना की जांच करेगी, ऐसा आश्वासन देने के अलावा उनके पास कोई ऐसी योजना नहीं है जिससे सुरक्षा प्रबंधों को लागू किया जा सके और किसी को जिम्मेदार ठहराया जा सके। यहां तक कि पूर्व में गठित समितियों की रिपोर्ट को भी दबा दिया गया है।

ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिसमें बसों का पर्यवेक्षण किया जाए ताकि हर सी.एन.जी. बस के इंजन, ईंधन भंडारन के उच्च दाब और पाइप प्रणाली के पर्यवेक्षण से होकर गुजरे। यह नियम विश्व में बाकी जगह है।

सरकार अपनी गलती नहीं मान रही है, वह निर्माताओं के साथ, बड़े आराम से सरा आरोप बस के बॉड़ी निर्माताओं पर डाल रही है। इस पर सरकार की चुप्पी उन बस निर्माताओं को बचा रही है जिन्हें बस के उन बॉडी निर्माताओं से ज्यादा जिम्मेदारी से काम करना चाहिए जिनको इस प्रकार के इंजनों को लगाने की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बॉडी तैयार करने का प्रशिक्षण प्राप्त है। पाइपों को लगाने, घर्षण और त्वरण कम करने के बारे में तकनीकी मानकों की आवश्यकता है।

यह कुछ प्रेस कतरने इस जन नीति विमर्श को केवल उजागर करती हैं। इस विचार.विमर्श में डीजल वाहन निर्माता, दिल्ली परिवहन विभाग, सामाजिक संस्थाओं के स्वच्छ हवा के आंदोलन, विद्यालयों के वह प्राचार्य जो सी.एन.जी. आपूर्ति की कमी और अपनी उन बसों की चिंता थी जिन्हें नई नीति के अनुसार ढ़ाला जाना था।

यह कुछ कतरनें जन नीति की बहस को रेखांकित करती हैं। इन बसों में डीजल वाहन निर्माता, दिल्ली परिवहन विभाग, स्वच्छ वायु के आंदोलन करने वाली नागरिक संगठन और विद्यालयों के वह प्राचार्य थे जो सी.एन.जी की आपूर्ति ओर अपने विद्यालयों की बसों को नीति के अनुसार परिवर्तित करने के बारे में चितिंत थे। दिल्ली राज्य की सरकार चला रही पार्टी कांग्रेस और केंद्र में सत्तारूढ़ दल भारतीय जनता पार्टी भी इस नीति को लागू करने से होने वाले चुनावी फायदे और नुकसान देख रहे थे। सर्वोच्च न्यायालय इसमें न्यायपालिका की भूमिका निभा रहा था। संचार माध्यम जनता को इस जटिल परिस्थिति की खबर देने और विभिन्न समूहों को उनके हितों में जनमत तैयार करने का अवसर दे रहा था।

3.5.6 सारांश

हमने देखा कि जन नीति समाज के हित में सरकार द्वारा काम करने की प्रक्रिया है। कई बार नागरिक समाज सरकार की मौजूदा नीतियों को चुनौती देता है और सत्ता को अपनी नीतियां बदलने के लिए मजबूर करता है। ऐसे परिवर्तन केवल जनतांत्रिक समाजों में ही संभव हैं क्योंकि इनमें आंतरिक नियंत्राण की व्यवस्था होती है। जनतांत्रिक समाजों में कोई परम सत्ता नहीं होती और जो आज कानून है उसे ही यदि ऐसे दबाव हों तो संसद में विचार करके बदला जा सकता है। विधान पालिका, कार्य पालिका और न्याय पालिका जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रमुख घटक हैं। प्रेस या संचार माध्यम जनतंत्रा के चौथे और सबसे शक्तिशाली घटक के तौर पर उभरे हैं क्योंकि इनमें जनमत तैयार करने और जन नीतियों को प्रभावित करने की क्षमता होती है। राजनीतिक दल और नागरिक संगठन भी जन नीतियों में सुधार लाने में अहम भूमिका निभाते हैं।

जन नीतियां विकास की प्रक्रिया की अभिन्न अंग होती हैं। प्रेस भले ही विकास के मामलों की सामान्यतः खबर नहीं देती लेकिन विवाद की स्थिति में वह सभी दृष्टिकोणों को रखते हैं और किसी एक मत के पक्ष में जनमत तैयार करती है।

हमने यह भी सीखा कि प्रेस और राजनीति के संबंधों का एक निश्चत इतिहास है और उन सिद्धांतों की चर्चा की जो इस तर्क को प्रतिपादित करते हैं कि संचार माध्यम जनमत बनाते हैं।

3.5.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. जननीतियां क्या होती हैं और उनकी विकास में क्या भूमिका है?
2. संचार माध्यम जननीति बनाने में किस प्रकार सहायता करते हैं?
3. जननीति एवं जनमत का स्वरूप बनाने में संचार माध्यमों की भूमिका के मध्य अंतर करते हुए उनका विश्लेषण कीजिए।
4. अधिशासन एवं प्रजातंत्रा पर नई संचार तकनीकी का क्या प्रभाव पड़ता है?
5. भूमंडलीकरण प्रक्रिया विकास को किस प्रकार प्रभावित करती है?

अध्याय–6
हित समूह एवं नीति निर्माण

संरचना

3.2.25 उद्देश्य
3.2.26 प्रस्तावना
3.2.27 लोकतंत्र एवं हित समूह
3.2.28 सरकार का हित समूह सिद्धान्त
3.2.29 हित समूहों की विशेषताएं: संख्या; सघनता; प्रतिनिधित्व क्षेत्र
3.2.30 हित समूह राजनैतिक दलों से कैसे भिन्न हैं ?
3.2.31 लोकतंत्र एवं हित समूह
3.2.32 निष्कर्ष
3.2.33 सारांश
3.2.34 अभ्यास प्रश्नावली

3.6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य हित समूहों की परिभाषा व लोकतंत्र में उनके महत्व का उल्लेख करना है। हित स्पष्टीकरण पर आधारित हित समूह राजनीतिक दलों से भिन्न होते है और अपनी सशक्त भूमिका नीति निर्माण में निभाते है। ये सरकार में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते लेकिन राजनीति प्रक्रिया में सशक्त भूमिका निभाते है। लोकतंत्र में इनकी इसी उपयोगिता का ध्यान इस अध्याय में वर्णित करने का प्रयास किया गया है।

3.6.2 प्रस्तावना

हित समूह को हम ''सार्वजनिक हित के विपरीत निजी हितों के सुसंगठित समूहों के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो अपने लाभ के लिए राजनैतिक परिणामों को प्रभावित करते हैं।'' इस परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि सार्वजनिक नीति का क्षेत्र अत्यंत स्वयंपरक है तथा समाज के समूहों द्वारा चलाया गया स्वार्थमय संघर्ष है किन्तु लोकतंत्र का विरोधाभास यह है कि नौकरशाह बलप्रयोगी राज्य की अपेक्षा बहुलवादी राज्य तथा समाज के हितों की रक्षा करने वाले समूहों के नेटवर्कों का विकास लोकतंत्र का आधार तथा नीति प्रक्रिया के अभिन्न अंग बन गए हैं। राजनैतिक पार्टियों के साथ.साथ सामाजिक हित समूहों के उदय तथा लोकतांत्रिक अभिशासन की मांग से हित समूह जन सामान्य तथा लोकतंत्र की सबसे बड़ी शक्ति तथा खतरा दोनों बन गए हैं।

ये हित समूह क्या हैं जो राजनैतिक प्रक्रिया में सशक्त भूमिका निभाते हैं ? एक हित समूह वह संस्था है जो सरकार का अंश हुए बिना निजी तथा समर्थकों के हित के लिए सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने का प्रयास करती है। ये सार्वजनिक क्षेत्र में निजी हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं ताकि सरकार को समुदाय के रूप में उनकी विशेष आवश्यकताओं की जानकारी मिल सके और सार्वजनिक नीति में उनके लिए प्रावधान किए जा सकें। ये विकीर्ण सामाजिक हितों के सूक्ष्म रूप हैं तथा राजनैतिक प्रक्रिया में समूह विशेष की मांगों को पूरा करवाने में योगदान देते हैं। जैसाकि इयान मैकलीन ;प्द डबस्मंद क्ष1987 रू 62द्वद्ध ने प्रयोगाश्रित टिप्पणी करते हुए कहा है कि हित समूह सार्वजनिक हितों के पक्षधर होते हैं तथा यह हित समूह राजनीति पर हमारी चर्चा बना आरम्भिक मुद्दा हो सकता है। वह सार्वजनिक हित क्या है जिसका ये समर्थन करते हैं ? इस संदर्भ में हम यह कहेंगे कि सरकार की नीतियां सार्वजनिक हित में होती हैं क्योंकि वे किसी भी समूह विशेष से संबंधित न होकर सभी नागरिकों के लिए होती है। पॉल हिस्ट ;च्ंनस भ्पतेज क्ष1994 रू 44द्वद्ध ने हित समूहों को साहचर्यवादियों के नीतिशास्त्र का लक्षण माना है तथा इसे दो कारणों से केन्द्रीकृत राज्य के अविश्वास पर आधारित बताया है, प्रथम – राज्य एक अनिवार्य समुदाय है यद्यपि अधिकांश वास्तविक समुदाय स्वतंत्र रूप से विकसित होते हैं, दूसरे – राज्य द्वारा सामाजिक जीवन को विनियमित करने में स्वयं के सर्वशक्तिसम्पन्न होने के दावे किए गए। प्रधान, जी डी एच कोल, जे एन फिगिस, लास्की से लेकर मन्चूर ऑल्सन जैसे लेखकों ने इन संगठनों को लोकतांत्रिक समाज का प्राकृतिक संलग्नक माना है। इनके सदस्य समूह के प्रति वफादार होते हैं तथा उनमें एकता बनाए रखने के लिए बाह्य अथवा विनियामक राज्य प्रयासों की बहुत कम आवश्यकता होती है। उनके संगठन के विकास के लिए वे अधिक स्वतंत्रता की मांग करते हैं तथा इस प्रकार से

नीतियों को अपने पक्ष में करवाने के प्रयास करते हैं। ये समूह जो सामान्य हितों के आधार पर बनाए जाते हैं, इनका औचित्य दो नीतिशास्त्रीय दावों पर दिया जाना चाहिए :

उनका गठन करने वालों के लाभ की दृष्टि से – इन लाभों को विविध रूप से परिभाषित किया जा सकता है जैसे धन तक पहुंच अथवा उनके भावी निवेश का मूल्यवर्द्धन, संसाधनों पर नियंत्रण, धार्मिक सन्तुष्टि या नैतिक मान्यताओं की तुष्टि।

ये इच्छा पर आधारित हैं न कि भाग्य पर। किसी भी नागरिक के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह ऐसे किसी समूह का सदस्य बने। नागरिक किसी सामूहिक कार्यकलाप में इसलिए शामिल होते हैं क्योंकि उनका विश्वास होता है कि उनके कुछ हितों की रक्षा किए जाने की आवश्यकता है जो राज्य की किसी गलत नीति या अनुचित विनियमन के कारण खतरे में हैं।

इस प्रकार से कोई साहयर्चवादी समाज अपने लिए अधिक से अधिक विनियामक तथा नीतिगत सहयोग प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा इसके बदले में सत्यनिष्ठा तथा स्वतंत्रता पर बल देते हुए नागरिकों को एकजुट कर लोकतंत्र को सुदृढ बनाता है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि समूह के हितों के आधार पर समाज की एकजुटता विशिष्ट हितों पर निर्भर हो जाएगी। हिस्ट के शब्दों में, ''पर्याप्त संसाधनों सहित छोटे समूहों के प्रमुख विशिष्ट हित अधिक संगठित होंगे तथा अपर्याप्त संसाधनों से युक्त बड़े समूहों के अभ्यावर्तक हित कम संगठित अथवा असंगठित होते हैं।'' अन्य शब्दों में, उच्च वर्ग के स्वहित के इच्छुक, सम्पन्न तथा समृद्ध वर्ग को राज्य का समर्थन प्राप्त होगा क्योंकि वे चुनावी दृष्टि से राज्य के हित में हैं। इससे सार्वजनिक हित बनाम निजी हित की समस्या उत्पन्न हो जाएगी, इसके साथ ही राज्य प्राकृतिक रूप से धनी तथा शक्तिशाली व सशक्त रूप समेकित वर्ग की मांगों को पूरा करने के लिए बाध्य हो जाएगा। ऑलसन ने ''द लॉजिक आफ कलैक्टिव एक्शन'' ;जैम स्वहपब वि ब्वससमबजपअम ।बजपवद ‹1971द्ध में सभी संगठनों अथवा हित समूहों को सम्भवतः स्वहित में लिप्त तथा राजनैतिक और सामाजिक सत्ता को हथियाने में निरन्तर हाथ.पैर मारने वाला पाया है। ऐसा करते हुए वे भाड़ा उपजीवी सत्ता तैयार करते हैं जो बाजार में विषम अवस्थाएं उत्पन्न कर समाज पर वित्तीय बोझ डालती हैं। ऑल्सन ने अपनी अन्य पुस्तक ''द राइज एंड डिक्लाइन ऑफ नेशन्स'' ;जैम त्पेम ।दक क्मबसपदम वि छंजपवदे ‹1982द्ध में यह लिखा है कि भाड़ा उपजीविता संरक्षणवादी नीतियों का परिणाम है तथा संगठित हितों के प्रभाव के अंतर्गत राज्य ऐसे विनियम तैयार करता है जो भाड़ा उपजीविता को संरक्षण देते हैं तथा इस प्रवृत्ति को बनाए रखते हैं। इनके कारण राज्य में असक्षमता आती है, लचीलेपन में कमी आती है और नौकरशाही से जुड़े रोग घर कर जाते हैं। असंगठित हित समूहों के अपेक्षा अधिक राजनैतिक महत्व वाले संगठित हित समूहों जैसे ट्रेड.यूनियनों, औद्योगिक समूहों तथा बिल्डर संगठनों का राज्य समर्थन करता है। इससे उन थोड़े से परहितवादी लोगों की उपेक्षा होती है या उन पर कम ध्यान दिया जाता है जो लिंग संबंधी क्रूरताओं, दहेज विरोध, पशुओं के प्रति क्रूरता, शाकाहार प्रयोगशाला अनुसंधान, वृद्धों की उपेक्षा अथवा दूरस्थ गांवों में भूमि हड़पने जैसे मुद्दों पर छुट पुट संगठन बनाते हैं। इसका हाल ही का एक उदाहरण मानव संसाधन विकास मंत्रालय के जैव प्रौद्योगिकी विभाग द्वारा पशु अनुसंधान में जीवच्छेदन संबंधी प्रयोगों को समर्थन देना है। इस तथ्य के बावजूद कि सरकार पशु कल्याण के बारे में जैन तथा हिन्दू समुदायों को लम्बे दावे करती है। सरकार ने पशु अधिकार कार्यकर्ताओं की छुटपुट तथा कमजोर यूनियन जिसने प्रयोगशालाओं के कार्यों की सार्वजनिक जांच की मांग की है, की अपेक्षा दिल्ली साइंस फोरम जैसे फार्मासूटिकल समूह के साथ जुड़े वैज्ञानिकों के सशक्त समूह को समर्थन दिया है।

3.6.3 लोकतंत्रा एवं हित समूह

1960 के दशक के दौरान लोकतंत्र प्रपीड़क राज्य को चलाने वाले व्यक्तियों द्वारा नहीं अपितु विविध हित समूहों द्वारा चलाया जा रहा था। संयुक्त राष्ट्र द्वारा पहले विकास दशक के रूप में घोषित 1960 के दशक में विदेशी सहायता के रूप में राजनीति का विस्तार हुआ तथा स्वतंत्रता, अधिकार और राजनैतिक सहभागिता जैसे लोकतांत्रिक आदर्शों का विकास हुआ। इसी समय पर ही सेमर मैरिन लिप्सेट ;ैमलउवत डंतपद स्पचेमज ‹1960 रू 85द्ध ने यूरोपीयन जर्नल ऑफ सोशलोजी में ''पार्टी सिस्टम एंड द रिप्रेसन्टेशन ऑफ सोशल ग्रुप्स'' शीर्षक से लेख लिखा। यह अधिक से अधिक स्पष्ट हो गया था कि राजनैतिक दल जिन्होंने अब तक समाज का प्रतिनिधित्व किया था, आज वह प्रयोग में पूर्णतया विपरीत सिद्ध हो रहा था।

वे न तो लोगों की मांगों तथा अपेक्षाओं के वास्तविक प्रतिनिधि थे और न ही वे सार्वजनिक हित का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर पा रहे थे। फिलिप सी. स्मिटर ;चैपसससपचम ब्॰ैबीउपजजमत ‹1992 रू 156द्ध ने समाज में ''नव बहुलवाद'' को ''व्यवहारवाद एवं कार्यवाद'' बहुल माहौल में ''निश्चित रूप से अरूढ़िवादी'' की संज्ञा दी है। यह अधिक से अधिक स्पष्ट हो रहा था कि राजनैतिक दलों ने जनसाधारण का विश्वास खो दिया था, अतः जन प्रतिनिधि के रूप में वे विफल हो रहे थे। स्मिटर तथा उसके बाद के लेखकों जैसे मन्चूर ऑल्सन, जेम्स बुकानन तथा निश्कानन के विचारों के विपरीत लिप्सेट ने अपने प्रारम्भिक लेख में यह विचार व्यक्त किया है कि ''राजनैतिक पार्टियां अभी तक जटिल लोकतंत्रिक समाजों की प्रतिनिधि संरचना का अत्यंत महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। लोकतांत्रिक समाजों की सामान्य प्रवृत्ति इनका सामाजिक – आर्थिक तथा धार्मिक हित समूहों के रूप में विघटन तथा बिखराव की थी जिससे सार्वजनिक हित के प्रतिनिधित्व के संबंध में

राजनैतिक दलों के एकाधिकार को समाप्त कर दिया। समकालीन राजनीति विज्ञान में ''स्वेच्छाचारी शासन के बाद लोकतंत्र का सुदृढ़ीकरण'' उभरता हुआ महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया (स्मिटर 1992 : 157)। मोटे तौर पर हित प्रतिनिधित्व कई बिचौलियों के पास आ गया जैसे – राजनैतिक पार्टियां, हित संगठन तथा सामाजिक आंदोलन। औपनिवेशिक विश्व प्रणाली के अल्प संगठित तथा सामाजिक.सांस्कृतिक रूप से पूर्णतया भिन्न राज्यों के एकत्रीकरण की प्रणाली में परिवर्तित लोकतंत्र के राजनैतिक बदलाव के कारण नए बहुलवाद के रूप में राज्यों के भीतर विघटन को बढ़ावा मिला जिनके परिणमस्वरूप नई संरचनाओं, सामाजिक श्रेणीबद्धता तथा ऐतिहासिक रूप से भिन्न मांग समूहों तथा समर्थक वर्गों का जन्म हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत उपेक्षा के स्तर में पर्याप्त विविधता थी परन्तु यह मांगपरक था जिसका प्रतिनिधित्व करने के लिए राजनैतिक पार्टियां तैयार नहीं थीं। इस प्रकार से राजनैतिक पार्टियों ने इन समूहों की विशेषताएं अपनानी आरम्भ कर दीं, अथवा लोकतांत्रिक प्रक्रिया में हित समूहों को स्थान दिया जाने लगा। प्रतिनिधित्व के लोकतंत्र में परिवर्तन 1960 में लिप्सेट द्वारा किए गए अध्ययन में परिलक्षित होता है तथा नीति निर्माण की प्रक्रिया में इसका पर्याप्त आशय था। स्मिटर (1992:157) ने राजनैतिक प्रक्रियाओं पर अनुभवाश्रित अध्ययनों में आए परिवर्तन पर निम्नलिखित टिप्पणियां की हैं:

राजनैतिक प्रक्रियाओं को केवल वैयक्तिक अधिमान्यताओं अथवा व्यवहार तक सीमित नहीं रखा जा सकता अपितु ये सामूहिक कार्यों तथा परस्पर सम्पर्कों द्वारा प्रभावित होती हैं।

राजनैतिक परिणामों का निर्धारण करने में इन समूहों, उनकी सत्यनिष्ठा तथा विवादों का स्वतंत्र योगदान है।

''प्रतिनिधित्व'' ऐसे समूहों तथा अधिकारिक निर्णय लेने में अत्यंत महत्वपूर्ण संबंध है (किन्तु एकमात्र नहीं)।

यह संबंध पहचाने जाने योग्य तथा पुनः निर्धारित की जा सकने वाली सीमाओं सहित विशिष्टता प्राप्त ''वैधानिक रूप से गठित'' संस्थाओं के माध्यम से अधिक से अधिक संगठित होता है। कुल मिलाकर वे शासन तंत्र के भीतर अलग.अलग उप.प्रणालियां बनाते हैं।

इन प्रतिनिधित्व संस्थाओं की सापेक्षिक स्वायतता है तथा इनको चलाने का अपना तर्क है जिनका स्तर वैयक्तिक अधिमान्यताओं के अनुरूप नहीं घटाया जा सकता या फिर उन्हें गठित करने वाले समूहों की सत्यनिष्ठा के अनुरूप भी नहीं ढाला जा सकता। लिप्सेट के शब्दों में, वे परस्पर विवादपूर्ण सामाजिक समूहों के मध्य न केवल ''राजनैतिक समायोजन का माध्यम हैं'' और न ही प्रधान प्राधिकारियों का ''स्वार्थ साधन का हथियार'' हैं।

सरकार की औपचारिक संस्थाओं – उनकी प्रक्रियाओं तथा मूल नीतियों का उनका प्रतिनिधित्व करने वाले समूहों तथा संस्थाओं पर महत्वपूर्ण तथा गहरा प्रभाव पड़ता है। अन्य शब्दों में, सार्वजनिक नीति पहले गठित समूहों के हितों के कारण तैयार उपविकार नहीं है, स्वतंत्र रूप से स्थापित वैयक्तिक अधिमान्यताओं का भी इस पर कम प्रभाव पड़ता है।

नीति प्रक्रिया में हित समूहों के महत्व से संबंधित इस अध्ययन में यह निष्कर्ष नहीं निकाला गया कि ये समूह राजनैतिक दलों का स्थान ले सकते हैं या फिर पार्टियां इन हित समूहों के अधीन हैं। नीति प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाली समस्या थी – स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के काल में लोकतंत्र का सुदृढ़ीकरण।

3.6.4 सरकार का हित समूह सिद्धान्त

हाल ही के कुछ वर्षों में आर्थिक प्रगति तथा बाजार अनुकूल सार्वजनिक नीतियों के मध्य सम्पर्कों में इनके पक्ष में अनुभवाश्रित प्रामाणिक वृद्धि हुई है। इसका आशय यह है कि जहां संस्थानों में प्रगति हुई तथा मुद्रा विकास उन राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक हुआ जहां संस्थाएं कमजोर थीं तथा वैयक्तिक अन्तरोधन के लिए विनियमन ढांचा अधिक त्रुटिपूर्ण था, उनमें न तो विकास को बढ़ावा मिला, न ही धन एकत्र हुआ और न ही आर्थिक निवेश में वृद्धि हुई।

ए0 सी0 पिगो ;।ण्ब्ण् च्पहवन क्ष्1932द्ध द्वारा अपनाए गए नव परम्परावादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत बहिर्जात रूप से निर्धारित नीति निर्माण द्वारा नीति संबंधी विफलताओं के हल के लिए तथा इस प्रकार से नीति निर्माताओं को अच्छी मंशा वाले न कि स्वहित से प्रेरित बनाने के प्रयास किए गए। मैक्स वेबर के समय से नीति संबंधी विफलता का कारण सरकार की सरकारी कामकाज ठीक से न कर पाने की क्षमता था जोकि वैसे सार्वजनिक नीति निर्माण में हितकर, स्वहित से परे तथा सार्वजनिक हित में थी। आरम्भिक प्रबंध तथा नीति विशेषज्ञों ने संस्थाओं को चलाने वाले नियमों तथा प्रक्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित किया तथा पी ओ एस डी सी ओ आर बी जैसे सिद्धान्त और कार्मिक एवं वित्तीय संरचनाएं सुझाईं। इन मॉडलों में दो महत्वपूर्ण मुद्दों की अनदेखी की गई है।

पहला है – सुधारपूर्ण नीतियों की लागत का मूल्यांकन तथा दूसरा, प्राप्त परिणामों का मूल्यांकन। ये परम्परावादी तथा नव. परम्परावादी सिद्धान्त निरन्तर होने वाली बाजार विफलताओं को रोकने में विफल रहे हैं जिससे सरकार को कर, आर्थिक सहायता, मूल्य विनियमन इत्यादि जैसे विनियमन प्रबंधों द्वारा नीति विशिष्ट तरीकों में हस्तक्षेप करने पड़े।

इसके बिल्कुल विपरीत सार्वजनिक चयन सिद्धान्त में यह सुझाया गया कि नीतिगत परिणाम अंतर्जातीय रूप से निर्धारित राजनैतिक अधिमानों के परिणामस्वरूप हैं। ऐसा स्वार्थी राजनेताओं के साथ मिलकर चलने वाले निजी हित समूहों के प्रभाव में होता है। ''सार्वजनिक चयन की दृष्टि से जांच करने पर सरल ढंग से ''त्रुटिपूर्ण'' माने जाने वाले नीतिगत

परिणामों को बल्कि राजनैतिक प्रक्रिया के तर्कपूर्ण परिणाम के रूप में देखा जाता है जो नीति निर्माताओं को सार्वजनिक हित की अपेक्षा संकीर्ण विशिष्ट हितों को समर्थन देने से अधिक निजी लाभ पहुंचाते हैं। इस प्रकार से विकास के रहस्य की पहेली को सुलझाना आर्थिक विकास के ''उचित'' मॉडल की पहचान करना नहीं है अपितु इसे सरकार के व्यवहार के ''उचित'' मॉडल में समाविष्ट करना है'' (शुगार्ट 1999 : 170)।इस प्रकार से हित समूह सिद्धान्त सरकारी संस्थान तथा आर्थिक विकास में उनकी भूमिका के संबंध में जानकारी उपलब्ध कराता है, यह सरकार के पिगो के मॉडल के बिल्कुल विपरीत है जो सरकार को नीति विज्ञानों में परहितकारी परन्तु अकुशल बाह्य कारक मानता है तथा जिसका उल्लेख नट विकसेल ;ज्ञदनज ॅपबोमसस क्ष1896द्वद्ध की कृतियों के साहित्य तथा मस्ग्रेव एवं पीकॉक ;डनेहतंअम ंदक च्मंबवबा क्ष1958द्वद्ध की पुस्तक में है। हित समूह सिद्धान्त में यह सुझाया गया है कि नीति निर्माताओं का निर्णय लेने का व्यवहार संबंधी पैटर्न है जो उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के बाजार व्यवहार से मेल खाता है।

विनियमों के लिए भी बाजार है तथा सार्वजनिक नीति निर्माण केवल राजनेता के स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया जाता है। लागत.लाभ विश्लेषण का उपयोग ऐसे ढांचे के लिए किया जाता है जो सार्वजनिक लागत पर निजी लाभ सुनिश्चित करता है। सरकार चुनावी लाभ के रूप में अथवा अपनी परिसम्पत्तियां बढ़ाने के रूप में इस प्रकार के नीतिगत निर्णय लेती है जिससे कि बाजार में उपभोक्ता की भांति उसे अधिकतम लाभ पहुंचता है।

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा योगदान इस मत का प्रतिपादन करने में है कि जब नीतियां विफल होती है तो संस्थागत तथा प्रक्रियात्मक खामियों, जोकि पूर्णतया बाह्य कारक हैं, में विफलताओं के कारण ढूंढने के प्रयास करने की अपेक्षा लगातार विफल होती नीतियों के परिणामों जैसे किसे लाभ हुआ तथा किसे हानि हुई और विफल नीतियों की लागत किसे वहन करनी पड़ी, इसकी जांच की जानी चाहिए।

राजनैतिक चयन का विश्लेषण करने में इस प्रकार से सकारात्मक अर्थशास्त्र की पद्धतियां उपयोग में लाई जाती हैं। हित समूह सिद्धान्त में जार्ज स्टिगलर (1971) द्वारा प्रतिपादित इस तथ्य को भी उजागर किया गया है कि नीति निर्माता उन हित समूहों के प्रति अधिक सहयोगी होगा जो हित साधकों का एक सार तथा संगठित समूह होगा।

नीति निर्माता हित समूहों के विनियमन के संगठन तथा समर्थन में सामूहिक कार्य की लागत की गणना करेगा तथा छुटपुट हितों वाले तथा संगठित करने की उच्च लागत वाले समूहों को उन समूहों की अपेक्षा हानि होगी जो कि छोटे हैं तथा परस्पर जुड़े सामान्य हितों के कारण संगठित हैं। यही कारण है कि औद्योगिक उत्पादक समूहों को उपभोक्ता तथा पर्यावरणीय समूहों की तुलना में सरकार का विनियमन सहयोग अधिक प्राप्त होता है क्योंकि औद्योगिक उत्पादक समूह छोटे होते हैं और विनियमन नीति के बारे में अपनी मांगों तथा हितों के बारे में अधिक संगठित होते हैं जबकि उपभोक्ता व पर्यावरण समूह अपने बिखरे हितों के कारण एकजुट नहीं हो पाते तथा विनियमन के छोटे क्षेत्र से ही संबंधित रहते हैं।राजनैतिक प्रतिनिधि किसी विनियमन लाभ के लिए शुल्क प्राप्त करते हैं जो भत्मदज३ के रूप में होता है। भत्मदज३ शब्द एनी क्रूगर ;Anne Krneger{1974}) द्वारा इस्तेमाल में लाया गया।

इसकी परिभाषा प्रधान समूह के लिए विनियमक नीति के रूप में धन प्राप्ति हेतु सीमित सार्वजनिक संसाधनों के व्यय के रूप में की जाती है। यह एक प्रकार से सामाजिक व्यर्थ व्यय है क्योंकि संसाधनों के व्यय से सकल घरेलू उत्पाद में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के रूप में कोई वृद्धि नहीं होती अपितु सार्वजनिक धन को समाज के कुछेक लोगों के लिए व्यर्थ किया जाता है।

इस प्रकार से हित समूह राजनीति से संरक्षणशील बाजार तथा विकृत विनियमन तैयार होते हैं जो केवल प्रधान समूहों को समर्थन देते हैं जिसके परिणामस्वरूप नीतियां विफल होती हैं। इस प्रकार, हित समूह नीतियां मुक्त बाजार का खुलकर समर्थन करती हैं, जिनका न्यूनतम विनियमन नियंत्रण होता है और इससे हित समूह का हस्तक्षेप न्यूनतम रहता है।

हित समूह सिद्धान्त को तीन चरणों में समझा जा सकता है :

1. सार्वजनिक नीति प्रक्रिया के सार्वजनिक तथा निजी हित मॉडलों की अलग.अलग विशेषताएं।
2. सुसंगठित तथा समेकित विशेष हित समूहों के पक्ष में नीतियों के बाजार से संसाधनों के पुनर्वितरण की प्रक्रिया।
3. इस मॉडल का किसी राष्ट्र के आर्थिक विनियमन तथा विकास पर प्रभाव।

3.6.5 हित समूहों की विशेषताएं : संख्या; सघनता; प्रतिनिधित्व क्षेत्र

इनकी संख्या के आधार पर हित समूहों को लघु, मध्यम तथा वृहत श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता हैं। ऑल्सन ने उनके राजनैतिक चुनाव क्षेत्र के आधार पर हित समूहों की तीन श्रेणियों का वर्णन किया है – विशेषाधिकारयुक्त, मध्यवर्ती तथा गुप्त। एक विशेषाधिकारयुक्त समूह में एक सदस्य जो सार्वजनिक धन (नीतियों) से निजी तौर पर पर्याप्त लाभ उठाता है, यदि आवश्यक हो तो वह स्वेच्छा से उसे दे सकता है। ऐसे समूह सामान्यतया छोटे होते हैं परन्तु ऐसा सदैव नहीं होता। यह एक ऐसा उद्योग हो सकता है जिसे शुल्क से लाभ प्राप्त होता है जैसे – रिलायंस अथवा कोई ट्रेड यूनियन हो सकती है जो किसी राजनैतिक दल का हिस्सा हो जैसे ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस अथवा भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड

यूनियन कांग्रेस। यह कोई व्यावसायिक समूह भी हो सकता है जैसे – मजदूर किसान संघर्ष समिति अथवा शुगर मिल मालिक संघ।

मध्यवर्ती समूह विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते परन्तु एक दूसरे के प्रति व्यवहार में परस्पर समझ के साथ सामूहिक कार्य करते हैं जैसे शिक्षक संघ, जो प्रारम्भिक, उच्चतर माध्यमिक विद्यालय स्तर से महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय शिक्षक संघ तक, जोकि अपने सीमित क्षेत्र तथा कम भागीदारीपूर्ण ढंग से कार्य कर रहे हैं। ऑल्सन का मानना है कि सामूहिक कार्य धमकियों, वादों तथा सशर्त सहयोग द्वारा सुनिश्चित किए जाते हैं। हित समूहों का तीसरा समूह न तो विशेषाधिकार प्राप्त अथवा मध्यवर्ती लोग होते हैं अपितु इनका अस्तित्व लगभग न के बराबर होता है। ऑल्सन ने इसे ''अन्तर्निहित'' समूह का नाम दिया है क्योंकि समूह के हित विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण होते हुए भी एक समूह में समेकित नहीं हो पाते। इसमें बेरोजगार लोगों का समूह, उपभोक्ता संघ अथवा वरिष्ठ नागरिक समूह जैसे ऐज केयर अथवा हेल्पेज इंडिया। इनमें पीपल फॉर एनीमल्स जैसे समूह भी शामिल हैं। इस प्रकार के हित समूह अपने सदस्यों को कुछ लाभ पहुंचा सकते हैं तथा इस प्रकार से उन लाभों पर रोक लगाई जा सकती है जो केवल सदस्यों को उपलब्ध कराए जाते हैं।

मैक्लीन (1982 : 95.100) ने हित समूहों को एक अन्य रूप में वर्गीकरण किया है – उत्पादक समूह, उपभोक्ता समूह तथा परमार्थवादी समूह। इनमें से उत्पादक समूहों की प्रथम श्रेणी सर्वाधिक सशक्त होती है क्योंकि उनके हाथ में उत्पादन की शक्तियों का नियंत्रण रहता है जिन्हें बाजार से हटा लेने पर लोगों के लिए प्रमुख समस्या खड़ी हो सकती है। इनमें फैक्टरी मालिक, ट्रेड यूनियन तथा किसान शामिल हैं। यदि वे अपने उत्पाद को बाजार से हटा लेते हैं जो किसी न किसी रूप में भौतिक जिन्स होती है जैसे उत्पादित पदार्थ श्रम, जो सरकार पर भारी दबाव ला सकती है।

दूसरा समूह पहले समूह की अपेक्षा कमजोर होता है क्योंकि उपभोक्ता बाजार से ऐसा कुछ नहीं हटा सकते जिन पर पूरी तरह इनका नियंत्रण हो। परमार्थवादी समूह और भी कमजोर होते हैं क्योंकि उनमें न तो स्वहित की इच्छा होती है और न ही किसी भौतिक उत्पादन का नियंत्रण उनके हाथ में होता है। इस प्रकार से मैक्लीन (1987 : 64) ने पाया है कि ऐसे समूह को ऑल्सन के ''अन्तर्निहित'' अथवा कुछ मध्यवर्ती समूहों में भी रखा जा सकता है। मैक्लीन के उत्पादक समूह ऑल्सन की किसी श्रेणी के अन्तर्गत आ सकते हैं। अनुभव के आधार पर पाया गया है कि किसी उत्पादक समूह में जितने कम सदस्य होंगे, उतना ही वह समूह अधिक विशेषाधिकार प्राप्त तथा संगठित होगा। जैसाकि ऑफ एवं वेसेन्थल (वँमि दक ॅपमेमदजींस क्ष1980द्व) ने निष्कर्ष निकाला है कि उनके हित समर्थन द्वारा संरक्षित रहते हैं।

3.6.6 हित समूह राजनैतिक दलों से कैसे भिन्न है

पार्टियां हित प्राप्ति के प्रमुख उद्देश्य से निम्नलिखित कार्य कर रही हैं – मत प्राप्ति के तरीके निकालना, जनसाधारण को समन्वित कर एकजुट करना, राजनैतिक नेताओं को शामिल करना, सरकार का गठन, सार्वजनिक नीति तैयार करना तथा हितों को बढ़ावा देना (किंग 1969 : 120)। पार्टी प्रणाली के कम होते महत्व के कारण 1970 के दशक से आरम्भ होकर 1980 के दशक में स्पष्ट रूप से हितों की एकजुटता तथा प्राप्ति के प्रयास प्रमुख कार्य रहे हैं। विकासशील देशों में स्वतंत्रता बाद की अवधि में पार्टियां लोगों की अपेक्षाओं के अनुरूप खरी नहीं उतरी तथा नागरिकों का अलग.थलग तथा बिखरा समूह बनकर रह गईं। पार्टियों का सम्मान तथा महत्व भी कम हो गया था (वेयर, 1986: 126)। पहले पार्टियां महत्व का केन्द्र थीं और हित समूहों को हाशिए पर रखा जाता था लेकिन अब यह बिल्कुल विपरीत हो गया। राजनैतिक पार्टियों को सबसे बड़ा धक्का पश्चिमी यूरोपीय राज्यों के उदय से लगा जिनमें हित साधन का कार्य राजनैतिक पार्टियों की अपेक्षा व्यावसायिक समूहों से जुड़ गया। नए ''कोरपोरटिज्म'' के उदय से उदार लोकतंत्रों की राजनैतिक पार्टी प्रणाली का महत्व कम हुआ है (हेल्ड एंड पॉलिट 1986 : 126)। पश्चिमी जर्मनी का मामला कुछ सीमा तक भिन्न है क्योंकि संस्थागत समूहों के सशक्त रूप से कार्य करने के बावजूद नीति निर्माण में पार्टियों ने बिचौलिए की भूमिका निभाई है। पश्चिमी यूरोपीय देशों के नव कोरपोरटिज्म के अतिरिक्त किसी एक मुद्दे अथवा सीमित मुद्दों पर आधारित 'कारण'' समूहों का उदय पार्टियों के लिए खतरा है (हेल्ड एंड पॉलिट 1986 : 127)। पर्यावरण, श्रम, लिंग, रंग, जाति इत्यादि मुद्दे पार्टियों के परम्परागत दायरे से बाहर हैं, जिसके परिणामस्वरूप अधिकांश पार्टियां इन कार्यकलापों पर अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर पाती हैं। इससे नए विशेष हित समूहों का उदय होता है जिनमें पार्टियां नेताओं की अपेक्षा कार्योत्तर अनुयायी बन जाती हैं। हित समूहों के उदय का एक और कारण इन समूहों द्वारा अपने सदस्यों को दिया जाने वाला सामाजिक जीवन है। पहले पार्टियां ही ऐसा स्थान थीं जहां समविचार व्यक्ति स्वाभाविक जीवन जीने के लिए एकत्र होते थे परन्तु बाद में सम्पन्नता बढ़ने तथा सामाजिकरण के अन्य बेहतर विकल्प उपलब्ध होने के कारण ये सदस्य पार्टियों के बाहर समूहों में शामिल हो गए परन्तु यह विकास अकस्मात नहीं हुआ अपितु यह राजनैतिक तुच्छ क्षेत्रीय तथा व्यक्तिगत राजनीति से हटकर आर्थिक विकास और गरीबी उन्मूलन जैसे मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करने में विफल रहीं। इसके कारण संयुक्त राष्ट्र द्वारा घोषित प्रथम तथा द्वितीय विकास दशक पूर्णतया विफल हो गए। पार्टियों की स्थिति तथा केन्द्रीय भूमिका पर खतरे के रूप में दो कारण सामने आएं हैं। एलन वेयर ;**Alan Ware {1986 : 126}**) ने पहला कारण पश्चिमी यूरोपीय देशों में ''उदारवादी'' अथवा ''नव'' कार्पोरेटिज्म का उदय बताया है। इससे हित समूहों के विविध माध्यम अपने

अन्य सदस्यों के साथ बेहतर सम्पर्क ला सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप ये समूह सरकार के साथ अपने समझौतों में सहयोग के लिए अपने ही सदस्यों से ''लाभ'' उठाने लगे। ''कारण'' समूहों का उदय दूसरा कारण है जिससे एकल उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लोगों का ध्यान केन्द्रित हुआ है तथा वे एकजुट हुए हैं। ये समूह हमेशा से बने रहे हैं तथा इन्होंने भारत में स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। ब्रिटेन में एंटीकोर्न लीग ऐसा प्रमुख गैर.पार्टी गठबंधन था। इस प्रकार के विकासों का प्रमुख कारण राज्यों की संरचना से निराशा रही है जिसमें अभिजात वर्ग पार्टी संरचना को नियंत्रित करते थे। राजनैतिक पार्टियों द्वारा सार्वजनिक हित के केन्द्रीकरण तथा एकाधिकारिकरण के विरूद्ध आवाज 1970 के दशक में श्रम पार्टी संरचना के लोकतंत्रीकरण की मांग के साथ उठाई गई। परिवर्तन के लिए प्रमुख आवाज केन्द्र समूहों के निर्धन समुदायों, आदिवासी जातियों, उपाश्रित वर्ग तथा पर्यावरण की दृष्टि से प्रभावित समूहों द्वारा उठाई गई। कई विकास तथा आर्थिक नीतियों पर राजनैतिक पार्टियों की स्थिति स्पष्ट न होने से लोगों में कुंठा बढ़ी जिसके कारण उन्होंने स्वहित प्राप्ति के लिए समूहों का गठन कर लिया। भारत में कृषि तथा तटीय मात्स्यिकी के भूमंडलीकरण के विरोध में क्रमशः कई किसानों तथा मछुआरों के समूहों का गठन सीधे तौर पर राजनैतिक पार्टियों द्वारा खेली जानी वाली तुच्छ राजनीति से जुड़ा है। सुप्रसिद्ध समूह ''नर्मदा बचाओ आंदोलन'' तथा बाद में ''नैशनल एलायंस फॉर पीप्लस मूवमेंट'' उभरते हुए अधिकांश एकल कारण समूहों में निराशा का द्योतक है। ये समूह बड़ी परियोजनाओं के मुद्दों तथा अपने स्थान से हटाए गए समुदायों के प्रतिस्थापन पर ध्यान केन्द्रित किए हुए हैं। उनके द्वारा चलाए गए आंदोलनों के दो प्रत्यक्ष परिणाम निकले हैं। इससे एक तो सार्वजनिक नीति में हिस्सेदारी के लिए दक्षिणपंथी संरचना अथवा कोर्पोरेट जगत द्वारा समर्थन को मजबूती मिली और दूसरे, पर्यावरण विरोधी तथा जन विरोधी नीतियों द्वारा प्रभावित लोगों को संरक्षण देने के लिए तथा सरकार को इसके लिए जिम्मेदार ठहराने के लिए जन आंदोलनों का उदय हुआ। इसका उदाहरण है – प्रजातियों तथा उनके बचाव व संरक्षण के लिए ''पर्यावरण संबंधी कानून'' के राज्य द्वारा अपनाए जाने के लिए पर्यावरण समर्थकों के दावों को झुठलाने के लिए संयुक्त राज्य अमेरीका में पिंचोट के अन्तर्गत ''पीप्लस फर्स्ट'' नाम से उद्योगपतियों तथा खदान मालिकों का सशक्त एकजुट समूहों का गठन है। एकल मुद्दा कार्यकलाप जैसे – पशु अधिकार, गर्भपात कानून तथा पर्यावरण संरक्षण से जुड़े मुद्दे किसी एक पार्टी तक सीमित नहीं रहते। इस प्रकार से केवल पार्टी शासन की तुलना में सामूहिक कार्यक्रम अधिक जटिल हो जाते हैं तथा इनसे यहां तक कि पार्टी कार्यसूची तथा संस्थागत

एकता कमजोर हुई है। प्रथम विश्वयुद्ध के विरूद्ध बर्टांड रसेलके पैसीफिक मूवमेंट के दौरान परमाणु निशस्त्रीकरण अभियान ;ब्ंउचंपहद वित छनबसमंत क्पेंतउंउमदजद्ध में किसी राजनैतिक पार्टी ने भी उनका साथ नहीं दिया परन्तु 1950 तथा 1960 के दशक के दौरान राजनैतिक पार्टियों को अपनी चुनावी जीत के लिए इस आंदोलन से जुड़ना पड़ा। स्वयं को सत्ता में बनाए रखने के लिए पार्टियों को पूर्ण कार्यशील आंदोलन को उपयोग में लाना अथवा चुनौतीपूर्ण समूह विरोध को सत्ता में बने रहने के लिए उपयोग में लाना अधिक उपयुक्त लगा। एकल मुद्दा समूहों को वह स्थान मिला है जो वैसे पार्टियों को मिलता (हैल्ड एंड पॉलिट 1986 : 129)।

मैकलीन (1987 : 127) ने पार्टी कार्यसूची को कमजोर बनाने वाले एक अन्य कारण का उल्लेख किया है और वह है – राजनैतिक आदर्शवाद का सामाजिक कार्यकलापों में विलय। पहले पार्टी संस्थाएं पार्टी कार्यकर्ताओं तथा एक वर्ग के लोगों को मिलकर बैठने तथा सामाजिक विचार.विमर्श का बढ़िया अवसर उपलब्ध कराती थीं परन्तु बाद में मनोरंजन के वैकल्पिक साधनों के विकास तथा सम्पन्नता में वृद्धि और कम कार्य घंटों के कारण पार्टियां अपने सदस्यों को वह स्वतंत्रता उपलब्ध नहीं करा सकीं जिसकी उन्हें इच्छा थी। मैकलीन ने ''परमाणु निशस्त्रीकरण अभियान'' को समाज में आए उस परिवर्तन का उदाहरण माना है जिसके कारण पार्टी कार्यकर्ताओं की दृढ़ पार्टी निष्ठा भी टूट गई।

मतदान शक्ति तथा लॉबी शक्ति के मध्य परस्पर सम्पर्क से कोई इंकार नहीं कर सकता। पार्टियों ने अपने लाभ के लिए कारण समूहों की समेकित एकता को सफलतापूर्वक भुनाया है। इस प्रकार से ऑल्सन ने अपनी ''कैल्कुलर्स ऑफ कान्सेंट'' ;ब्संबनसमते व ब्वदेमदजद्ध में यह मत व्यक्त किया है कि पार्टियां इन समूहों से चुनावी समर्थन प्राप्त करती हैं तथा बदले में उनकी कार्यसूची और नीतियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। मतदान शक्ति तथा लॉबी शक्ति के बीच सम्पर्कों के अध्ययन से दो बातें उभरकर सामने आती हैं – प्रथम तो यह कि उपभोक्ता हितों को कभी भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। दूसरे, किसी समूह के सदस्यों की संख्या से पार्टियों पर डाले जाने वाले दबाव की कोई सुनिश्चितता नहीं होती। उदाहरण के तौर पर दूरसंचार फर्मों का छोटा.सा समूह रूढ़िवादी सरकार से विनियामक सुधार तथा सेनाओं का उदारीकरण करवा सकता है जबकि विश्वविद्यालय शिक्षकों का बहुत बड़ा समूह भी उद्वत उदार सरकार पर शायद उतना प्रभाव नहीं डाल सकेगा। कई बार सार्वजनिक अधिमान की अपेक्षा तर्क को अधिक महत्व दिया जाता है जैसे कि रेलवे कम्पनियों द्वारा विरोध के बावजूद व्यापार बोर्ड के अध्यक्ष, डब्ल्यू0 ई0 ग्लैडस्टोन द्वारा ''द रेगुलेशन ऑफ रेलवेज एक्ट, 1844'' पर अध्ययन। इसे ''असामान्य राजनीति'' का नाम दिया गया (मैकलीन एंड फोस्टर 1992 : 329) क्योंकि सामान्य राजनीति तो वितरण गठबंधन की राजनीति है जिसमें उत्पादक समूह उपभोक्ताओं के नुकसान के बदले में एकाधिकार विशेषाधिकार प्राप्त करते हैं क्योंकि विनियमन सार्वजनिक प्रशासन की सफलता की कसौटी है इसलिए यह कहा जा सकता है कि

नीतियों को अपने हित के लिए उपयोग में लाने तथा राज्य के विनियमन नियमों को तोड़ने . मरोड़ने में हित समूह सफल हुए हैं।

3.6.7 लोकतंत्रा एवं हित समूह

1960 के दशक में विशेष हित समूहों के राजनैतिक चुनाव क्षेत्रों पर बढ़ते नियंत्रण तथा पकड़ के कारण राजनैतिक पार्टियां स्वयं को अपंग तथा मजबूर महसूस करने लगीं। पार्टियों द्वारा मुद्दे उठाए जाने की अपेक्षा से समूह मुद्दे उठाते थें तथा राजनैतिक पार्टियां इन हित समूहों की अनुयायी बन मुद्दों को आगे बढ़ाती थीं। समाज की संस्थागत संरचना से पार्टी कार्यकलापों के आधार के विस्तार के लिए सीमित अवसर थे। इस प्रकार से यहां तक कि पार्टियों ने भी अपने उपलब्ध हित समूह गठित किए ताकि राजनीति की कार्यसूची को आगे बढ़ाया जा सके। इस प्रकार यह तथ्य उभर कर सामने आया है कि राजनैतिक पार्टियां लोगों से दूर हो रही हैं तथा हित समूहों से होने वाले लाभ प्राप्ति के कार्यों में अधिक उलझ रही हैं। लोकतंत्र के लिए सबसे बड़ी चुनौती यह है कि राजनैतिक पार्टियां लोकतांत्रिक सुदृढ़ीकरण के विकास तथा विस्तार के केन्द्र बिन्दु हैं परन्तु वे इस स्थिति में नहीं है कि लोगों की इच्छाओं और अपेक्षाओं को पूरा कर सकें। इस प्रकार से यह स्थिति इस व्यापक विचार का खण्डन करती है कि लोकतंत्र नीतिशास्त्र की कार्यात्मक आवश्यकता है परन्तु यही अभिशासन पर चर्चा का प्रमुख मुद्दा है। लोकतंत्र की स्थापना आज भी संभव है और यह इस पर निर्भर करता है कि समाज के सभी कार्यकर्ताओं के साथ कैसे नीतिगत सम्पर्क साधे जाते हैं। अलोकतंत्रिकरण पर चल रहे विवाद को ऐसी संस्थानों के सृजन द्वारा समाप्त किया जा सकता है जिन पर राजनैतिक पार्टियां तथा नागरिक दोनों सहमत हों। इस प्रकार से, आधुनिक लोकतंत्र, जो समझौतों के सदृश प्रतीत होती है, हितों के परस्पर शासन को जन्म देती है परन्तु जैसाकि स्मिटर (ैबीउपजजमत) ने आगाह किया है कि ''शासन परिवर्तन के एकजुटता लाने वाले चरण ये हिस्सेदारी के लिए अथाह उत्साह की एक बार पहचान करने के उपरांत दूसरों के प्रयासों को अपने लिए उपयोग में लाने के लालच की संभावना के मद्देनजर अनिवार्य नहीं है कि कोई मन्चूर ऑल्सन की ''लॉजिक ऑफ कलैक्टिव एक्शन (1965) का दृढ़ भक्त हो'' (1992 : 166)।

3.6.8 निष्कर्ष

यह तर्कसंगत निष्कर्ष नहीं है कि राजनैतिक पार्टियों ने नीति प्रक्रिया में अपने प्रतिनिधित्व के गुण को खो दिया है तथा अब हित समूहों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास कर रही हैं। वे आज भी लोकतंत्र की सर्वाधिक मान्य, व्यापक तथा क्षेत्र प्रतिनिधित्व वाली संरचनाएं हैं जो लोगों के अग्रश्रेणी के प्रतिनिधियों के रूप में लाभप्रद स्थिति में है। इस प्रकार से हित समूहों की शक्तियों के बढ़ने के बावजूद ''हित समूहों द्वारा लोकतंत्र'' को ''राजनैतिक पार्टियों द्वारा लोकतंत्र'' से बदला नहीं जा सकता। आने वाले समय में सार्वजनिक नीति प्रक्रिया केन्द्रक कार्यकर्ता के रूप में हित समूहों पर निर्भर नहीं कर सकती क्योंकि उनके अपने आंतरिक लोकतंत्र पर ही प्रश्न चिन्ह लग गया है तथा एक सीमा के बाद चुनावी राजनीति में इसे समर्थन नहीं मिलने वाला। पूर्ण संस्थानगत ढांचा सुनिश्चित करता है कि पार्टियां वर्तमान समाज में अपनी प्रमुख भूमिका निभाने में केन्द्रीय स्थान पुनः प्राप्त करने में सफल हो पाएंगी। निष्कर्ष रूप में, ''हित समूह तथा नागरिक संस्थाएं लोकप्रिय सहयोग की व्यापक तथा टिकाऊ आधारयुक्त समुचित राजनैतिक पार्टियों का स्थान नहीं ले सकती क्योंकि हित समूह सामाजिक समूहों की भांति हितों को इकट्ठा नहीं कर सकते और न ही राजनैतिक पार्टियों की तरह राजनैतिक मुद्दों को उठा सकते हैं'' (डायमंड 1999: 258.259)।

3.6.9 सारांश

हित समूह एक ऐसी संस्था है जो अपने वैयक्तिक तथा समर्थकों के हित के लिए सरकार का भाग हुए बिना सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने का प्रयास करती है। इस इकाई में लोकतंत्र की कार्य प्रणाली में हित समूहों की भूमिका तथा सरकार के हित समूह सिद्धान्त पर चर्चा की

गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार नीतियां राजनेताओं के निजी हित साधन के आधार पर तैयार की जाती हैं। इस सिद्धान्त में इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि नीतियों की विफलता के लिए उत्तरदायी कारणों को इनके परिणामों के आधार पर जांचा जाए अर्थात इससे किसे लाभ पहुंचा तथा कौन विफल नीतियों की हानि का भार वहन करता है। हित समूहों द्वारा विनियमन के आयोजन तथा समर्थन में सामूहिक कार्य की लागत की गणना होगी तथा उच्च संस्था लागत वाले समूहों को हानि होगी। जीतने वाले प्रधान समूह छोटे हैं तथा अपनी मांगों मे बेहतर संगठित है व अपने समूह के लाभ के लिए शुल्क अदा करते हैं। यह एक प्रकार से सामाजिक हानि है तथा इसके कारण नीतियां विफल होती हैं। हित समूहों को विशेषाधिकार प्राप्त, मध्यवर्ती तथा अन्तर्निहित अथवा उत्पादक, उपभोक्ता तथा परहितवादी समूहों में वर्गीकृत किया गया है।

एकजुटता लाने तथा हित साधन में राजनैतिक पाटियों की भूमिका के महत्व में कमी आई है। हित साधन का कार्य अब व्यावसायिक समूहों से अधिक जुड़ गया है। इसके लिए राजनैतिक पार्टियों द्वारा तुच्छ क्षेत्रीय तथा निजी राजनीति से ध्यान हटाकर विकास और गरीबी उन्मूलन के मुद्दों पर ध्यान न केन्द्रित करना, पश्चिमी यूरोप में नव कार्पोरेटिज्म तथा एकल

मुद्दों वाले ''कारण'' समूहों का उदय इसके लिए उत्तरदायी हैं। पार्टियां अपने लाभ के लिए चुनावी सहयोग के लिए ''कारण'' समूहों की समेकित एकता को उपयोग में लाती है तथा इसके बदले में उनकी कार्यसूची का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसके साथ ही किसी समूह में सदस्यों की संख्या का पार्टी पर पड़ने वाले प्रभाव से कोई संबंध नहीं हे। राजनैतिक पार्टियों के जन साधारण से दूर होने तथा हित समूहों से लाभ प्राप्ति में जुटे रहने का भय बढ़ता जा रहा है। यह लोकतंत्र का सबसे बड़ा भय है क्योंकि पार्टियां विकास तथा लोकतांत्रिक सुदृढ़ीकरण में महत्वपूर्ण हैं परन्तु लोगों की अपेक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहीं। फिर भी पार्टियों ने अपने प्रतिनिधित्व के गुण को नहीं खोया है तथा आज भी ये लोकतंत्र के सर्वाधिक मान्य ढांचे हैं। हित समूह सामाजिक समूहों की भांति हितों को इकट्ठा नहीं कर सकते और न ही राजनैतिक पार्टियों की भांति राजनैतिक मुद्दों के संबंध में ऐसा कर सकते हैं।

3.6.10 अभ्यास प्रश्न

1) हित समूह की परिभाषा दीजिए। इनका गठन कैसे तथा क्यों होता है ?
2) लोकतंत्र की कार्यप्रणाली में राजनैतिक पार्टियों की तुलना में हित समूहों को महत्व कैसे मिला?
3) सरकार के हित समूह सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
4) हित समूहो की विशेषताएं क्या हैं ?
5) राजनैतिक पार्टियां हित समूहों से कैसे भिन्न हैं?

अध्याय–1
भारत में अभेदवाद की राजनीति (जाति, धर्म, भाषा तथा संरचना)

संरचना

3.2.35 उद्देश्य
3.2.36 प्रस्तावना
3.2.37 अभेदवाद की राजनीति क्या है ?
3.2.38 भारत में अभेदवाद की राजनीति
4.1.4.1. जाति
4.1.4.2. धर्म
4.1.4.3. भाषा
4.1.4.4. संजातीयता
3.2.39 सारांश
3.2.40 अभ्यास प्रश्नावली

4.1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य अभेदवाद की राजनीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए भारत में इसके आधार जाति, धर्म, भाषा और संजातीयता के सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलुओं का उल्लेख करना है। अभेदवाद की राजनीति भारतीय राजनीति का प्रमुख पहलु है भारतीय राजनीति में कई रूपों में अभेदवाद की राजनीति दृष्टिगोचर होती है और इसका सर्वाधिक भव्य रूप भाषा, धर्म, जाति तथा संजातीयता पर आधारित अस्तित्व की राजनीति में है यही स्पष्ट करना इस अध्याय का उद्देश्य है।

4.1.2 प्रस्तावना

अभेदवाद की राजनीति पिछले कुछ वर्षों से भारतीय राजनीति का प्रमुख विषय बन चुकी है। भारत में अभेदवाद की राजनीति का महत्व बढ़ने में निम्न जातियों का स्तर बढ़ना, धार्मिक अभेद, भाषायी समूहों तथा संजातीयता संघर्षों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। कई विद्वानों का मानना है कि अभेदवाद पर चर्चा आधुनिक समय की ही देन है। क्रेग कैल्हन (Craig Calhoun) ने इस स्थिति का यह तर्क देते हुए उपयुक्त वर्णन किया है कि यह आधुनिक समय में व्यक्ति विशेष की स्थिति मजबूत करने, श्रेणीगत पहचान तथा स्वयं.समरूपता लाने के भरसक प्रयासों के रूप में परिलक्षित होती है। यह प्रमुखतया आधुनिक समाज का घटनाक्रम है क्योंकि कुछ विद्वानों का मानना है कि संजातीयता, धर्म, भाषा, लिंग, लिंग संबंधी अधिमान्यताओं, अथवा जातिगत स्थिति इत्यादि के प्रमुख सिद्धांत पर आधारित अभेदवाद पर बल एक प्रकार से भावनाशून्य आधुनिक विश्व में ''गुमनामी के जबरन उपचार'' की तरह है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि ''यह जुड़े होने की प्रक्रिया है, आराम की खोज है तथा सामुदायिक दृष्टिकोण है'' परन्तु जटिल सामाजिक परिवर्तनों तथा आधुनिक विश्व की विविध शक्तियों, कारकों तथा घटनाक्रमों के कारण इस प्रकार की स्थिति बनी है तथा अभेदवाद की समस्या को पहचान मिली है। हम कह सकते हैं कि ''वास्तविक आस्तित्व या अभेदवाद'' की खोज एक सरल एवं निष्कपट संभावना है; इसमें अक्सर परस्पर व्यापी तथा संघर्षरत, शास्त्र विरूद्ध तथा बहुपक्षीय ''स्वयं'' के साथ समझौता शामिल है। कास्कार्डी ;ब्ंेबंतकपद्ध ने यह टिप्पणी करते हुए इसकी संक्षिप्त व्याख्या की है कि ''आधुनिक विषय की परिभाषा अलग. अलग मान्यताओं वाले क्षेत्रों में इसे जोड़े जाने के रूप में दी जा सकती है, जिनमें से प्रत्येक क्षेत्र दूसरे को अलग.थलग करने तथा दूसरों पर अपनी प्राथमिकता का दावा करने का प्रयास करता है'' जिसके परिणामस्वरूप अभेदवाद संबंधी समस्याएं उत्पन्न होती हैं तथापि अभेदवाद पर बल देने के साथ.साथ समरूपी पहचान वाले क्षेत्रों में सामान्यता स्थापित करने संबधी वैयक्तिक तथा सामूहिक अभेदवाद सार्वभौमिक सोच का विषय बन चुका है।

4.1.3 अभेदवाद की राजनीति क्या है?

अब प्रश्न यह है कि अभेदवाद पर चर्चा किस प्रकार से राजनैतिक ढांचे का हिस्सा है ? अभेदवाद पर इस चर्चा का राजनैतिक आधार क्या है ? अभेदवाद संबंधी समस्या पर आधारित विशेषताओं वाले आंदोलनों के स्थापक सिद्धांत क्या है

? क्या हम श्रमिकों के आंदोलनों की व्याख्या अभेदवाद की राजनीति के उदाहरण के रूप में कर सकते हैं ? संक्षेप में, अभेदवाद की राजनीति क्या है तथा इसकी स्थापना से संबंधित सिद्धांत क्या हैं ?

अभेदवाद की राजनीति से अभिप्राय ''किन्हीं विशेष सामाजिक समूहों के सदस्यों के अन्याय से संबंधित सामान्य अनुभवों से उत्पन्न व्यापक राजनैतिक कार्यकलापों तथा इसके सिद्धांतों से है।'' अतः राजनैतिक कार्यकलाप का अर्थ उन राजनैतिक परियोजनाओं से है जिनके अन्तर्गत ''आत्मतत्व'' को निर्धारित करने वाली विशेषताओं जैसे – संजातीयता, लिंग, लैंगिक अभिरुचि, जातीय स्थिति इत्यादि के भेदों के आधार पर हाशिए पर रखे गए समूहों को ''बहिष्करण तथा निंदा से उबारने'' के प्रयासों पर बल दिया गया है। इस प्रकार से, अभेदवाद की राजनीति में उन सामाजिक समूहों के सशक्तीकरण, प्रतिनिधित्व तथा अन्य समूहों से उनकी अलग पहचान बनाने वाले तथा अलग करने वाले कारकों पर बल देते हुए उनके माध्यम से आत्मतत्व तथा भेद पर आधारित न कि समानता पर आधारित अभेद का प्रयास किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर इसका अर्थ यह हुआ कि अभेदवाद की राजनीति की विशेषताएं निश्चित रूप से वे मार्कर हैं जो किसी परिभाषात्मक मूल तत्व वाले समुच्चय के इर्द.गिर्द सामाजिक समूहों की पहचान सुनिश्चित करते हैं। ये मार्कर वृत्तिभाषा, लक्षणा, प्ररूप तथा शैक्षिक साहित्य में स्थापित और सकारात्मक विभेदन अथवा कार्रवाई द्वारा लागू भाषा, संस्कृति, संजातीयता, लिंग, लैंगिक अभिरूचियों, जातीय स्थितियों, धर्म, जनजाति, प्रजाति इत्यादि के हैं। अतः, अभेदवाद की राजनीति के समर्थक किसी ''तत्व' अथवा अन्यों को छोड़कर केवल समूह के सदस्यों की सामूहिक विशेषताओं को प्राथमिकता देते हैं तथा वे व्यक्ति विशेष के एकमात्र, आंतरिक, सुव्यवस्थित और निश्चित अभेद को स्वीकार करते हैं। ये अत्यंत अनिवार्य मार्कर उन संस्थागत मार्करों से भिन्न होते हैं जैसे श्रमिकों के मार्कर, जो किसी न किसी रूप में अभेद की राजनीति से जुड़े अत्यंत अनिवार्य प्राकृतिक हितों द्वारा परिभाषित लक्षणों से युक्त होते हैं। यद्यपि कई विद्वान यह तर्क दे सकते हैं कि ''श्रमिक'' एक वैध अधिकार प्राप्त आस्तित्व है तथा समूह के रूप में इसके आंदोलनों को अभेदवाद की राजनीति का नाम दिया जा सकता है परन्तु राजनैतिक परियोजनाओं के समूह के रूप में अभेदवाद की राजनीति का संबंध संभवतः सार्वभौमिक विचारों अथवा कार्यसूची की अपेक्षा कुछ अनिवार्य, स्थानीय विशेष वर्गीकृत पहचान तत्वों से है। अभेदवाद की राजनीति के सहवर्ती लक्षणों में सांझा समुदाय की भावना को मूर्त रूप देने के लिए पौराणिक, सांस्कृतिक चिन्हों तथा सगोत्रता के संबधों को उपयोग में लाया जाता है तथा उसके बाद इन पहलुओं का राजनीतिकरण किया जाता है ताकि उन विशेष विशिष्टताओं की पहचान का दावा किया जा सके।

अभेद की राजनीति की सबसे जबरदस्त आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसे अक्सर उन्हीं मार्करों द्वारा चुनौती जा जाती है जिन्हें स्वयं अथवा समुदाय की विशिष्टता का आधार बनाकर पहचान दी जाती है। इसके बावजूद यह तथ्य है कि अभेदवाद की राजनीति का कार्यक्षेत्र अवशोषण और निशक्तिकरण के विभिन्न पहलुओं, प्रबल समूहों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली नकारात्मक लिपियों में सुधार तथा संशोधन लाना है ताकि व्यक्ति और समुदाय को सकारात्मक रूप देने में इन्हें सशक्त माध्यम के रूप में उपयोग में लाया जा सके। दूसरे शब्दों में, समुदाय को कथित रूप से परिभाषित करने वाले मार्कर उस सीमा तक निर्धारित किए जाते हैं कि वे दृढ़ हो जाते हैं तथा समूह में ही अनिवार्यता की ऐसी प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है जो अक्सर समूह के भीतर तथा समूह के बिना आंतरिक विकल्पानुमान का मार्ग बंद कर देती है तथा स्वयं अवरोध और अवशोषण का नया रूप धारण कर लेते है।

अभेदवाद की राजनीति पर अध्ययन को बौद्धिक वैधता बीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध अर्थात् 1950 तथा 1960 के दशक के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका से मिली जब द्वितीय दौर के नारी अधिकारवादियों, ब्लैक सिविल राइट, समलैंगिक लोगों के आन्दोलन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका और विश्व के अन्य भागों के विविध देशी आंदोलनों को उनके संबंधित सामाजिक समूहों के प्रति हुए अन्याय के आधार पर उचित ठहराया जा रहा था और वैधता दी जा रही थी परन्तु हेज (भ्मलमे) जैसे विद्वानों ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि यद्यपि ''अभेदवाद की राजनीति'' का उल्लेख मैरी वॉलस्टोनक्राफ्ट से लेकर फ्रैंटज फैनन से पूर्व के विद्वानों के लेखन में है तथापि – अभेदवाद की राजनीति – इन शब्दों का वास्तविक रूप से उपयोग केवल पिछले 15 वर्षों में हुआ है।

4.1.4 भारत में अभेदवाद की राजनीति

हम देखते हैं कि भारत में स्वतंत्रता के बाद उदार प्रजातांत्रिक शासन अपनाए जाने के बावजूद समुदाय तथा सामूहिक अस्तित्व शक्तिशाली रहे हैं तथा आज भी अपनी पहचान का दावा करते हैं। बेटेल ;ठमजमपससमद्ध का मानना है कि वास्तव में, भारतीय शासनतंत्र में राजभक्ति के साथ उदारवादी (वैयक्तिक) भावना तथा समुदाय की चिंताओं और जागरूकता के साथ सामजस्य स्थापित करने का निरन्तर प्रयास किया गया है। पारेख ;च्तमीद्ध के अनुसार इस प्रक्रिया से व्यापक स्तर पर स्वायत्त तथा प्रमुखतः स्वशासित समुदायों को पहचान मिली है। इसने व्यक्ति तथा समुदाय, दोनों को ही अधिकार प्राप्तकर्त्ता मानते हुए व्यक्ति तथा समुदायों के समुदाय के बीच तालमेल बैठाने की कोशिश की है।

संभवतः स्वतंत्रता के बाद के भारत में विशिष्ट अस्तित्व का दावा तथा पहचान प्रदान किए जाने के पीछे कई विद्वानों का मानना था कि अस्तित्व के दावे का भौतिक आधार स्वतंत्रता के बाद के देश तथा इसकी संरचनाओं और संस्थानों द्वारा

उपलब्ध कराया गया। अन्य शब्दों में, ''राज्य को विशिष्ट पहचान के रूप में लोगों को परिभाषित करने वाली तथा उनकी पहचान बनाने में देश की संरचनाओं के निर्माण और रख.रखाव के माध्यम से सक्रिय योगदानकर्त्ता'' के रूप में देखा जा रहा है। इस प्रकार से भारत मे कई रूपों में अस्तित्व की राजनीति दृष्टिगोचर होती है तथापि इसका सर्वाधिक भव्य रूप भाषा, धर्म, जाति, संजातीयता अथवा जनजातीय पहचान पर आधारित अस्तित्व की राजनीति में है परन्तु इसका यह अर्थ निकालना गलत होगा कि इनमें से प्रत्येक मार्कर स्वायत्त रूप से तथा अन्य मार्करों को परस्पर रूप से प्रभावित किए बिना कार्य करता है। दूसरे शब्दों में, एक समरूप भाषायी समूह को संबंधित जाति के अनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है और उसे धार्मिक दृष्टि से पुनः वर्गीकृत कर सकते हैं या फिर सब को विस्तृत संजाति के अंतर्गत रख सकते हैं।

4.1.4.1 जाति

जाति पर आधारित भेदभाव तथा दमन – भारतीय समाज की हानिकारक विशेषता रही है तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनीति के साथ इसके जुड़ने से न केवल अब तक अवशोषित जातीय समूहों को राजनैतिक स्वतंत्रता और पहचान दी जा सकी अपितु राजनैतिक पूंजी के रूप में इसकी प्रभावकारिता के प्रति जागरूकता आई है। वास्तव में, दीपांकर गुप्ता ने अम्बेडकर तथा मंडल कमीशन के जाति के बारे में मतों के अन्तर की व्याख्या करते हुए इस विरोधाभास को पैने ढंग से उजागर किया है। अम्बेडकर ने भारतीय सामाजिक जीवन तथा शासन तंत्र से संस्थान के रूप में अस्पृश्यता को दूर करने के लिए आरक्षण अथवा संरक्षित विभेद की नीति तैयार की जबकि मंडल कमीशन ने जाति को महत्वपूर्ण राजनैतिक संसाधन माना है। वास्तव में, मंडल कमीशन को जाति पर आधारित अभेद को परिसम्पत्ति के रूप बदलने के पीछे बौद्धिक प्रेरणा माना जा सकता है जिसका उपयोग राजनैतिक और आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए किया जा सके। यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि पहले से ही प्रबल स्थिति के कारण उच्च जातियां राजनैतिक और आर्थिक प्रणाली में प्रभावी पदों पर थीं तथा जब मंडल ने जातीय अभेद की हानियों की पहचान करते हुए इनके लाभ का दलितों को बोध कराया, तब से संघर्ष जारी है। शुद्धता तथा अशुद्धता, अधिक्रम तथा विभेद पर आधारित जाति प्रथा सामाजिक गतिशीलता के बावजूद शूद्रों और जाति बहिष्कृतों के लिए दमनकारी सिद्ध हुई है जिन्हें आनुष्ठानिक अशुद्धता का कलंक झेलना पड़ा, वे निर्धनता और निरक्षरता में जकड़े रहे तथा उन्हें राजनैतिक शक्तियों से वंचित रखा गया। जाति पर आधारित प्रतिरोधी अभेदवाद की राजनीति का उद्गम संरक्षित विभेद के रूप में अवशोषित जाति समूहों को राज्य द्वारा सहयोग देने के मुद्दे से जुड़ा। जाति पर आधारित समूह.अभेदवाद को जाति अभेदों से संबंधित राजनैतिक बोध से प्रबलीकरण मिला तथा जातियों सहित विशिष्ट अभेदों के हितों की रक्षा का दावा करने वाले राजनैतिक दलों द्वारा इसे संस्थागत बनाया गया। परिणामस्वरूप, हमारे देश में उच्च जाति प्रधान भारतीय जनता पार्टी, निम्न जाति प्रधान बहुजन समाज पार्टी या समाजवादी पार्टी हैं, इसमें यह तथ्य भी शामिल है कि वामपंथी दलों ने चुनावी राजनीति में लाभ उठाने के उद्देश्य से जाति प्रणाली का मौन अनुपालन किया है (उदाहरण के लिए 1950 में आन्ध्र प्रदेश के चुनावों में कृषि श्रमिकों को संचालित करने के लिए जाति संबंधी मुहावरों का प्रयोग)। राजनीतिकरण का कुल मिलाकर यह परिणाम निकला कि हम यह कह सकते हैं कि जाति पर आधारित अभेदवाद की राजनीति की भारतीय समाज तथा शासन.तंत्र में दोहरी भूमिका है। इससे जाति पर आधारित भारतीय समाज के काफी हद तक जनतंत्रीकरण के साथ.साथ वर्ग पर आधारित संस्थाओं के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

समग्र रूप से, जाति भारतीय समाज तथा राजनीति का प्रमुख निर्धारक अंश बन गई है तथा अब तक उपेक्षित जाति समूहों ने संगठित राजनीति और जातीय संबंधों के बारे में प्राप्त हुई जानकारी से भारतीय राजनीति में आमूल.चूल परिवर्तन हुए हैं, जहां जाति.वर्ग गठजोड़ों में भी बदलाव दृष्टिगोचर होता है। जाति.अभेद के अनुसार इनकी एकजुटता संचालों के विशुद्ध प्रभाव के परिणामस्वरूप न केवल अब नए उभरने वाले समूहों का सशक्तीकरण हुआ है अपितु प्रतिरोधी राजनीति की सघनता में वृद्धि हुई है और संभवतः यह प्रक्रिया अभिशासन के बढ़ते हुए संकट को और बढ़ावा देगी।

4.1.4.2 धर्म

अभेदवाद की राजनीति का एक अन्य रूप धर्म के सांझा रिश्ते के आधार पर निर्मित समुदाय द्वारा प्रभावित होता है। भारत में हिन्दू, इस्लाम, सिक्ख, ईसाई तथा ज़ोरोस्ट्रइनिज्म कुछ धर्मों को लोग मानते हैं। संख्या की दृष्टि से हिन्दुओं की संख्या सर्वाधिक है जिसके कारण कई हिन्दू निष्ठावान समूहों जैसे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ या शिव सेना तथा राजनैतिक दलों जैसे भारतीय जनता पार्टी अथवा हिन्दू महासभा ने यह दावा किया है कि भारत हिन्दू राज्य है। इन दावों के कारण भारत तथा इसके इतिहास के बारे में समधर्मी होने की मिथ्या धारणा को बढ़ावा मिला है। इन दावों का अन्य धार्मिक समूहों ने विरोध किया है जिन्हें इन समान धर्म संबंधी दावों के कारण अपने धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवनयापन की स्वायत्ता को खोने का खतरा नजर आता है। इसके कारण विवाद खड़े हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप अक्सर साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं। धार्मिक आधार पर पहचान का विभेद करने वाली प्रक्रिया ''तुष्टिकरण के सिद्धांत'' ''जबरन धर्म परिवर्तन'', अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों के सामान्यतः ''हिन्दू विरोधी'' तथा इस प्रकार से ''भारत विरोधी'' विचारों, बहुसंख्यक समूहों की ''प्रधान बनने की आकांक्षाओं'' तथा अल्पसंख्यक समूहों को ''सामाजिक.सांस्कृतिक'' दृष्टि से हिस्सेदार न बनाने पर आधारित

जनप्रायः को मान्य मिथ्या धारणाओं के कारण हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से 19वीं शताब्दी का हिन्दू नवजागरण आंदोलन वह अवधि मानी गई है जब धार्मिक आधार पर दो अलग.अलग संस्कृतियों के बीच खाई बनी – हिन्दू तथा मुस्लिम और विभाजन के बाद यह खाई अधिक गहरी हो गई। साम्प्रदायिक विचारधारा के रूप में इस खाई का संस्थानकरण किया गया जो भारत के धर्मनिरपेक्ष सामाजिक ढांचे तथा जनतांत्रिक शासन तंत्र के लिए प्रमुख चुनौती बन गई है। यद्यपि पिछली शताब्दी के अधिकांश समय में हिन्दू.मुस्लिम संघर्ष प्रमुख साम्प्रदायिक विवाद रहे हैं तथापि हाल ही के वर्षों में हिन्दू.सिक्ख, हिन्दू.ईसाई संघर्षों ने सामुदायिक झगड़ों का रूप ले लिया है। हिन्दू राष्ट्रीय अभिकथनवाद, प्रतिनिधित्व सरकार की राजनीति, सामुदायिक बोध होने तथा सामाजिक.आर्थिक संसाधनों के लिए प्रतियोगिता, साम्प्रदायिक विचारधाराओं के जन्म लेने तथा प्रमुख दंगों के रूप में उनके परिवर्तित होने के प्रमुख कारण हैं।

धर्म पर आधारित अभेदवाद न केवल अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में विवाद का प्रमुख स्रोत बन चुका है अपितु 1990 के दशक के आरम्भ से यह भारतीय लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के लिए चुनौती बन गई है। बहुसंख्यक अभिकथनात्मकता (Majoritarian Assertiveness) भारतीय जनता पार्टी द्वारा अपने ''हिन्दू'' संघटकों के साथ मिलकर हिन्दू बोध को सुदृढ़ करने के लिए राजनैतिक सहयोग तथा मार्च, 1998 में गठबंधन सरकार बनाने से संस्थानगत बन गई है किन्तु सभी अभेदवादी प्रक्रियाओं की भांति धार्मिक साम्प्रदायिकता के अंतर्गत ''हम सब एक जैसे हैं'' की भावना को जन्म देते हुए विशेष धर्म के अन्दर आंतरिक मतभेदों को कम महत्व देना होता है। अतः, सहधर्मी हिन्दू अभेदवाद के भीतर जाति समूहों के बीच मतभेद तथा इस्लाम के अंतर्गत भाषायी और शाखायी मतभेदों को ताक पर रखना पड़ता है ताकि एक सार धार्मिक अभेदवाद की प्रक्रिया बन सके।

स्वतंत्र भारत में बहुसंख्यकों द्वारा स्वयं को समाज में प्रबल सिद्ध करने के कारण अल्पसंख्यक धर्म प्रबलता के रूप में विरोधाभास उत्पन्न हो गया जिसके परिणामस्वरूप विवादमय राजनीति का जन्म हुआ जिससे भारत में नागरिक समाज के समन्वयात्मक पहलुओं की अनदेखी हुई है। ''इतिहास को नए तरीके से पुनः लिखने'' की प्रक्रिया द्वारा धार्मिक प्रबलता के बढ़ते हुए संस्थानीकरण से भारत के राष्ट्रीय अस्तित्व को साम्प्रदायिक विचारधाराओं के साथ पुनः स्थापित करने की संभावनाएं हैं।

4.1.4.3 भाषा

सामूहिकता की अवधारणा पर आधारित भाषा के कारण परस्पर जुड़े अभेदवाद संबंधी दावों का आरम्भ कांग्रेस की स्वतंत्रता पूर्व की राजनीति से है जिसने स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का विश्वास दिया था परन्तु जे वी पी (जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल और पताभी सितारामैय्या) समिति का यह मानना था कि यदि सार्वजनिक भावना ''आग्रहपूर्ण तथा अत्यधिक'' है तो तत्कालीन मद्रास के तेलगुभाषी क्षेत्र से आन्ध्र प्रदेश के गठन को स्वीकृति दी जा सकती थी जिसका वर्णन माइकल ब्रेकर ;डपबींमस ठतमबीमतद्ध ने ''भारतीय राजनीति में 1953 से 1956 के दौरान चले राज्यों के पुनर्गठन से संबंधित कटु संघर्ष का शुरुआती कदम था'' परन्तु यह विडम्बना रही कि भाषायी सामूहिकता के लिए अलग राज्यों के दावे 1956 में समाप्त नहीं हुए, यहां तक कि आज भी यह मांग भारतीय नेताओं के लिए चुनौती बनी हुई है परन्तु समस्या यह रही है कि गठित किए गए अथवा राज्य की मांग करने वाले राज्यों में से कोई भी एकल.संजातीय नहीं है तथा कुछ में तो संख्या तथा राजनीति की दृष्टि से सशक्त अल्पसंख्यक भी हैं जिसके परिणामस्वरूप राज्यों के लिए मांग के कारण वर्तमान राज्यों की सीमाओं को खतरा जारी है तथा भाषायी राज्यों के बीच सीमा विवाद के संघर्ष चल रहे हैं। उदाहरण के तौर पर बेलगांव जिले से संबंधित महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के मध्य विवाद अथवा मणिपुर के कुछ भागों के लिए नागालैंड का दावा।

सम्पूर्ण देश के लिए एक समान भाषा नीति न होने के कारण भाषायी राज्यों की समस्या और जटिल हुई है। चूंकि प्रत्येक राज्य में प्रमुख क्षेत्रीय भाषा ही शिक्षा तथा सामाजिक संचार का माध्यम रहती है, अतः प्रत्येक की अपनी भाषा के प्रति लगाव तथा निष्ठा, अपनी भाषा के उदगम राज्य के बाहर भी अभिव्यक्त हो जाती है। उदाहरणतया अपने उदगम राज्य के बाहर भाषायी सांस्कृतिक तथा सामाजिक समूहों से अलग भाषायी समाज में एकता और साम्प्रदायिक भावना सुदृढ़ की जा सकती है। अतः भाषा के आधार पर अभेद किया जाता है तथा ''समूह'' और''समूह के बाहर'' की परिभाषा निर्धारित की जाती है।

यद्यपि यह आमतौर पर माना जाता है कि भाषायी राज्यों में विषम जातीय समाज में सामूहिक स्वतंत्रता तथा स्वायतता आती है, तथापि आलोचकों का मत है कि भाषायी राज्यों ने क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया है और देश में अभेद संबंधी दावों में तीव्र वृद्धि हुई है, जहां 1652 ''मातृभाषाएं'' हैं तथा केवल 14 मान्यता प्राप्त भाषाएं हैं जिनके आधार पर राज्य बने हैं। उनका तर्क है कि भाषायी समूहों की पहचान के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा नहीं मिला तथा ''मराठियों'' के लिए महाराष्ट्र तथा गुजरातियों के लिए गुजरात इत्यादि'' की भावना के कारण भाषायी अविश्वास उत्पन्न हुआ है और आर्थिक तथा राजनैतिक लाभ को भाषायी दृष्टि से परिभाषित किया गया है।

4.1.4.4 संजातीयता

आप इस पाठ्यक्रम की पुस्तक 2 की इकाई 26 में संजातीयता पर विस्तृत अध्ययन करेंगे। संजातीयता अभेद की परिकल्पना के दो तरीके हैं – एक, किसी एक पहलू – भाषा, धर्म, जाति, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर तथा दूसरे, बहुपक्षीय विशेषताओं के आधार पर संचित रूप से अभेद बनाना। तथापि, एक से अधिक विशेषता– संस्कृति, प्रथा, क्षेत्र, धर्म अथवा जाति के आधार पर अभेद निर्माण के दूसरे तरीके को संजातीय अभेद निर्माण का सर्वाधिक लोकप्रिय तरीका माना गया है। एक से अधिक संजातीय अभेदों के मध्य संबंध मधुर अथवा कटु दोनों ही हो सकते हैं। वास्तविक अथवा काल्पनिक आधार पर संजातीय अभेदों के बीच प्रतियोगिता होने पर यह स्वायतता आंदोलनों, अलगाववादी अथवा संजातीय दंगों की मांग के रूप में परिलक्षित होती है। आप पुस्तक 2 की 26वीं इकाई में संजातीयता के प्रमुख उदाहरणों का अध्ययन करेंगे।

4.1.5 सारांश

अभेदवाद आधुनिक राजनीति का महत्वपूर्ण घटनाक्रम है। किसी समूह के सामान्य गुणों– भाषा, लिंग, धर्म, संस्कृति, संजातीयता इत्यादि – में से कुछ अथवा सभी के आधार पर किसी समूह के सदस्यों की पहचान से अभेदवाद के अस्तित्व अथवा निर्माण का पता चलता है। इन मार्करों के आधार पर एकजुटता को अभेदवाद की राजनीति का नाम दिया गया है। अभेदवाद की राजनीति को 1950 से 1960 के दशकों के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप में वैधता मिली।

अभेदवाद की राजनीति भारतीय राजनीति का प्रमुख पहलू है। मंडल कमीशन की रिपोर्ट के लागू होने के बाद दलित राजनीति, विशेषकर बहुजन समाज पार्टी तथा पिछड़े वर्ग की राजनीति के उदय, 1950 के बाद भारतीय राज्यों के भाषायी संगठन, भारतीय जनता पार्टी के उदय, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसी संस्थाओं की सक्रिय भूमिका तथा देश के गई भागों में उप्लवकारी तथा स्वायतता आंदोलन भारत में अभेदवाद की राजनीति के उदाहरण हैं।

भारत की जनतांत्रिक राजनैतिक प्रणाील में सामान्य सामूहिक विशेषताओं के आधार पर विभिन्न समूहों को संगठित करने तथा उन्हें प्रबलित करने की क्षमता है। अभेदवाद की राजनीति की भारतीय राजनीति पर नकारात्मक तथा सकारात्मक भूमिका है।

4.1.6 अभ्यास प्रश्नावली

1) अभेदवाद की राजनीति क्या है? व्याख्या कीजिए।
2) भारतीय राजनीति में भाषा की भूमिका की विवेचना कीजिए।
3) भारतीय राजनीति में धर्म तथा जाति की भूमिका पर टिप्पणी कीजिए।
4) संजातीयता राजनीति को कैसे प्रभावित करती हैं?

अध्याय–2
नागरिक समाजः सामाजिक आंदोलन, गैर–सरकारी संगठन एवं स्वैच्छिक कार्य

संरचना

4.2.1 उदेश्य
4.2.2 प्रस्तावना
4.2.3 नागरिक समाज : बदलते विचार
4.2.4 नए सामाजिक आंदोलन
4.2.5 आमूल परिवर्तनवादी लोकतंत्र के अभिकर्त्ता के रूप में नए सामाजिक आंदोलन
4.2.6 गैर–सरकारी संगठन एवं स्वैच्छिक कार्य
4.2.7 सारांश
4.2.8 अभ्यास प्रश्नावली

4.2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य नागरिक समाज की संकल्पना को भारतीय व पाश्चात्य दृष्टिकोण से परिभाषित करते हुए स्पष्ट करना है। सामाजिक आंदोलनो और गैर–सरकारी संगठनो ने विकास कार्यों में अपनी भूमिका निभाई है। इन नए प्रयोगो नें लोकतंत्र की मान्यताओं को सुदृढ़ करने में योगदान दिया है और जनता को जागरूक करने में भी सकारात्मक भूमिका प्रदान की है यही इस अध्याय का उद्देश्य है।

4.2.2 प्रस्तावना

पिछले कुछ दशकों से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अपनाई गई विकास संबंधी नीतियों पर समग्र रूप से पुनर्विचार किया जा रहा है। ऐसा आंशिक रूप से दोनों ही ग्रामीण तथा शहरी जनता और पहाड़ी क्षेत्रों की उपेक्षित जनजपतियों की आज भी बरकरार सामाजिक–आर्थिक समस्याओं के कारण करना पड़ा है। विकास संबंधी ये नीतियां न केवल निर्धनता, निरक्षरता तथा स्वास्थ्य असुरक्षा की समस्याओं का हल ढूंढले में रही हैं अपितु इसनसे समस्याओं की वर्तमान सूची में नई समस्याएं आकर जुड़ गई हैं।

यदि हम अन्तर्निरीक्षण करें कि गलती कहां हुई तो लगभग अधिकांश विश्लेषणों में अंगुली निश्चित रूप से राज्य पर उठती है। सभी विफलताओं के लिए औपनिवेशिक भारत में राज्य केन्द्रित विकास दृष्टिकोण को दोषी ताना गया है। यद्यपि विकास कार्य भारतीय जनतांत्रिक शासनतंत्र की विचारधारा संबंधी ढांचे और कार्य प्रणाली के तहत हुआ तथापि विकास परियोजना में राज्य तथा नौकरशाहों को दी गई केन्द्रीय भूमिका के कारण उन साधारण स्थानीय समुदायों, जिनके लिए विकास र्का कलाप चलाए जाने होते हैं, की वास्तविक लोकतांत्रिक भागीदारी नहीं हो सकी। आलोचकों का मत है कि यद्यपि ये नीतियां उनके नाम पर चलाई जा रही थीं तथापि ये उनके लिए हितकर सिद्ध नहीं हुई।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के मद्देनजर कई नए सामाजिक आंदोलन तथा स्वैच्छिक क्षेत्र उभरकर सामने आए जिनमें लोकतंत्र की मान्यताओं को सुदृढ़ बनाने के लिए विशिष्ट मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। सिद्धांतवादियों द्वारा किए गए विकास संबंधी प्रयोगों का परिणाम नागरिक समाज की श्रेणी के उदय के रूप में हुआ। राज्य की प्रबलता की तुलना में नागरिक समाज टिक नहीं पाया जिसके कारण विकासात्मक दृष्टिकोण को जन साधारण के कल्याण के निर्धारत लक्ष्य तक नहीं पहुंचाया जा सका। अतः इस प्रकार के विचारों के पक्षधरों का मानना है कि वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना और विकास की प्राप्ति के लिए सबसे पहले सक्रिय नागरिक समाज की प्रनर्स्थापना करनी होगी। इस इकाई में हम विकास तथा लोकतंत्र के वैकल्पिक ढ़ांचे से संबंधित परिसंकल्पनात्मक तथा प्रायोगिक पहलुओं पर चर्चा करेंगे।

4.2.3 नागरिक समाज : बदलते विचार

नागरिक समाज के बारे में बढ़ा–चढ़ाकर की जाने वाले समकालीन चर्चाओं का कारण रूस तथा पूर्वी यूरोप में समाजवादी शासनों का विघटन तथा संयुक्त राज्य अपेरिका में साहचर्यात्मक बहुत्ववाद ;ेवबपंजपवदंस चसनतंसपेउद्ध को बढ़ावा देने वाली टोक्वेलियन परम्परा का पुनरोत्थान है। यह अनुमान लगाया गया है कि सोवियत संघ जैसे प्रयोग ऐसे राज्यों मे नागरिक समाज की अनुपस्थिति के कारण विफल हुए है। नागरिक समाज को उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य की सम्पदा की संज्ञा दी गई है तथा किसी विकासशील नागरिक समाज को लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए अनिवार्य माना गया है।

नागरिक समाज की संकल्पना का रोचक इतिहास है। यह सदैव उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांतों का हिस्सा रहा है। उदारवादी विचारवादी विचारधारा के अनुसार आनारिक समाज का अधिकार क्षेत्र स्वतंत्र है परन्तु इसे राज्य का संरक्षण प्राप्त होता है जबकि अधिकार प्राप्त व्यक्ति अन्यों के सहयोग से निजी हित में कार्य करने को मुक्त है। यह परिभाषा नागरिक समाज को मुक्त बाजार अथवा मुक्त अर्थव्यवस्था तक सीमित कर देती है। बाद के उदारवादी विचारकों जैसे जे एस मिल (J.S. Mill) तथा एलैक्सिस डी टोक्विले (Alexis De Tocqueville) ने नागरिक समाज को सामाजिक साहचर्य का अधिकार क्षेत्र माना है जो राज्य के अतिक्रमण पर अंकुश लगा सकता है। उनहें राज्य की बढ़ती हुई शक्तियों के कारण चिंता हुई तथा उनका मत था कि सामाजिक साहचर्य के बिना यहां तक कि लोकतांत्रिक शासन भी स्वेच्छाचारी शासन बन जाएंगे।

नागरिक समाज के संबंध में आरम्भिक मार्क्सवादी परिकल्पना, जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कार्यकलापां में महत्वपूर्ण योगदान देती है, के अनुसार नागरिक समाज के कार्यक्षेत्र को अति सीमित कर दिया है परन्तु यह नागरिक समाज को राज्य के अधीनस्थ मानने के लिए हीगल ;भ्मह्मसद्ध की आलोचना करने में सफल रही है। हीगल ने नागरिक समाज को मध्यस्थता का कार्यक्षेत्र माना है जहां आधुनिक समाज के लिए के लए नैतिक आधार बनाने हेतु व्यक्ति के विशेष हितों तथा राज्य के सार्वभौमिक हितों का सामजस्य किया जा सके। हीगल ने आधुनिक लोगों में परम्परागत सामुदायिक संबंधो की कमी के कारण आधुनिक समाज में नैतिकता के ह्रास पर चिंता व्यक्त की। तथापि, अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों से युक्त नागरिक समाज को यदि अकेला छोड़ा जाए तो यह स्वयं को नष्ट कर लेगा। अतः हीगल के विचार में, यद्यपि नागरिक समाज में व्यक्ति की आधुनिकता की विलक्षण उपलब्धि विद्यमान है तथापि इसे राज्य के माध्यम से संगठित और संस्थानगत किया जाना चाहिए।

ग्रामस्की (G ramsci) ने मार्क्सवादी तर्क को आगे बढ़ाते हुए नागरिक समाज के बारे में हमारा ज्ञानवर्धन किया है। उत्पादन तथा आदान प्रदान के सम्पर्कों की प्रणाली की अपेक्षा ग्रामस्की के मतानुसार इसकी विशेषता व्यक्ति तथा राज्य के बीच सामाजिक संबंधो में है। विविध संस्थानों, प्रकियाओं तथा नागरिक समाज से संबंधित सहवर्ती पौराणिक कथाओं तथा प्रतीकों के प्राधान्य अभिवेगों के माध्यम से राज्य की प्रबलता स्थापित करने के लिए सहमति बनाई जाती है। ग्रामस्की का दावा है कि प्राधान्य नागरिक संमाज अथवा अधिनस्थ नागरिक समाज आवश्यक भीषण आर्थिक संकट के समय भी कान्तियां न होने के लिए उत्तरदायी है। ग्रामस्की के अनुसार, प्रधानता एक ऐसी रणनीति है जो सरलता से सर्वहारा तथा उपाश्रित लोगों की सम्पत्ति बन जाती है। ग्रामस्की ने अपनी कान्तिकारी रणनीति के तहत मध्यवर्ग के सभी विरोधियों के गठबंधन की मांग की है जिसका नेतृत्व दिया जा सकेगा जिससे कि राजनैतिक समाज को चुनौती मिलेगी और इसे पुनः व्यवस्थित किया जा सकेगा।

ग्रामस्की के मत का महत्वपूर्ण आशय राजनैतिक है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से नागरिक समाज द्वारा उपलब्ध कराए गए अन्तराल पर प्रबल वर्गो ने यथोचित व्यवहार करते हुए नेतृत्व किया परन्तु इससे अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा नागरिक समाज को पुनः उचित रूप देने की पर्याप्त संभावनाएं सुझाई गई हैं। तथापि, हाल ही के वर्षो में पार्था चटर्जी तथा सुदिप्ता कविराज जैसे विद्वनों ने सामान्य तौर पर तीसरी दुनिया के देशों तथा विशेषकर भारत में नागरिक समाज से संबंधित रोचक तर्क दिए हैं। उन्होंने औपनिवेशिक हस्तक्षेप के माध्यम से थोपे गए पश्चिमी विचारों तथा अभिशासन के रूपों की कमियों तथा असंगतताओं की ओर ध्यान दिलाया है। इसके साथ–साथ इनसे काफी लम्बे समय से इन समाजों में राजनैतिक आधुनिकता लाने के प्रयासों के दौरान कई प्रकियाएं आरम्भ हो चुकी हं। अतः भारतीय स्थिति को समझने के लिए समाज तथा नागरिक समाज के पश्चिमी विचार उपयुक्त नहीं हैं। क्योंकि इन संस्थानों की प्रकृति यूरोपीय देशों से पर्याप्त भिन्न हैं। भारतीय स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए राज्य तथा नागरिक समाज की परिकल्पनाओं के उपयोग से कई विसंगतियां उत्पन्न हुई हैं। वे उन विद्वानो के प्रयासों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं जो राज्य की प्रधान भूमिका की निन्दा करते हुए नागरिक समाज को विशेषधिकार दे रहे है। उनके मतानुसार भारत में राज्य की पश्चिमी समालोचना मिथ्या है। पार्था ने भारतीय स्थिति को समझने के लिए एक नई परिकल्पना बनाई है– ''राजनैतिक समाज'' जोकि नागरिक समाज से भिन्न है। उन्होंने भारतीय लोकतंत्र में जनवाद के विभिन्न रूपों में उभरने का श्रेय राजनैतिक समाज के विकास को दिया है तथा जिससे उन्होंने राज्य तथा जनता के बीच विशेष संबंधो का उल्लेख किया है। नागरिक समाज की चर्चा में कविराज की अंतिम टिप्पणी अनुदेशात्मक है जोकि इस प्रकार है– '' यह समस्या की प्रकृति ही है कि नागरिक समाज पर चर्चा से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सका है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन पर चर्चा का कोई लाभ नहीं हुआ है। राजनैतिक लोकतंत्र की स्थापना तथा इसके फलने–फूलने के लिए आवश्यक अवस्थाओं की प्रकृति पर इन चर्चाओं का सामूहिक प्रभाव पड़ा है। संक्षेप में तीसरी दुनिया के देशों में नागरिक समाज के विचार की दुग्राहयता तथा परस्पर प्रभाविता के कारण हमें दृष्टिगोचर राजनैतिक संस्थानों के पीछे के सामाजिक क्षेत्र के बारे में सोचना पड़ता है तथा अनिवार्य परन्तु कम विश्लेषित क्षेत्र की व्याख्या करने का प्रयास करना पड़ता है।''

4.2.4 नए सामाजिक आंदोलन

भारत में सबसे पहले सामाजिक आंदोलनों का आरम्भ सर्वोदय के रूप में गांधी जी के प्रयासों में देखा जा सकता है। गांधी जी ने सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता को समझा परन्तु उनका मानना था कि यदि परिवर्तन अहिंसापूर्ण, सफल तथा स्थायी बनाना हो, तो इसे नीचे से ऊपर के स्तर तक होना चाहिए। सर्वोदय का सैद्धान्तिक उदाहरण के रूप में ग्राम स्वराज्य के राज्य तथा कृषि औद्योगिक समुदाय विकसित करना तथा औद्योगिक कार्यकलापों में ट्रस्टें बनाने की गांधीवादी परिकल्पना को लागू करना होगा परन्तु इस प्रकार नैतिक दबाव आशा थी किन्तु स्वैच्छिक तरीकों से भूमि के पुनः वितरण में भूदान की सम्पूर्ण विफलता ने सभी आशाओं पर पानी फेर दिया।

1970 के दशक के बाद से आधारभूत मुद्दो पर बल देन वाले कई सामाजिक आंदोलनों ने नागरिक समाज के क्षेत्र को जीवंत बना दिया है। ये पुरानी ट्रेड यूनियनों तथा श्रमिक वर्ग आंदोलनों की अपेक्षा ''नए'' हैं, जोकि क्रान्तिकारी, सिद्धांतयुक्त तथा राज्य का वैकल्पिक राजनैतिक रूप होने के कारण राजनैतिक थे परन्तु जैसा कि इन्हे जन आंदोलनों का नाम दिया गया है, ये पारिस्थितिकीय अथवा लैंगिक अथवा जातिय विवादों के प्रति व्यापक स्तर पर लोगों की प्रतिक्रिया का परिणाम हैं। इन आंदोलनों की विशेषता यह है कि ये समवर्गी नहीं हैं तथा उनका जन्म भिन्न–भिन्न रूपों में हुआ। जैसाकि विघ्नराज ने उल्लेख किया है कि कुछ आंदोलन धर्मार्थ संस्थानों, धार्मिक संस्थानों, ''लघु सुंदर है'' के समर्थकों इत्यादि, जिन्होंने लोगों को ''अच्छे'' कार्य करने की शिक्षा दी तथा गांव को सामजस्यपूर्ण इकाई तथा समुदाय समझा, द्वारा अपनाए गए रोमांचकारी तथा सेद्धान्तिक दृष्टिकोण का परिणाम हैं। कई मामलों में तो संचार माध्यम के योगदान तथा बुद्धिजीवियों के हस्तक्षेप के कारण स्थानीय स्तर पर की गई पहलों का एक–दूसरे में विलय हुआ जिन्होंने बड़े पैमाने पर आंदोलन का रूप धारण कर लिया।

जैसा कि विघ्नराज ने आग उल्लेख किया है कि केवल ''कुछ जन आंदोलन लम्बे समस तक टिक पाए, अन्य आंदोलन उदगारी ही रहे तथा कुछ समय के बाद समाप्त हो गए. इसी प्रकार से निचले स्तर पर हुए कुछ प्रयोगों में परिवर्तन के बीज विद्यमान होते हैं जबकि अन्य क्षणिक ही होते हैं।'' उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि परिवर्तनकारी तथा क्षणिक आंदोलनों में कैसे भेद किया जाए। परिवर्तनकारी आंदोनल की पहचान कुछ बड़े लक्ष्यों जैसे– संसाधनों में समानता तथा पहुंच; सामाजिक–राजनैतिक, सांस्कृतिक अधिकारों की समानता; कार्य, कल्याण, राजनीति इत्यादि को प्रभावित करने वाले सभी सामाजिक निर्णयों में वास्तविक भागीदारी; शारीरिक तथा बोद्धिक श्रम के बीच अंतर को समाप्त करना तथा इस उद्देश्य के लिए उपयुक्त प्रोद्योगिकी के उपयोग के रूप में की जा सकती है तथापि इसका अर्थ केवल उद्देश्यों का विवरण प्रस्तुत करना नहीं है अपितु सही अर्थो में भागीदारी, स्वयं उत्पादन तथा स्वयं प्रबंधन, स्वायतता, पूर्ण एकता तथा नवीनता लाने की प्रकृति है। दूसरी ओर, क्षणिक आंदोलन, एक कमजोर प्रक्रिया है तथा कई कारणों से लम्बे समय तक नहीं चलते। तथापि उन्होने चेतावनी दी है कि क्षणिक आंदोलनों (बुलबुलों) का आरम्भ में ही परित्याग नहीं कर दिया जाना चाहिए क्योंकि वे परिवर्तन के लिए आरम्भिक मुद्दे हो सकते हैं तथा अतिरिक्त सुग्राहयता व जागरूकता कार्यक्रमों, सहायताकर्ताओं तथा परिवर्तन एजेंटों के प्रशिक्षण के माध्यम से इन्हें बीजों का रूप दिया जा सकता है। सदैव यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी की गई पहलें विकास के समरूप पैटर्न पर कार्य करें। उपलब्ध राजनैतिक कार्यक्षेत्र के अंतर्गत सामाजिक–आर्थिक प्रणाली में हस्तक्षेप होते रहते है। छोटे प्रयोगों के मामलें में, कोई अत्यधिक जागरूक व्यक्ति वार्ता तथा समूल कार्यकलाप आरम्भ करता है, उदाहरण के तौर पर यदि भूमिहीन श्रमिकों, निर्धन महिजलाओं (युवाओं) का समूह आजीविका के साधन, या सामाजिक कार्य के लिए जैसे स्वास्थ्य अथवा पर्यावरण स्वच्छता कार्यक्रम चलाता है तो यह प्रक्रिया आगे चलकर बीज का रूप ले सकती है अथवा बुलबुले के ही रूप में रहती है जब तक कि वह फट नहीं जाता।

अब हम कुछ ऐसे आंदोलनों की चर्चा करेंगे जिन्होने लोगों तथा परिस्थितिकी के लिए प्रमुध चिंता के मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है। इनमें सर्वप्रथम ''चिपको'' आंदोलन का नाम आता है। एक स्वतः आंदोलन के रूप में ''चिपको'' आंदोलन 1970 के दशक के आरम्भिक वर्षो में आरमी हुआ तथा श्री सुन्दरलाल बहुगुणा के योग्य नेतृत्व में यह संगठित हुआ। इसका आरम्भ टिहरी–गढवाल क्षेत्र के लोगों द्वारा बाहर के ठेकेदारों द्वारा पेड़ों को काटे जाने के विराध के रूप में हुआ। हिमालय क्षेत्र में जंगल वहां की अधिकांश जनजातीय जनसंख्या की आजीविका का अपरिहार्य स्रोत है, ''चिपको'' का शाब्दिक अर्थ पेड़ों से ''चिपकना'' है। इस आंदोलन के अंतर्गत जंगलों पर आधारित समुदायों की समस्याओं जैसे– जंगलों की समाप्ति, मृदा अपरदन तथाउसके परिणामस्वरूप भू–स्खलन, स्थानीय जलधाराओं तथा अन्य जल संसाधनों का सूखना व घरेलू उपयोग के लिए ईंधन और चारे की कमी– को आवाज दी गई। इस आंदोलन में टिहरी–बांध के निर्माण के विरूध जंग छेड़ी गई जिसके कारण लगभग 25,000 पर्वतीय निवासी बेघर हो जाएंगे। यद्यपि यह आंदोलन अपने सभी मुद्दों पर सफल नहीं रहा है तथापि इसकी कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियां रही हैं। 1000 मीटर से अधिक की ऊंचाई पर वृक्ष काटने पर प्रतिबंध तथा कुछ जंगली क्षेत्र को सरकार द्वारा संरक्षित की घोषणा इस आंदोलन की कुछ सफलताएं हैं।

अहिंसावादी तरीके से विरोध व्यक्त करने के आंदोलन के रूप में चिपको गांधीवादी संघर्ष का प्रतिरूप है। चिपको आंदोलन ने देश के अन्य स्थानों पर हरियाली बचाओ आंदोलनों को प्रेरित किया, इनमें सबसे प्रमुख आंदोलन पश्चिमी घाटों पर पेड़ों की

कटाई तथा जंगल की भूमि पर प्राकृतिक वृक्षों को काटकर व्यावसायिक पेड़ उगाने के विरोध में अपीको आंदोलन आरम्भ हुआ। चिपको आंदोलन का नारा है ''परिस्थिति विज्ञान ही अर्थव्यवस्था है'' (Ecology is Economy)।

एक अन्य सामाजिक आंदोलन अन्ना हजारे का रहा है जो दो दशकों से अधिक समय से राज्य में नौकरशाही तंत्र में पारदर्शिता की मांग कर रहा है। उनके आंदोलन ने महाराष्ट्रमें अनके गांव शलेगान सिद्धी को मॉडल गांव बना दिया है। उनके आंदोलन में जन साधारण की कल्याण योजनाओं में सरकारी पहलू तथा कार्यान्वयन प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त करने के अधिकार पर बल दिया गया है। सरकार पर ''सूचना का अधिकार'' ;त्पहीज जव प्दवितउंजपवदद्ध से संबंधित अधिनियम लाने के लिए दबाव दिया जा रहा है। इस कानून से लोगों की सरकारी रिकार्ड तक पहुंच होगी तथा इस प्रकार से सरकारी कामकाज में पारदर्शिता और जिम्मेदारी शुनिश्चित की जा सकेगी। इसके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार तथा रिश्वतखोरी की समस्या को रोकने में मदद मिलेगी।

वर्तमान समय का एक प्रमुख आंदोलन है– नर्मदा बचाओ आंदोलन समिति। मधा पाटकर द्वारा चलाए गए इस आंदोलन में जल संसाधनों पर बढ़ते हुए दबाव के समाधान के रूप में बड़े–बड़े बांध बनाने के मुद्दे से संबंधित जागरूकता लाई गई है। यह आंदोलन नर्मदा नदी पर लगभग 3000 प्रमुख तथा गौण बांधो के निर्माण के विरोध में है। जिससे लगभग 3,50,000 हैक्टर वन भूमि नष्ट हो जाएगी। लगभग 1 मिलियन लोगों के बेघर होने का अनुमान है।

महिलाओं, दलित सशक्तीकरण, भूमि उपयोग तथा पर्यावरण से संबंधित मुद्दों से संबंधित संघर्ष हुए हैं। नारी आंदोलनों में यद्यपि फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी नारी अधिकारवादी आंदोलनों के समकक्ष कोई परम्परा नहीं रही है, तथापि वे ऐसे बिन्दू पर पहुंच गए हैं जहां वे लोकतंत्र की मान्यताओं तथा टिकाऊ विकास के मार्ग पर ले जाने से संबंधित उन सभी आंदोलनों में सामान्य कारण की पहचान कर सकते हैं। दलितों के आंदोलन भी इसी दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

अलग राज्यों तथा स्वायतता की मांग से संबंधित आंदोलन सामाजिक आंदोलनों की व्यापक श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। चाहे उनका जन्म स्रोत एक ही क्यों न हो, फिर भी विषम विकास तथा उनकी विशिष्ट समस्याओं के प्रति राज्य के प्रत्युत्तर देने की विफलता के कारण ये उप–राष्ट्रवादी तथा स्वायतता आंदोलन अन्य सामाजिक आंदोलनों से आधारभूत ढंग से भिन्न होते हैं। जहां अन्य सभी सामाजिक आंदोलन अन्तर्विष्ट हैं अर्थात् सभी के लिए खुले हैं, वहीं ये आंदोलन वर्ग विशेष के लिए हैं तथा सार्वभौमिक सिद्धान्तों की अपेक्षा विशिष्ट उद्देश्यों पर आधारित हैं।

4.2.5 आमूल परिवर्तनवादी लोकतंत्र के अभिकर्त्ता के रूप में नए सामाजिक आंदोलन

अर्नस्टा लैकलो (Ernesto Laclau) तथा चैंटल मौफ (Chantal Mouffe) ने नए सामाजिक आंदोलनों के उदय को सैद्धान्तिक रूप देने का प्रयास किया है। उनका सर्वप्रथम उद्देश्य पूंजीवाद तथा समाजवाद, दोनों के लिए वैकल्पिक सामाजिक काल्पनिकता उपलब्ध कराना है।

उनका मत है कि इन दोनों प्रणालियों में प्रधनता तथा अनुचितता के तत्व विद्यमान है। ग्रामसकी की ही भांति लैक्लाड तथा मौफ ने विभिन्न सामाजिक समूहों के राजनैतिक गठबंधन की पक्रिया के माध्यम से समवर्गता की मांग की है परन्तु ऐसा तभी संभव है जब गठबंधन के बीच किसी विशिष्ट समूह, जैसे कि ग्रामस्की की क्रांतिकारी रणनीति के अंतर्गत श्रमिक वर्ग के संबंध में, के किसी नेतृत्व का प्राधान्य न हो। इस प्रकार से उन्होंने किसी विचारधारा अथवा समूह द्वारा अन्य विचारधाराओं अथवा समूहों पर अपनी श्रेष्ठता लाने की अपेक्ष उनकी उग्र समतावादी विचारधाराओं के अनुरूप सभी को स्वीकार्य आम सहमति बनाने का अह्वान किया है। फॉक्लट के सत्ता विचार द्वारा प्रभावित इनका तर्क है कि सामाजिक शक्तियों को अब राज्य या अर्थव्यवस्था में केन्द्र में स्थित नहीं जाना जा सकता अपितु सामाजिक स्तर पर इसे उपयोग में भी लाया जाता है तथा इसका विरोध भी किया जाता है। ऐसे तर्क का राजनैतिक आशय राजनैतिक संघर्ष के किसी प्रतिबंधित क्षेत्र का अभाव है। लैकलो तथा मौफ ने एकीकृत परिदृश्य अथवा परियोजना के विरूद्ध नए सामाजिक आंदोलनों की विशिष्टताओं के कारण इनकी सराहना की है।

नए सामाजिक आंदोलन लोगों की इस विचारधारा के सूचक हैं कि वे उन विकास संबंधी उदाहरणों को स्वीकार नहीं करेंगे जिनमें वे शामिल नहीं करते हैं अथवा जिनमें उनकी भागीदारी को प्रतिबंधित करते हैं। वे क्रान्ति के माध्यम से राज्य की शक्तियों पर अपना कब्जा करने के बारे में चिंतित नहीं हैं, फिर भी वे जाने–अनजाने राज्य की प्रधान शक्तियों के समकक्ष शक्ति बना सकते हैं। ये नए समाजिक आंदोलन वृहत समष्टि विकास प्रक्रियाओं के तरीकों का मानवीकरण भी करते हैं ताकि इस तथ्य का प्रदर्शन किया जा सके कि आधुतिक विश्व में सभी स्तरों पर समावेशन के तरीकों को बदल जा सकता है। इन आंदोलनों से यह भी पता चलता है कि लोग बहुपक्षीय तथा एक–साथ उत्पन्न समस्याओं का कैसे समाधान करते हैं।

जन–आंदोलनों का उदय समाजों तथा संक्रांतिकाल की संस्कृतियों के विशिष्ट विरोधाभासों से होता है। इनका जन्म राज्य की भूमिका से उत्पन्न विरोधाभासों तथा कमियों के कारण व बाहर के देशों द्वारा लगाई गई पूंजी के परिणामस्वरूप श्रम के विभाजन से हो सकता है। नए सामाजिक आंदोलनों से लोगों में पदानुक्रम एकता की अपेक्षा समस्तर पर एकता आई।

राजन्द्र सिंह के अनुसार, ''परिस्थितिकीय आंदोलनों में राष्ट्र से बाहर के, बायोफिलिक सार्वभौमिकृत तथा नैतिक आंदोलन शामिल हैं। उनकी आधारभूत वचनबद्धता तथा मौलिक सिद्धांत उन्हें न केवल जाति, वर्ग, प्रजाति, धर्म तथा राष्ट्रों अपितु प्रजातीय श्रेणियों और जैविक व अजैविक दुनिया के विभाजन की श्रीणियों से ऊपर आसीन कर देते हैं। यह आंदोलन एक विलक्षण घटनाक्रम है जिससे कई बिन्दुओं पर विभक्त मानव को एकल मुद्दे पर इकट्ठा किया जा सकता है तथा एक मुद्दे पर संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है– सभी जीवित प्राधियों की प्रतिरक्षा–जन्मे या अजन्मे।

4.2.6 गैर–सरकारी संगठन एवं स्वैच्छिक कार्य

स्वैच्छिक कार्य की आधुनिक विचारधारा का जन्म प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म में है। परिकल्पनात्मक दृष्टि से, इसका अर्थ किसी भी ऐसे कार्य से है जो हम अपनी इच्छा से करते हैं न कि मजबूरीवश। किसी कार्य के स्वैच्छिक होने के लिए महत्वपूर्ण है कार्य का उद्देश्यपूर्ण या अर्थपूर्ण होना। स्वैच्छिक कार्य की आवश्यकता तब पड़ती है जब लोगों को यह लगे कि समाज के वर्तमान सामाजिक–राजनैतिक तथा आर्थिक ढांचे के अंतर्गत समाज के कुछ पहलुओं की अनदेखी की जा रही है या यह हो सकता है कि ये संरचनाएं समाज में उत्पन्न होने वाले कुछ मुद्दों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने की स्थिति में नहीं है। ऐसे कार्य मको करने के लिए अभिप्रेरणा प्रायः व्यक्ति विशेष्ज्ञ के सवहित से संबंधित नहीं है।

किन्तु रजनी कोठारी का यह मत है कि स्वैच्छिक कार्य भारतीय सभ्यता का सार है। उनका तर्क है कि भारतीय सभ्यता का मूल सांस्कृतिक है न कि राजनैतिक। उन्होंने आगे तर्क दिया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय राज्य सदैव सीमान्त रहे तथा उनका कार्यक्षेत्र सीमित रहा। जाति, धर्म तथा व्यवसायिक हितों पर आधारित स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा समाज का वास्तविक कार्यकलाप चलाया जाता था। उनका यह भी दावा है कि ''यदि कोई यह कहता है कि स्वैच्छिक कार्य भारत की अट्ट विशेषता है तो इसका अर्थ केवल यह है कि कई स्थानों पर कई लोग, किसी बाह्य कारक–राजनैतिक, नौकरशाह अर्थात बाजार की शक्तियों द्वारा कहे जाने के बिना बहुपक्षीय कार्यो में संलिप्त हैं। हाल ही के दशकों में जब आधुनिक राज्य अथवा इनके संस्थानों ने या तो भारतीय समाज के स्वैच्छिक लोकाचार में बाधा डालनी आरम्भ कर दी अथवा लोगों के स्वैच्छिक कार्यो में स्वयं को थोपना शुरु कर दिया, जिनके कारण राज्य द्वारा चलाए जाने वाले कार्यो तथा स्वेच्छा से आरम्भ किए गए कार्यो के बीच विभाजन की स्थिति उत्पन्न हुई है।'' अतः रजनी कोठारी का मानना है कि स्वैच्छिक कार्यो में आधुनिक समय में रूचि इस प्रकार से है जैसे कि सामाजिक जीवन में सामुदायिक प्रबंधन की देसी भारतीय परम्परा की ओर वापस जाना।

आइए अब हम आज की स्वैच्छिक संस्थाओं पर दृष्टिपात करें जिन्हें गैर–सरकारी संगठनों का पर्यायवाची माना जाता है यद्यपि दोनों के बीच सूक्ष्य अंतर है। गैर–सरकारी संगठन स्वैच्छिक कार्य का अकेला रूप नहीं हैं अपितु ये स्वैच्छिक कार्य क्षेत्र का एक हिस्सा हैं। गैर–सरकारी होना स्वैच्छिक कार्य के कई पहलुओं में से एक है। इठसाई मिशनरियों द्वारा स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कई अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराने के कार्यकलापों को कई विद्वानों ने भारत में स्वैच्छिक कार्यो में सर्वप्रथम माना है परन्तु इनका प्रमुख अंतर उन मान्यताओं से है जिनके अनुसार ये कार्य करते हैं। उनकी सेवाएं अस ईसाई मान्यता के अन्तर्गत आती है जिनके अनुसार वे विश्वभर में ईसा का संदेश पहुंचा कर सभी लोगों के लिए निर्वाण सुनिश्चित करना चाहते हैं। समकालीन गैर–सरकारी संगठनों का जन्म 1970 तथा 1980 के दशक में हुआ। यह वह समय था जब राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यो के प्रति लोगों में अविश्वास की भावना बढ़ती जा रही थी। राज्य तथा इसकी नीतियों की विफलता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में इनका जन्म हुआ। यद्यपि केवल 15,000 गैर–सरकारी संगठन पंजीकृत हैं तथापि यह अनुमान है कि उनकी संख्या 50,000 तथा 1,00,000 के बीच हो सकती है। गैर–सरकारी संगठनों को राज्य के विकास कार्यो में योगदान देने में अपरिहार्य भूमिका के रूप में देखा जा रहा है।

सरकारी एजेन्सियों द्वारा अपनी नीतियों के कार्यन्वयन में गैर–सरकारी संगठनों के लिए भी विकल्प देने के प्रति विद्वानों की मिली–जुली प्रतिक्रिया है। कुछ का मानना है कि यह एक साकारात्मक दृष्टिकोण है जबकि अन्य इस मत से सहमत नहीं है। उनका मानना है कि यह नागरिक समाज में राज्य का बलपूर्ण हस्तक्षेप है तथा ऐसा राज्य द्वारा नव–उदारवादी मुद्दों को बढ़ावा देने के लिए किया जा रहा है। सारा जोसेफ का कहना है कि ''1970 के दशक के अंतिम वर्षों में आपातकाल लागू होने के बाद स्वैच्छिक कार्यों में आई बाढ़ से, जिसे '' निचले स्तर की राजनीति'' ;ळतें तववज च्वसपजपबेद्ध कहा गया, कुछ समय के लिए यह आशा जगी कि नए रूप की राजनीति का जन्म हो रहा था जिससे भारत में लोकतांत्रिक संस्थानों का नवीनीकरण किया जा सकेगा। यह आशा जताई गई कि लोकप्रिय दबावों तथा लोगों को संगठित और जागरूक करने के लिए काम में जुटी स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्यो के परिणामस्वरूपलोकतंत्र का अधिक भागीदारीपूर्ण मॉडल उभर कर सामने आएगा। यह महसूस किया गया कि इनके हस्तक्षेप से लोगों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं को अभिव्यक्ति मिल पाएगी तथा राज्य को अधिक जनापयोगी योजनाएं तैयार करने में सहायता मिलेगी।'' यद्यपि सरकारी तथा अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियों ने भी निचले स्तर पर सक्रियतावाद तथा गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका का उल्लेख किया है, जोसेफ का कहना है कि सरकारी रूचि लक्ष्यों की प्राप्ति तथा कार्य में कारगरता लाने के उद्देश्य से

उन्हें उप–ठेकेदार के रूप में उपयोग में लाने में थी क्योंकि यह महसूस किया गया है कि वे नौकरशाही की अपेक्षा अधिक प्रतिज्ञाबद्ध तथा ईमानदार ढंग से कार्य कर सकेंगे और लोग उन्हें स्वीकार्यता देंगे।

विकास के क्षेत्र में गैर–सरकारी संगठनो का हहत्व कार्य की गुणवत्ता में है, न कि मात्रा में। जैसा कि अनिल सी. शाह तथा सुदर्शन अयनगर ने उल्लेख किया है कि कई मामलों में जिन लोगों के लिए केवल गैर–सरकारी संगठनों ने काम किया है, वे बाद में सरकारी प्रणाली के निष्पादन में भी उन्हीं मानकों की मांग करते हैं तथ इसके लिए आंदोलन भी करते हैं। यद्यपि, सरकार द्वारा किए गए कार्यकी मात्राा की दृष्टि से उनका योगदान नगण्य रहा है तथापि उनके कार्य की गुणवत्ता प्रभावशाली है। इस संबंध में गुजरात में आगा खान ग्रामीण सहायता कार्य की गुणवत्ता प्रभावशाली है। इस संबंध में गुजरात में आगा खान ग्रामीण सहायता कार्यक्रम (AKRSP) द्वारा किए गए कार्य उल्लेखनीय है। उन्होंने गैर–सरकारी संगठनों के कार्यकलापों की गुणवतता की जांच करने के लिए छह परिमाप बताए हैं जो इस प्रकार से हैं:

1. लोगो की भागीदारी;
2. तकनीकी उत्कृष्टता;
3. आर्थिक दृष्टि से सस्ता;
4. उपेक्षितों तथा महिलाओं के लिए समानता;
5. संस्थानगत, वित्तीय तथा पर्यावरणीय टिकाऊपन; तथा
6. जवाबदेही।

उनका तर्क है कि गैर– सरकारी संगठनों का स्तर सर्वोपरि रखना उनका दृष्टिकोण व तरिका है ताकि लोगों की भागीदारी सुनिश्चित की जा सके। "सौहार्दपूर्ण तथा अनौपचारिक ढंग से कार्य करते हुए वे सरकारी एजेन्सियों की भांति लोगों की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं पर ध्यान ने देने हुए निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विकास कार्य नहीं करते।"

इससे पता चलता है कि विकास कार्य से जुड़ी सरकारी एजेन्सियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है किन्तु वृहत सामाजिक–आर्थिक संरचनात्मक परिवर्तन की अपेक्षा दृष्टिकोण में परिवर्तन पर बल दिए जाने को क्रान्तिकारी परिवर्तन के समर्थक इसे अपनी बढ़ती हुई भमिका को मान्यता दिलाने तथा अब तक सहयोग करते आए राज्य की भूमिका को गौण करने के षडयंत्र के रूप में देखते है।

4.2.7 सारांश

नागरिक समाज का राजनैतिक प्रक्रियाओं की चर्चाओं का बिन्दु बनना दो मुंही तलवार की भांति है। एक ओर तो, जन भागीदारी बढ़ाकर विकास प्रक्रिया के लोकतंत्रीकरण की आशा है तो दूसरी ओर इससे राज्य की वैद्यता को कम किए जाने का खतरा भी मौजूद है। यद्यपि गई गैर–सरकारी संगठनों ने स्वतंत्रता, लोकतंत्र सामाजिक न्याय तथा टिकाऊ विकास की मान्यताओं को आगे बढ़ाने में सराहनीय कार्य किया है तथापि यह बात सदैव ध्यान में रखी जानी चाहिए कि वे सरकारी तंत्र की सुविधाएं नहीं जुटा सकते। जैसा कि एक विद्वान ने लिखा है कि "हजार गैर–सरकारी संगठन भी सरकार की भूमिका नहीं निभा सकते।" गैर सरकारी संगठनों की जवाबदेही भी चिन्ता का एक अन्य विषय है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि इनमें से अधिकांश विदेशी मुद्रा विनिमय अधिनियम (एफ सी आर ए) के अन्तर्गत पंजीकृत नहीं हैं परन्तु इनका महत्व उनकी भागीदारी से विकास के संभव लोकतांत्रिक तरीके जनता के समक्ष प्रस्तुत करने तथा इस प्रकार से लोगों को जागरूक करने में है कि वे सरकार पर दबाव डालकर विकास के तरीकों में सकारात्मक परिवर्तन ला सकें। स्वैच्छिक कार्यो के संबंध में हमें रजनी कोठारी के आशावादी विचारों की ओर भी ध्यान देना होगा। उनका दावा है कि यद्यपि स्वैच्छिक कार्य में समकालीन रूचि राज्य की विफलता की प्रतिक्रिया के यप में है, शीघ्र ही संभवतः हम स्वैच्छिक कार्यवाद के सकारात्मक तथा उदारवादी पहलुओं को देख पाएंगे। केवल संभवतः हम स्वैच्छिक कार्यवाद के सकारात्मक तथा अदारवादी पहलुओं को देख पाएंगे। केवल भावी राजनैतिक घटनाक्रम ही उनके दावे को सही गलत सिद्ध कर सकते हैं।

4.2.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. क्या आप भारत के विकास की प्रक्रिया में सरकारी तंत्र की तथाकथित तकारात्मक भूमिका के संबंध में कई आलोचकों के तर्को से सहमत हैं। अपने मत के पक्ष में उपयुक्त तर्क दें।
2. नागरिक समाज के संबंध में बदलती हुई विचारधारा की विवेचना कीजिए एवं सार्वभौमिकरण के इस युग में इसे दिए बए समकालीन महत्व की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. टिकाऊ विकास की मान्यताओं को बढावा देने तथा सीमान्त समुदायों के सशक्तिकरण में नए सामाजिक आंदोलन की भूमिका का आलोचनात्मक विश्लेषण किजिए।
4 सरकारी एजेन्सियों के विकास संबंधी कार्यो में गैर–सरकारी संगठनों के योगदान तथा वर्तमान सार्वभौमिक युग में स्वैच्छिक क्षेत्र की भावी भूमिका की विवेचना किजिए।

अध्याय 3
मानव विकास–स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा

संरचना

xxiv) उद्देश्य
xxv) प्रस्तावना
xxvi) मानव विकास के अभिगम
4.3.3.1 आय/सकल घरेलू उत्पाद अभिगम
4.3.3.2 मानव पूँजी निर्माण अभिगम
4.3.3.3 मानव कल्याण अभिगम
4.3.3.4 मौलिक न्यूनतम आवश्यकता अभिगम
xxvii) मानव विकास की परिभाषा
xxviii) मानव विकास के सूचक और विकास प्रतिवेदन
xxix) मानव विकास सूचकांक का परिकलन
xxx) भारत में मानव विकास
xxxi) सारांश
xxxii) अभ्यास प्रश्नावली

4.3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य मानव विकास जैसी महत्वपूर्ण धारणा को स्पष्ट करते हुए स्वास्थ्य, शिक्षा, भोजन, जल आपूर्ति, स्वच्छता और गृह निर्माण आदि के संदर्भ में उल्लेख करना है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम में मानव विकास धारणा को परिभाषित किया गया है यद्यपि मानव विकास की अवधारणा के समक्ष अनेकानेक चुनौतियाँ है और कैसे मानव कल्याण और मौलिक न्यूनतम आवश्यकता में सामंजस्य बिठाया जा सकता है इसे भारतीय संदर्भ मे स्पष्ट करना इस अध्याय का उद्देश्य है।

4.3.2 प्रस्तावना

काफी समय से सामाजिक विज्ञान वार्तालापों में विकास का मुद्दा केन्द्रीय मुद्दा रहा है। इसकी विषय–वस्तु स्वरूप और अर्थ में प्रथम भूमंडलीय व्यवस्था के तौर पर विशेष रूप से पूँजीवादी के जाने और उसके परिपक्व होने पर काफी परिवर्तन हुए है। 33वें संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति हैरी एस.टूमेन ने 10 जनवरी 1949 को आरम्भ किए गए चार सूत्रीय कार्यक्रम में इसे जो अर्थ दिया जिसे उसकी सुनिशिचिता होने तक व्यापक स्वीकार्यता मिली है। इससे पहले इसे विशेष रूप से प्रजातियों, अचल सम्पति और शतरंज के खेल की चालों के संदर्भ में सीमित दायरे में प्रयुक्त किया जाता था। इसके बाद इसे लोगो, देशों और आर्थिक कौशल के संदर्भ में प्रयोग किया जाने लगा। शब्द के वास्तविक अर्थ में यह एक बदली हुई पारी थी। आज विकास एक व्यापक संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है। इसे राज्य के कारण, शासन को वैध बनाने वाला, सत्ता सम्बन्ध और सबसे ऊपर राज्य के दर्शन और विचाराधारा के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। तदनुरूप, विकास सिद्वांतों की बाढ़ आई, विकास समुदायों, का गठन हुआ और ' विकास युगों अथवा दशकों' का आरम्भ हुआ। तथापि, विकास बहुत से अन्य पहलुओं की अपेक्षा कुछ और अधिक सुस्पष्ट हुआ। यह शान्ति और विश्वस्तरीय शासन की स्थापना के लिए विकास के प्रयोग से सम्बन्धित था। विकसित देश जो अधिकतर पूववर्ती उपनिवेशकों जिन्हें 'नार्थ' के रूप में भी जाना जाता था, के ग्रुप से सम्बन्धित थे, कतिपय पैरामीटरों के दायरे में विकास का निर्माण करने व उसको परिभाषित करने में सफल हुए और तदोपरान्त उन्होनें सभी अन्य देशों और समुदायों को एक मात्र मानदंड से परखने की कोशिश की। वे देश और समुदाय जो मानदण्ड में निर्धारित मानकों को पूरा करने में विफल रहे, विभिन्न प्रकार के जोड़–तोड़ और विदग्ध स्थिति के अध्यधीन हो गए। अधिकांशतः ये अविष्कार इतिहास, संस्कृति तथा जनता की लोकप्रिय इच्छा के प्रतिकूल थें। एक ऐसा मानदण्ड 'मानव विकास' की धारणा एवं विचार है।

4.3.3 मानव विकास के अभिगम

बहुत से विद्वान और विचारकों में गत समय में विभिन्न समयों पर मानव विकास की धारणा बनाने और उसको परिभाषित करने के लिए विभिन्न अभिगम विकसित करने का प्रयास किया गया है। उनमें से सर्वाधिक विवादित कुछ अभिगम निम्नलिखित है :–

4.3.3.1 आय/सकल घरेलू उत्पाद अभिगम

यह अक्सर कहा जाता है कि ''परमात्मा का वास्तिविक नाम स्वर्ण है'' अथवा ''सर्वे गुण कंचनम् आश्रयन्ति''। किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र की दौलत अथवा आय केवल उसकी वांछित रूचियों की ही अच्छी सूचक नही अपितु स्वतंत्र और संभावनाओं की व्यापकता की पहचान है। दौलत किसी व्यक्ति की परिसम्पति ही नही है अपितु उसकी ऐसी व्यवस्था में पूर्णतः मौजदूगी भी दर्शाती है जहाँ होना उसके 'अस्तित्व का अवधारण' करता है। यह शायद सरलतम तथा किसी समय मानव विकास को मापने के लिए व्यापक रूप से प्रयुक्त अभिगम था। इस अभिगम के अनुसार देश का कुल (समग्र/निवल) उत्पादन उसके मौद्रिक मूल्य में परिवर्तित किया जाता है और उसे देश की कुल जनसंख्या से विभाजित कर दिया जाता है। परन्तु हाल ही में इस अभिगम की बहुत से कारणों से कटु आलोचना हुई है।

- आय मात्र एक साधन है और स्वयमेव यह अन्तिम लक्ष्य नही है। उच्च आय अवश्मेवय बेहतर गुणवत्ता वाला जीवन नही है। किसी व्यक्ति अथवा समाज का समृद्व होना अधिकतर इस तथ्य पर निर्भर करता है कि उसकी आय किस प्रयोजन में प्रयुक्त हुई न कि मात्र आय के स्तर पर। दारूबाज, बीमार व्यक्ति और लम्बे समय से युद्व और ग्रहयुद्वों से ग्रस्त देश की उच्च आय उनकी समृद्वि के बेहतर स्तर को प्रदर्शित नही कर सकती।

- आय सामाजिक परिसम्पितियों के मात्र प्रत्पक्ष पहलुओं को हिसाब में लेती है तथा यह अप्रत्यक्ष घटकों की ओर ध्यान नही देती। समृद्वि मुख्यतः किसी विशेष समाज में व्यक्ति को उपलब्ध अवसरों और उसकी क्षमताओं पर निर्भरत करती है जो बदले में ''न्यास, मानदण्ड और नेटवर्क जैसे संगठन जो समाज में किसी व्यक्ति से सम्बन्धित कार्य को बेहतर कर सकता है, लक्षण वाली सामाजिक पूँजी'' के स्वरूप पर निर्भर करता है।

- किसी विशेष समय पर किसी देश अथवा व्यक्ति की आय भविष्य में क्षमताओं और उन्नति की संभावनाओं का निर्धारण करने में अक्षम होती है, ऐसे देश जिन्होनें शिक्षा और निपुणता मुहैया कराने जैसे मानव संसाधन विकास में अच्छे निवेश किए है आय का निम्न स्तर सूचित करेंगे परन्तु भविष्य में उन देशों की तुलना में अधिक सक्षम होगे जो विद्यमान में आय के उच्च स्तर में आते है परन्तु इस प्रकार निवेश कम करते है।

- अधिकतर विषमताओं वाली उच्च समृद्वि का कम विषमताओं वाली मध्यम आय की अपेक्षाकृत निम्नस्तर दर्शाएगी। देशों के अनुभव बताते है कि मानव विकास के उच्च स्तर मर्यादित आय के स्तरों तथा मानव विकास के मलिन स्तर पर्याप्त रूप से उच्च आय के स्तरों को दर्शाते है।

सारांश के लिए यह सुरक्षित तौर पर कहा जा सकता है कि आय और मानव विकास के बीच सम्बन्ध न तो प्रत्यक्ष है और न स्वतः। आय और सकल घरेलू उत्पाद अभिगम मानव विकास के लिए आवश्यक अवश्य है परन्तु पर्याप्त शर्ते नही है।

4.3.3.2 मानव पूँजी निर्माण अभिगम

मानव पूँजि निर्माण को मानव संसाधन विकास अभिगम के रूप में भी जाना जाता है। यह मानव को अन्तिम लक्ष्य के बजाए प्रमुखतः साधन के रूप में देखता है। ये सिद्वान्त मुख्यतः आपूर्ति पक्ष पर विचार करते है और मानव को महँगी उपयोग वस्तुओं के प्रजनन के विस्तार में एक उपकरण के तौर पर लेते है एक बार पुनः कोई इस तथ्य से इंकार नही कर सकता कि प्रमुखतः मानव योग्यता ही ऐसा उत्पादन करती है जो उसे जो उसे जानवरों की बस्ती में उन्हे अन्य प्रजातियों से अलगत करता है परन्तु मानव उत्पादक क्षमताओं का बहुत ही संर्कीण दृष्टिकोण है। उपयोगी वस्तु का उत्पादन करने के अलावा मानव ने अपना निजी इतिहास भी रचा है जो अपूर्व ही नही अपितू जहाँ तक मानव योग्यता के मूल्यांकन का सम्बन्ध है सर्वाधिक महत्वूपर्ण साहसिक गाथा है। सभी वर्ग समाजों के दो प्रमुख विरोधाभासों में से एक मानव के बहुमत से इस मूल्यांकन को स्वीकार नही करता था कि वे मानव इतिहास के पन्नों में महत्वपूर्ण नायक है। विशिष्ट पहचान के रूप में मान्यता के लिए एक व्यापक न्यायनिर्णयन नितान्त आवश्यक है जो जीवन की समृद्वि और गुणवत्ता से जटिलता से जकड़ा हुआ है। यह शायद एक ऐसा संदेश है जो इक्कीसवीं शताब्दी की शुरूआत से पहले पूर्ववर्ती सोवियत संघ, युगोस्लाविया, प्रिटोरिया और ईराक आदि के पतन से स्पष्ट और प्रबल होता है कि : ''अधिकार को मान्यता दिए जाने के अलावा उसके अतिरिक्त प्रत्येक बात परक्राम्य (बातचीत से तय की जाने वाली) है।'' इस शताब्दी में पुनर्वितरण और मान्यता मानव स्वतंत्रता के दो अविभाज्य घटक बन चुक है। इस प्रकार मानव संसाधन विकास की धारणा मानव क्रियाकलापों के मात्र अल्पांश पर लागू होती है तथा अधिकांश इससे छूट जाता है।

4.3.3.3 मानव कल्याण अभिगम

इस अभिगम को आधुनिक लोकहितकारी राज्यों की परिपक्वता से लोकप्रियता मिली है। यह मानव के विकास की प्रक्रिया में भागीदारों की अपेक्षा विकास के हिताधिकारी के रूप में मानव पर अधिक केन्द्रित है। सरसरी तौर पर यह अभिगम सामान्य समृद्धि और आम की अच्छाई के हित में प्रतीत होती है। परन्तु इसके ढँाचागत तर्क पर अलोचनात्मक रूप से विचार करने पर प्रकट होता है कि विश्वभर में विभिन्न राज्यों द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न लोकहितकारी उपाय अधिकांश से वैधता और सहमति प्राप्त करने के दबाव में तुरन्त लागू किए जाते है। यह प्रमुखतः फ्रांसीसी क्रांति के बाद का परिणाम था जब सामाजिक सत्ता के स्वरूप में रूपान्तरण देखा गया। इसके बाद सर्वशक्तिमान से आम आदमी की वैधता का युगान्तर हुआ जो बदले में वर्ग शासन के रूप में सामने आया। इसके आद वर्ग शासन के साथ विश्व प्राधान्य नियंत्रण हुआ जिससे दाँचागत हिंसा द्वारा खुली तथा छोटी–छोटी शक्तियों के मिलन से अमानवीय शक्ति का इजहार हुआ। फलस्वरूप, इस नंगे अवशोषण से विश्वप्राधान्य नियंत्रण और सरकार बनाने का रास्ता खुल गया। अतः सर्वाधिक लोकहितकारी राज्य उस राज्य का घोतक है जो अपनी जनता पर नियंत्रण के लिए ढँाचागत हिंसा और छोटी–छोटी शक्तियों का प्रयोग करता है। परिणामतः अधिकांश को जो लोकहितकारी उपाय प्रतीत होते है वे विश्व प्राधान्य नियंत्रण के नितांत आवश्यक घटक और शासकीयता के पहलू है। लोकहितकारी उपायों के नाम पर विश्वभर में कई राज्यों द्वारा प्रदत्त शौक्षणिक और स्वास्थ्य सुविधाएँ ढँाचागत नियंत्रण और शासकीयता के श्रेष्ठतम उदाहरण है।

4.3.3.4 मौलिक न्यूनतम आवश्यकता अभिगम

यह सबसे महत्वपूर्ण परन्तु निर्ममता से विवादित अभिगमों में से एक अभिगम है। इसे आरम्भ में अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा विकास प्रक्रिया की पर्याप्तता के उपाय के रूप में प्रस्तुत किया गया था। अन्तरराष्ट्रीयता श्रम संगठन ने छम मौलिक आवश्यकताओं की पहचान की है जिनके नाम है – स्वास्थ्य, शिक्षा, भोजन, जल आपूर्ति, स्वच्छता और गृह निर्माण। यह आधारभूत रूप से उन वस्तुओं, पण्यों और सेवाओं की मात्रा पर केन्द्रित रहता है जिनकी अभावग्रस्त जन समुदाय को आवश्यकता होती है न कि मानव प्रमुखताओं के मुद्दे पर। यह मानव विकास जैसे इस प्रकार के संवदेनशील और मानवीय मुद्दे के प्रति इस स्थूल सत्तात्मक अभिगम के कारण है। जिसकी कइयों द्वारा आलोचना की गई है। इस अभिगम से उत्पन्न कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे है :–

- मूलभूत आवश्यकताओं का निर्धारण कौन करता है ? क्या यह जनता, सरकार अथवा राज्य का अंग है? क्यों कोई कुछ ऐसी चीजें अवधारित कर सकता है तो जिन्हें जनता मूलभूत मानें ? उदाहरण के लिए अन्तरराष्ट्रीय संगठन रोजगार को एक मूलभूत आवश्यकता मानता है, सिडनी वेव के अनुसार, इसमें विश्राम काल शामिल है, चीन में शानदार शवयात्रा है तथा अन्य लोग सुरक्षा को मौलिक आवश्यकता मानते है।
- क्या मूलभूत आवश्यकता की धारणा व्यक्तिपरक अथवा वस्तुपरक है ? यदि बाजार में किसी की प्रस्थिति के कारण मतभेद पैदा होत है तो उनका निराकरण कैसे किए जाए ? आपूर्ति पक्ष के मद्देनजर, परोक्ष रूप से जैसे भोजन, कपड़ा, मकान, जल और स्वच्छता जो बीमारी से रोकथाम के लिए आवश्यक है जैसी वस्तुओं, पण्यों तथा सेवाओं की विशिष्ट प्रमात्रा को मूलभूत आवश्यकता के रूप में माना जा सकता है। परन्तु मांग पक्ष की तरफ से, वस्तुओं के ऐसे गट्ठर को खरीदने से मतभेद हो सकत है जिस पर ऐसी सन्तुष्टि की पर्ची लगी हो जो प्रत्येक ग्राहक गट्ठर की वस्तुओं में महसूस करता है।
- क्या मूलभूत आवश्यकताएँ उन वस्तुओं और सेवाओं की विशिष्ट आवश्यकता शर्तो का हवाला देती है जो सम्पूर्ण, चिरायु और स्वरूप जीवन के लिए अवसर मुहैया कराती है। यह कल्पना करने का क्या आधार है कि उन उपभोक्ताओं, जिन्हें बाजार की पूरी जानकारी होती है, द्वारा अभिगम मूलभूत आवश्यकताएँ होते है। तथापि, इस बात को कैसे न्यायसंगत कहा जा सकता है कि मौलिक आवश्यकताओं का चयन उपभोक्ताओं की स्वतंत्र इच्छा और युक्तियुक्त पसन्द का परिणाम है तथा चयन दबाव, प्रलोभन, भय अथवा खुशामद आदि के तहत नही किया गया है।
- सहभागिता का क्या प्रयोजन है? यह किस रूप में की जानी चाहिए? सहभागिता (यदि यह मौजूद है) का अधिकार मूलभूत आवश्यकता उद्गम के दक्षतापूर्ण कार्यान्वयन के लिए आवश्यक राजनीतिक/प्रशासनिक ढँाचे से किस प्रकार सम्बन्ध रखता है? जनता की सहभागिता को उसकी शक्ति सम्पन्नता और समृद्धि के लिए प्रमुख प्रगतिशीलता के रूप में देखा जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या एक उपाया है अथवा अंत? सहभागिता क्यों करते है? क्या यह व्यक्तिगत संतुष्टि, कार्य की बड़े पैमाने पर उपलब्धि तथा उन परिणामों को बेहतर बनाने के लिए दक्षता प्रदान करती है जिससे न्यूनतम लागत, सामुदायिक विकास अथवा पारस्परिक निर्भरता आदि शामिल है। इसी प्रकार, सहभागिता का स्वरूप और आकार कैसा होना चाहिए?

- विकास और मूलभूत आवश्यकता अभिगम तथा पनुर्वितरण अभिगम के बीच क्या सम्बन्ध है ? क्या मूलभूत आवश्यकता अभिगम मूलचूल योजनाबद्व परिवर्तन आवश्यक है अथवा यह उपशामक है? सहभागिता का अभिप्राय सर्वदा शक्तिसम्पन्नता अथवा लोकतांत्रिक नही है। ऐतिहासिक अभिलेखों से सिद्व होता है कि निरंकुश शासकों और तानाशाहों ने भी अत्यधिक अप्रजातांत्रिक सांधानों के माध्यम से कार्यकर्त्ताओं, विद्यार्थियों, राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों और दार्शनिकों की सहभागिता को प्रोत्साहित किया था। भारत में पंचायत राजतंत्र के क्रियाकलापों पर बी.आर. मेहता समिति रिपोर्ट की उपलब्धियों से भी यह सिद्व हुआ कि निम्नस्तर पर शक्ति का हस्तांतरण देश में लोकतांत्रिक लोकाचार के प्रसार में अनुत्पादक सिद्व हुआ है और इस प्रकार के शासनतंत्र ने ग्रामीण शक्तियों जिन्हे कार्य करने की अतिरिक्त शक्तिप्रदान की गई हो के प्राबाल्य को पुनः समेकित किया है। तथापि, अधिकांश चुनिंदा लोकतंत्रों का आम अनुभव है कि नेतृत्व मुश्किल से जनता का प्रतिनिधित्व करता है। अधिंकाश नेता जो चुने जाते है, जोड़–तोड़ करते है तथा वे वास्तविक से जन कार्यकर्त्ता न होकर सत्ता के दलाल होते है। वे वास्तविक जन आन्दोलन की बजाए जोड़–तोड़ करके नेताओं के रूप में उभरते है। पाश्चात्य लोकतंत्रों के अनुभव से भी सिद्व होता है कि इन देशों में श्रमिक स्वेच्छाचारिता से श्रमिक वर्ग के आन्दोलनों पर अलाभकारी प्रभाव हुआ। इससे अलग इस अभिगम से पैदा होने निम्नप्रश्नों का उत्तर आवश्यक है :–
- क्या मूलभूत आवश्यकताएँ स्वयमेव एक उपसंहार है अथवा वे मानव संसाधनों के विकास के लिए एक उपस्कर है?
- भुमंडलीकरण के इस दौर में मूलभूत आवश्यकताओं की लामबंदी में भूमंडलीकरण की शक्तियों और अन्तरराष्ट्रीय समर्थन की क्या भूमिका होगी ?
- गरीबी उन्मूलन और आय की असमानताएँ कम करने के बीच क्या सम्बन्ध है?

ए.के. सेन मूलभूत आवश्यकता अभिगम के सर्वाधिक जोरदार समालोचकों में एक है। उसके अनुसार, आवश्यकता, संतुष्टि प्रसन्नता और पण्य आधारित अभिगम मात्र एक पक्षीय, दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। मानव विकास एक जटिल और बहुआयामी प्रक्रिया है तथा वह इसकी 'अवसरों' और 'क्षमताओं' के सापेक्ष में संकल्पना करता है। पण्य एक ऐसे मूल लेख की तरह है जो उनके आख्याओं और विनियोगी के लिए खुला रहता है। एक खाद्य की टोकरी जिसकी गुणवता और प्रमात्रा दी गई है, विभिन्न उपभोक्ताओं के लिए विभन्न महत्त्व रखती है। प्रदत खाद्य की टोकरी का प्रयोग और उपयोग लिंग, आयु स्वास्थ्य, उपापचय की दर, उपभोक्ता के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य स्थिति (उदाहरण के लिए एक गभवर्ती महिला और बच्चे को स्तनपान करने वाली माँ), कार्य करने के स्वरूप, कार्यस्थल की जलवायु, विभिन्न खाद्य सामग्री के पोषक मूल्य के बारे में जानकारी का स्तर और खाना पकाने के विभिन्न तरीकों के माध्यम से पोषण की हानि की दर पर निर्भर करेगा और यह सब उपभोक्ता की क्षमतानुसार अवधारित किया जाएगा। सेन यह तर्क भी देता है कि मानव विकास का निर्णय उसकी ऐसी स्वतंत्रता से नही किया जा जाता जो विभिन्न विकल्पों में किसी को भी ऐसा विकल्प चुनने का अधिकार देती है जो उसकी समृद्वि के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो। अपने तर्क के समर्थन में वह एक मोहताज भिखारी व्रत, रख रहे महन्त तथा भूख हड़ताल पर गाँधी का उदाहरण देता है उसके अनुसार, व्रत रख रहे महन्त और भूख हड़ताल पर गाँधी के पास क्षमताएँ होती है वे अपना विकल्प चुनने के लिए स्वतंत्र है। यह केवल मोहताज दरिद्र है जो अक्षम है और इसलिए उसके पास मानव विकास का निम्नस्तर है।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि मूलभूत आवश्यकता अभिगम की विद्वानों द्वारा कटु आलोचना की गई है तथा बहुत से विद्वानों ने मानव विकास को परिभाषित करने के लिए अधिक व्यापक अभिगम के पक्ष में अपने मत दिए है। सक्षमता, विकल्प और स्वतंत्रता ऐसे तीन अपरक्राम्य न्यूनतम स्वीकार्य मानदण्ड है जो कइयों द्वारा अवकथित है। परन्तु ये सभी प्रकार सब को स्वीकार्य नही हैं फॉसेस स्टीबर्ड ने सुझाव दिया है कि मानव विकास अधिक वस्तुपरक होना चाहिए और प्रेक्षणीय उपलब्धियों के सापेक्ष में निर्धारित किया जाना चाहिए न कि व्यक्तिपरक मानदण्डों जैसे प्रसन्नता, स्वतंत्रता और रूचियों आदि के परिप्रेक्ष्य में।

इन परिचर्चाओं, दावों और प्रतिदावों की पृष्ठभूमि में संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) में मानव विकास को परिभाषित एवं संकल्पित करने का प्रयास किया गया था। यू.एन.डी.पी. ने अन्तत : 1990 में मानव विकास की अपनी परिभाषा और संकल्पना प्रस्तुत की।

4.3.4 मानव विकास की परिभाषा

यू.एन.डी.पी. मानव विकास को निम्नवत मानता है :

''जनता की रूचियों के बढ़ते हुए दायरे की प्रक्रियास्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य, देखभाल, आय और रोजगार के लिए उनके अवसरों में वृद्वि करना तथा ठोस स्वास्थ्यप्रद पर्यावरण से लेकर आर्थक और राजनीतिक स्वतंत्रता तक मानव रूचियों को पूर्णरूपेण शामिल करना।''

कइयों के लिए ऐसी आम सहमति प्राप्त कर लेना बहुत ही आसान और सुगम है जिसमें मानव विकास जैसी धारणा की परिभाषा विकसित की गई हो परन्तु जहाँ तक यू.एन.डी.पी. का सम्बन्ध है यह एक सुगम और आसान सा प्रयास नही था। यू.एन.डी.पी. द्वारा तैयार की गई मानव विकास पर प्रथम रिपोर्ट में इसे निम्नवत् स्पष्ट किया गया था :

''यह रिपोर्ट जनता और इसके बारे में है विकास अपनी रूचियों में किस प्रकार वृद्धि करें। यह सकल घरेलू उत्पादन में वृद्धि आय तथा धन और पण्यों के उत्पादन पूँजी संचालन से अधिक है। आय के प्रति एक व्यक्ति की पहुँच उसकी रूचि हो सकती है परन्तु यह मानव व्यवहार का कुल जोड़ नही है।''

''मानव विकास जनता की रूचियों को बढ़ाने की प्रक्रिया है। इन व्यापक दायरे वाली रूचियों का सर्वाधिक आलोचनात्मक पहलू स्वस्थ और लम्बा जीवन, शिक्षाग्रहण करना तथा शानदार जिन्दगी जीने के लिए आवश्यक संसाधनों तक पहुँच होना है। अतिरिक्त रूचियों में राजनीतिक स्वतंत्रता, अभिनिश्चित मानव अधिकार और व्यक्तिगत आत्मसम्मान शामिल है।''

दूसरे मूल मुदे जिनकी रिपोर्ट में चर्चा की गई, निम्नवत् है :–

- विकास से जनता को ये रूचियों प्राप्त होती है यद्यपि कोई दूसरे को प्रसन्नता अभिनिश्चित नही कर सकता है।
- विकास का लक्ष्य होना चाहिए जनता के लिए लाभकारी पर्यावरण जिससे वे अपनी क्षमताओं का पूरी तरह विकास कर सकें और अपनी आवश्यकता और रूचियों के अनुरूप उत्पादक और सृजनात्मक जीवन के लिए युक्तियुक्त अवसर प्राप्त कर सकें।
- विकास में सुधरे हुए स्वास्थ्य और ज्ञान जैसी मानव क्षमताओं के गठन पर अधिक ध्यान देना चाहिए तथा हमारे सामाजिक जीवन के सभी संभावित क्षेत्रों में इन क्षमताओं को प्राप्त करने में ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।
- मानव विकास के लिए मानव स्वतंत्रता एक सजीव घटक है। जनता को अपनी रूचियों को अभिव्यक्त करने की स्वतंतत्रता होनी चाहिए।
- मानव विकास मात्र मूलभूत आवश्यकताओं को पुरा करना ही नही है। अपितु सहभागिता और गतिशील प्रक्रिया के रूप में मानव विकास करनी भी है। यह विकसित और विकासशील देशों, दोनो, पर लागू होता है।
- रिपोर्ट का अन्य और सबसे महत्वपूर्ण पहलू था मानव विकास के कतिपय मुख्य सूचकों की पहचान, उनका मापन और विश्व के सभी देशों के लिए मानव विकास सूचकांक तैयार करना।

4.3.5 मानव विकास के सूचक और विकास प्रतिवेदन

विश्व स्तर पर 'संयुक्त राष्ट्र' विकास कार्यक्रम सभी देशों के लिए मानव विकास प्रतिवेदन तैयार करने के लिए एक सर्वोत्कृष्ट निकाय था। यह महसूस किया गया था कि एकमात्र मानदण्ड अर्थात् सकल घरेलू उत्पाद पर उसे तुलनात्मक आधार पर लागू किए गए जाने के कारण बहुत–सी सीमाएँ थी। बहुत से विद्वानों ने अधिक व्यापक सामाजिक–आर्थिक उपाय की ओर ध्यान दिया क्योंकि उनका विश्वास था कि :–

''मानव विकास जनता से सम्बन्ध रखता है – और इस बात से सम्बन्धित है कि विकास के दौरान उसकी रूचियों में किस प्रकार वृद्धि होती है। यह सकल घरेलू उत्पादन में वृद्धि से अधिक और धन से अधिक तथा पण्यों के उतपादन तथा पूँजी संचय से अधिक के विषम में है। आप तक पहुँच किसी एक व्यक्ति की रूचि हो सकती है परन्तु यह मानव प्रयास का कुल जोड़ नही है।''

1990 का प्रतिवेदन इस दिशा में प्रथम प्रयास था। इस प्रतिवदेन में मानव जीवन के तीन आवश्यक घटकों का पता चलाः दीर्घ आयु, ज्ञान और शालीन जीवन स्तर।

दीर्घ आयु

जन्म के समय दीर्घायू की कामना दीर्घायू को मापने का सूचक है। दीर्घायू की कामना के लिए सैद्वान्तिक न्यायसंगता इस आत्मविश्वास में निहित है कि मानव जीवन सर्वाधिक कीमती है और लम्बा जीवन सभी मानवीय उपलब्धियों में मूल्याविहीन है, यह साधन और अन्त दोनों है। दीर्घायू पर्याप्त पोषण, अच्छी सेहत और व्यक्तिगत सुरक्षा से निकट से जुड़ी हुई है।

ज्ञान

ज्ञान की शक्ति है। यह एक पुरानी कहावत है। साक्षरता सीखने और ज्ञानवर्द्वन में व्यक्ति का प्रथम कदम है। अतः एक साक्षर व्यक्ति बिना पढ़ें लिखे व्यक्ति की तुलना मे सत्ता के पास अधिक पहुँच रखता है। तथापि, सूचना प्रौधागिकी के युग में साक्षरता का महत्व और बढ़ गया है क्योंकि इस व्यक्ति की उपलब्धि नही माना जाता अपितु यह किसी के अस्तित्व का आधार है।

शालीन जीवनस्तर

यह एक स्वीकृत तथ्य है कि शालीन जीवनस्तर के लिए संसधानों पर नियंत्रण आवश्यक है परन्तु इसकी माप करना बहुत मुश्किल है। सर्वाधिक तुरन्त उपलब्ध सूचक प्रतिव्यक्ति आय है। परन्तु इसका राष्ट्रीय विस्तार क्षेत्र व्यापक है और इसमें बहुत–सी अन्य गंभीर विसगंतियोके साथ–साथ विभिन्नताएँ है। अतः प्रतिव्यक्ति क्रयशक्ति समायोजित वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद से सापेक्ष शक्ति का बेहतर अनुमान लग जाता है जिससे पण्यों की खरीद तथा उच्च मानक जीवनस्तर के लिए संसाधनों पर नियंत्रण किया जा सकता है।

यह समझा जाता है कि उपरोक्त तीनों सूचकों की गंभीर सीमाएँ है जो औसतों जिन पर आधारित है के विशाल पैमाने पर सामान्यीकरण के स्तर के कारण है। ये औसत बिकनी की तरह है जो प्रकट करने योग्य को छिपाती है और छिपाने योग्य को प्रकट करती है। उसी समय ये क्षेत्रीय, लैंगिक, ऐतिहासि और वर्ग मतभेदों जो इन सूचकों के मापन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, के प्रति भी कम संवेदनशील है। तथापि, वृद्धि के विरूद्व मानवीय विकास की प्रास्थिति के लिए इसकी आलोचना भी की गई है। यह क्षेत्रीय अपितु समग्र वृद्धि पर अधिक जोर देता है और इसका गरीब देशों के प्रति झुकाव विकसित देशों के मामले में इसकी प्रायोगिकता को न्यूनतम कर देता है।

यद्यपि, मानव विकास की समग्र संकल्पनशीलता और परिभाषाओं में अभी तक कोई परिवर्तन नही हुआ तदापि 1992 के प्रतिवेदन में विशेष ध्यान मानव विकास को किन्ही अन्य महत्वपूर्ण संघटकों से जोड़ने पर दिया गया था। इन संसाधनों में स्थायी विकास की धारणा, प्रतिस्पर्द्धात्मक और दक्षतापूर्ण बाजारों के माध्यम से सभी लोगों की सृजनात्मक ऊजाओं को प्रकट करना तथा ऐसी विभेदकारी व्यापार नीतियों विशेष रूप से विकसित देशों जो अमीर और गरीब देशों के बीच विसंगितयों और विकासशील देशों में मानव विकास निम्नस्तर बनाए रखने के लिए सर्वाधिक जिम्मेवार है, द्वारा अपनाई गई आव्रजन नीति शामिल थी। इस प्रतिवेदन के विशेषरूप से उल्लेखनीय तथ्य निम्नवृत थें :

''हाल के दशकों के महान् पाठों में से एक पाठ यह है कि मानव विकास के लिए प्रतिस्पर्द्धात्मक बाजार सर्वोत्तम गारण्टी है। वे सृजानात्मक उद्यमों के लिए अवसर प्रदान करते है तथा सम्पूर्ण आर्थिक रूचियों तक जनता की पहुँच में वृद्धि करते है।''

अमीर देशों द्वारा अनुमानित विभेदकारी और कम प्रतिक्रियात्मक अभिगमों को भी मान्यता दी गई थी। प्रतिवेदन में चर्चा की गई है कि :–

''यह एक कठोर निर्णय है कि लोक उद्यमों को निजीकरण के लिए खोला जा रहा है। उपभोक्ता मांगे केन्द्रकृत नियोजन को प्रतिस्थापित कर रही है और भूमंडलीय बाजार सीमित है। विकसित देश गरीब देशों के उत्पादों के लिए अपने बाजार नही खोल रहे है।''

इस प्रकार इस प्रतिवेदन में बाजार और मानव विकास को एक–दूसरे के साथ जोड़ा गया था अन्तिम तीन सालों के प्रतिवेदन और 1993 में प्रकाशित प्रतिवेदन से हटकर कुछ युगान्तरण हुआ था। 1993 के मानव विकास और प्रतिवेदन में जनता की सहभागिता और सुरक्षा मुख्य मुद्दे थे। इसमें मानव विकास के लिए न्यूनतम शर्तो के रूप में प्रगतिपूर्ण लोकतंत्र और जनता के शक्तिवर्द्धन पर भी बल दिया गया था। प्रतिवेदन से पता चला कि ''विकास जनता के चारों तरफ किया जाना चाहिए न कि विकास के चारों तरफ जनता''। यह बताया गया था कि विकास की शक्ति जनता की शक्ति में सन्निहीत है। प्रतिवेदन में शान्ति लाने और मानव विकास करने में ''सिविल सोसाईटियों'' की बेहतर रचनात्मक भूमिका को मान्यता दी गई थी। प्रतिवेदन के अनुसार ''एक स्पन्दनशील और जागरूक समाज को राष्ट्र की अपेक्षा व्यक्ति की सुरक्षा पर अधिक बल देना चाहिए''। इसे सैनिक खर्च में कटौती, सशस्त्र सेनाओं के वियोजन, रक्षा से हटकर मौलिक वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन तथा विशेष रूप से निरस्त्रीकरण और विकसित देशों द्वारा नाभिकीय युद्वों में कमी आदि के लिए मत निर्माण हेतु कार्य करना चाहिए। नाभिकीकृत विश्व में शान्ति और समृद्धि मुख्य भूमंडलीय चिन्ताएँ है। जब तक विशाल पैमाने पर विनाश की आंशकाएँ हमारे सिर पर मंडरा रही है, असुरक्षा और आंशकाएँ विश्वभर में शान्ति, सद्भावना और साथी मानव के प्रति सहानुभूति प्रकट नही होने देंगी। इसमें इसकी भी स्वीकोक्ति हुई कि तानाशाही और सैनिक शासक मानव विकास के लिए महानतम् खतरे है। इसके प्रतिकूल संवेदनशील समाज शान्ति और मानव विकास के लिए अपेक्षिाकृत बेहतर अवसर सुनिश्चित करता है।

1993 के प्रतिवेदनर में जिस युगांतरण की अवधारण की गई थी उसे 1994 और 1995 के प्रतिवेदनों में समेकित कर दिया गया था। स्थायी विकास एक नया आलाप था। इसने स्वंय जीवन को नया अर्थ दिया। प्रतिवेदन में चर्चा की, ''यह जीवन का मूल्यांकन नही करता है क्योंकि यह भौतिक सामान का उत्पादन करता है परन्तु यह स्वयं मानव जीवन का मूल्यांकन करता है। '' इसने सभी प्रकार के विभेदनों को समाप्त करने के लिए शुरूआती स्वीकारात्मक कदम बढ़ाए। 1994 के मानव विकास पर प्रतिवेदन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू कार्यप्रणाली और विभिन्नता से सम्बन्धित मानव विकास के सूचकांक के निमार्ण में धारणागत परिवर्तन थें।

''कोई बच्चा लघु जीवन औा मायूस जीवन के लिए मात्र इसलिए निर्दिष्ट नही होना चाहिए कि उस बच्चे ने गलत वर्ग अथवा गलत देश अथवा गलत लिंग से जन्म लिया है।'' इसमें उन सुरक्षा तंत्रों का ब्यौरा भी दिया गया है जो विश्वव्यापी जीवन के लिए खतरा बने हुए है तथा प्रत्येक प्रकार की सुरक्षा जैसे आर्थिक, भोजन, स्वास्थ्य, पर्यावरण, वैयक्तिक,

सामुदायिक और राजनीतिक सुरक्षा का सुझाव दिया है। तथापि, अन्तरराष्ट्रीय आंतकवाद को भी पहली बार मानव समृद्धि और मानव विकास के लिए महत्वपूर्ण खतरे के रूप में मान्यता दी गई थी।

1995 के मानव विकास प्रतिवेदन का प्रकरण लिंग समानता था। सभी को समान अवसर विशेषतः औरतों का समान अवसर मुख्य चिंता का विषय था। यह चर्चा की गई थी कि, ''मानव विकास को यदि जन्म न हो तो वह खतरा बन सकता है''। प्रतिवेदन की उपलब्धियों आश्चर्यजनक परन्तु सच थी। प्रतिवेदन में दी गई कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियों निम्नवत् है :–

- ''गरीबी का चेहरा नारी का चेहरा होता है'' – मोटे तौर पर विश्व में 70 प्रतिशत नारियाँ गरीबी में जीवनयापन कर रही है।
- लिंग समानता दूर करने का राष्ट्रीय आय से कुछ लेना देना नही है।
- जहाँ शिक्षा और स्वास्थ्य के अवसर नारियों के लिए तेजी से उपलब्ध है वही आर्थिक और राजनीतिक अवसरों के द्वारा मुश्किल से आधा खुल पाए है।
- नारियों बैंकिंग संस्थाओं से कुल श्रेय का अपेक्षाकृत कम हिस्सा प्राप्त करती है। यह लैटिन अमेरिका के मामलों में 7.11 के प्रतिशत में निम्नस्तर तक है।
- सभी क्षेत्रों में नारियों की बेरोजगारी दर अधिक है।
- विकासशील देशों में नारियों प्रशासन और प्रबन्धन कार्यो में मात्र 1/7वाँ हिस्सा है।
- नारियों संसद में 10 प्रतिशत तथा कैबिनेट मंत्रियों के रूप में 7 प्रतिशत पर आसीन है।
- 55 देशों में संसद में या तो कोई नारी नही है अथवा इनकी प्रतिशतता 5 प्रतिशत से कम है।
- अनदेखा करने के प्रमुख सूचकांक से पता चलता है कि नारियों द्वारा अर्थव्यवस्था में दिए गए अधिकतर अंशदानों का समग्र रूप से या तो कम मूल्यांकन किया जाता है अथवा बिल्कुल मूल्यांकन नही किया जाता। इस प्रकार की चूक प्रतिवर्ष 11 अरब डॉलर तक है।
- नारियों के विरूद्व विभेदन तथा उनका अवमूल्यांकन उनके जन्म से पहले ही शुरू हो जाता है। यह जीवन के आरम्भ से प्रारम्भ होकर जीवन के अंत तक बना रहता है। बारबाडोस, कनाड़ा, नीदरलैंड, न्यूजीलैंड, नार्वे और संयुक्त राज्य अमेरिका में एक तिहाई नारियों अपने बचपन में ही लैंगिक दुर्व्यवहार का शिकार होती है। एशिया में 1 अरब से अधिक बच्चें में जिनमें अधिकतर लड़कियों है प्रतिवर्ष वैश्यावृत्ति के लिए मजबूर की जाती है।
- नारियों के प्रति हिंसा विवाहोपरान्त जारी रहती है। कुछ देशों में दो–तिहाई विवाहित नारियों घरेलू हिंसा का शिकार है। कभी–कभी यह हिंसा बलात्कार के रूप में सामने आती है। कनाड़ा, संयुक्त राज्य अमेरिका, न्यूजीलैण्ड और ब्रिटेन में प्रत्येक 6 नारियों में से एक नारी अपने जीवनकाल में बलात्कार का शिकार होती है। कभी–कभी इसका अन्त हत्या अथवा आत्महत्या के रूप में होती है।

तथापि 1995 के मानव विकास पर प्रतिवेदन का सबसे महत्वपूर्ण पहलू विभिन्नता से सम्बन्ध्धित कार्यप्रणाली और मानव विकास सूचकांक के निर्माण में धारणागत परिवर्तन थे। इस प्रतिवेदन में दो परिवर्तन किए गए थे।

पहला परिवर्तन ज्ञान और जागरूकता के स्तर से सम्बन्धित था। 1994 तक साक्षरता के स्तर के प्राक्कलन के लिए सूचक के रूप में स्कूल जाने की औसत आयु का स्थान संयुक्त, प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक स्तर के पंजीकरण अनुपात में लिया था।

दूसरा परिवर्तन आय का न्यूनतम मूल्य प्रतिव्यक्ति 200पीपीपी डॉलर से घटाकर 100पीपीपी डॉलर कर दिया गया था।

अंततः प्रतिवेदन का उपसंहार था कि यदि आधी मानवता लैंगिक विभेदन से त्रस्त है तो मानव विकास की बात करना बकवास ही नही अपितु लैंगिक हिस्सा करने जैसा है। प्रतिवेदन में इस स्थिति को पूरी गंभीरता से लिया गया और मानव विकास सूचकांक के साथ–साथ लिंग निरपेक्ष संवेदना सूचकांक अथवा लिंग सम्बन्धी विकास सूचकांक परिकलित करने की प्रक्रिया आरम्भ की।

तत्पश्चात् वर्ष में प्रकाशित प्रतिवेदन ने आर्थिक वृद्धि के मुकाबले मानव विकास को अधिक महत्व दिया। इस की मान्यता थी कि ''मानव विकास अन्तिम लक्ष्य है तथा आर्थिक विकास उपाय''। परन्तु इसमें यह चेतावनी भी दी गई कि इन दोनों के बीच कोई प्रत्पक्ष सम्बन्ध नही है। वस्तुतः अन्तिम 15 वर्षो के निष्पादन के आधार पर प्रतिवेदन का उपसंहार था कि कुछ देशों में विकास में प्रत्याशित वृद्वि हुई परन्तु कुछ देशों ने अप्रत्याशित पतन दर्ज किया। परिणामस्वरूप, विसंगतियों में वृद्वि हुई है जिससे एक अन्यथा एक–ध्रुवीय विश्व में दो एकदम प्रतिकूल विश्वों का प्रादूर्भाव हुआ। इससे यह भी पता चला कि 1993 में 23 खरब डॉलर भूमंडलीय सकल घरेलू उत्पाद मकें से 18 खरब डॉलर विकसित देशों में थे तथा मात्र

5 खरब डॉलर विकासशील देशों में थें यद्यपि पूर्ववर्ती स्थिति में विश्व की 80 प्रतिशत जनसंख्या शामिल थी। इसने चेतावनी दी कि मानव विकास में अल्पकालिक प्रगतियों संभव है परन्तु वे आगे वृद्धि के बिना टिक नही सकती। विलोमतः मानव विकास के बिना आर्थिक वृद्धि स्थायी नही हो सकती।

1991 में प्रतिवेदन में गरीबी उन्मूलन को मानव विकास के लिए आवश्यक कदम के रूप में मान गया। इसके केन्द्र में मात्र गरीबी की परिभाषा से व्यापक रूप से सहमत होने के अलावा जैसाकि 1990 के मानव विकास प्रतिवेदन में कहा गया था। इस प्रतिवेदन में ''राजनीतिक स्वतंत्रता, मानव अधिकार और आत्म सम्मान'' की अतिरिक्त रूचियाँ शामिल थीं जिनमें आदम स्मिथ की उक्ति'' सार्वजनिक रूप से बिना किसी धर्म के सबके साथ मिल जाने की योग्यता'' को मानव विकास के संघटक के रूप में सम्मिलित किया गया था। इसने आलोचनात्मक रूप से गरीबी के तीन पहलुओं पर दृष्टिपात किया :

- आय परिप्रेक्ष्य,
- मूलभूत आवश्यकता परिप्रेक्ष्य, और
- सक्षमता परिप्रेक्ष्य।

इस प्रतिवेदन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू दुर्व्यवहार के मानदण्ड को रेखांकित करना था जो क्षमता निर्माण और समृद्धि के मापन के निर्धारण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इनमें निम्नवत् शामिल है :

– अक्षम (अंधा, अपंग, मानसिक रूप से अक्षम और दीर्घकालिक मरीज) होना,
– भूमि, पशु, खेती के उपस्कर, पिसाई मिल आदि की कमी,
– अपने मृतक सम्बन्धियों को दफनाने की अक्षमता,
– अपने बच्चों को स्कूल भेजने की अक्षमता,
– खिलाने के लिए अधिक मुँह तथा सहायता के लिए कम हाथ होना,
– परिवार में सक्षम सदस्यों की कमी जो आपात्काल में उनके परिवार का भरण पोषण कर सकें,
– विनाशकारी आदतों (जैसे शराब, मदिरा आदि का सेवन) के प्रभावों से पीड़ित होना,
– 'विवश जनता' को सामाजिक समर्थन न मिलना,
– बच्चों को राजगार पर रखनाा,
– माता–पिता में से एक होना,
– निम्नस्तरीय कार्य को स्वीकार करना,
– साल के कुछ महीनों के लिए भोजन संरक्षण,
– साझा सम्पत्ति संसाधनो पर निर्भर रहना।

इस प्रतिवेदन का महत्वपूर्ण लक्षण था कि विकसित तथा विकासशील देशों के लिए क्रमशः मानव गरीबी सूचकांक–1 और सूचकांक–2 तैयार करना। यह मानव जीवन के तीन संघटकों से अपवचन कर केन्द्रित था– दीर्घायु, ज्ञान और उच्च मानक जीवनस्तर जिन्हें मानव विकास सूचकांक में पहले ही समझाया जा चुका है। यह अपवचन निम्न तीन सूचकों से संबधित था।

- उत्तर जीवन सम्बन्धी अभाव– अपेक्षाकृत जल्दी उम्र में मौत की आशंका,
- ज्ञान संबंधी – पठन और संचार की दुनिया से बहिष्कार,
- गरीबी रेखा से नीचे उच्च जीवनस्तर संबंधी।

1948 का प्रतिवेदन पूर्व प्रतिवेदनों के मुकाबले एक से अधिक अर्थो में भिन्न था। सभी पूर्व प्रतिवेदनों में चिन्ता के मुख्य विषय खपत को बढ़ाने और मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर केन्द्रित था। इस प्रतिवेदन में कुछ देशों द्वारा जो विश्वभर में समृद्धि के निम्नस्तर के लिए उत्तरदायी थे, खपत के अवैध तरीकों पर दोष लगाया गया। इस प्रकार, इसमें कल के मानव विकास के लिए आज के खपत के तरीके को बदलने पर बल दिया गया। प्रतिवेदन में विशेष रूप से उल्लेख है कि विश्व की खपत 20 वीं शताब्दी पर अप्रत्याशित रूप से बढ़कर 25 खरब डॉलर तक पहुँच गई जो 1975 में 12 खरब डॉलर, 1960 में 4 अरब डॉलर तथा 1900 में 1.5 खरब डॉलर थी। खपत मानव विकास के लिए एक आवश्यक साधन है परन्तु इसका सम्बन्ध स्वयमेव नहीं है। भूमंडलीय खपत के वर्तमान दौर से पता चलता है कि यह विकसित देशों में अधिक हुई जिससे विकासशील देशो में सृमद्धि का स्तर मुख्यतः निम्न कारणों से प्रभावित हुआ हैः

- अमीरों द्वारा खुल्लम खुल्ला, और अवेध खपत से पण्य बाजार में पण्य की दुर्लभता की स्थिति बन गई है जिससे पुण्यों के मूल्य ऊपरी तौर पर इतने बढ़ गए है जिससे वेआम आदमी की पहुँच से बाहर हैं।
- इससे केवल वर्तमान में ही कमी नहीं आई अपितु भावी पीढ़ियों के लिए स्थिति और अधिक बिगड़ने की संभावना है।
- वर्तमान खपत प्रतिदर्श मानव विकास के प्रतिकूल हो चुके हैं क्योंकि ये पर्यावरण संरक्षण आधार की और ध्यान नहीं दे रहा है। अतः भावी पीढ़ियों की उम्मीदें अपंग हो रही है।
- इसके फलरूवरूप स्थान तथा पीढ़ियों की असमानताएँ बढ़ती जा रही है।
- खपत–गरीबी–असमानता–पर्यावरणीय अधोपतन के बीच एक प्रबल सम्बंध विद्यमान है।
- पर्यावरण प्रदूषण, परिस्थितिजन्य संकट खपत से स्वभावतः सम्बन्धित है।
- स्थायी विकास उत्पादन प्रौद्यौगिकी में परिवर्तन पर आधारित होना चाहिए।
- खपत प्रतिदर्शो में परिवर्तन के लिए, विकसित देशों द्वारा अपने उत्पादकों को दी जा रही आर्थिक सहायता में कमी आवश्यक है।
- स्थायी विकास के लिए मानसिक स्थिति में परिवर्तन आवश्यक है। 21 वीं शताब्दी में मानव विकास का मूलमंत्र ''चिंतन विश्व का और कार्य स्वयं का'' में निहित है।

20 वीं शताब्दी की पराकाष्ठा अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में भूमंडलीकरण के समेकन की साक्षी थी। अतः इसका अनुपालन करने का सर्वोतम तरीका इसके मानवीय आयाम पर बल देना था। यद्यपि भूमंडलीकरण अब एक नया घटनाक्रम नहीं है, फिर भी हाल की परिस्थितियाँ एक उपयुक्त लक्षण हैं। बर्लिन की दीवार के गिनने तथा लौह पट के पतन के पहले समाजवादी विश्व के एक बड़े भाग का अन्त ही नहीं हुआ, अपितु इससे स्थान, समय का संकुचन तथा सीमाओं की समाप्ति भी हुई। ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो विश्व सिकुडकर एक छोटा–सा भूमंडलीय गॉव मन गया है जिसमें जनता का जीवन अधिक अर्थपरक, गहन और त्वरित हो गया है। जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। भूमडलीकरण मानव प्रगति के लिए नए अवसर प्रदान करता है परन्तु इसका लाभ उन्हीं को मिल सकता है जिनका शासन सुदृढ़ हो अर्थात् जो नए बाजार, नए औजार और तकनीकी, नए कार्यकर्ता, नए नियम और अन्ततः नए लोगो से सुसज्जित हों यह भूमंडलीकरण का युग है जहाँ कवेल शक्तिशाली को बने रहने का अधिकार हे। भूमंडलीय स्पर्धा का भयानक और अदमनीय दबाव मानव विकास के अदृश्य दिल को दबा रहा है। अतः इसके समग्र सुरक्षा पर्यावरण पर गंभीर परिणाम हो सकते है। इसलिए प्रतिवेदन में मानव विकास को मानवीय चेहरा मुहैया कराने की आवश्कता पर विचार किया गया था।

2000 का प्रतिवेदन मानव अधिकार,स्वतंत्रा और समेकन के प्रति ऐसी प्रबल वचनबद्वता के साथ आगे बढ़ा जिसे पर कोई सामंजस्य न हो तथा जिससे भूमंडलीकरण मानवीय स्पर्श के सम्पर्क में रहे। इसमें कहा गया था कि मानव अधिकार और मानव विकास प्रत्येक जगह जनता की स्वतंत्रता, समृद्वि और प्रतिष्ठा के अभिरक्षण के लिए समान दृष्टि और समान प्रयोजन वाले है।

इसमें निम्नलिखित की बात की गई थीः

- लिंग, जाति, प्रजाति, राष्ट्रयता, उद्गम और धर्म के विभेदन से स्वतत्रता,
- व्यक्तिगत सुरक्षा को भय की आशंका, प्रतीड़न, स्वैच्छिक गिरतारी तथा अन्य हिंसात्मक कार्यो से स्वतंत्रता,
- मानव क्षमताओं के विकास और उसे महसूस करने की स्वतंत्रता ,
- अन्याय और कानून के नियम के उल्लघन से स्वतंत्रता,
- विचार और संभाषण तथा निर्णय लेने और संगठन बनाने में सहभागिता की स्वतंत्रता, और
- शोषण के बिना श्रेष्ठ कार्य करने की स्वतंत्रता।

इस प्रतिवेदन में मानव विकास की एक परिवेष्टित परिभाषा को भी विकसित करने का प्रयास किया गया है। मानव विकास का अर्थ हैः

''एक उच्च जीवनस्तर के लिए संसाधनों तक पहुँच होना। परन्तु मानव विकास के क्षेत्र को रूचियों के उन अन्य क्षेत्रां तक बढ़ाया जा सकता है जिनका उचित मूल्यांकरन किया गया है। इन क्षेत्रों में सहभागिता, सुरक्षा, स्थायित्व? अभिनिश्चित मानव अधिकार जिनकी रचनात्मक और उत्पादक होने के कारण तथा आत्मसम्मान बनाए रखने के लिए सभी को आवश्यकता है, शक्ति सम्पन्नता और एक समुदाय से सम्बन्धित होने को बोध शामिल है।''

और अंत में मानव विकास को एक वाक्य में परिभाषित किया जा सकता है–''जनता का विकास, नजता के लिए और जनता द्वारा''

2001 के मानव विकास प्रतिवेदन में मानव विकास को प्रौद्योगिकी से जोड़ने की कोशिश की गई। इसमें स्वीकारोक्ति थी कि प्रौद्योगिक नेटवर्क विकास के परम्परागत नक्शे का रूप बदल रहे है। यह जनता के अनुभव स्तर का विस्तार कर हरी है और ऐसी क्षमताओं का सृजन कर हरी है जिससे एक दशक की प्रगति एक सप्ताह के काल में प्राप्त की जा सके जिसकी पूर्व पीढ़िया गत समय में अपेक्षा करती थी। परन्तु प्रौद्योगिकी एक दुधारी तलवार है। दूसरे शब्दो मेंयह एक अच्छी नौकर परन्तु निरंकुश मालिक है। प्रथमतः विश्व के कुछ शक्तिशाली देशों द्वारा इसके प्रयोग और इस पर नियत्रंण है जिससे अन्य अनेक देश स्थायी पराधीनता की स्थिती से पराभव हुए हैं और किसी राष्ट्र के प्रापिक सिरे पर अप्रचलन और फालतूपन की आशंका से लगातार ग्रसित है, अन्ततः तीव्र गति से बदल रहे विश्व में स्थायी तौर पर अयोग्य हो जाते है। इससे व्यक्ति के बीच समृद्वि और आत्मसम्मान का भाव गंभीरता से प्रभावित होता है।

2002 का प्रतिवेदन मानव विकास को नया आयाम देता है। यह रणनीति और मानव विकास विषयक है। यह बताता है कि राजनीतिक सत्ता और संसाधन –उचित अथवा अनुचित, राष्ट्रीय अथवा अंतराष्ट्रीय जो भी हो किस प्रकार मानव प्रगति को नया रूख देते है। इसमें बिखरे हुए विश्व लोंकतंत्रों को मजबूत बनाने के बारे में चितन किया गया है। इस प्रतिवेदन के अनुसार लोकतंत्र को जनता को शक्तिसम्पन्न बनाता है, जनता के विश्वास और संसाधनों पर निर्मित किया जाना चाहिए और इसे वापस नहीं किया जा सकता। यह अधिकार में व्याप्त लोकतंत्र के एक स्वरूप के विरूद्व है। ''लोकतंत्र जिसे कोई राष्ट्र अपने विकास के लिए चुनता है उसके इतिहास, और परस्थितियों पर निर्भर करता है तथा ऐसे देश अवश्यमेव विशिष्ट प्रकार के प्रजातांत्रिक देश होंगे।'' मतभेद का समान लोकतंत्र और विकास का ह्रदय होता है।

2003 का प्रतिवेदन '' शताब्दी विकास लक्ष्य : मानव गरीबी को समाप्त करने के लिए राष्ट्रो में साँठ–गाँठ '' नियत करके एक जोरदार शुरूआत करता है। राज्यों के प्रमुखों द्वारा की गई घोषणा के अनुसार, यह सभी देशों के लिए बाध्यता है कि, ''अपर्याप्त आय, बहुव्याप्त भूख, लिंग, असामानता, पर्यावरीणीय गिरावट तथा शिक्षा की कमी, स्वास्थ्य जागरूकता और स्वच्छ जल पर हमला किया जाए। उन्होंने ऋण को कम करने तथा आर्थिक सहायता बढ़ाने, व्यापार तथा गरीबी देशों को प्रौद्योगिकी हस्त्ाानान्तरण के कार्यो को भी शामिल किया है।'' कुछ महत्वपूर्ण शताब्दी विकास लक्ष्य और ध्येय जिन्हें प्रतिवेदन में रेखाकित किया गया है निम्नवत् है :

लक्ष्य	ध्येय
अत्यधिक गरीबी तथा भूख का उन्मूलन	1190 और 2015 के बीच ऐसे लोगों की संख्या में 50 प्रतिशत की कमी जिनकी आय 1 डॉलर से कम है।
	भूख से त्रस्त लोगों की संख्या में भी उसी प्रतिशतता से कमी ।
सार्वभौमिक तौर पर प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना	यह सुनिश्चित करना कि सभी बच्चे 2015 प्राथमिक शिक्षा तक पूरी कर लेंगे।
लिंग समानता को प्रोत्साहित करना था नारियों को शक्ति सम्पन्न बनाना	प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में 2005 तक तथा सभी स्तरों पर 2015 तक लिंग असमानता को समाप्त करना।
शिशु मृतक दर में कमी लाना	1990–2015 के बीच 5 वर्षो से छोटे बच्चों की मृतक दर दो–तिहाई तक कम करना।
माँ के स्वास्थ्य में सुधार करना	1990–2015 तक माँ मृतक दर का अनुपात तीन चौथाई तक कम करना।
एच आई वी/एडस मलेरिया और अन्य बीमारियों का मुकाबला करना	पर्यावरणीय नीतियाँ बनाना जिससे राष्ट्रीय नियोजन का आधार बने और पर्यावरीण पतन की प्रक्रिया को उलट देना।
	उन लोगो का अनुपात 50 प्रतिशत करना जिनकी स्वच्छ पेय जल तक स्थायी पहुँच नहीं हैं
	2020 तक गन्दगी बस्तियों में रहने वाले 1 अरब प्राणियों की दशा में सुधार करना।

भूमंडलीय सहभागिता और विकास को बढ़ावा देना	एक मुक्त, ग्रामीण आधारित अविभेदकर व्यापार तंत्र को विकसित करना।
	न्यूनतम विकसित देशों की आवशयकताओं का ध्यान रखना
	सीमित भूमि वाले देशों और लघु द्वीप राज्यों की आवश्यकताओं का ध्यान रखना।
	विकासशील देशों की ऋण समस्याओं को व्यापक रूप से हल करना
	नौजवानों के उत्पादक रोजगार के लिए विकसित देशों से सहयोग लेना।
	ग्रीब देशों को सस्ती और आवश्यक औषधियों का प्रावधान करना।
	नए उत्पादन और सूचना प्रौद्यागिकी को फैलाने के लिए निजी क्षेत्र के साथ सहभागिता करना।

सयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा प्रस्तुत मानव विकास प्रतिवदनों पर वार्त्तालाप और उनके रंगभेद सर्वेक्षण में स्पष्ट है कि प्रतिवेदन में उन सभी संभावित पहलुओं को शामिल करने का प्रया किया गया है जो विश्वभर में मानव विकास और समृद्धि की चिंता का विषय रहे है। प्रतिवेदन में उन नई चुनौतियों के बारे में भी जानकारी करने का प्रया किया गया है जो विश्वभर में मानव समृद्धि, शांति, सुरक्षा और स्वतंत्रा के लिए खतारा है। परन्तु यह तथ्य चौंकाने वाला है कि अन्तिम मानव विकास सूचकांक के परिकलन के लिए मात्रतीन सूचको का चयन किया गया था।

पहले यह भी चर्चा की जा चुकी है कि यू.एन.डी.पी. बहुआयामी घटनाक्रम जैस मानव विकास के मापन के लिए और अधिक तथा सुसंगत सूचकांको के महत्व से पूरी तरह विज्ञ थे। प्रतिवेदन में इसे यथासंभव सुसंगत बनाने का प्रयास किया गया है। तथापि, इसने मात्र तीन सूचकांक दीजिए। यू.एन.डी.पी. में इसके लिए दिया गया औचित्य निम्नवत् है।

मानव अनुभव के सभी पहलुओं को पतिबिम्बित करना आदर्श स्थिति है। आँकड़ों की कमी इस पर कुछ प्रतिबंध लगाती है, और शायद इसके और सूचकांक जोडड़ने होंगे

जिससे सूचना उपलब्ध हो सके। परन्तु अधिक सूचकांक अवश्यमेव बेहतर नहीं होंगे, कुछ

विद्यमान सूचकांकों पर अधिभवी होंगे जैसे शिशु मृतक दर जीवन की उम्मीद में पहले ही

प्रतिबिंबित होती है। और अधिक चर जोड़ देने से चित्र और भ्रमित करेगा तथा मुख्य

लक्ष्य से हटा देना।''

सूचकांकों के चयन के बाद सबसे निर्णायक पहले है मानव समृद्धि के स्तर पर सापेक्ष में प्रत्येक देश का निष्पादन मापने के लिए विकास सूचकांक तैयार करा। इस प्रयोजनार्थ, मानव विकास सूचकांक तैयार करना सबसे महत्वपूर्ण और निर्णायक पहलू है।

4.3.6 मानव विकास सूचकांक का परिकलन

जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि 1995 के प्रतिवेदन में मानव के मापन के लिए सूचकांको के चयन में कुछ परिवर्तन किए गए थे। 1994 तक विद्यालय जाने का औसत वर्ष साक्षरता स्तर पर प्राक्कलन करने के लिए सूचकांक के रूप में लिया गया था। 1995 के प्रतिवेदन में यह सूचकांक संयुक्त प्राथमिक और तृतीयक स्तर की पंजीकरण अनुपात से प्रतिस्थापित कर दिया गया था। प्रतिवेदन में दिया गया औचित्य यह था की विभिन्न देशों द्वारा आपूर्ति आँकड़ों के बीच प्रतिस्पर्धा की कमी के साथ–साथ विश्वस्त ऑकड़े मिलने में कठिनाइयॉ थी। प्रतिवेदन में सम्मिलित दूसरा परिवर्तन सकंल घरेलू उत्पाद (आय) का न्यूनतम मूल्य प्रतिव्यक्ति 200 डॉलर पीपीपी से कम करके 100 डॉलर पीपीपी करने से संबंधित था।

एक बार पुनः प्रतिवेदन में दिए गए औचित्य के अनुसार दन देशो को शामिल कराना था जिनका पीपीपी 200 डॉलर से कम थी। पूर्व प्रतिवेदनों में देखा गया था कि बहुत बड़ी संख्या में उन देशों जिनमें से अधिकांश ने पूववर्त्ती उपनिवेशीय समूह का गठन किया था, का पीपीपी 200 डॉलर से कम था परन्तु उनके बीच काफी विभिन्नताएँ थी।

2002 में प्रकाशित प्रतिवेदन के अनुसार, मानव विकास सूचकांक मानव विकास का एक बार सार है । यह किसी देश की औसात उपलब्धियों का मानव विकास के तीन मूलभूत आयामों में मापन करता है :

- जन्म के समय यथा अनुमानित दीर्घ और स्वस्थ्य जीवन।
- गौढ़ साक्ष्रता दर (दो तिहाई के बराबर) और संयुक्त प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक समग्र नामांकन अनुपात (एक तिहाई के बराबर) द्वारा यथा अनुमानित ज्ञान।
- प्रति व्यक्ति (अमेरिकी डॉलर पीपीएस) सकल घरेलू उत्पाद यथा अनुमानित शालीन जीवन स्तर।

यह भी महसूस किया गया है '' मानव विकास सूचकांक परिकलित करने से पहले इनमें से प्रत्येक आयामक` लिए एक सूचकांक का सृजन आवश्यक है '' अतः यह महसूस किया गया था कि प्रत्येंक सूचकांक के लिए अधिकतम और न्यूनतम मान (जिन्हें गोल पोस्ट के रूप में जाना गया) चुने जाने चाहिए।

वर्ष 2002 के लिए नियम गोलपोस्ट इस प्रकार है :

सूचकांक	अधिकतम मूल्य	न्यूनतम मूल्य
जन्म के समय अनुमानित जीवन (वर्षो में)	85 (एक देश के लिए)	25 (एक देश के लिए)
प्रौढ़ साक्षरता दर (प्रतिशतता)	100	0
संयुक्त समग्र नामांकन अनुपात (प्रतिशतता)	100	0
प्रति व्यक्ति सरल घरेलू उत्पाद (पीपीपी अमेरिकी डॉलर	40,000	100

वर्ष 2002 के लिए आइवरी कॉस्ट के मामले में प्रत्येक सूचकांक के उदारणार्थ :

जन्म के समय अनुमानित जीवन (वर्षो में) : 47.80

प्रौढ़ साक्षरता दर 46.80

समग्र नामांकन पर 38.00

प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (पीपीपी अमेरिकी डॉलर) : 163.00

अनुमानित सूचकांक का परिकलन = 47.8 -0/100-00 = 0.380

प्रौढ़ साक्षरता सूचकांक का परिकलन = 46.8-0/10-00 = 0.468*

समग्र नाकांकन सूचकांक का परिकलन = 38-0/100-00 = 0.380**

सकल घरेलू उत्पाद सूचकांक का परिकलन त्र लघु (1630) –लघु (100)/लघु (40000) लघु

100 = 0.466

मानव विकास का परिकलन = 1/3 (अनुमानित जीवन का सूचकांक का मान)

1/3 (शिक्षा सूचकांक का मान)

1/3 (सकल घरेल उत्पाद सूचकांको का मान) अथवा

1/3 (0.380)+1/3 (0.439)+ 1/3 (0.466)

= 0.428

4.3.7 भारत में मानव विकास

कई विकासशील देशों से भिन्न भारत के पास सुविकसति सांख्यिकीय तंत्र है। उपनिवेशीय शासकीय मानसिकता को धन्यवाद, हमारे देश मे अनेक ऐसी एजेंसियाँ है जो काफी लम्बे समय से हमारी अर्थव्यवस्था, राजतंत्र पर्यावरण और संसाधनों आदि के विभिन्न पहलुओं पर सूचना और ऑकड़े एकत्रित कर हरी हैं इनमें राष्ट्रीय जनसंख्या जनगणना, राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण, नमूना पंजीकरण तंत्र राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण आदि मशहूर एजेंसियॉ हैं । तथापि यह मसूस किया गया था कि ये एजेंसियॉ विभिन्न पहलुओं पर सूचना एकत्रित करने में महत्वपूर्ण सहयोग कर रही है। परन्तु सूचना में समन्वयन की कमी है और यह प्रत्यक्ष रूप से जहॉ तक ऑकड़ों का सवाले है, एक–दूसरे से सम्बन्धित नहीं है। छब्।म्ट के अबुसालेह शरीफ के अनुसार :

''जनसंख्या जनगणना जनसांख्यिकी लक्षणों औरअनय विभिन्नताओं पर विस्तृत सूचना उपलब्ध कराती है। इसमें आय, परिसम्पत्ति, स्वामित्व, खपत प्रतिदर्श और अन्य विभिन्नताओं पर कोई सूचना नहीं होती। यह महसूस किया गया कि ऐसा एकीकृत सर्वेक्षण उपयोगी रहेगा जिसमें मानव विकास के विभिन्न पहलू, जीवनस्तर, रोजगार और नौकरियाँ, साक्षरता और शिक्षा, अस्वस्थता, अक्षमता और पोषण, पीडीएस, शिक्षा और स्वास्थ्य रक्षा आदि जैसी लोकसेवाओं की प्रभावकारिता और

जनसांख्यिकीय लक्षण शामिल हों। ऐसे एकीकृत सर्वेक्षण से अनुसंधान करने वाले इन अलग–अलग विभिन्नताओं के बीच अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने और उसके द्वारा बेहतर जानकारी प्राप्त करने में सक्षम होंगें।"

परिणामतः आज हमारे पास राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिवर्ष प्रकाशित मानव विकास प्रतिवेदन है। कि यह प्रकिया योजनाओं और विद्वानों के बीच इतना लोकप्रिय हो चुकी है कि माहाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि कुछ प्रमुख राज्यों ने अपने –अपने राज्यों में मानव विकास प्रतिवेदन तैयार किए हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इस मामले में विश्लेषण एकक जिले है। इन प्रतिवेदनों का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि उन्होंने प्रतिवेदन तैयार करने के लिए भारत और राज्य विशिष्ट के सूचकांकों को शामिक करने की कोशिश की। उदाहरणार्थ, महाराष्ट्र राज्य के प्रतिवेदन में निम्नलिखित सूचकांक लिए गए है :

- शिशु मृत्यु और बाल मृत्यु दर।
- पोषण (2 वर्ष से कम आयु)
- मानव विका सूचकांक और प्रतिव्यक्ति जिला घरेलू उत्पादन (वर्तमान मूल्य)
- साक्षरता दर, विद्यालय जाने का औसत वर्ष और उसे छोड़ने की दर
- 1991–2001 के लिए साक्षरता के उपलब्धि और सूधार सूचकांक
- ग्राम्य सुविधाओं का जिलेवार वर्गीकरण
- कच्चा, आधा, पक्का और सुविधानजक घरों की जनगणना का प्रतिशतता वितरण

उपलब्ध सूचना मानव विकास सूचकांक के आधार पर विभिन्न जिलों का वर्गीकरण करने में प्रयुक्त की जाती है जो बाद में राज्य और केन्द्र सरकार के विभिन्न नीतिविकल्पों को दिशा–निर्देश देने में प्रयुक्त होती है।

4.3.8 सारांश

मानव विकास देशों के समग्र विकास के लिए सूचकों में से एक है इसे किसी देश के धन, मानव संसाधन जो उसके पास है, स्वास्थ्य सुवधिाएँ और जलकल्याण उपाय जो वह अपने नागरिकों को मुहैया कराता है अथवा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अभिज्ञात स्वास्थ्य, शिक्षा, भोजन, जल आपूर्ति स्वच्छता और गृह निर्माण जैसी छहः मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करना, के संदर्भ में मापा जा सकता है। राज्य के प्रत्येंक क्रियाकलाप, सभी वैज्ञानिकों अन्वेषकों और दो व्यष्टियों और व्यापारिक भागीदारों के बीच सभी अन्तक्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य मानव विकास होना चाहिए। परन्तु, दुर्भाग्यवश इस विशेष पहलू पर अीाी तक गौर नहीं किया गया है। हाल के वर्षो में मानव विकास पर रूचि का पुनर्जन्म हुआ है। विश्वस्तर पर कई विद्वानों और नेताओं ने बिना किसी भेदभाव के जीवन की गुणवता को सुधारने के प्रति कार्य करने का दावा किया है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम में भी 1990 में पहली बार मानव विकास की धारणा को परिभाषित करने का प्रयास किया गया। मानव विकास के व्यापक तौर पर मान्य सूचकांकों का परिकलन करने तथा मानव विकास सूचकांक को तैयार करने का भी प्रयास किया गया है। और यह कि प्रत्येक नई चुनौती को स्वकीकार करते हुए इन धारणाओं पर कार्य करना जारी है। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि पर्याप्त ऑकड़े और सूचना ने होने के कारण प्राक्कलन की अप्रत्यक्ष विधियों पर विश्वास करना पड़ता है। तथापि, यह देखा गया है कि विश्वस्तर पर प्रबल प्रभाव वाली शक्तियॉ मानव विकास सूचकांक को संप्रभु राज्यों के आन्तरिक मामलों में दखलनजी के लिए प्रयोंग कर रहे है। अतः मानव विकास एक महत्पवूर्ण धारणा है और मानव विकास सूचकांक को तैयार करना एक महत्पवपूर्ण प्रयास है परन्तु इस असमान विश्व में इस परोक्ष अद्देशें को उचित सिद्व करने के लिए भी प्रयुक्त करते है।

4.3.9 अभ्यास प्रश्नावली

1. मानव विकास से आप क्या समझते हैं? मानव विकास के लिए विभिन्न अभिगम क्या है?
2. मानव विकास के प्रति मूलभूत न्यूनतम आवश्यकता अभिगम क्या है? इस अभिगम की आलोचना क्यों की जाती है?
3. मानव विकास के सूचकांको की पहचान कीजिए। अन्य धारणाएँ और आयाम क्या है जिन्हे मानव विकास प्रतिवेदनों में मानव विकास की धारण से जोडने की कोशिश की गई है?
4. भारत, में मानव विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

अध्याय–4
लिंगभेद और विकास

संरचना

4.4.1 उद्देश्य
4.4.2 प्रस्तावना
4.4.3 महिलाएँ और लिंगभेद
4.4.4 विकास और लिंगभेद
4.4.5 विकास के अभिकरण
4.4.6 विकास की समालोचना
4.4.7 विकास–में–महिलाएँ (विड) से लिंगभेद–व–विकास (गैड) तक
4.4.8 लिंगभेद, विकास और न्यायाशीलता
4.4.9 सारांश
4.4.10 अभ्यास प्रश्नावली

4.4.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य स्त्री व पुरुष के बीच जैविक भिन्नता को स्पष्ट करते हुए उसका विकास पर प्रभाव का उल्लेख करना है। सभी को अपनी व्यक्तिगत योग्यताऐ विकसित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और लिंगभेद इसमें बाधा नहीं होना चाहिए। महिलाओं को द्वितीय लिंग मानकर उनका विकास अवरूद्ध करने का अप्रत्यक्ष प्रयास समाज द्वारा किया जाता है जो अनुचित है अतः इस समस्या का समाधान होना चाहिए ताकि विकास की समान धारा बह सके यही इस अध्याय में स्पष्ट करने की कोशिश की गई है।

4.4.2 प्रस्तावना

पुरुष व स्त्री के बीच जैविक भिन्नता आमतौर पर उन्हें नर व मादा के रूप में दो पूरी तरह से विपरीत सामाजिक श्रेणियों में परिभाषित किए जाने और उसके द्वारा उन्हें पुरूषवत् व स्त्रियोचित गुणों से संबंधित माने जाने का आधार है। यह लैंगिक भेद पुरुष व स्त्री के बीच अनेक अवैज्ञानिक, अविवेकी और कृत्रिम असहमतियाँ बन जाता है। जिस तरीके से ये असहमतियाँ प्रस्तुत की जाती हैं और फिर बुद्धिसंगत बना दी जाती हैं, उसी को लिंगवत् सम्बन्ध के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार, जबकि लिंग प्राकृतिक व जैविक होता है और इस बदलने के लिए किंचित् ही कुछ किया जा सकता है, लिंगभेद एक सामाजिक–सांस्कृतिक अवधारणा है और इसलिए उसके सामाजिक–सांस्कृतिक घटनास्थल के अनुसार उसकी परिभाषा, आदि बदलती है। एक पुरगामी नारी–अधिकारवादी एन ओकले ने यह बात इन शब्दों में कहने का प्रयास किया हैः लिंगभेद एक संस्कृति का विषय है, यह पुरूषों व स्त्रियों के 'पुरूषवत्' व 'स्त्रियोचित' वाले सामाजिक वर्गीकरण की ओर संकेत करता है। लिंगभेद किसी भी प्रदत्त समाज में विद्यमान में विद्यमान सत्ता संबंध को प्रकट करता है। समाज में सत्ता संबंध असमान प्रकृति के हैं, जहाँ महिलाओं को पुरूषों के मुकाबले दूसरा स्थान दिया जाता है। इसका समाधान क्या दिखाई देता है? वे कुछेक तरीके क्या हैं जिनसे इस व्यापक असमानता का हल ढूँढा जाता रहा है जाकि इससे उबरा जा सके। यही कुछ विषय हैं जिन पर हम इस इकाई में चर्चा करेंगे।

4.4.3 महिलाएँ और लिंगभेद

लिंगभेद संबंधों के इतिहासकारों के अनुसार, सामाजिक पदानुक्रम में महिलाओं को एक निम्नतर सामाजिक–आर्थिक व राजनीतिक स्थिति प्रदान की गई है। उनकी पदस्थिति राजनीतिक व आर्थिक रूप से प्रबल उस सत्ता के द्वारा निर्धारित की जाती है जो कि प्रायः निश्चित रूप से पुरुष होता है, चाहे एक व्यक्ति के रूप में हो अथवा किसी समूह के रूप में । 1974 में केट मिले ने अपनी पुस्तक ''सैक्सुअल पॅलिटिक्स'' में सत्ता के इस प्राधार को 'पितृतंत्र' के रूप में परिभाषित किया। जिस तरीके से एक बालिका का प्रभावशाली पुरूष प्रभुत्व स्वीकार करने में समाजीकरण किया जाता है वह समाजशास्त्रियों व इतिहासकारों की अति महत्वपूर्ण विषय–वस्तुओं में से एक है। एक अन्य पुरगामी नारी अधिकारवाछी, दार्शनिक साइमन डी ब्यूवोर ने अपी स्मारकीय पुस्तक ''सैकण्ड सैक्स'' में हमारे सामाजिक जीवन के इस पहलू को

सुलझाया है। इसी कारण समझने के, और जैसा कि मार्क्सवादी और नारी अधिकारवादी कहेंगे, सत्ता सम्बन्ध को तोड़ने के गंभीर प्रयास हुए हैं जाकि महिलाएँ अवसर, जीवन और आनंद की स्वतंत्रता का भेग करने के लिए अपनी अधिनस्थ स्थिति से बाहर निकल सकें।

पितृसत्तात्मक प्रणाली एक नारी के जीवन के हर क्षेत्र पर प्रभाव डालती है। उदाहरणार्थ, आधुनिक अर्थव्यवस्था में नारी की, नारी रूप में, न तो रोज़गार के आकारिक क्षेत्रों में आसान पहुँच है न ही सामान्यतः पुरूषों व महिलाओं के लिए कोई सामन वेतन प्राधार, यथा एक ही काम के लिएमहिलाओं को पुरूषों की अपेक्षा कम भुगतान किया जाता था। उनके पास स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए स्थान व संस्थानों तक पहुँच का भी अभाव था। घर पर, जीवनसाथी चुनने से लेकर परिवार का आकार नियोजित करने तक, उसकी निर्णयन् शक्ति प्रायः नितान्त पारिवारिक, सामाजिक अथवा सामुदायिक नियमों व आदर्शों द्वारा परिसीमित होती है। अन्ततोगत्वा, बेहतर स्वास्थ्य रक्षा तथा पोषण की सुविधाओं तक पहुँच भी अधिमान्यतापूर्वक वितरित है। महिलाओं पर बालिकाओं के रूप में अथवा गर्भवती औरतों के रूप में, अथवा मात्र स्त्रियों के रूप में, वांछित स्थान नहीं दिया जाता है। वह मृत्यु–दर और रोगप्रवणता के रूप में प्रकट हो जाती है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी, धार्मिक प्रवचन से लेकर मीडिया में प्रस्तुत होने तक, महिलाओं का प्रायः पूरी तरह से उस भूमिका तक लघुकृत कर दिया जात है जिसे 'द्वितीय लिंग' कहा जाता है अथवा मात्र एक वस्तु या एक जिंस के रूप में व्यवहार किया जाता है।

4.4.4 विकास और लिंगभेद

विकास को असमानता से परिभाषित किया गया है जैसे, प्रगति, लोगों, एक समुदाय अथवा एक राष्ट्र की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन। तीसरी दुनिया में तथा अधिकांश पूर्व–उपनिवेशित देशों में, विकास और एक भावी विकासात्मक अभिदृष्टि हेतु माँग ही थी जिसने स्वतंत्रता हेतु उनके आन्दोलन को परिभाषित किया। भारत में, उदाहरणार्थ, राष्ट्रवादी नेतागण उस विकासात्मक मार्ग पर सर्वसम्मति का निष्कर्ष पहले ही निकाल चुके थे जो कि देश को एक बार अपनी आज़ादी हासिल कर लेने पर चुनना ही था। आत्म–विश्वास की धारणा से – स्वतंत्र आर्थिक निर्णय लेने और विकास का स्वतंत्र मार्ग अपनाने की क्षमता, दोनों–विभिन्न महाद्वीपों के नेतागण सहमक थे। शोषण के आर्थिक आधार की श्रेष्ठता वाली मार्क्सवादी व्याख्या ने ऐसी धारणाओं को एक अतिरिक्त योग्यता प्रदान की। उन नारी अधिकारवादियों के लिए जो माकर्सवादी विश्लेषण के साथ–साथ राजनीति का भी अनुकरण करते थे, इसीलिए विकास की धारणा कोई ऐसी चीज नहीं थी जो उनके मूल कार्यक्रम के विरूद्ध हो। यदि विकास से आशा की जाती थी कि उन आर्थिक आधारों को बदल देगा जिन पर लिंगभेद सम्बन्ध परिभाषित था तो यह माना जाता था कि उन आधारों को बदलने का अधिमत तरीका विकास ही है। इसी वजह से यह कोई संयोग नहीं कि बड़े–बड़े नारी आन्दोलन कभी भी विकास–विरूद्ध नहीं रहे।

विकास की यह अभिदृष्टि, हालाँकि, मात्र आर्थिक प्रगति नहीं थी परन्तु स्वतंत्रता की राजनीतिक अभिव्यक्ति से निकट से भी जुडी थी। लोकतंत्र स्वतंत्रता की इस अभिदृष्टि से निकट से जुड़ा था। लोकतंत्र और लोकतांत्रिक संस्थाएँ उदाहरणतया, जैसा कि भारत के संविधान–निर्माता सोचते थे, नारी अधिकारों और नारी कल्याण की सबसे बड़ी गारणटी थीं। जैसा कि अनुभवन ने दर्शाया है, लोकतांत्रिक प्रणाली ने ही महिलाओं को स्थान दिया है ताकि वे अपनी व्यक्तिगत के साथ–साथ सामूहिक आवाज़ को भी महसूस करा सकें। कोई कौतुक नहीं कि हमने पाया है कि लैटिन अमेरिका, एशियाई व अफ्रीकी देशों में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना हेतु आन्दोलन में महिलाओं के स्वर बहुत बुलन्द थे।

विकासात्मक अभिदृष्टि में राज्य ने बिल्कुल बीच का स्थान ग्रहण किया। प्रथम, उपनिवेश–विरोधी आन्दोलन के नेतृत्व ने ही राज्य प्रणाली को सँभाला और इसी कारण नेतृत्व, राज्य और आम जनता के बीच थोड़ा–बहुत घनिष्ठ संबंध बना। दूसरे राज्य ही इतनी बड़ी प्रमात्रा में संसाधनों की लामबन्द कर सका था और इसीलिए वह पूर्णरूपेण निर्णायक बन गया।

आर्थिक विकास और राजनीतिक विकास राज्य, समाज और उसकी संस्थाओं के आधुनिकीकरण हेतु अभियान के साथ प्रायः पूर्णयप से सह–लक्ष्य था। समानता, स्त्री–पुरूषों के कानूनी अधिकार, और नागरिकता का विचार इस प्रकार के आधुनिकीकरण के मूल सिद्धांत थे। उदाहरण के लिए, मिस्त्र में आमेल अब्दुल अब्दुल नासिर के प्रशासन ने ही अर्थव्यवस्था का विस्तार किया और वृहद महिला कार्य–बल को उनके पारम्परिक परिवेश से बाहर निकाला, उन्हें समान अधिकार का वचन दिया और 1754 से समान वेतनों की गारण्टी दी। इसी प्रकार, ट्यूनीशिया में आधुनिकीकरण व धर्मनिरपेक्ष राष्ट्राध्यक्ष बॉरघुइबा तथा इराक में बाथ सोशलिस्ट पार्टी ही थे जिन्होंने अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित करके आधुनिकीकरण को जन्म देने का प्रयास किया। भारत में भी राज्य ने ही प्रथम सुधार उपाय तब शुरू किया जब काफी बहस और चिार–विमर्श के बाद उसने 1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम में सुधार किया जब काफी बहस और विचार–विमर्श के बाद उसने 1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम में सुधर किया जिसमें महिलाओं को समान दाय अधिकार दिया गया।

अल्प–विकसित तथा पूर्ण–उपनिवेश देशों द्वारा अपनायी गई दो अभिभावी रणनीतियाँ थीं। प्रथम, उपनिवेश देशों द्वारा आरम्भ अनाभिव्यक्ति को सुधाने के काम में अत्यावश्यकता का भाव था। इस लिहाज से भावी औद्योगिक व आर्थिक कार्यकलाप हेतु एक औद्योगिक आधार तैयार करना एक सहज निष्कर्ष था। भारत, मिस्त्र, इराक, पाकिस्तान जैसे अनेक देशों में और यहाँ तक कि ईरान में भी, राज्य ने ही संसाधन लामबन्दी के साथ–साथ संसाधन वितरण को भी नियोजित करके सम्पूर्ण कार्यकलाप का आरम्भ और पर्यवेक्षण किया।

अपनायी गई दूसरी रणनीति थी – निर्यातोन्मुखी विकास। मुख्यतः लघुतर आकार वाले देशों में अपनाई गई इस रणनीति ने विश्व अर्थव्यवस्था से निकट से जुड़ना और विश्व बाजार हेतु उत्पादित वस्तुओं व सेवाओं में विशेषज्ञता प्राप्त करना आवश्यक बना दिया। यह मुख्य तौर पर पूर्व–एशियाई देशो, इज़रायल, ट्यूनीशिया, आदि में अपनायी गई। कोरियाई अर्थव्यवस्था जो उन्नीस सौ साठ के दशक में भी एक सुस्त अर्थव्यव्था थी, सक्रिय समूह में आ सकी और लम्बे डग भर सकी।

4.4.5 विकास के अभिकरण

महिलाओं की समस्त सामाजिक स्थिति में परिवर्तन और उस स्वायत्ता के बीच एक निकट संबंध है जो वह अपने जीवन में कुछ निर्णायक क्षेत्रों में बदलाव के माध्यम से प्राप्त करती है, यथा, शिक्षाक्षेत्र में प्रवेश, बेहतर स्वास्थ्य रक्षा लाभप्रद रोज़गार क्षेत्र में प्रवेश और निर्णय लेने के अवसर, आदि। समाज, जैसा कि अनुभवों से ज्ञात होता है, बिना संघर्ष में उसे मदद करते दिखाई देते हैं और उसके द्वारा उसे वांछित स्वायत्तता प्राप्त करने में मदद करते हैं, नामतः हैं – वह स्वयं (व्यक्ति विशेष), 'समुदाय' जिसमें वह रहती है, और आधुनिक युग में 'राज्य'। आधुनिक काल में अन्य अभिकर्ता भी होते हैं, जैसे संयुक्त राष्ट्र, विश्व बैंक, व बहुराष्ट्रीय सहायता साधन तथा वे अभिकर्ता जो अधिराज अथवा बहुराष्ट्रीय अभिकरण हैं। बहरहाल, इस समय, अधिकांश स्थानों में, वे महिलाओं के हितों व विकास को आगे बढ़ाने में मुख्य रूप से स्वयं, समुदाय एवं राज्य के अभिकर्ताओं को परखते हैं और उन्हीं का आह्वार करते हैं।

एक प्रबल धारणा है, यथा स्वेच्छातंत्रवादी, जो इस बात पर बल देती है केवल महिला–विशेष और उसकी योग्यता ही हैं जो महत्व के है। उसके प्रतिनिधि के रूप में समुदाय तथा राज्य द्वारा कोई भी हस्तक्षेप, उनका योग्यता ही हैं जो महत्व के हैं। उसके प्रतिनिधि के रूप में समुदाय तथा राज्य द्वारा कोई भी हस्तक्षेप, उनका तर्क है, अन्तिम विश्लेषण में न सिर्फ प्रति–उत्पादक बल्कि उसके कल्याण में अहितकर भी सिद्ध होता है। यह उन नीतियों के अनुपालन में सहायक सिद्ध होता है किसी भी कल्याणकारी गतिविधि से राज्य के निवर्तन की वकालत करती हैं। इसे अस्सी के दशकारंभ में मार्गरेट थैचर और रोलाल्ड रीगन जैसे लोगों के सहारे लोकप्रिय बना दिया गया जिन्होंने एक तर्क सामने रखा जिसे व्यक्ति हेतु सम्पूर्ण स्वतंत्रता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नियमों से राज्य का प्रत्याहार नाम दिया जाता है। इस प्रकार, इस तर्क के अनुसार महिलाओं को भी स्वयं के लिए अपना प्रबन्ध करना होगा और केवल गुणवान ही उभर कर आएँगी।

एक अन्य आधार भी है, यथा साम्यवादी अभिदृष्टि जिसने इन दिनों दो कारकों के प्रभाव से कुछ लोकप्रियता हासिल कर ली है। प्रथम, गत तीन दशकों में सर्वाधिक सशक्त महिला आन्दोलन स्थानीय समुदायों की मदद से महिलाओं द्वारा ही लड़े गए। दूसरे, पश्चिमी मदद माध्यम भी उनकी योजनाओं में साम्यवादी विचार का ही प्रचार कर रहे हैं। प्रायः ही वे 'राज्य' के विरोध में परिकल्पित किए जाते हैं। मूल तर्क–वाक्य यह है कि नारी विाकस और स्वतंत्रता उस समुदाय में स्वयं ही निहित हैं जहाँ अधिकारों को प्रश्रय दिया जाता है। इसीलिए यह समुदाय ही है जिस पर महिलाओं के विकास को आगे बढ़ाने हेतु कलई चढ़ाने की आवश्यकता है। और सूक्ष्म विश्लेषण करने पर, तथापि आप पाएँगे कि अधिकांश स्थानों पर प्राकृतिक अथवा पारम्परिक समुदाय उन पितृसत्तात्मक नियामक समष्टियों पर निर्भर हैं जिनसे महिलाओं को शायद ही सही न्याय मिल सकता है। धर्म सम्प्रदाय, ग्रमम समुदाय अथवा श्रमिक संघों जैसे कृत्रिम समुदाय अथवा अन्य व्यावसायिक निकाय भी मुश्किल से ही पुरूषों एवं स्त्रियों के बीच समानता के प्रतीक होंगे। अक्सर ही धर्म सम्प्रदायों ने नारी जीवन के साथ हुआ है।

अस्सी के दशक में दृश्य पटल पर इस्लाम धर्मावलंबियों के आने तक आधुनिक शासन प्रणालियों के अधीन रहकर अल्जीरिया, तुर्की, ट्यूनीशिया, मोरक्को जैसे देशों में महिलाएँ स्वतंत्रता व समानता हासिल कर रही थी। ऐसा ही कैथोलिक सम्प्रदायों के साथ था जहाँ महिलाएँ अब तक अपने यौन अधिकारों अथवा तलाक के लिए लड़ रही हैं। ऐसे मातृवंशीय समुदाय भी हैं जहाँ महिलाओं के पास ढेरों अधिकार हैं परन्तु ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि सत्ताक विषयवस्तु और राजनीतिक निर्णय पुरूषों के हाथ में ही हैं। यहाँ तक कि महिलाओं के हाथों से बचे–खुचे अधिकार भी झटक लेने का निरन्तर प्रयास भी चल रहा है। इस प्रकार, वह दावा जो कि साम्यवादी करते हैं, यथा समुदाय ही महिलाओं हेतु सच्ची स्वतंत्रता सुनिश्चित करते हैं, ध्यानपूर्वक विश्लेषित किए जाने पर, इतना ज्यादा यथार्थपरक नहीं लगता। बहरहाल, महिला समुदाय नारी अधिकारवादी आन्दोलन हेतु एक सफल योगदान सिद्ध हुए हैं। यह बात महिलाओं को न सिर्फ स्वयं को मुक्त रूप से अभिव्यक्त करने हेतु अत्यावश्यक राजनीतिक तथा सामाजिक स्थान प्रदान करती हैं बल्कि राजनीतिक व सामाजिक संघटन हेतु उनका मार्ग भी प्रशस्त करती है।

आधुनिक युग में राज्य ने ही प्रायः उन सुविधाओं व संसाधनों तक पहुँचने हेतु महिलाओं को समर्थ करने में निर्णायक भूमिका निभाई है जो उसकी स्वायत्तता को सरल बनाते हैं। तथापि, यह दुविधा बनी ही रहती है कि जब नारी हित के प्रति द्वेषपूर्ण शक्तियाँ राज्य प्रग्रहण करती हैं तो महिलाओं को एक और अभिकर्ता से लड़ने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस बार अवपीड़क सत्ता पर एकाधिकार रखने के कारण यह अन्य सभी से परे होता है जब राज्य, उदाहरणार्थ, एक अन्य राज्य से युद्धरत होता है तो यह नारी अधिकारों के प्रति निष्ठुर हो सकता है। उन्नीस सौ सत्तर के दशक में बैथ पार्टी के शासनाधीन इराक ने महिलाओं को अत्यधिक स्वायत्ता दी और उनके विकास को सरल बनाया। सत्तर के दशकांत तक 29 प्रतिशत चिकितसक 49 प्रतिशत दंत चिकित्सक, 70 प्रतिशत औषधकारक, 46 प्रशितक अध्यापक और विश्वविद्यालय प्रवक्ता, 33 प्रतिशत सरकारी कर्मचारी और 45 प्रतिशक कृषि कर्मी महिलाएँ ही थे। प्रसूति अवकाश भरपुर थे तथा गर्भवती महिलाओं की नौकरी सुरक्षित रहती थी। परन्तु 1980 में ईरान के साथ युद्ध ने राज्य की प्रवृत्ति बदल ही दी। अब उन्हें कहा गया कि वे इराक की आबादी (1.5 लाख लोग) तथा ईरान की आबादी (4.7 लाख) के बीच अंतर को कम करने के लिए वे पाँच–पाँच बच्चे पैदा करें।

एक प्रमुख भूमिका से लेकर एक समर्थक भूमिका निभाने तक राज्य ने विकास से सभी दृष्टांतो में विश्वास बनाए रखा। विकास के समाजवादी मॉडल में राज्य ने न सिर्फ केन्द्रीय निभाई बल्कि वह समाज में उत्पादन का आयोजक और संघ्‍ाटक भी रहा। उत्पादन निर्णयों में बाज़ार की कोई उसी भाँति व्यवहार किया जाता था। यहाँ राज्य ने न सिर्फ बाजार के साथ मिलकर काम ही किया बल्कि साथ ही साथ उसने एक सामाजिकतापूर्ण उद्धारक की भूमिका भी निभाई। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे प्रतिबिम्ब समाजों की दूसरी ओर, जहाँ राज्य की एक अन्तर्मुखी भूमिका दिखाई पड़ती है, अंतिक विश्लेषण में राज्य ही विकास हेतु आधारभूत ढाँचे के साथ–साथ आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं के अधिकारक्षेत्र में भी मूल विकासात्मक अभिकर्ता के रूप में गिना जाता है।

तथापि, विकासशील देशों में राज्य के पास एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने को है। यहाँ तक कि स्कैण्डिनेवियाई देशों में भी, राज्य ही है जो नारी हितार्थ कुछ बड़े कल्याणकारी कदम उठाने के लिए सामाजिक संसाधनों को संघटित करने हेतु सामने आया है। उदाहरण के लिए, लैटिन अमेरिका में राज्य ही ने महिलाओं के वृहत्तम भाग को शिक्षा प्रदान की। अनेक पश्चिमी एशियाई देशों ने नारी की सामाजिक स्थिति बदलने में एक निर्णायक भूमिका निभाई। यहाँ राज्य को परिवार एवं समुदाय के बंधनों से जूझना पड़ता है। ईरान, इराक, ट्यूनीशिया, तुर्की, आदि ने महिलाओं को अपना प्रभावी स्थान बनाने और थोड़ी–बहुत स्वायत्तता प्राप्त करने में मदद की।

भारत में, उदाहरण के लिए, अनेक अन्य उपनिवेश देशों की भाँति ही, स्वतंत्रता आन्दोलन के नेतृत्व को पूर्व–शासकों की राज्य प्रणाली विरासत में मिली। उन्होंने नए विकासात्मक कार्यो की भूमिका अपनाने की दिशा मं इन प्राधारों को फिर से मोड़ने की कोशिश की। लिंगभेद तथा खासतौर पर नारी विकास को भी राज्य का दायित्व समझा गया। भारत मं तमाम नारी आन्दोलन, उदाहरण के लिए, आज तक इस बात पर दबाव डालने और माँग करने में लगे हैं कि राज्य को सार्वजनिक स्थानों व कार्य–स्थलों में लिंगों के बीच समानता लाने, घरेलू के साथ–साथ सार्वजनिक स्थल पर भी महिलाओं के विरूद्ध हिंसा रोकने, ताथा महिलाओं को अवसर देने हेतु अधिक–से–अधिक हस्तक्षेप करना चाहिए। तथापि, आन्दोलन ने महसूस किया कि इस बात के लिए ताकि राज्य ये काम हाथ में ले, यह जरूरी है कि निर्णयन् स्थलों पर महिलाओं की उपस्थिति हो, और यहीं से उठीं महिलाओं को अन्यथा विधायिका की पुरूष सत्ता में स्थान की गारण्टी दिए जाने हेतु माँगें।

तंदुरूस्ती की धारणा के साथ नारी क्षमताओं के विकास में एक संस्थापित महिला विकास देखा जाता है, केवल उसी के माध्यम से, यह तर्क दिया जाता है, उसकी आज़ादी और तरक्की सुरक्षित है। इन क्षमताओं में वे शामिल हैं जो एक मनुष्य होने के नाते उसकी उत्तरजीविता हेतु आवश्क हैं। भारत में लिंगभेद तथा मानव विकास का अन्वेषण करते हुए, मार्दा नसबौम एक ऐसे मार्ग हेतु बड़े ही सशक्त रूप से तर्क प्रस्तुत करती हैं जो नारी क्षमताओं को बढ़ाने और इसी वजह से अपवर्जनीय संयोगों से बचाव करने में उनकी संभावनाओं का पता लगाए। उनका तर्क है कि महिलाओं को न्याय का आवरण प्रदान करना ही उनके विकास की कुंजी है क्योंकि ऐसी स्थिति में ही ये क्षमताएँ सुनिश्चित की जा सकती हैं। 'केन्द्रीय मानव क्रियात्मक क्षमताओं' की सूची विकसित करने में जो उन्होंने प्रयास किया उसे पूरा करने की नितान्त आवश्यकता है। इस सूची में शामिल हैं– जीवन, शारीरिक स्वास्थ्य, सांगोपांग सत्यानिष्ठा, अनुभूतियाँ, कल्पना एवं विचार, संवेग व्यावहारिक कारण, पितृनिर्धारण, अन्य जाति/प्रजातियाँ, क्रीड़ा, उसके अपने परिवेश पर नियंत्रण आदि।

इन क्षमताओं को सत्य सिद्ध करने में नैतिकता का प्रश्न उठाया जाना भी शामिल है क्योंकि किसी भी अन्य चीज से उपर ऐसी क्षमताओं के पूर्णरूपेण विकास को प्राथमिकता दिया जाना इसमें सम्मिलित है। साथ ही, यही प्रश्न राजनीति के अखाड़े में एक नैतिक अधिकार का प्रयोग करती मानवीय योग्यताओं का है। व हमूल अन्तःप्रज्ञा जिससे यह क्षमता उपगम्य शुरू होता है, राजनीति के अखाड़े में, यह है कि कुछ मानवीय योग्यताएँ एक ऐसे नैतिक अधिकार का प्रयोग करती हैं जिसे विकसित किया जाना चाहिए। इससे प्रश्न उठता है कि ''यह अधिकार किस पर बनता है?'' और तब अहसास होता

है कि लिंगभेद न्यायशीलता तथा विकास परिणाम की खातिर वृहत्तर समाज की समस्याओं से भागा नहीं जा सकता है। ये उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी कि क्षमताओं के अधिकार विषयक बातें, और एक लोकतांत्रिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जहाँ ये दावे किए जा सकते हों। और यही किसी नियामक संस्तर में आधारित एक मानवोचित शोषण–रहित समाज हेतु सेघर्ष होता है, यह शतवय नारी आन्दोलन इस बात का जीवन्त प्रमाण रहा है कि किस प्रकार सामूहिक मानवीय प्रयास मानव सभ्यता का स्वरूप एक पितृसत्तात्मक क्रूरता से एक अधिक समान और न्यायसंगत समाज में तब्दील हो सकता है।

4.4.6 विकास की समालोचना

एण्टी–वियतनामा वार आन्दोलन से शुरू कर अमरिका और यूरोप में उग्र उन्मूलनवादी छात्र आन्दोलन तक, साठ के दशक में ऐसी अन्य घटनाएँ भी थीं जो दुनिया को बदल रही थीं। पश्चिम में साठ के दशकांत में बढ़ता पर्यावरण सक्रियतावाद तथा इण्डानेशिया व अन्य स्थानों पर साम्यवादियों के कत्लेआम एवं शीत युद्ध की प्रचण्डता के साथ चीन में सांस्कृतिक क्रांति और अन्ततः वियतनाम में संयुक्त राज्य की सेनाओं की हार एक पूर्णतः नए विश्व के स्वरूप को साकार कर रहे थे। तेल की कीमतों में वृद्धि से प्रथम विश्व अर्थव्यवस्था को झटका लगा और तीसरी दुनिया के देशों में एक नया आत्म–विश्वास जागा प्रतीत हुआ।

दूसरी ओर, मुद्दों के प्रति बढ़ती जागरूकता और नारी आन्दोलन द्वारा समालोचना के विद्यमान नारी मुक्ति के प्रतिमानों को धीरे–धीरे आलोचनात्मक दृष्टि से देखना शुरू कर दिया। उदाहरण के लिए, ईस्टर बोसरूप की पुस्तक 'वुमन' ज़ रोल इन इकॉन्मिक डिवेलपमेण्ट' ने, लोगों की आँखें खोल दीं। इसने तर्क रखा कि स्त्री के आर्थिक कार्य को कभी भी आर्थिक कार्याकलापों के विश्लेषण में नहीं गिना जाता है। इस प्रकार, हरित क्रांति कृषि रणनीति की आलोचना हुई। यह तर्क दिया गया कि इसने प्रौद्योगिकी और पुरूषों के प्रशिक्षण पर ध्यान केन्द्रित किया जबकि यह बड़ी सहजता से उन महिलाओं को भुलाते हुए हुआ जिनके काम, खेतों में एक नितान्त यथार्थ आर्थिक कार्यकलाप, को महत्वहीन समझा गया। सैद्धान्तिक अधिकार क्षेत्र में इसका अर्थ था इन बातों के लिए प्रयास– (1) आर्थिक कार्यकलाप को समझे जाने के वर्तमान तरीके में बदलाव और (2) महिलाओं के हितों व विषयों का विस्तार ताकि उनमें तीसरी दुनिया की औरतें शामिल हों।

विभिन्न देशों में नारी अधिकारवादी समूहों तथा नारी आन्दोलन द्वारा अब यह तर्क दिया गया, चूँकि, उन्होंने मध्यवर्गी यूरोपियन श्वेत महिलाओं के अनुभव और अपेक्षाओं का परिज्ञान लिया था, कि नारी आन्दोलन की कुछ मूलभूत आधारिकाएँ बेहद सीमित हैं। यह तर्क दिया गया कि मुक्ति हेतु किसी भी सार्थक संघर्ष में उन समस्याओं को धन में रखा जाना चाहिए जो तीसरी दुनिया की महिलाओं के सामने उनके दैनिक जीवन में आती है। तीसरी दुनिया की ग़रीब औरतों का देहरा शोषण होता था। प्रथम, वे महिलाएँ है और दूसरे, वे तीसरी दुनिया और दरिद्र पृष्ठभूमि से आती हैं। इस प्रकार वर्ग और लिंगभेद दोनों उनमें संलयित होते हैं। उनके मुद्दे मात्र घरेलू हिंसा अथवा यौन विकल्पों हेतु माँग के लिए नहीं वरन् बड़े ही मौलिक मानव विकास विषय, यथा शिक्षा, स्वास्थ्य व रोज़गार थे। उन्हें ग़रीबी के उस दुर्दम्य चक्र से बाहर निकलने की आवश्यकता थी जो उन्हें परम्परा की नादिरशाही तक से निकलने को रोकता था। यह तर्क दिया जाने लगा कि स्त्रियों की अधीनस्थता की समाप्ति हेतु आरम्भ निचले सिरे, यथा तीसरी, दुनिया की ग़रीब औरतों से किया जाना चाहिए।

दूसरी और, 1975 से (जो महिला वर्ष घोषित किया गयाथा) संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा प्रयास किए जा रहे हैं कि महिलाओं से संबंधित मसले मुख्य अर्न्तराष्ट्रीय मंच पर और उनके समाधान से संबंधित मसले भूण्डलीय स्तर पर भी लाए जाएँ। परिणामतः महिला विकास और स्वतंत्रता मामलों का एक यथार्थपरक अर्न्तराष्ट्रीयकरण हुआ है। वस्तुतः अनुगामी बहस ने अनेक राज्यों तथा नारी आन्दोलन पर उनकी योजना व प्राथमिकताओं के पुनरावलोकन हेतु दबाव डाला है।

भारत का उदाहरण उल्लेखनीय है क्योंकि उसने मुख्य रूप से योगदान दिया है। महिला आन्दोलन उपनिवेश–विरोधी संघर्ष के दौरान फला–फूला। यह तथ्य कि संविधान ने अन्य समान्ताओं को चुनने के सामन अधिकार स्वीकार किए थे, इस बात को एक प्रकार से समर्थन था कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने 1947 में ही समानता के मूल लोकाचार स्वीकार कर लिए थे। स्वतंत्रोपरांत आन्दोलन का केन्द्रीय बिन्दु था राज्य को विकास योजना में अधिक–से–अधिक इस प्रकार शामिल करवाना कि महिलाएँ पीछे न रह जाएँ। यही कारण थाकि डनहोंने सरकार पर उसके कल्याणवादी उपगमय से हटने का आक्षेप लगाया। सतर के दशक–मध्य से, बहरहाल, महिला आन्दोलन में दो मुख्य रणक्षेत्र देखे जा सकते थे। एक वो जो वृहत्तर राजनीतिक आर्थिक आन्दोलन का हिस्सा था और महिलाओं के मामलों में राज्य की और अधिक कार्यवाही की माँग करता था। दूसरे वे स्वायत्त समूह थे जिन्होंने महिलाओं के विशिष्ठ मुद्दे हाथ में लिए और उन मुद्दों के सहारे लोगों को संगठित किया। जल्द ही तीव्र विचलन दिखाई पड़ने लगे जैसा कि देखने में आया था कि स्वायत समूह राज्य की विकास भूमिका पर आक्षेप लगाने लगे थे।

विकास के विचार की तीखी आलोचनाएँ हुई हैं। आधुनिक उद्योगवाद, राष्ट्र–राज्य, और वैज्ञानिक विश्व दृष्टि की धारणाएँ उस विकास अवधारणा से करीब से जुड़ी हुई हैं जो सब से नई थी। आलोचना आई कि उन सबने महिलाओं के खिलाफ काम किया है। यह तर्क दिया जाता है कि उन्होंने असमानताओं को बढ़ाया है और महिलाओं को, जितना भी उनका पहले समुदाय अथवा परिवार के संसाधनों पर नियंत्रण था, से वंचित कर दिया है। आधुनिक राज्य व उसके अभिकर्ता ही हैं

जिन्होंने माना जाता था कि उन अधिकारों व शक्तियों को अपने नियंत्रण में कर लिया था। इसी प्रकार, आलोचना ने इंगित किया कि महाकाय औद्यौगिक भवन–समूह महिला हितों के प्रति विरोधात्मक हैं। तकनीकी भवन–समूह तथा प्रौद्योगिकी संसार नारी स्वभाव व हित के कुछ मूल अभिलक्षणों के विरूद्ध महत्व रखते हैं। इस प्रकार पर्यावरण सक्रियतावाद की धारा नारी अधिकारवाद की एक धारा से मिल गयी और एक उग्र आलोचना को जन्म दिया जिसे पारिस्थितिकी–नारी अधिकारवाद (ईको.–फैमिजि़्म) के रूप में जाना जाने लगा। कुछ नारी–अधिकारवादी लेखकाकें ने भारत की हरित क्रांति को इस बात के एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में दर्शाया है कि विकास किस प्रकार नारी–विरोधी था।

पचास के दशक से सतर के दशकांत तक हरित क्रांति ने दुनिया पर फतह कर ली। इसने उत्पादनाधीन क्षेत्र के विस्तारण द्वारा लाद्य उत्पादन बढ़ाने तथापहले से ही उत्पादनशील क्षेत्रों में तेजी से पकने व अधिक पैदावार देने वाले किस्मों एवं उर्वरकों व कीटनाशकों जैसी उँची आगतों के प्रयोग द्वारा उत्पादन बढ़ाने पर ध्यान केन्द्रित किया। यह खाद्य उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि, और कुछ क्षेत्रों में उँचे जीवन–स्तर (आवास, बिजली, यातायात, आदि में वृद्धि) में परिणत हुआ। हरित क्रांति के आलोचकों ने संकेत दिया कि यह लाभों का असमान वितरण लाई है और नई प्रौद्योगिकियों पर इसका जोर वस्तुतः पुरूष और महिलाओं के बीच और अधिक असमानता पैदाकर रहा है। यह एकल संस्कृति में भी परिणत हुई है जिसका अर्थ था कम बहुमुखता और इसकी वजह से बाज़ाार पर निर्भरता जिससे महिलाओं का जीवन पहले से और भी अधिक कठिन हो गया। इसी प्रकारं, एकल संस्कृति के सहारे फसलें भी नाशक जीवों/रोगों, अनावृष्टि, आदि के प्रति और अधिक असुरक्षित हो गई, और फिर न सिर्फ स्थानीय स्तर पर सुरक्षा घट गई बल्कि बढ़ी क्षारीयता, आदि जैसे पर्यावरण संकट भी लोगों के जीवन को प्रभावित करने लगे। और पूरे प्रकरण में महिलाएँ बड़ी दुर्भाग्यशालिनी रहीं।

अलेके पूर्व–उपनिवेश देशों में स्वतंत्रोतर घटनाक्रम को भी समाजवादके संक्षेत्र से देखा गया। यह तर्क दिया गया कि घटनाक्रम एक पूँजीवादी विकास की ओर उन्मुख है जो महिलाओं के लिए अपशगुन था क्योंकि कहा जाता था कि पूँजीवाद ही सिर्फ लिंगभेद न्यायशीलता के प्रति निरोधत्मक नहीं है, विकास जो पूँजीवाद की ओर ले जा रहा है, भी महिला कल्याण हेतु प्रेरक नहीं है। अपनी बात के समर्थन में वे भारत में पंजाब, हरियाणा व गुजरात जैसे अपेक्षाकृत अधिक विकसित राज्यों में व्यापकता से फैले बालिका भ्रूण–हत्या के प्रचलन का दृष्टांत देते हैं।

यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि उन्नीस सौ पचास व साठ के दशक के दौरान विकास को मात्र प्रौद्योगिकीय निवेश द्वाराउत्पादनशीलता बढ़ाने की तकनीकी समस्यासमझा जाता था। कहा जाता था कि इसमें राजनीतिक के साथ–साथ सैद्धान्तिक का और कूटनीतिक आयाम तक का अभाव है जिससे महिलाओं और बच्चों को विकास के शीर्षक के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता है। जब महिलाओं को शामिल भी किया गया तो उनको यदि बिलकुल नहीं तो प्रायः ही प्रजायी भूमिका तक ही सीमित रखा गया जो कि तीसरी दुनिया की महिलाओं के विषय में एक रूढ़िबद्धतात्मक पाश्चात्य समझ थी। महिलाओं की अपनी समझ और चिंताओं पर राय देना किसी भी अभिकर्ता की आदतों में शुमार नहीं था।एक और अधिक मौलिक स्तर पर उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया कि महिलाओं और पुरूषों के बीच समानता हेतु प्रारंभिक चिंता एक ऐसी उदारचरित पाश्चातय दुनिया के प्रबोध आदर्शो पर आधारित थी जो तीसरी दुनिया की महिलाओं को परिज्ञान नहीं लेती थी। यहाँ वे न सिर्फ पुरूष अधीनता को ही नहीं वरन् गरीबी तथा शोषण व असमानता के अन्य रूपों को भी झेल रही थीं। इस प्रकार, वस्तुतः इस बात की चिंता भी जो नारी अधिकारवादी अध्ययनों के रूप में प्रकट हुई थी, कल्याणवादी अथवा पूर्ण लोकोपकारी हितों की बजाय ''बेचारी स्त्रियों'' तथा दरिद्रता उपशमन की ओर खिसकनी शुरू हो गई। और नारी को अब ''नाज़ुक'' ''पीड़ित'' और ''आदृश्य'' बना दिया गया। विद्वानों और नीति–निर्माताओं का तर्क है कि विभिन्न विकास परियोजनाओं की विफलता हेतु मुख्य कारणों में से एक निश्चित रूप यह अदृश्यता ही थी।

4.4.7 विकास–में–महिलाएँ (विड) से लिंगभेद–व–विकास (गैड) तक

विकास की आलोचना के प्रभावस्वरूप तय हुआ कि 1986 तक, संयुक्त राष्ट्रसंघ की उस पहल समाप्ति पर जिसमें भारतीय तजुर्बे और महिला आन्दोलन का भी योगदान था, विकास प्रक्रिया में महिलाओं को शामिल करने के वृहद स्तरीय और सचेत प्रयास हों और अर्थव्यवस्था के औपचारिक क्षेत्र में उनकी पहुँच सुनिश्चित हो। इसका आधारभूत कारण यह था कि विकास निराशाजनक हो रहा था क्योंकि वह आधाी जनता के श्रम – यथा, नारी श्रम – का लाभ उठाने में असफल रहा था। एक आदेशी विश्लेषण के तौर पर आय–उगाही और सूक्ष्म–उद्यम परियोजनाएँ लोप्रिय केन्द्र बिंदु बन जाती हैं। महिलाओं का समय ''लचीला'' के रूप में देखा जाने लगा, दूसरे शब्दों में, नई परियोजनाएँ के काम में लगाये जाने के लिए उनके पास समय होता है। इस प्रकार, कार्यबल के रूप में औपचारिक अथवा अनौपचारिक क्षेत्र में उनके समावेशन को उस दुश्चक्र से निकलने का रास्ता माना गया जिसमें वे रह रही थीं।

राजनीतिक स्तर पर, विकास–में–नारी (विड) उपगम्य ने महिलाओं पर एक समूह के रूप में ध्यान केन्द्रित किया और विकास प्रक्रिया से महिलाओं के अपवर्जन का काम शुरू होने का पता लगाया। इसने इस बात परजोर दिया कि यदि विकास में सिर्फ महिलाओं की ही उत्पादक क्षमता समाविष्ट व सम्मिलित होगी, यह कहीं अधिक प्रभावशाली होगा। सततर के दशक से यह दुनिया पहले वाली दुनिया नहीं रही। भूमण्डलीय पर्यावरण मामले, हिमालय की पहाड़ियों में बसे गाँवों,

अथवा दक्षिण अमेरिका में एण्डियन गाँव या मैक्सिको में या अफ्रीका महाद्वीप में चिआपा आदि जैसे सुदूर स्थानों में रहने वाले लघुत्तर समुदायों के मामले विकास परबातचीत में सामने आ रह थे। निर्णयन् प्रक्रिया में मुख्य बिंदु, सत्ता संबंध का मुद्दा, भी धीरे–धीरे नारी विषयक चर्चा तक में सार्वजनिक होता जा रहा था। जर्मन ग्रीन्स से शुरू होकर ये मुद्दे महिला आन्दोलन के साथ–साथ एशिया, अफ्रीका एवं दक्षिणी अमेरिका में विभिन्न स्थानीय समुदायों के आन्दोलनों में भी आकार लेने लगे। 1974 से गढ़वाल हिमालय (भारत) में सरकारी ठेकेदारों द्वारा पेड़ों को काटे जाने के विरूद्ध महिलाएँ एक लम्बे संघर्ष में जुट गईं। चूँकि जंगल ही वहाँ की दिन प्रतिदिन की जीवनवृत्ति में अहम था जिसमें ये सर्वाधिक संघर्षशील महिलाएँ रहती थीं, इस क्षेत्र की महिलाएँ ही थी जिन्हांने इस आन्दोलन का पथ प्रशस्त किया। यह कोई नारी अधिकारवादी आंदोलन नहीं था कहना चाहिए, बल्कि जीविका के लिए, एक बेहतर और मानवीय विकास के लिए संघर्ष था। शीर्घ ही इस विरोध–प्रदर्शन में अन्य मुद्दे भी शामिल हो गए परन्तु यह विरोध–प्रदर्शन जिसने जल्द ही बाहर के लोगों का ध्यान आकृष्ट कर लिया, उन जीविकावृत्ति के मुद्दों पर चिन्ता का एक मुख्य केन्द्र बिंदु बन गया जो योजना प्रक्रिया और विकसात्मक हितों से गहनता से जुडे थे। इसी प्रकार के संघर्षो ने दक्षिण व लैटिन अमेरिका में भी संकेत दिया जहॉ उन्नीस सौ सतत्र का दशक एक बहुत कटु और सशक्त लोकतांत्रिक विद्रो के साथ–साथ जनप्रिय आन्दोलनों का भी चरण था। नव–उदारवादी सुधार एक बेहतर स्थिति अथवा रोजगार अवसार प्रदान करने में विफल रहे थे और सत्तर के दशकांत में लैटिन अमेरिका में अर्थव्यवस्थाओं को एक–एक करके आर्थिक व वितीय संकट में डूबता देखा गया। महिलाएँ इन घटनाक्रमों की सबसे अधिक भुक्तभोगी रही। परिणामस्वरूप इस विचार के प्रति एक तीव्र प्रतिक्रिया उभरी कि विकास अपने आप में कोई हल नहीं है। अनेक स्थानों पर राज्य का भी अविश्वास नज़र आया। इस प्रकार विकास के संघटक की आलोचना ने स्वयं विकास की आलोचना का आकार ले लिया। विश्वभर में नारी अधिकारीवादी आन्दोलनों की उमड़ी भीड ने भी इस अनुभव में योगदान दिया। उन्होंने दर्शाया कि राज्य अथवा बहुराष्ट्रीय एजेन्सियों द्वारा किए जा रहे विकासात्मक कार्य स्थानीय स्तर पर स्त्रियों के जीवन पर गहरे नकारात्मक प्रभाव डाल रहे थे। ये अनुभव फिर सैद्धान्तिक अधिकार क्षेत्र की ओर स्थानान्तरित हो गए।

इन सब बातों ने जिस चीज की ओर प्रवृत किया उसे सैद्धान्तिक अधिकार क्षेत्र में लिंगभेद–और–विकास (गैड) प्रतिमान के रूप में जाना जाने लगा। यह इस बात के समर्थन में था कि महिलाओं को मात्र इस रूप में न देखा जाए कि वे किसी विकासात्मक योजना में अधिष्ठापित किए जाने के लिएही हैं वरन् इस बात के लिए उसने प्रस्तुत किया कि विकास को इस रूप में देखा जाऐ कि वह अब उस छवि से समपूर्णतः भिन्न है जिसमें अब तक उसे देखा गया था। यह विकास को निर्दिष्ट करने वाला प्रतिमान पितृसत्तात्मक विचारधारा के अनुसार परिभाषित और संरचित है और प्रायः ही उन पायचात्य आदर्शो पर आधारित भी जो संरचनात्मक रूप से गेर–पश्चिमी महिलाओं की चिंताओं व मुद्दों पर ध्यान दे पाने में अक्षम है तथा इस कारण प्रतिमान को बदला जाना चाहिए।

इसके भीतर एक विचारधारा स्वायत स्थानों को और अधिक महत्व दिए जाने की बात करती थी। इसने इस बात पर जोर दिय कि स्वावलम्बी विकास उन स्थापित प्राधारों के भीतर संभव नहीं है जो कि पक्के तौर पर पितृसत्तात्मक है। वृहद विकासात्मक एवं आधुनिकीकरण परियोजनाओं को प्रायः ही महिलाओं के विकास व कल्याण के प्रति अहितकर के रूप में देखा गया और इस प्रकार चिरभोगजन्य स्तर पर उन्होंने उन लघु, स्थानीय व साझीदारी परियोजनाओं का पक्ष लिया जहाँ महिलाओं की आवाज़ अधिक निर्णायक हो सके। इस प्रकार, वृहद सरकारी योजनाओं की बजाय, लघु को ''सुन्दर व प्रभावी'' बताकर तर्क प्रस्तुत किया जाता है।

महिला सशक्तीकरण को उनके अपने विकास में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने का एकमात्र तरीका सोचा गया और बारी आने परयह तथी संभव था जव संकेन्द्रण एक प्रभावी स्थानीय स्तर परविकास अभिदृष्टि के साथ कम होता। इस प्रकार, कार्यकारी स्तर पर उसने उस गैर–सरकारी पहल का पक्ष लिया जिसके बारे में माना जाता था कि वह भागीदारी सुनिश्चित करने व पुरूष प्रभुत्व को रोकने के लिए, लघु स्तरीय केवल–महिलाएँ परियोजनाओं पर केन्द्रित, साझीदारी उपगम्यों स अधिक लाभ कमा सकती है। राजनीतिक संघर्ष स्तर पर महिलाओं के लिए और अधिक शक्ति अर्जित करने के एकमात्र संभव तरीके के रूप में एक स्वायत महिला–आन्दोलन की परिकल्पना की गई है।

इस व्याख्या में निर्णायक अभिलक्षण है निजी व सार्वजनिक अधिकार क्षेत्र के पारम्परिक ज्ञान वाली उस धारणा पर प्रहार जिसमें महिलाओं का काम और जीवन दोनों ही अलेक खानों में विभक्त हैं। यह तर्क दिया गया है कि अन्तिम विश्लेषण में यह दोहरी सत्ता एक दैनिक आधार पर महिलाओं के शोषित होने में सहायक होती है। पालनकर्ता होने का पुरूषवादी तर्क सार्वजनिक सत्ता पर उसके काम पर निर्भर है। निजी सत्ता में महिलाओं के काम का आर्थिक यप से मूल्यांकन तक नहीं किया जाता औरयदि व बाहर काम भी करती है तो केवल बाहर का ही मूल्यांकरन किया जाता है। इसीलिए, सार्वजनिक/निजी का संकेत एक शोषणकारी जिंगभेद–विभाजन को कायम रखने में मदद करता हे।

इस उपगम्य का आधारवाक्य यह भी है कि महिलाएँ ''अबला'' और ''उत्पीडित'' हैं। इसने किसी कारण से समाज में लिंगभेद भूमिका के मत्थे मढ़ते हुए उस तरीके के एक और भी अधिक सक्रिय विश्लेषण के नकार दिया जिसके द्वारा पुरूष

सत्ता स्थापित है। इसने ढेर सारी उर्जा विकास के पश्चिमी आदर्शों, पूँजीवादव सत्ता संबंधों पर प्रहार करने में खर्च की। हाल के वर्षों में 'गैड' में बदलाव आए हैं तथा अब लोग लिंगभेद विचारधारा, श्रम के लैंगिक विभाजन, महिलाओं की अधीनस्थता, और सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक सत्तासंचालन के बीच संबंधों के अन्वेषण की अवश्यकता को निश्चयपूर्वक कहने लगे हैं। यह उत्तर व दक्षिण दोनों ही के पहलुओं पर लागू होता है और महिलाओं के अनुभवों व हितों की भूमण्डलीय भिन्न पर जोर देता है। ''तीसरी दुनिया'' के नारी अधिकारवादियों के लेखों से प्रभावित होकर इसने लिंगभेद संबंधों को धरातल पर समझे जाने की आवश्यकता को स्वीकारा है। यह भूमण्डलीय असमानताओं तथा भूमण्डलीय दैहिक संकटों पर जोर देता है। यह तृणमूल महिला समूहों में सामूहिक कार्यवाही के माध्यम से महिलाओं को सशक्त बनाने की कोशिश में है।

परिर्वतन के साथ–साथ सत्ता की एक नवोदयमान धारणा भी चतल है जिसने सत्ता संबंधों को मात्र पुरुष व स्त्री क`बीच बड़े पैमाने परनही देखा बल्कि उसने तर्क दिया कि संबंधदैनिक आधार परसमझौता करते है। इस प्रकार, महिलाकल्याणहेतु संघर्ष को भीएक दिन–प्रतिदिन आधार पर और एक सूक्ष्म स्तर पर सामने आना होगा। लिंगभेद की विचारधारा को जन्म देने और लिंगभेद भूमिकाओं के आंबटन की समाज में सत्ता संबंधों द्वारा लिंगभेद की विचारधारा को जन्म देने और लिंगभेद भूमिकाओं के आबंटन की समाज में सत्ता संबंधों द्वारा व्याख्या की जाती है और उसकी संधिवार्ता को भी इस सत्ता से लड़ते रहना पड़ता है।

इन सबका परिणाम वे उठती आवाजें रही हैं जो महिला समस्याओं हेतु मूल उपगम्य के रूप में सशक्तीकरण किए जाने का तर्क देती है। दक्षिण से उभरती आवाजें वीना अग्रवाल, वन्दना शिवा, अर्तुरो इस्कोबर, मारिया मीज़, आदि की हैं।

रणनीतिक स्तर पर 'गैड' ने महिलाओं व पुरूषों पर एक–दूसरे के संबंध में ध्यान केन्द्रित किया। 'गैड' पुरूषों के मुकाबले महिलाओं की निम्नपदस्थ स्थिति पर विचार करता है जो कि समाज निर्धारित ऐसी मर्म समस्या के रूप में जिस पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है, और यह मानता है, कि प्रथक्ता महिलाओं पर ध्यान केन्द्रित करना उन सत्ता विषयों के काम लगना नही है जो समस्या के अभ्यन्तर में है।

4.4.8 लिंगभेद, विकास और न्यायशीलता

लिंगभेद समदृष्टि, पुरूषों व स्त्रियों के बीच समानता, इस संकल्पना को आवश्यक बनाती है कि सभी मनुष्य, पुरूष व महिलाएँ दोनों, अपनी व्यक्तिगत योग्यताएँ विकसित करने और बिना किसी उन बंधनों के विकल्प चुनने हेतु स्वतंत्र हैं जो रूढ़िबद्ध धारणाओं, अनम्य लिंगभेद भूमिकाओं और रणनीतिक व अन्य पूर्वाग्रहों द्वारा नियत हैं। लिंगभेद समदृष्टि का अर्थ है कि विभिन्न व्यवहारों, आकांक्षाओं और पुरूषों व महिलाओं की आवश्यकताओं का समान रूप से ध्यान रखा जाए, सम्मान दिया जाए और पक्ष लिया जाए। इसका अर्थ यह नहीं कि महिलाओं और पुरूषों को अभिन्न बन जाना हैं, बल्कि उनके अधिकार, उत्तरदायित्व और अवसर इस बात पर निर्भर नहीं करेंगे कि वे जन्मजात पुरूष हैं अथवा नारी। लिंगभेद समदृष्टि का अर्थ है। महिलाओं व पुरूषों के लिए व्यवहार का औचित्य, उनकी अपनी–अपनी आवश्यकताओं के अनुसार। इसमें समान व्यवहार अथवा ऐसा व्यवहार शामिल हो सकता है जो भिन्न हो परन्तु उसे अधिकारों, लाभों, दायित्वों, और अवसरों के लिहाज से समकक्ष माना जाता हों।

महिला समस्या के सामने आज सर्वाधिक निर्णायक मुद्दों में एक है वृहत्तर राजनीतिक प्रक्रियाओं, न्याय की अवधारणा और महिलाओं की भूमिका का संबंध। आज इस बात में संदेह नहीं कि महिलाओं के अभिकरण को उनके अपने कल्याण में सामने आना है, साथ ही इसमें भी कि महिला कल्याण ऐसा विषय है जिस पर पुरूषों का कल्याण भी निर्भर है। यह निकट संबंध केरल, हिमाचल प्रदेश, तमिलनाडु, आदि जैसे भारत के अनेक राज्यों में बहुत उँचे मानव विकास संकेतकों में प्रकट हुआ है, जहाँ महिला स्वास्थ्य की दशाओं में एक आम सुधार ने बालक व बालिकाओं दोनों के स्वास्थ्य में आम सुधार की ओर प्रवृत किया है।

तथापि, राजनीतिक प्रक्रियाएँ अत्यधिक और नितान्त अपरिष्कृत रूप से पुरुष–केन्द्रित हैं। इस प्रकार, एक और द्वेषपूर्ण चक्र स्वयं को प्रस्तुत करता है। राजनीतिक प्रक्रियाओं व स्थालों को नारी विद्यमानता के प्रति भी अनुकूल बनाने के लिए, पुरुष–प्रधान संस्थाओं, स्वामित्व प्रतिमानों, निर्णयन् एकाधिकार, आदि को निर्बल करना होगा। यहाँ एक मुख्य संघटक जो स्वीकार किया जाता है, वह लोकतंत्र जहाँ मताधिकार महिलाओं को परम निर्णयन् शक्ति प्रदान करता है। कोई कौतुक नहीं कि अनेक देशों में महिलाएँ ही वहाँ लोकतंत्र लाने हेतु आन्दोलन में अग्रणगामी रही हैं क्योंकि अस्तित्वपरक रूप से देखा जा सकता है कि लोकतंत्र ही महिला–कल्याण और स्वतंत्रता की सबसे बड़ी गारण्टी है। जैसा कि अमर्त्य सेन ने इंगित किया है, ''एक क्षेत्र में स्वतंत्रता अपने साथ ही दूसरे क्षेत्र में स्वतंत्रता को प्रेरित करती है।''

विकास को महिलाओं की सामाजिक स्थिति में एक सकारात्मक बदलाव लाने और लिंगभेदीय शोषण को दूर करने हेतु एकमात्र संभव तरीके के रूप देखा जाता है। भारत का विकासात्मक अनुभव इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। जिसको अब नेहरूवियन अभिदृष्टि के रूप में लिया जाता है वह विकासाधारित ही हैं। भारत में, उदाहरण के लिए, स्वतंत्राप्राप्ति के समय पुरूषों व महिलाओं के बीच राजनीतिक समानता को एक ऐसे विषय के रूप में समझा जाता था जो निश्चित है।

इस प्रकार, आर्थिक समानता ही थी जिसकी ओर देखा गया। आलोचना के बावजूद, विकास ने महिलाओं की दशा को बहुत सुधारा है।

भारत में वर्षों कल्याणवाद उपगम्य तथा आन्दोलन व अन्य स्वायत समूहों के दबाव ने राज्य और पुरूषवर्ग की प्रवृतियों को एक बड़ा दोषनिवारक प्रदान किया है। अस्सीवें दशक के दौरान लिंगभेद को विकास नियोजन में एक महत्वपूर्ण संघटक बनाने के प्रयास किए गए। यह स्थानीय–स्तर प्रशासन, यथा पंचायतों में महिलाओं हेतु 30 प्रतिशत आरक्षण की शुरूआत थी जिससे वे निर्णयन् क्षेत्र में प्रवेश कर सकें। संसद व राज्य विधानसभा में उनके लिए 30 प्रतिशत आरक्षण का मुद्दा तब उठाया गया परन्तु यह अब तक विवादों व बहसों की विपत्तियों में फँसा है और साथ ही अब तक भारतीय संसद के सामने लम्बित भी है।

अर्थशास्त्री सेन ने विकास को ऐसी स्वतंत्रता के रूप में पुकारा जहाँ विकास ही महिलाओं को अपने यथापूर्ण स्वयं को प्रकाशित करने वाली क्षमताएँ प्रदान का एक माध्यम है। यह, जैसा कि तर्क दिया जाता है, साक्षरता, स्वास्थ्य व अन्य ऐसी सुविधाएँ प्रदान करके किया जाना है जो उसको परिवार व समाज में अपनी आर्थिक स्थिति बदलने के साधन प्रदान करती हैं और जिनके द्वारा निर्णयन् शक्तियों से लड़ने के लिहाज से भी उसकी दशा सुधारती है। भारतीय विकास दृश्यघटना में प्रगति के एक फलसफे के रूप में विकास ने मान लिया है कि परिसम्मत्ति निरूपण आदि के सहारे महिलाएँ परम्परिक समाज की अपेक्षा अधिक आजादी महसूस करेंगी। तीसरी दुनिया का विकास कथन नितान्त आरम्भ से ही मानता था कि गरीबी और नितान्त प्रायः महिलाओं का आर्थिक व सामाजिक अपवर्जन हैं जिन्होंने उसे निर्णयन् में किसी भी भूमिका से वंचित किया है। इसने पितृसत्ता तंत्र को दृढ़ किया और महिला शोषण अत्यधिक दरिद्रता के कारण बढ़ा।

भारत के विकासानुभव से देखा जा सकता है कि विकास प्रक्रिया के माध्यम से नारी जीवन के मूल संकेतकों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। शिक्षा, स्वास्थ्य, अथवा जीवन–प्रतयाशा जैसे संकेतक सहज ही सम्बद्ध महिलाओं के कल्याण को प्रकट नहीं करते, बल्कि जैसी कि अनेक अर्थशास्त्रियों या समाजशास्त्रियों द्वारा टिप्पणी की गई है, इसके लाभ आने वाली पीढ़ियों को भी मिलते है।

4.4.9 सारांश

लिंगभेद से तात्पर्य है पुरूषों और महिलाओं का मर्दाना और जनाना में वर्गीकरण, और यह किसी भी प्रदत्त समाज में विद्यमिान सत्ता संबंध को प्रकट करता लै। यह एक सामाजिक–सांस्कृतिक अवधारणा है। महिलाओं को ऐतिहासिक रूप से समाज में एक निम्नतर सामामजिक–आर्थिक व राजनीजिक पदस्थिति प्रदान की गई है और यह आधुनिक समाज में जारी हे। लोकतंत्र तथा विकास ऐसे दो मुख्य क्षेत्र हैं जिनके द्वाराराज्य को प्रगति करनी होती है ताकि पुरूषों व महिलाओं दोनों कासमान व विधिसंगत अधिकारों की गारण्टी देने के लिएराज्य, समाज व संस्थाओं का आधुनिकीकरण हो सके। इस लिहाज से महिलाओं ने भी लोकतंत्र के पुनर्ग्रहण तथा तदोपरांत विकास हेतु आन्दोलन में अपना योगदान दिया है।

विकास के तीन अभिकरण है जिनको नारी अधिकारों हेतु सेघर्ष में महत्वपूर्ण समझा जाता है। ये हैं – व्यक्ति, राज्य और समुदाय। इन सबको एक स्त्री के कल्याण और उसकी क्षमताओं व उसकी स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने में एक भूमिका निभानी चाहिए। परन्तु यह तर्क दिया गया है कि जबकि विकास में प्रौद्योगिकी और पुरूषों के प्रशिक्षण परध्यान केन्द्रित किया जाताहै महिलाओं के आर्थिक काम को कभी काम नहीं माना जाता है, साथ ही गैर–महत्वपूर्ण भी समझा जाता है। विकास की सीधारणाएँ सामान्यतः महिलाओं के विरूद्ध काम करती हैं, असमानताएँ बढ़ाते हुए और उन्हें परिवार व समुदाय के संसाधनों पर उनके सभी प्रकार के नियंत्रण से वंचित करते हुए। इस आलोचना के परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ ने निश्चय किया कि विकासमें महिलाओं को शामिल करने औरउन्हें अर्थव्यवस्था के आकारिक क्षेत्र में अर्थव्यवस्था के आकारिक क्षेत्र में प्रवेश देने के लिए एक सचेत प्रयास होना चाहिए। यह विकास–में–नारी (विड) उपगम्य था। उसमें राज्य अथवा स्थानीय स्तर परमहिलाओं परबहुराष्ट्रीय अभिकरणें द्वारा किए गए काम के नकारात्मक प्रभाव दर्शाते नारी अधिकारवादी आन्दोलनों की एक बडी भीड को जोड़ दियागया। ये अनुीाव सैद्धांतिक स्तर पर हस्तांतरिक किए गए और लिंगभेद–व–विकास (गैड) प्रतिमान के रूप जाने जाने लगे। इसने उसविकास के उन निर्णयन् प्राधारों परएक नजर डाले जाने की वकालत की जो पितृसत्तात्मक आधार पर संरचित थे और प्रायः गैर–पश्चिमी महिलाओं के गंभीर विषयों का ध्यान रखने में अक्षम पाचात्य आदर्शो पर आधारित होते थे। इस प्रकार, एकमात्र संभव समाधान नारी सशक्तीकरण ही है ताकि उनके अपने विकास में उनकी भागीदारी, पुरूष प्रभुत्व से बचने के लिए लघु स्तर की केवल–महिलाएँ परियोजनाओं पर ध्यान केन्द्रित करते और हाल के वर्षों में लिंगभेद विचारधारा, महिलाओं की अधीनस्थता और सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सत्ता संचालन के बीच संबंधों की जाँच–पड़ताल करने की आवश्यकता सुनिश्चित हो। 'गैड' पुरूषों व स्त्रियों पर एक–दूसरे के संबंध में ध्यान केन्द्रित करता रहा है।

लिंगभेद समदृष्टि इस संकल्पना को आवश्यक बनाती है कि सभी मनुष्य चाहे पुरूष हों या महिलाएँ, अपनी व्यक्तिगत योग्यताएँ विकसित करने और ऐसी किसी–भी सीमाबद्धता के बगैर स्वतंत्र हैं जो रूढ़ियों, कठोर लिंगभेद भूमिकाओं तथा

राजनीतिक व अन्य पूर्वाग्रहों द्वारा निर्धारित हैं। उनके भिन्न–भिन्न व्यवहारों व आकांक्षाओं का सम्मान किया जाना चाहिए और समान रूप से पक्ष लिया जाना चाहिए और उनके साथ उनकी अपनी–अपनी आवश्यकताओं के अनुसार भला व्यवहार किया जाए। इसे प्राप्त करने के लिए विकास को एक महत्वपूर्ण समाधान के रूप में देखा जाता है।

4.4.10 अभ्यास प्रश्नावली

1. विकास क्या है और यह महिला अधिकरों को सुनिश्चित करने में कैसे मदद करता है?
2. विकास अभिकरणों की पहचान करें। वे महिलाओं को उत्पादन क्षेत्र में लाने की दिशा में कैसे योगदान करते है?
3. क्या विकास महिला–विरोधी रहा है? टिप्पणी करें।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखेः

   (क) लिंगभेद समानता और

   (ख) विकास–में–नारी (विड) उपगम्य।

अध्याय–5
प्रवसन और विकास

संरचना

xxxiii) उद्देश्य
xxxiv) प्रस्तावना
xxxv) आन्तरिक प्रवास के कारण
4.5.3.1 उपार्जन और रोजगार के अवसर
4.5.3.2 परिवार और नेटवर्क
4.5.3.3 दूरी
4.5.3.4 धन और पूंजीगत बाजार
4.5.3.5 जोखिम पर काबू पाने के लिए परिवार संचालन का कौशल
4.5.3.6 सुख सुविधाओं की उपलब्धता और गुणवत्ता
4.5.3.7 हिंसा, बीमारियां और प्रोत्साहन
4.5.3.8 प्रवास नियंत्रण और प्रोत्साहन
xxxvi) प्रवास के आर्थिक परिणाम
xxxvii) भारत में आन्तरिक प्रवास
xxxviii) 10 ग्रामीण और भाहरी प्रवास प्रवाह
xxxix) प्रवासियों के लक्षण
xl) प्रवास और अधिशहरीकरण
xli) सांराश
xlii) 10 अभ्यास प्रश्नानावली

4.5.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य प्रवास और विकास के सम्बन्ध को स्पश्ट करना है। आन्तरिक प्रवास के कई कारण हो सकते है जैसे उपार्जन और रोजगार के अवसर, सुख सुविधाओं की उपलब्धता आदि और ग्रामीण – भाहरी प्रवास का प्रमुख परिणाम अधिशहरीकरण होता है। जिससे विकास पर प्रभाव पडता है। विकास के मददेनजर भाहरी व ग्रामीण प्रवास में संतुलन होना आवश्यक है क्यों कि प्रवास अर्थव्यवस्था में बचत की दर और संचयन को प्रभावित कर सकता है। यही यह अध्याय स्पश्ट करता है।

4.5.2 प्रस्तावना

भारत में संविधान का अनुच्छेद 19 सभी नागरिकों को भारत में किसी भी जगह रहने तथा बसने का अधिकार अभिनिश्चित करता है। गतिशीलता की यह स्वतंत्रता किसी स्वतंत्र और उदारवादी आर्थिक व्यवस्था के विकास के लिए आदर्श मानी जाती है। कम से कम एक बार आवास में परिवर्तन अधिकांश देशों के लिए बिल्कुल आम हो गया है। जनगणना आंकड़ों से पता चलता है कि 1976 से 1981 तक पांच वर्श में 7 प्रतिशत भारत की जनसंख्या देश के भीतर गतिमान रही है।

4.5.3 आन्तरिक प्रवास के कारण

प्रवास एक जटिल स्थिति है जिसके बहुत से कारण है जिन्हें हम दो घटकों 'धकेलना' और खींचना' में बांट सकते है।

4.5.3.1 उपार्जन और रोजगार के अवसर

यह भली–भांति मान्यता है कि मूल स्थान और गन्तव्य के बीच उपार्जन जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक संभावना सक्षम व्यक्तियों के भ्रमण की होती है। भाहरी क्षेत्रों के बहुत से प्रवासी आरंभ में अनौपचारिक क्षेत्र में प्रवेश करते है। क्योंकि कुछ लोगों के लिए यह अधिक उचित रोजगार मिलने से पहले संक्राम्य चरण होता है। तथापि, इन प्रतिमानों के

सांख्यिक अध्ययन अनौपचारिक क्षेत्र को परिभाशित करने में सुस्पश्डता की कमी से बाधित हैं और प्रमाण यह स्पश्ट नहीं करता कि क्या उचित और अनौपचारिक क्षेत्र समान कामगरों को ऊपरी तौर पर उच्च भुगतान पेश करते है।

भाहरी प्रवासी आरंभ में अवलोकन तौर पर समान स्थानीय लोगों की तुलना में कम अर्जन करते हैं परन्तु प्रमाण से पता चलता है कि यह अन्तर कुछ वर्शों के भीतर गायब हो जाता है तथा स्थिति उलट हो जाती है।

इस बात की उपलब्धियां अभी स्पश्ट नहीं है कि क्या अलग–अलग स्थानों के बीच बेरोजगारी दरों में अन्तर प्रवास के अवसर बढते है। सीमित प्रमाण से संकेत मिलता है कि प्रवासी अक्सर देश छोड़ने से पहले अपने लिए भाहरी रोजगार की पहचान करते है जबकि कुछ अन्य प्रवासी देशान्तरण के बाद काम की तलाश करते प्रतीत होते हैं जो या तो अस्थायी रोजगार में होतें है अथवा पूरी तरह बेरोजगार होते है। तथापि, एक अध्ययन से स्पश्ट है कि विकासशील देशों में कृशि से अन्य प्रवास केवल तभी बन्द होगा जब उपार्जन के बीच अन्तर पूरी तरह समाप्त हो जाए। यह भी तर्क दिया जाता रहा है कि बेरोजगार कार्यकर्ता के पास अपने गृह/देश में बस जाने के लिए पुनर्रोजगार के अधिक अवसर वहां होते है। जहां सूचना और सम्पर्क भीघ्रातिशीघ्र उपलब्ध हो।

नव सृजित रोजगार के अवसरों की अवस्थिति अंशतः अपनाई गई विकास प्रक्रिया पर निर्भर होती है। इस परिकल्पना की योजनाबद्व जांच नही हो पाती कि आयात के बदले में बडे भाहरों में अधिक रोजगार मिलते है, यद्यपि भारतीय प्रकरण के अध्ययन से संकेत मिलता है कि उदारीकरण के कारण नए भाहरों का विकास हुआ हैं।

यह परिकल्पना की गई है कि बडे भाहरों में रोजगार की विविधता अधिक रहती है और इसीलिए कार्य छोड देने की स्थिति में पुनर्नियोजन के अधिक अवसर होते है। इससे प्रवासी कार्यकर्ता के लिए बडे भाहर अधिक लुभावना होते है।

4.5.3.2 परिवार और नेटवर्क

भाहरों मेंपरिवार और उसके दोस्तों के बीच नेटवर्क होने से भाहरों में प्रवास को प्रोत्साहन मिलता है। इसके प्रतिकूल, घर पर सुविकसित नेटवर्क होने से देशान्तरण हतोत्साहित होता है। भाादी के समय पत्नी से मिलने अथवा उसका साथ देने के लिए देशान्तरण आम प्रतीत होता है। कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि माता–पिता जब अपने निजी प्रवास का निर्णय लेते हैं तब उनके दिमाग में उनकी सन्तान का कल्याण भी सन्निहित होता है। भाहरी प्रवासी प्रायः आरंभ में समान पडौस में प्रजातीय तौर पर रहते है। जिससे संकेत मिलता है कि नेटवर्क से कुछ मामलों में देशान्तरण की प्रभावी लागत कम आती है।

4.5.3.3 दूरी

लघु दूरी के लिए प्रवास दूरस्थ स्थानों के प्रवास के मुकाबले अधिक आम है। क्या इससे अधिक दूर जाने पर अधिक लागत का पता चलता है, दूरस्थ विकल्पों के बारे में सूचना की कमी अथवा निकटस्थ आवास में देशान्तरण की कमी का अवनिर्धारण नहीं हो पाता है।

4.5.3.4 धन और पूंजीगत बाजार

अधूरे और अपूर्ण स्थानीय पूंजीगत बाजार बाहरी प्रवास को बढावा देते है जो या तो परिवारों की योग्यता पर प्रत्यक्षतः प्रतिबन्ध पर लगाकर अथवा रोजगार सृजन को प्रभावित करके अप्रत्यक्ष तौर पर होता है।

महंगे प्रवास के वित्तपोाण की सुअवसर लागत संभतया धनी परिवारों के लिए कम होती है। इसके दो महत्वपूर्ण कारण है प्रथम, अन्य बातें समान होनेपर धनी परिवारों से प्रवास अधिक आम है और इसके बदले में आय मं असमानता बढ जाती है दूसरे, चूकि,जब एक क्षेत्र धनी हो जाता है तो बाहर प्रवास वस्तुतः बढ जाता है क्योंकि वितीय अडचनें कम हो जाती है। इन दो कारणों पर अनुभवजन्य उलझे हुए और विवादित है। कुछ अन्यान्य परिवारों के अध्ययन मात्र से धन प्रभाव की जाँच होती है और असके परिणाम किसी भी नतीजे पर पहुंचने के लिए काफी उलझन भरे होते है। कुछ ऐतिहासिक अध्ययन के अनुसार प्रवास में उस समय वृद्धि होती है जब सकल घरेलू उत्पाद बढता है परन्तु यह भाायद प्रमुखतः जनसांख्यिकीय संक्रमण का प्रभाव है और वितीय अडचनों को कम करने की बजाए रोजगार की बदली हुई स्थिति का प्रतीक है।

4.5.3.5 जोखिम पर काबू पाने के लिए परिवार संचालन का कौशल

परिवारों द्वारा अपनी जिम्मेदारी स्वयं वहन करने का एक तरीका है अपने सदस्यों को ऐसे स्थानों पर प्रवासित करना जहां आर्थिक प्रतिकूलता का सामान्यतः घर पर सामंजस्य न हो सके। मूल गृह और प्रवासी के बीच संप्रेशण से खपत आसान हो जाती है। इस परिदृश्य के संप्रेशण भाग के अनुरूप कुछ प्रमाण है। तथाप, इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि प्रवास उच्च आर्थिक जोखिम वाले समुदायों में अधिक है।

4.5.3.6 सुख सुविधाओं की उपलब्धता और गुणवत्ता

किसी स्थान विशेश पर सुख सुविधाओं के बढने से उधोग आकर्शित होतें है अथवा कृशि का विस्तार होता है। रोजगार विस्तरण और उच्चतर वेतन की सीमा तक बाहरी प्रवास हतोत्साहित किया जाए तथा देश के भीतर प्रवास को प्रोप्तसाहित

किया जाए। स्थानीय सुख सुविधाओं से प्रवासी के निर्णय पर प्रत्यक्ष प्रभाव पढ सकता है। तथा जीवन स्तर अधिक आकर्शक हो सकता है। दुर्भाग्यवश, विकासशील देशों में प्रवास परिणामों से सुख–सुविधाओं को प्रभावित करने वाला कोई प्रमाण विद्यमान में प्रतीत नहीं होता है।

4.5.3.7 हिंसा, बीमारियां और अकाल प्रभार

यह सुस्पश्ट है कि हिंसा और प्राकृतिक अकाल की गाथाओं के परिणामस्रूप आन्तरिक तौर पर विस्थापित व्यक्तियों अथवा अन्तराश्ट्रीय भारणार्थियों का बडे पैमाने पर देशान्तरण होता है। तथापि, हिंसा, राजनीतिक दबाव और बढते हुए अकालों से बार–बार जोखिम के जारी रहने की सीमा तक प्रवासियों का प्रवाह सुप्रलेखित संख्या से काफी कम है।

4.5.3.8 प्रवास नियंत्रण और प्रोत्साहन

कुछ देशों ने आन्तरकि प्रवास पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास किया है। जब तक राज्य बडे उपाय को तैयार नहीं होता, इस तरह के नियंत्रण आमतोर पर अप्रभावी रहते है। कई संदर्भो मं यह पाया गया है कि बहिश्कृत प्रवासी जल्दी ही वापस आ जाते है। कुछ साम्यवादी राजयों में रोजगार, मकान, भोजन राशन और अन्य राज्य प्रसुविधाओं तक पहुंच कुछ विशिश्ट सीनों तक सीमित है जिससे कार्य का प्रोत्साहन न मिलने से प्रवास पर प्रभावपूर्ण रोक लगती है। तथापि, कम से कम चीन में, अधिकतर बाजार उन्मुखी व्यवस्था के आने से इन नियंत्रणों की प्रभावकारिता में कमी आई है और प्रवास मं भलीभांति वृद्धि हुई है।

अर्थव्यव्स्था में एक गतिशील श्रम बल बेहतर दक्षतापूर्ण उत्पादन के लिए एक महत्वपूर्ण संघटक हो सकता है। जहां उच्च वेतन अच्छा उत्पादकता का संकेत देते हैं वहां वेतन लाभ के लिए प्रवास से उत्पादन की गुणवत्ता में सुधार होता हैं। तथापि, सामान्यीकरण के लिए उत्पादक गुणवत्ता के प्रति आन्तरिक प्रवास के कुल अंशदान पर कुछ अध्ययन हुए हैं।

प्रवास अर्थव्यवस्था में बचत की दर और संचयन को भी प्रभावित कर सकता है और इस प्रकार भाायद विकास को भी। विशेशतः आमतौर पर माना जाताहै। अस्थायी प्रवासी अपने उपार्जन का अधिकांश बचत करते हैं क्योंकि जोखिम विमुख प्रवासी कम और निश्चित आय के कारण अपने घर वापसी के लिए बचत करते है और इसीलिए कि परिवार से अलग रहकर व्यय की सीमांतक उपयोगिता कम होजाती है। तथापि, अस्थायी आन्तरिक प्रवास के संदर्भ में समर्थक प्रमाण नहीं हे। फिर भी, अस्थायी प्रवास से अस्थायी रूप से बचत करने के रूझान में वृद्धि हो सकती है।

प्रवास से केवल उत्पादन की गुणवत्ता पर ही अन्तर नहीं पडता अपतिु यह विभिन माध्यमों से गंभीरता पूर्वक आय के वितरण को भी प्रभावित करती है।

प्रवासी काल्पनिक तौर पर प्रवास से उस समय तक लाभ उठाते है जब तक वे निर्णय में कोई गलती न करें अथवा प्रवास के संदर्भ में सटटेबाजी से कुछ भी हासिल नहीं होता है अथवा प्रवास प्रवासी की निजी स्वतंत्र इच्छा नहीं है।

तथापि, प्रवास से जुडी सामाजिक गतिशीलता में परिवर्तन होता रहता है। भारत से प्रमाण संकेत देता है कि भाहरी प्रवासी गृहस्थों का एक छोआ ग्रुप अतयधिक दयनीय हालत में समय गुजारता है जब कि एक औसतन प्रवासी गृहस्थ विशेशतः भाहर में कुछ समय के उपरान्त गैर–प्रवासियों की तुलना बेहतर जीवनयापन करता हैं ।

प्रवास मूल स्थान और गंतव्य दोनों जगह लोगों की आय कोभी प्रभावित करता है। इसका एक कारण यह हैकि जैसे ही प्रवासी श्रमिक स्थानानतरण करते है गैर प्रवासियों का उपार्जन का तरीका बदल जाता है। यह स्पश्ट नहीं है कि क्या मूल स्थान पर मजूदरी में वृद्धि होती है अथवा यह गन्तव्य स्थान पर घट जाती है। आगे चलकर, कुशल प्रवासियों के प्रस्थान से उनके बीच छूट गए लोगों की शिक्षा और प्रशिक्षण में वृद्धि हो सकती है परिणामस्वरूप मानव पूंजी में अधिक निवेश होता है तथा आय में वृद्धि होती है। इसके प्रतिकूल कम से कम दो बल कार्य करते है।

प्रथम, सुशिक्षित कार्यकताओं के पूल द्वारा संचालित सामूहिक अर्थव्यव्स्था का प्रत्यक्ष प्रमण मिला है। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि कुशल कारीगारों के जाने से शिक्षा में वस्तुतः कमी आ सकती है।

दूसरे, प्रवासी माता–पिता द्वारा अपने पीछे छूट गए बच्चों की शिक्षा पर दो विरोधाभासी बल कार्य करते है, प्रवास से अधिक वित्त पोशण तथा बेहतर शिक्षा के संसाधन मुहैया हो सकते है परन्तु माता–पिता की गैर मौजूदगी में बच्चों को विद्यालय भेजने की वचनबद्धता कम हो जाती है।

एक अन्य प्रमुख मार्ग जिसके माध्यम से प्रवास गैर प्रवासियों की आय को प्रभावित कर सकता है, सम्प्रेशण है। इससे धनी और निर्धन परिवार कितना लाभ उठाते हैं, अभी तक कुछ विवादित मामला है। भारत में आदिम गांवों के अध्ययन से पता चलता है कि ग्रामीण– ाहरी प्रवास जो ग्रामीण ग्रहस्थों में से निर्धनतम के बीच दुर्लभ तथा कृशिक मजदूरों के बीच अधिक आम है, पुनः बेहतर स्थिति वाले ग्रामीण ग्रहस्थों के बीच कम होता है, परन्तु ग्रामीण धनियों के पढें लिखे बच्चे आमतौर पर भाहरों चे चले जाते है। ग्रामीण अध्ययन के इन प्रेक्षणों कि भाहर से गांव की ओर संप्रेशण कम है तथा यह कि धनी परिवारों के बच्चों की उनके ग्रामीण सम्बन्धों को बनाए रखने और सम्प्रेशण की अधिक संभावना है, के साथ जोड़ने पर यह अथ निकलता है। कि सम्प्रेश्याण अपेक्षाकृत धनी ग्रामीण परिवारों को प्रमुख तौर पर लाभ पहुंचाते है।

4.5.5 भारत में आन्तरिक प्रवास

जनसांख्यिक प्रवास को चार व्यापक नजरों से देखते हैं :

क) ग्रामीण इलाकों में,

ख) भाहरी इलाकों में,

ग) गग्रमीण से भाहरी इलाके में, और

घ) भाहरीसे ग्रामीण इलाकों की ओर।

इन वर्गों में वस्तुतः अन्तर– राज्य, अन्तः राज्य और अन्तर– राश्टीय प्रवास परिवेश्टित है। 1991 की जनगणना में रोजगार, शिक्षा, कारोबार, विवाह, परिवार, पुनरावस्थिति, प्राकृतिक आपदा और अन्य का विश्लेषण किया गया ।

1991 की जनगणना के आधार पर कुल प्रवासी जनसंख्या 8,21,07,175 अर्थात् मोटे तौर पर देश की जनसंख्या का 9 प्रतिशत थी। इसका लगभग दो–तिहाई महिलाएं थी। तथा मात्र आधी संख्या (27,255,302) पुरूशों की थी। कुल प्रवासियों में 85.1 प्रतिशत ने अपने 0.9 वर्श का समय अन्तिम गणना के आवास के स्थान पर बिताया है। देश भर में कुल प्रवासियों का 13.5 प्रतिशत प्रवास राज्यों के बीच सीानान्नतरित हुआ।

विभिन्न राज्यों के ब्यौरों से रोचक परिणाम सामने आते हैं। महाराश्ट्र में सर्वाधिक प्रवासी (16,65,328) प्रविश्ट हुए। इसके पश्चात दिल्ली (15,87,661) पश्चिम बंगाल (10,96,152) मध्यप्रदेश (9,78,478)और उत्तर प्रदेश (8,07,459) में प्रवासियों की संख्या कमशः कम होती गई । किसी राज्य से बाहर अधिकतम आवजन उत्तर प्रदेश (24,57,996) से तथा उसके बाद ठीक आधी संख्या में बिहार से हुआ। तमिलनाडु, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, उडीसा, राजस्थान और पंजाब राज्य के अन्दर और बाहर कमोबेश बराबर की संख्या में आव्रजन हुआ। केरल में 2,64,140 प्रवासी आए 4,39,285 बाहर गए। गुजरात और बिहार राज्य के अंदर और बाहर प्रवास के सम्बन्ध में रोचक तुलनात्मक स्थिति पेश करते है। बिहार की ओर आने वाली जनसंख्या 3,61,337 तथा बिहार से बाहर जाने वाली जनसंख्या 12,26,839 थी। इसके प्रतिकूल, गुजरात में आने वाले प्रवासी 7,16,190 बिहार के मुकाबले दुगने थे तथा बाहर जाने वाली जनसंख्या 3,05,738 मोटे तौर पर बिहार छोडने वाली जनसंख्या का एक चौथाई थी।

वस्तुतः विभिन्न राजयों में और राज्यों से बाहर प्रवास विभिन्न विकास सूचकांको जैसे औधोगिकीरण, शिक्षा और रोजगार की उपलब्धता पर उनके निश्पादन के कारण हो सकता था।

जबकि बिहार और गुजरात में समीक्षात्मक विभिन्नताएँ है, किसी राज्य में प्रवास प्रतिदर्शो, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में बडे पैमाने पर प्रवासियों का आना इन राजयों में विशाल जनसंख्या के प्रति विचारणीय हो सकता है। अन्नतरराश्ट्रीय प्रवासी कुल प्रवासी जनसंख्या का मात्र 1.3 प्रतिशत हैं।

भारत को निरन्तर एक स्थिर जनसंख्या वाले राश्ट्र के रूप में जाना जाता है। इस भाताब्दी में आन्तरिक प्रवास में नियमित रूप से वृद्धि हुई है। तथापि, प्रवास में प्रतिशतता वृद्धि उप सहारा अफीका के हिस्सों में होने वाले सक्रिय पारगमन की तुलना में बहुत कम मानी गई है। भारत में प्रवास अधिकतर परम्परागत रूप अल्पकालिक तौर पर एक गाँव से दूसरे गांव तक आवागमन तक सीमित है जो सभी प्रवासों के 60 प्रतिशत से अधिक है और इसमें अधिकतर महिलाएँ भाामिल हैं जो भाादी होने पर अपने पैत्रिक गांव से विवाहोत्तर गांवों मं चली जाती है। लम्बी दूरी वाले भाहर–उन्मुख प्रवास भारत के अन्दर कुल आवागमन का बहुत छोआ सा हिस्सा है जिसके कारण साहित्य में भारत की जनसंख्या को विचरण न करने वाली जनसंख्या का नाम दिया जाता है तथा यह गतिशीलता के प्राारम्भिक दौर में बनी रहती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृशि क्षेत्र की प्राथमिकता से जनसंख्या भूमि कार्य से जुडी हुई है। इस बारे में सुझाव है कि लम्बी दूरी वाला भाहरोन्मुख प्रवास केवल तभी संभव होगा जब भारतीय अर्थव्यवस्था के औधोगिक आधार में वृद्धि हो। इसके अतिरिक्त, कृशि की वर्चस्वता से कहीं पर बस जाने और कमाने की संस्कृति का सृजन हुआ है ज ो प्रवास को निरूत्साहित करती है। छोटी उम्र में विवाह और जनता के मध्य निकट के गाँवों और क्षेत्रों मं अन्तर्विवाहों की परम्परा से प्रौढों पर जल्दी उत्तरदायित्व आ गए हैं तथा लम्बी दूरी पर प्रवास करने की आवश्यकता में कमी आई है। अन्ततः सुझाव दिया जात है कि भारत की आर्थिक और सांस्कृतिक विविधताएँ इस प्रकार की हैं कि यहां कि कुछ राज्य यूरोपीयन देशों के मुकाबले आकार में अधिक बडे है। और यहां अन्तर्ग्रस्त लम्बी दूरियाँ लम्बी दूरियां और अपेक्षित सक्षम सामाजिक–आर्थिक अनुकूलताएं लम्बी दूरी के प्रवासों को हतोत्साहित करने के लिए स्वयमेव पर्याप्त है।

4.5.6 ग्रामीण और भाहरी प्रवास प्रवाह

1960 के दशक में प्रवास पर स्थानीय तौर पर गांव से गांव के बीच प्रवास का वर्चस्व था जिसे अधिकांश भाताब्दी के लिए भारतीय प्रवास का नाम दिया गया । तथापि, यह अवधि कम दूरी वाले ग्रामीण और भाहरी इलाकों में प्रवास की संख्या में वृद्धि की साक्षी थी। यद्यपि लम्बी दूरी का प्रवास जो अभी भी भारत की प्रवास व्यवस्था का आंशिक पहलू है, पर भाहरी

क्षेत्रों की ओर पलायन का वर्चस्व था जिसमें भाहरी रहन–सहन का विकास अन्तर्निहित है। यह दशक भाहरी अर्थव्यस्था में भारी वृद्धि और उससे जुउे हुए छोटे कस्बों के प्रगतिरोध का घोतक है। इस प्रकार इस अवधि में भारत में भाहरीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई यद्यपि भाुरूआती दौर में यह लम्बी दूरी के पलायन से आरंभ हुई। भाहरीकरण में वृद्धि अभी भी जारी है। क्योंकि भारतीय प्रवास व्यवस्था में गांवों से भाहरी प्रवास का महत्व बढ रहा है।

1960 के दशक में गांवों से भाहरी क्षेत्रों की ओर बहिर्गमन कुल प्रवास का 14.6 प्रतिशत था। 1970 तक यह बढकर 15.3 प्रतिशत तथा 1991 में और बढकर 17.7 प्रतिशत हो गया।

1960 के दशक से भारत में ग्रामीण – भाहरी प्रवास में वृद्धि के बावजूद प्रवास व्यवस्था पर एक गांव से दूसरे गांव में प्रवास का वर्चस्व बना हुआ है (सारणी) 1991 में सम्पूर्ण प्रवास का 64.5 प्रतिशत प्रवास ग्रामीण क्षेत्रों में हुआ है। पैतृक भाादियों के प्रचलन के कारण गांव के प्रवास में महिलाओं का बहुमत है। यद्यपि प्रक्रिया देशभर में लागू है अतः किसी के द्वारा सुझाव दिया गया है कि भारतीय विवाह बाजार, विवाह व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से लम्बी दूरी अधिक व्याप्त है। परिणामस्स्रूप गांव से गांव के प्रवास की दूरियों में वृद्धि हुई। जिससे अन्तर राज्यीय गांव से जुडे हुए प्रवासों की संख्या बढ़ी है। बढ़ते हुए प्रौधोगिकी कृशि पद्धतियों के विकास और परिणास्वरूप उत्तर पश्चिम भारत में कृशिक मजदूरों की मांग में वृद्धि ने गांव तक लम्बी दूरी के पलायन में वृद्धि को प्रेरित किया है जिससे कृशि कार्य के लिए अवसरों में वृद्धि हुई।

बकी ग्रामीण और भाहरी प्रवासों (शहरी–ग्रामीण और भाहरी–शहरी) का योग भारत में प्रवास तंत्र का मात्र एक छोटा पहलू बना हुआ है। 1960 के दशक में भाहरीकरण में वृद्धि के उपरान्त भाहरी– ाहरी प्रवास कुल प्रवास का लगभग बारह प्रतिशत बनता है। भाहरी– ाहरी प्रवास का अधिकांश भाहरी रहन–सहन के माध्यम से ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के रूप में है। तर्क दिया जाता है कि ऐसे प्रवास पर लोक सेवकों क्षेत्रों में नियोजित उन सभी का वर्चस्व है जो विशाल भाहरी क्षेत्रों में जाकर पर्याप्त बडे वेतन के माध्यम के अपने रोजगार में सुधार के इच्छुक होते है। इस प्रकार अधिकांश पलायन प्रति व्यक्ति कम आय वाले क्षेत्रों से उन क्षेत्रों में होता है जहां प्रतिव्यक्ति आय अधिक है।

भाहरों से ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवास निरन्तर कुल प्रवास की न्यूनतम प्रतिशतत (1991 में लगभग 6 प्रतिशत) बना हुआ है। सामान्यतः हम यह सोचते है कि गांव से भाहरी प्रवास में वृद्धि उसके समान्तर लोगों के भाहरी क्षेत्रों से उननगरीय क्षेत्रों में पलायन को बढ़ावा देती है। तथापि, यह संकेत देने के लिए कोई अनुभवजन्य प्रमाण नहीं है कि प्रवासीय व्यवहार को दर्शाने वाला सिद्धान्त केवल भारत के संदर्भ में लागू होता है। यह बताया गया है कि भाहरी क्षेत्रों में रोजगार की कमी भाहरी–ग्रामीण प्रवास के पीछे मुख्य घटक है। इसके अतिरिक्त तर्क दिया जाता है कि अस्थायी श्रमिकों की वापसी उस प्रवासी प्रवाह का एक प्रमुख वर्ग बन सकता है। यह भी सूचित किया गया है कि वापस आने वाले प्रवासी वे है जिन्होनें भाहरी क्षेत्र में आर्थिक रूप से अपनी उत्पादक जीविका पूरी कर ली है और अपने ग्रामीण मूल क्षेत्र को वापस आ रहे है। जिनके अपनी निजी कृशि भूमि है उनकी इस प्रकार के प्रवास में सहभागिता की सर्वाधिक संभावना रहती है।

4.5.7 प्रवासियों के लक्षण

गतिशील जनसंख्या के लक्षणों का अध्ययन ऐसा क्षेत्र है जो प्रवास पर आयु, लिंग और वैवाहिक स्थिति वार जनगणना आंकडों की उपलब्धता के बावजूद, भारतीय जनसांख्यिकी में अत्यधिक अनदेखा क्षेत्र है। इस विशय पर अधिकांश साहित्य लघु पैमाने पर अनुभवजन्य अध्ययनों का हवाला देता है जिससे सभी प्रवासियों के आम लक्षणों की कल्पना की जाती है। भारतीय प्रवास का प्रमुख लक्षण आयु का चयन है। यह दर्शाया गया है कि 25–30 वर्श का आयु वर्ग सर्वाधिक प्रवासी ग्रुप है। तथापि, पुरूश प्रवासियों की तुलना में महिला प्रवासी पति सीानिक विवाह के कारण, कम आयु वर्ग की हैं। इस प्रकार आयु का चयन अन्तः राज्य और आन्तर्राज्यीय दोनों स्तरों पर सभी प्रवास प्रवाहों में स्पश्ट हैं और यह एकमात्र लक्षण ऐसा है जो भारत में सभी प्रवास प्रवाहों के लिए सार्वभौमिक है।

भारत में प्रचलित प्रत्येक प्रवास प्रवाह दृढऋता से लिंग का चयन करता है। अन्तःराज्य स्तर पर महिलाएँ गांव से गांव प्रवास पर वर्चस्व बनाए हुए हैं जो कुल प्रवासियों के दो तिहाई से अधिक हैं। यह वर्चस्व ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं द्वारा विवाहोत्तर प्रवास की प्रक्रिया के कारण हैं। ग्रामीण– ाहरी तथा भाहरी– ाहरी प्रवाह दोनों पर पुरूशों का वर्चस्व है और अन्तरराज्यीय स्तर पर सभी प्रवास प्रवाहों पर पुरूशों का वर्चस्व है। कुल प्रवासियों के साथ प्रवासी महिलाओं का अनुपात प्रवास की दूरी के विलोमतः बदलता है तथा लम्बी दूरी तक ग्रामीण– ाहरी और भाहरी– ाहरी पलायनों के पुरूश वर्चस्व पर जोर देता है। इस प्रकार लिंग चयन के पीछे मुख्य कारण प्रवास के कारणों में समाहित है यह कल्पना की जाती है कि पुरूश प्रवास प्रमुखतः आर्थिक कारणों से तथा महिला प्रवास के कारणों में समाहित है यह कल्पना की जाती है। पुरूश प्रवास प्रमुखतः आर्थिक कारणों से तथा महिला प्रवास के कारणों में समहित है इस प्रकार ऐसे प्रवास जिनका गन्तव्य भाहरी है और जहां आर्थिक अभिलाशी की इच्छा रहती है, महिलाओं के मुकाबले पुरूश प्रवासियों को आकर्शित करेंगे। जब पुरूश भाहरी क्षेत्रों की ओर पलायन करते हे तो उसके पीछे ग्प्रमीण क्षेत्रों में परिवार की सुरक्षा के लिए महिलाएं बनी रहती है।

केरल में पुरूश प्रधान प्रवास के प्रभावों के अध्ययन से पता चला कि गृहस्थ स्तर पर संप्रेशण के प्रवाह से प्रमुख प्रभाव आय में वृद्धि था। तथापि, गांव से भाहरी प्रवास का पुरूश वर्चस्व सम्पूर्ण भारत में एक जैसा नहीं है। उततर भारत में ऐसे

प्रवास में पुरूश का चयन अधिक है और दक्षिण भारत में ग्रामीण भाहरी प्रवास में महिलाओं की सहभागिता बढ रही है उत्तर भारत में प्रवासके लिए पुरूशों के अधिक चयन ने जाति प्रथा और धर्म दोनों को प्रभावित किया है। इस प्राकर जातियां आमतौर पर भूमिहीन है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए पति–पत्नी के अलग रहने की आवश्यकता कम हो गई है। उत्तर भारत में इस्लाम के प्रवास प्रभाव से महिला प्रवास पर रोक लीग है परिणामस्वरूप कई उत्तरी भाहरों में पुरूश लिंग अनुपात प्रभावित हुआ है।

तथापि, सिद्धान्त से संकेत मिलता है कि गांव से भाहरी प्रवास अधिकांशतः उन प्रवासियों के लिए आर्थिक रूप से चयनात्मक है जो कम आयु ग्रुपों से मूल रूप से सम्बन्धित है और उसके परिणास्वरूप एक बार भाहरी क्षेत्रों में आने पर हमेशा के लिए निम्न–आय वर्ग में बने रहते है। इस तरह की प्रक्रिया भारत में ग्रमीण– भाहरी प्रवास के आर्थिक चयप को प्र्याप्त रूप से स्पश नहीं करती है। भारत में निर्धन और धनी दोनों जो प्रवास करते है, आमतौर पर बहुत निर्धननतम, मध्य अथवा धनी वर्ग से सम्बन्ध रखते है।

यह सुझाव दिया गया है कि निर्धन के लिए भाहरी प्रवास ग्रामीण क्षेत्रों मं घटती हुई उत्पादकता के प्रति एक जिन्दा रहने की कला है जबकि धनी के लिए ऐसा प्रवास आर्थिक से चयन के लिए होता है । प्रवासी की आर्थिक दशा केवल प्रवास के लिए प्रेरणा ही नहीं देती अपितु प्रवासके साधन भी मुहैया कराती हें

भारत में प्रवास का महिला बहुत गांव से गांव तक लघु दूरी पर पलायन का इतिहास है गत चार दशकों में प्रवास में अन्तर्ग्रस्त लोगों का इतिहास हैं गत चार दशकों में प्रवास में अन्तर्ग्रस्त लोगों की संख्या मं मामूली – सी वृद्धि हुई है जिससे अधिक दूरी के पलायन वाले भाहरी गन्तव्यों की ओर प्रवास प्रवाह में धीरे–धीरे वृद्धि हो रही है। महिलाओं के आर्थिक क्रियाकलापपों में हाल में हुए परिवर्तनकुछ प्रवास प्रवाहों के लिंग चयन मे धीरे–धीर बदलाव लाने के लिए कार्यरत है। भाहरी क्षेत्रों की वृद्धि और परिणामस्वरूप उद्योग आधारित रोजगार के सृजन से ऐसे प्रवास के लिए आर्थिक प्रोत्साहन मिलने लगे हैं जो भाहरी क्षेत्रों मं वर्चस्व बनाए हुए हैं।

4.5.8 प्रवास और अधिशहरीकरण

ग्रामीण– भाहरी प्रवास का मुक्ष्य परिणाम अधिशहरीकरण है। अधिशहरीकरण में भाहरों मं रहने वाले राष्ट्रीय जनसंख्या के अनुपात में विशुद्ध वृद्धि ओर विशिश्ट भाहरों में जनसंख्या का घनीकरण सन्निहित है। इस सीमा तक कि ग्रामीण– हरी आव्रजन से ग्रामीण और भाहरी क्षेत्रों में श्रमिक का गलत आवंटन होता है और देश की बढती हुई जनसंख्या के लिए रहन–सहन की लागत में वृद्धि होती है, अधिशहरीकरण एक समस्या है। इसे अधिक जनसंख्या वाले देशों में प्रयुक्त हुआ माना जाता है। जैसे भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, और मिश्र तथा लेटिन अमेरिका का उतना भाग जहां ग्रामीण श्रमिक की सीमांतक उत्पादिकता भून्य है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में जहां बंजर भूमि अभी भी उपलब्ध है और जहां कृशि के विस्तार पर संस्थागत अवरोंधों पर काबू पाया जा सकता है वहां ग्रामीण– हरी आव्रजन से संभाव्य कृशिक पेदावर की हानि होती है। यह भी याद रखना होगा कि ग्रामीण जनसंख्या का अधिकांश पूर्णकालिक अथवा अंशकालिक गैर कृशि कार्यों में लगा हुआ है। कृशि परिवारें द्वारा श्रमिक उपयोग अत्यधिक है। वर्तमान ग्रामीण– हरी आव्रजन प्रतिदर्शों की अदक्षता संभाव्य ग्रामीण उतपादन की हानि और भाहरों क्षरा अपने विद्यमान श्रमबल को उत्पादक कार्यों में पूर्णरूपेण लगाने में अक्षमता का परिणााम है।

अधिशहरीकरण की समस्या में व्यश्टिगत स्तर पर अदक्षता के बावजूद अधिकांश प्रवासियों का कहना है कि उन्हें आर्थिक कारणों से पलायन के लिए उकसाया जाता है और यह उनकी आर्थिक दशा में सुधार हुआ है। तब व्यश्टिगत ग्रामीणों के लिए प्रवास आर्थिक कारणों के प्रति युक्तियुक्त प्रतिक्रिया हो सकता है और पलायन से होने वाले लाभ को खारिज करन इतना आसान नहीं है। परन्तु राज्य के दृश्टिकोण से प्रवासियों द्वारा भाहरी संसाधनों और सुख–सुविधाओं पर दबाव के बारे में क्या कहना है? और विकासशील स्वयमेव इस समस्या के निवारण के लिए क्या कर रहे है ?

राश्ट्रीय नीतियों निश्चित तोर पर अधिशहरीकरण के लिए योगदान करती है जब भाहर तथा गांव के बीच आय उपार्जन अवसरें में तीव्र असंतुलन पैदा होता है तब लोग भाहरी कामें की तलाश में पलायन करने के मजबूर हो जाते है।

इसका निराकरण करने वाली राश्ट्रीय नीतियों में भाामिल है संस्थागत रूप से कठोर न्यूनतम वेतन नीतियां, अधिक मूल्यांकित विदेशी मुद्रा दरें जिनके कारण पूंजी का मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से कम हो जाता है, भाहरी सेवाओं का प्रतिव्यक्ति असमानुपाती प्रावधान, विशम लोक निवेश और कराधीन कार्यक्रम जो प्रमुख भाहरी इलाकों में रहने के लिए घरेलू और विदेशी दोनों प्रकार के निवेशकों को प्रोत्साहन मुहैया कराते है और परिवहन व्यवस्था जो महानगरों और इसके इर्द–गिर्द के इलाकों तथा उपेक्षित पृश्ठ प्रदेश पर केन्द्रित रहतीहै।

सरकारी नीतियों में ग्रामीण और भाहरी आर्थिक अवसरें के बीच अधिक सजीव संतुलन पेदा करने की आवश्यकताओं होती जो ग्रामीण विकास और विसरित भाहरीकरण कौशल के वास्तविक संजयोजन से पैदा होते है इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विनिर्दिश्ट लघु, मध्यम और दीर्घकालिक नीति उपस्कर उपलब्ध हैं।

अल्पावधि नीतियों में ग्रामीण रोजगार और उससे जुड़े हुए आय–उपार्जक अवसर पैदा करने तथा आन्तरिक प्रवास की व्यवस्था को सुधारने और उसे युक्तिसंगत बनाने का प्रयास भामिल होना चाहिए। इसे भूमिहीन अकुशल, अर्द्धकुशल के

लिए ग्रामीण लोक निर्माण कार्यक्रम कृशि उत्पाद समर्थन मूल्य जिसमें फसल बीमा योजनाएँ, प्रतिभूतियां और कृशि निर्यात को बढावा देने के लिए अधिमूल्य विनिमय दरें भाामिल हो, छोटे किसानों के लिए पर्यविक्षित क्रेडिट कार्यक्रम जिसमें स्थानीय तौर पर अपनाए गए कृशि निवेश ओर विस्तार सेवाएँ भाामिल हो विषेश रूप से लोक क्षेत्र मे सिविल सेवा वेतनमोनों का संशोधन करके अविा भाहरी कीमतों और करों में ग्रामीण मूलयों और करों के मुकाबले असमान वृद्धि करके, भाहरी वास्तविक वेतन दरों पर रोक, ग्रामीण क्षेत्रों मं श्रमिकों के विनिमय और रोजगार सूचना पद्धतियों के उपयोग की संभावनाओं की तलाश की सहायता से किया जा सकता है जिससे, भाहरी और ग्रामीण दोनों, काम की तलाश करने वालों के साथ भाहरी रोजगार अवसरों का तालमेल हो सके।

मध्यावधि नीतियों में, अधिक मौलिक, संस्थागत और ढांचागत परिवर्तन आरंभ किए जाने चाहिए। इनमें विकास प्राथमिकताओं की पुनर्व्यवस्था प्रमुख रूप से भाामिल होनी चाहिए इसमें व्यापक ग्रामीण विकास को ऐसे विसरित भाहरीकरण कौशल के उच्चारण के साथ–साथ अधिक महत्व मिलता है जो भाहरी बाजारों, ग्रामीण सेवा केन्द्रों और छोटे क्षेत्रीय भाहरों के विकास पर जोर दे।

इसका उद्देश्य छोटे भाहरों और सेवा केन्द्रों की एक श्रेणीवद्ध संस्था का सृजन करना है जिससे ग्रामीण जनसंख्या की व्यापक उत्पादक और उपभोक्ता सामान, स्थानीय एकाधिकार वाली भाक्तियों के विद्यमान नियंत्रण को हटाने के लिए फेले हुए बाजारों और रोजगार अवसरों तक पहंच हो सके।

अधिशहरीकरण को मान्यता देने वाली दीर्घकालिक नीतियां उपयुक्त राश्ट्रीय नीतियों द्वारा समर्थित भूमि सुधार से आरंभ होगी। भूमिहीन मजदूर और भाहरी प्रवासी क्यों पैदा होते है? इसी कारण नई उच्च पैदावार वाली अनाज की किस्मों से होने वाले लाभ पहले से ही समृद्ध लोगों को ही अनन्य रूप से प्राप्त होते हैं । नई कृशिक प्रौधोगिकियों के निश्चित मानदण्ड नहीं है – अर्थात् वे छोटे और बड़े क्षेत्रों पर समान रूप से प्रभावी है। परन्तु संस्थागत रूपसे उदासीन हनी है– अर्थात् बडे ओर अधकि धनवान किसानों की नई प्रोधोगिकियों का लाभ उठाने के लिए आवश्यक क्रेडिट, विस्तार सेवाओं और अन्य निवेशों और अन्य निवेशों तक अधिक संस्थागत और राजनीतिक पहुंच होती है।

4.5.9 सारांश

प्रवास एक जटिल स्थिति है। इस एकक में प्रवास और विकास के बीच सम्बन्ध को समझाने का प्रयास किया गया है। भाुरूआत के लिए आन्तरिक प्रवास के कारण सूचीबद्ध किए जाते है। आन्तरिक प्रवास के कई कारण हो सकते है – क्षेत्रों के बीच आय में अन्तर, भाहरों में पारिवारिक व्यवस्था की अवस्थापना, सुधरी हुई सुख–सुविधाओं की उपलब्धता, विवाह, शिक्षा अथवा प्राकृतिक आपदा। प्रवास अर्थव्यवस्था कोकिस प्रकार प्रभावित करता है समझाया गया है। उच्च वेतन का अर्थ है उच्च उत्पादकता और दक्षता तथा एक गतिशील श्रमिक बल एक अर्थव्यस्था में अधिक दक्षतापूर्ण उत्पादन के लिए आवश्यक संघटक है। प्रवास अर्थव्यवस्था में बचत की दर और संचयन को भी प्रभावित करता है और इस प्रकार उसके विकास पर भी प्रभाव पडता है।

भारत में आन्तरिक प्रवास में महिलाओं के वर्चस्व वाले गांव से गांव को अल्पकालिक पलायन की बहुलता रही है। जबकि भारत में 1960 के दशक से ग्रामीण– ाहरी प्रवास में वृद्धि हुई है, ग्रामीण–ग्रामीण प्रवास, प्रवास व्यस्था पर वर्चस्व, बनाए हुए है। भारत में कृशि क्षेत्र की प्राथमिकता से जनसंख्या भूमि से जुडी हुई है। दीर्घकालिक भाहरोन्मुखी पलायन तभी होगा जब भारतीय अर्थव्यवस्था में औधोगिक आधार का विकास होता है। महिलाओं का ग्रामीण–ग्रामीण प्रवाह (ादी के लिए आव्रजन) पर महिलाओं का वर्चस्व है परन्तु ग्रामीण– ाहरी और भाहरी– ाहरी प्रवाहों पर पुरूश आधिपत्स (आर्थिक अभिलाभ के लिए प्रवास) है यद्यपि ये आंकडे वर्श दर वर्श धीरे–धीरे बदल रहे हैं।

ग्रामीण– ाहरी प्रवास का प्रमुख परिणाम अधिशहरीकरण है। जबकि आर्थिक दशा सुधारने के उद्देश्य से गांव से भाहरी क्षेत्रों को आव्रजन होता है, तब प्रवासियों द्वारा भ्ज्ञहरी संसाधनों और सुख–सुविधाओं पर दबाव बढता है। सरकारी नीतियों में इस प्रकार ग्रामीण और भाहरी अवसरों के बीच एक अधिक सजीव संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता है। नीति निर्माताओं को जनसंख्या स्थानानतरण पर विशिश्ट आर्थिक नीतियों के प्रभाव से जागरूक होना चाहिए अधिशहरीकरण की समस्या को बाजार बलों पर छोड़ना कोई संभव समाधन नहीं है।

4.5.10 अभ्यास प्रनावली

1. आन्तरिक प्रवास के कारणों को सूचीबद्ध करें।
2. आन्तरिक प्रवास उत्पादक अर्थव्यवस्था में अंशदान करता है। टिप्पणी लिखें।
3. भारत में प्रवास प्रवाह प्रबलतः लिंग चयनात्मक क्यों है? क्या साल दर साल इस अनुपात में कोई अन्तर पड़ा है?
4. अधिशहरीकरण के क्या कारण हैं और किस प्रकार इस समस्या का पता चल सकता है?

अध्याय–1

पर्यावरण एवं सतत विकास

संरचना

5.1.1 उद्देश्य
5.1.2 प्रस्तावना
5.1.3 विकास का प्रासांगीकरण
5.1.3.1 आभासी विकास
5.1.3.2 वास्तविक विकास
15.1.3.2.1 सामान्य वास्तविक विकास
5.1.3.2.2 विशिष्ट वास्तविक विकास
5.1.4 सतत विकास : अवधारणा
5.1.4.1 सतत विकास की अवधारणा
5.1.4.2 संसृत दृष्टिकोण
5.1.4.3 सतत विकास के सिद्धांत
5.1.5 सतत विकास : संसृत दृष्टिकोण
5.1.5.1 विकसित विश्व का परिदृश्य
5.1.5.2 विकासशील विश्व का परिदृश्य
5.1.6 सतत विकास संबंधी संकेतों की कार्य–सूची
5.1.7 सारांश
5.1.8 अभ्यास प्रश्नावली

5.1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य सतत विकास की अवधारणा की स्पष्ट व्याख्या करना है। सतत विकास पर्यावरण से जुड़ा हुआ है पर्यावरण के लिए सर्वाधिक खतरा मानवीय कृत्य है जो विकास के नाम पर प्रकृति से छेड़छाड़ करते हुए किए जाते है। विकसित व विकासशील दोनों ही देशों में यह समस्या विद्यमान है। अतः इस समस्या का अन्त करने के लिए इस संकल्पना को समझना ओर उस हेतु सुझाव देना इस अध्याय का उद्देश्य है।

5.1.2 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सतत–विकास संकल्पना के क्रम–विकास तथा वर्तमान विधियों जिनसे यह इंगित किया अथवा मापा जाता है, पर चर्चा है। विकसित एवं विकासशील देशों द्वारा अपनाए गए भिन्न–भिन्न एवं परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों पर भी चर्चा है। शुरू–शुरू में औद्योगिक विकास संबंधी विचार का समाज की सभी बुराइयों को जड़ से खत्म करने हेतु प्रचण्डता से प्रचार किया गया, परन्तु इसके लिए अपनाई विधियाँ एवं नीतियाँ अपव्ययी और मानव के नितांत अस्तित्व के प्रति खतरा बन गयीं। इस विपत्ति की बढ़ती जागरूकता के साथ ही, विश्व समुदाय इस समस्या को कम करने हेतु चर्चा करने एवं अनेक कार्ययोजनाएँ प्रतिपादित करने के लिए एक मंच पर आया। आज सतत–विकास संकल्पना विकास संबंधी हर क्षेत्र की नीतियों में एकीकृत हो गया है क्योंकि मानव का नितांत अस्तित्व इसी पर निर्भर है। इसी कारण इस संकल्पना को समझना और अपनाना अत्यावश्यक है।

5.1.3 विकास का प्रासांगीकरण

राज्य–नीति संबंधी एक संकल्पना एवं दृष्टिकोण के रूप में 'विकास' आधुनिक मनोदशा पर एक सुखद प्रभाव रखता है। विकास का जादूई मंत्र उद्योग, कृषि, परिवहन एवं संचार, अंतरिक्ष, स्वास्थ्य, स्वास्थ्य–विज्ञान संस्कृति एवं पर्यावरण, इत्यादि के क्षेत्र में हर मानव सफलता के पीछे जीवंत शक्ति के रूप में समझा जाता है। इन बातों के साथ–साथ, यह यथासंभव कम समय में समाज व परिवेश के सम्पूर्णप्राय कायान्तरण को नियंत्रित करने व हाथ में लेने संबंधी विजयोल्लास भाव भी दिल में जगाता है। विकासलिंग, वर्ग, वर्ण, जाति व धर्म–सिद्धांत के भेदों पर ध्यान न देते हुए, जन कल्याण में राज्य के मामलों का कार्यसंचालन करने संबंधी धर्म निरपेक्ष एवं युक्तिसंगत उपाय के रूप में हर व्यक्ति द्वारा स्वीकार किया जाता

है। विकास को सदियों से बढ़ती सभी मुसीबतों का एकमात्र उपाय माना जाता है और उससे यह उम्मीद की जाती है कि वह उन दोषों को कम करे जो किसी वर्ग, संप्रदाय, क्षेत्र व व्यक्ति में साभिप्राय अथवा अन्यथा आ गए हैं। यह बात कहने में कोई भूमण्डलीय स्तर पर अभूतपूर्व लोकप्रियता, सफलता व स्वीककरण प्राप्त किया हो। यह क्रीड़ायोग्य एक ऐसा खेल माना जाता है जिसमें सभी विजेता माने होते है और कोई हारने वाला नहीं होता। इसी कारण, यह एक जारी रखने योग्य जोखिमकार्य है।

मानव इतिहास के आख्यान किस्सों व घटनाओं से भरे पड़े हैं जो एक मूल्य–सिद्धांत के किसी अन्य मूल्य–सिद्धांत एवं जीवकोपार्जन के साधनों पर प्रभुत्व को सुसाध्य बनाने के बाद एक भूमण्डलीय स्तर पर प्रमुख संकल्पना के रूप में विकास–संबंधी विचार किस प्रकार उभरा इस बात की भरपूर चर्चा करते हैं। इसको अभूतपूर्व कहा जा सकता है क्योंकि इसका इतने लम्बे समय से, इतने बड़े स्तर पर और अपने इतने कम विरोध के साथर एक इतनी ईर्ष्य अवस्था में बने रहकर आनन्द प्राप्त करना जारी है। यह अब तक की शायद एक मात्र संकल्पना है जो परिवेश व समाज दोनों की समग्रता को एक अनन्य समुच्च के दायरे में लायी है। यह एक भूमण्डलीय समष्टि के निर्माण में सफल रहा है, जिस काम को करने में धर्म भी विफल रहा।

5.1.3.1 आभासी विकास

विकास आधुनिक मन–मस्तिष्क पर एक सम्मोहनकारी प्रभाव डालता है। इसको हमारी सभी सामाजिक बुराइयों हेतु रामबाण के रूप में मूल्यांकित किया जाता है और हर एक व्यक्ति एवं संस्था के प्रत्येक कार्य को सही ठहराने हेतु कारण के रूप में प्रचारित किया जाता है। इसके अतिरिक्त, इसको हमारे सभी कृत्यों का वैध–सिद्धक भी समझा जाता है।

विकास का जादू इतना व्यापक हो गया है कि अधिकतर विचारक इसके अभाव को ही उन सभी सामाजिक–सांस्कृतिक, राजनीतिक–आर्थिक, मनोवैज्ञानिक व पर्यावरणीय समस्याओं का मूल कारक मानते हैं, जो संसार में अधिकांश क्षेत्रों व समुदायों के सामने हैं। यद्यपि, इस प्रकार की मनःस्थिति का श्रीगणेश मानव जाति पर गत तीन शताब्दियों से भी अधिक पूर्व प्रथम विश्व व्यवस्था के रूप में पूँजीवादी विकासानुक्रम के साथ ही हो गया था, फिर भी बुनियादी राज्य–नीति सिद्धांत एवं किसी व्यवस्था–विशेष की विचारधारा के रूप में इसका औपचारिक स्वीकरण 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर 33वें अमेरिकी राष्ट्रपति, हैरी एस. ट्रूमैन द्वारा दिए गए एक भाषण के उपरांत ही प्रभाव में आया। ट्रूमैन ने विकास को एक नया अर्थ प्रदान किया और इसके बाद, इसे राज्य–नीति के लक्ष्य रूप में औपचारिक रूप से स्वीकृत और उसे राज्य के दर्शन व विचारधारा के आधार रूप में समाविष्ट कर लिया गया। यह तथाकथित ''विकास दशकों', 'विकास परियोजनाओं' संबंधी आरम्भ 'विकास समुदाओं' के गठन, के औपचारिक उद्घाटन के समय में ही पड़ा। उसके बाद से ही, विकास दरिद्रता, शोषण, आपराधिकता एवं अन्य सभी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ लड़ाई लड़ने में और सर्वोपरि मानव की प्रकृति व उसकी पकाण्ड शक्तियों पर परम विजय में और ''नए भूमण्डलीय आधिपत्यों'' के समेकन में भी एक प्रभावशाली अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। इसने पुरानी विचारधारा एवं बर्तानिया–शांति (पैक्स ब्रितानिका) के तर्क को विफल कर दिया जो स्पैनिश आर्मदा, 1588 के समय से ही प्रचलित था। इसके स्थान पर अमरीकी–शांति (पैक्स अमेरिकाना) आ गया। नए नेतृत्व के लोकाचार एवं आचार–शास्त्र इतने सम्पूर्ण व समग्र थे कि विकास को अर्थशास्त्र, राजनीति व संस्कृति के क्षेत्र में न सिर्फ मानव मात्र के बल्कि उनके सपनों व कल्पनाओ के भी, क्रम–विकास में अन्तिम अथवा लक्ष्य–बिन्दु माना गया। यह संकल्पना इतनी मेलखाती उभरी कि मानव इतिहास के क्रम–विकास में ऐसे किसी संसार और पड़ाव की मुश्किल से ही कल्पना की जा सकती है जो विकास के इर्दगिर्द न बुना गया हो। युग की आत्मा को यदि एक वाक्य में कहा जाए तो विकास ही अस्तित्व है। इस प्रकार इसको अनालोचनात्मक रूप से स्वीकार किया जाता है और इससे किसी भी प्रकार के खिंचाव को अननुपालन और शासक सामाजिक लोकाचार एवं भूमण्डलीय नेतृत्व के साथ असहमति माना जाता है। परिणामतः विकास का अभाव गंभीर अड़चन और असमर्थता के रूप में समझा जाता है। ऐसे समुदाय व राष्ट्र जो गतिरोध की जिच को खोल पाने में असमर्थ होते हें, इसके अतिरिक्त, विकास का अभाव कम विकल्प, स्वतंत्रता की काट–छाँट और मानवाधिकारों के गंभीर उल्लंघन का भी पर्यावाची है।

5.1.3.2 वास्तविक विकास

दुर्गाग्यवश विकास के साथ हर चीज़ आनन्दप्रद और अनुकूल नहीं थी। राज्य–सत्ता के समर्थन से जुड़ी अन्य जीवन–रीतियों, मूल्य–पद्धतियों तथा भौतिक अस्तित्व की ओर प्रशंसा एवं सहष्णुता के अभाव ने विकास को एक साधारण आर्थिक–सम्पन्नता सिद्धांत से एक निरंकुश, मानव स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा एवं पारिस्थितिक संतुलन के भंजक में बदल दिया। इरावती कर्वे, प्रसिद्ध पर्यावरणविद् ने कहा था, ''आदर्शवादियों, देशभक्तों, संतो, एवं धर्मयोद्धाओं द्वारा किये गए अन्याय बुरे से बुरे आततायों द्वारा किए गए अन्यायों से कहीं अधिक है।'' यह बात विकास के मामले में भी सत्य है। नोबेल भूतिष अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक ''डिवेलॅपमेण्ट ऐज़ फ्रीडम'' में मत व्यक्त किया है कि विकास को अक्सर स्वतंत्रता, सशक्तीकरण एवं लोकतंत्र के लिए एक पूर्व–शर्त माना जाता है। 1992 में पर्यावरण विषयक रियो पृत्वी सम्मेलन में भी यही भावनाएँ पुनर्श्रुत्यावृत हुई। इस सम्मेलन में मानवता को इन शब्दों में चेतावनी दी गई :''विश्व वैज्ञानिक एवं राजनीतिज्ञ

ध्यान–मग्न रहे और मानवता का भी ध्यान परमाणु युद्धों एवं 'ऑस्चवित्ज़' के खतरों की ओर नहीं जाने दिया तथा अन्य खतरों की ओर से भी चुप्पी साधे रखी। वे नए खतरे जिनसे मानवता को खतरा है, गतिमान विकास की नितांत प्रक्रिया से उभरे हैं। मानव मात्र एवं प्राकृतिक संसार में टक्कर है।''

5.1.3.2.1 सामान्य वास्तविक विकास

आज विकास का मतलब है जन–शान्ति (पैक्स पॉपुलाई) की कीमत पर अर्थ–शान्ति (पैक्स इकॉन्मिका)। इस बात को सिद्ध करने हेतु पर्याप्त साक्ष्य हैं कि भूमण्डलीय स्तर पर विभिन्न वर्तमान विकास परियोजनाओं की दो समरूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'उपलब्धियाँ' और सर्वव्यापी अभिशाप हैः प) पारिस्थितिक विपदा की ओर ले जाता प्रदूषण और पप) मानव जाति का वैश्वीकृत अन्यत्रभाव एवं सर्वनाम। गतिमान विकास संबंधी आख्यान और उसके साथ चल रही विभिन्न परियोजनाएँ उन्मूलनवाद को मानव सभ्यता में अन्तिम चरण बनाने हेतु उत्तरदायी है। उन्मूलनवाद न सिर्फ परमाणु बम के प्रयोग एवं रेडियोधर्मी सामग्री के विसर्जन के माध्यम से ही हो रहा है बल्कि उन विभिन्न विकास कार्यों के माध्यम से भी हो रहा है जो भूमण्डलीय तापन, आज़ोन अपचयन, जल, मृदा, वायु व अन्य खाद्य वस्तुओं को पूषण को प्रवृत करते नाना प्रकार के पर्यावरण हेतु उत्तरदायी हैं। यदि इन प्रक्रियाओं को नियंत्रित नहीं किया जाता है तो पराबैंगनी विकिरण के स्तर में वृद्धि समेत पारिस्थितिक संकटों के कारण उन्मूलनवाद पर्यावरण और मानवता दोनों के लिए घोर संकट पैदा करेगा तथा मानव सभ्यता में यह अंतिम पड़ाव होगा। इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि हरित–गृह गैसों के स्तर में वृद्धि, रोगोपचार हेतु दवाओं के बढ़ते प्रयोग के साथ–साथ पराबैंगनी विकिरणों, कृषि उत्पादन बढ़ाने हेतु उर्वरकों एवं कीटनाशकों की अत्यधिक खपत के परिणामस्वरूप जैव संसार के एक बड़े हिस्से में अनुवांशिक विकृतियाँ तथा अनेक प्रजातियों का विलोपन देखने में आया है। इसके अतिरिक्त, भूमण्डलीय नियंत्रक शक्तियाँ अन्य अर्थव्यवस्थाओं, संस्कृतियों, संसाधनों, पर्यावरण एवं कमजोर व्यक्ति, समुदाय व राष्ट्रों के परम प्रभुत्व आदि पर पहुँच बनाने के लिए विकास आदि नीतियाँ अपना रहे हैं। आज विकास एक सशक्त संकल्पना के रूप में उभरा हैं जो लगातार सम्पन्नों एवं विपन्नों के बीच एक पक्की दरार डाल रहा है और उसे मजबूत भी कर रहा है। अपने निजी स्वार्थों को साधने के लिए नए उपनिवेशों के निर्माण एवं पुनर्निर्माण हेतु शक्तिशाली देशों की यह एक नीति है।

5.3.1.2 विशिष्ट वास्तविक विकास

यहाँ एक खास पहलू है जो अब तक हुए विकास के विषय में कम ही सामने आया है। यह उन तरीकों से जुड़ा है जो मानवमात्र के सार्वभौमिक एवं सामान्यीकृत अन्यत्रभाव, हर एक प्राणी के जीवन एवं काया स्थान को थोपने में अग्रगण्य रहे। विकास के प्रभावी लोकाचार के चलते मनुष्य, जिन्सों का रचयिता, जिन्सों द्वारा रचित गुमनामी में खो गया है। आज मनुष्य जीवन व पहचान, दोनों से वंचित है जबकि उसके द्वारा पैदा की गई जिन्सों के पास दोनों ही चीजें उपलब्ध हैं। मनुष्य के सार्वभौमिक एवं सामान्यीकृत पण्यीकरण के चलते, व्यक्तियों एवं सामाजिक समूहों के बीच अभी तक भेद कायम हैं। विकास ने न सिर्फ विकसित एवं विकासशील देशों के लोगों के बीच बल्कि पुरुष व महिलाओं, गोरे व काले, अधिवासियों व प्रवासियों, शहरी व ग्रामीण, कृषि व औद्योगिक कर्मियों, आदि के बीच भी एक पुख्ता दरार पैदा कर दी है। यद्यपि विकास विश्व को एक भूमण्डलीय व्यवस्था में एकीकृत करने में सफल हुआ है तथापि यह सिर्फ एक देश व दूसरे देश के नागरिकों के बीच तथा एक देश विशेष के ही लोगों के बीच स्थायी विभाजन पैदा करके ही संभव हुआ है। मनुष्यजन प्रजाति, वर्ग, जाति, मत, धर्म, भाषा, लिंग व अतीत की आर्थिक उपलब्धियों आदि आधारों पर विभाजित एवं विभेदीकृत रहे हैं। आधुनिक मानव अपने विकास स्तरों तथा विकासार्थ अनिवार्य ज्ञान व साधनों पर नियंत्रण हेतु अपनी क्षमता में अपनी भिन्नताओं पर विभाजित एवं विभेदीकृत हैं। विकास विकसित एवं पिछड़े देशों, तथा विकसित एवं पिछड़े समुदायों के बीच एक सभ्यतापरक एवं सांस्कृतिक विभाजन बन गया है। विकास की तर्क–संगति हेतु सत्य, कुछेक की सम्पन्नता व धनाढ्यता दुर्दमनीय जनसंख्याधिक्य, धर्मों व देशों के कल्याण की लागत पर ही संभव है। पुनः विकास–संबंधी तर्क हेतु यह अत्यावश्यक है कि एक बहुत छोटे से अल्पसंख्यक समूह की उच्च जीवन–गुणवत्ता एक बड़े से बहुसंख्यक समूह की निम्न जीवन गुणवत्ता एवं गिरत जीवन–स्तर की लागत पर संभाव्य हो। चंद लोगों का आर्थिक लाभ वृहत भूमण्डलीय पर्यावरण अवमूल्यन करने पर ही निर्भर है। इसके अतिरिक्त, यह भी देखने में आया है कि आर्थिक सम्पन्नता मानव सभ्यता, मूल्यों एवं शांतचित्तता की लागत पर ही आयी है। वर्तमान विकास प्रतिमान यह दर्शाता है कि मानव कल्याण एवं स्वतंत्रता के मूल उद्देश्य अपने रास्ते से भटक गए हैं। गुणतात्मक वृद्धि, 1980 के दशक में प्रत्येक आर्थिक जोखिम की सर्वोच्च प्राथमिकता, भी दुनियाभर के लाखों लोगों के लिए महज धोखा ही साबित हुई। इसके निकृष्टतम भुक्तभोगी धरती के वे छठ–भाग्य व्यक्ति ही हैं जिसमें से अधिकांश उपनिवेश–पश्चात् देशों के निकवासी हैं। हम शांतिरहित नीतियों एवं धनाढ्यता वाले अर्थशास्त्र के युग में रह रहे हैं। संक्षिप्ततः, विकास अपनी प्रगतिमान संभावनाओं से चुक गया है। वह मनुष्य एवं पर्यावरण दोनों के लिए असतत हो गया है। इसी कारण तुरंत एक विकल्प तलाशे जाने की जरूरत है।

5.1.4 सतत विकास : अवधारणा

5.1.4.1 सतत विकास की अवधारणा

अर्थ–शान्ति एवं जन–शान्ति तथा विकास एवं पर्यावरण के बीच कायम विरोधात्मक संबंध ही एक लम्बे समय से विचारकों के लिए मुख्य विषय रहा है। अथवा, दूसरे शब्दों में : आर्थिक विकास को एक मानवीय रूप कैसे प्रदान करें? अपने विचारों में अभिनव कैसे हों? अपने पर्यावरण को नुकसान के लिए यही मुख्य मुद्दे रहे हैं। सतत विकास ही दरअसल इस प्रश्न से जुड़ा है। अथवा एक वाक्य में कहें जो कल्याण के वर्तमान स्तर को कैसे कायम रखें और इसे सभी के लिए कैसे मुहैया कराएँ। सतत विकास संबंधी संकल्पना के उद्गम का श्रेय संयुक्त राष्ट्र के पर्यावरण एवं विकास विषयक विश्व आयोग के तत्त्वावधान में ब्रुन्टलैण्ड आयोग की रिपोर्ट को जाता है। इस रिपोर्ट के अनुसार सतत विकास का अर्थ है :

विकास जो भावी पीढ़ियों की योग्यता पर समझौता किए बगैर उनकी अपनी ज़रूरतों को पूरा करने, सभी के लिए उन्नत जीवन–स्तर, बेहतर रक्षित व नियंत्रित पारितंत्र तथा एक अधिक सुरक्षित, अधिक सम्पन्न भविष्य पाने के लिए वर्तमान की आवश्यकताएँ पूरी करता है।

इस सम्मेलन के निष्कर्ष इस अनुभव पर आधारित थे कि :

आर्थिक गतिविधियाँ सदा की भाँति व्यापार के झण्डे तले और अधिक नहीं चल सकतीं। विशेषतौर पर अब यह समर्थनीय नहीं है कि आर्थिक वृद्धि को आर्थिक विकास नीति का निःशंक विषय बना दिया जाए, जैसा कि पारम्परिक रूप से माना और मापा जाता था। वृद्धि की पुरानी संकल्पना जिसे हम ऊर्जा व अन्य प्राकृतिक उपादानों के एक सदावर्धमान मुक्तप्रस्ताव पर भरोसा रखने वाली 'मुक्त–प्रस्ताव वृद्धि' कहते हैं, जारी नहीं रखी जा सकती है और उसे उन आर्थिक साध्यों का एक काल्पनिक परिप्रेक्ष्य तैयार करना आवश्यक है जो कम संसाधन–साधित हों। जिस तरीके से हम प्रकृति व प्राकृतिक पूँजीगत सेवाओं का मूल्य कम आँकते हैं और प्राकृतिक परिसम्पत्तियों के अवमूल्यन की जिम्मेदारी से बचते हैं, उसका प्रायः अर्थ यह होता है कि हम स्वयं की उन्नति कर रहे हैं जबकि कल्पना यह कर रहे होते हैं कि हमारी अर्थव्यवस्थाएँ तरक्की कर रही हैं। नए उपगम्य को आवश्यकता है एक समेकित प्रयास की जो पर्यावरणीय रूप से सदय गतिविधियों की दिशा में 'उपभोक्ताओं की प्राथमिकता एवं पथ–प्रदर्शित करती माँगों के पुनर्गठन पर आधारित हो, जबकि साथ के साथ सेवाओं समेत प्रति इकाई अन्तिम उत्पाद मुक्त–प्रस्ताव को घटाने पर भी।''

स्थिति की गंभीरता को विश्व समुदाय द्वारा काफी महत्त्व दिया गया और यह महसूस किया गया कि कोई भी व्यक्तिद्व मुदाय व राष्ट्र चाहे जितना भी अमीर या शक्तिशाली हो, सतत विकास प्रक्रिया द्वारा होने वाली हानियों को नहीं मिटा सकता। यह भी अनुभव यिा गया कि ''हम सब साथ मिलकर ही सतत विकास हेतु एक भूमण्डलीय भागीदारी में शामिल हो सकते हैं''।

5.1.4.2 संसृत दृष्टिकोण

गत तीन शताब्दियों में मनुष्य की भौतिक उपलब्धियों के विषय में विद्वानों के बीच मतैक्य है। इन उपलब्धियों के बीच 20वीं सदी की उपलब्धियाँ शानदार हैं। परन्तु, यह वृहद सामाजिक व पर्यावरणीय लागत पर ही संभव हुआ है। विद्वानों ने सदा ही अल्पावधि भौतिक सम्पन्नता विषय अपनी आशंकाएँ व्यक्त की हैं और आमतौर पर लोगों को सन्निकट खतरों व भावी संकटों के बारे में चेताया है। सतत विकास लाने के लिए अपनाये जाने वाले उपगम्यों पर विद्वानों व दार्शनिकों के बीच मतभेद हैं। निपट भौतिकवादी के लिए लोगों ने आध्याम्कि से लेकर नैतिक तक अनेक रूख अपनाये हैं। गाँधीजी, उदाहरण के लिए, एक नैतिकवादी अवस्था ग्रहण करने के पक्ष में थे जब उन्होंने कहा, ''धरती के पास मानवीय आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त है परन्तु साथ ही एक भी व्यक्ति के प्रलोभन को पूरा करने के लिए कतई कुछ नहीं।'' उनका उपगम्य अहिंसा व सत्य के व्यापक सिद्धांतों पर आधारित था। उनके अनुसार, विकास के पश्चातत्य उपगम्य ने दिमाग को हाथों से ऊपर, आदमी को कुदरत से ऊपर और प्रौद्योगिकी को तजुर्बे से ऊपर रखा है। यही हमारे नैतिक ह्रास और असतत विकास का भी मूल कारण है। गाँधीजी हर एक मानवीय कृत्य के लिए नैतिक तर्कसंगति के पक्षधर थे और उसके पक्षधर थे और उनके अनुसार प्रौद्योगिकी–प्रेरित विकास का पाश्चात्य आदर्श, जो मुख्य रूप से मानवीय प्रलोभन तुष्टि के सिद्धांत पर आधारित है, अनैतिक होने के साथ–साथ मानववाद एवं प्रकृति के भी खिलाफ है।

दूसरे छोर पर वे लोग थे जो ''होना मतलब रखना'' संबंधी तत्त्वज्ञान का समर्थन करते थे। इस तत्त्वज्ञान के पक्षधरों के अनुसार प्रौद्योगिक क्रांतियों ने विशेषकर गत तीन शताब्दियों में आधुनिक मानव को सभी संभव सुख व सम्भावनाएँ उपलब्ध कराई। आज हम तीन सौ साल पहले के अपने मूल्यों की अपेक्षा अधिक संतुष्टिभाव, आत्मविश्वास रखते हैं और अधिक स्वतंत्रता का भी उपभोग करते हैं। आधुनिक मानव नई प्रौद्योगिकी की हरेक तरक्कीयाता खुराक के साथ समय व स्थान, दोनों पर काबू करने में सफल हुआ है। प्रौद्योगिकी ने हमारे जीवन को बदल डाला है। यह नया अस्तित्व नए विकल्पों यथा अधिक स्वत्रंता पर आधारित है।

इन दो छोरों के बीच कई अन्य दृष्टिकोण भी हैं। तथापि, उन पुरगामियों में जिन्होंने इस दिशा में यथार्थ व गंभीर प्रयास किए, 1972 में, रोम में एक समूह रूप में विद्वजन थे। इसको लोकप्रिय रूप ''क्लब ऑव रोम'' कहा जाता था। उनके विचार तदोपरांत, मीडोज कृत ''लिमिट्स टु ग्रोथ'' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुए। इन विद्वानों ने विकास–संबंधी प्रचलित प्रतिमान की सीमाओं के विषय में चेताया और यदि वर्तमान असीम वृद्धि का प्रतिमान कायम रहा तो इसकी निरन्तरता–संबंधी समस्या पैदा हो जाएगी। उन्होंने भूमण्डलीय जनसंख्या, कृषि, संसाधन प्रयोग एवं उद्योग में वृद्धि की बुनियादी सीमाओं का अध्ययन किया और दर्शाया कि किस प्रकार ये कारक एक–दूसरे से अन्तर्क्रिया करते हैं और किस प्रकार वे हमारे ग्रह के सीमित संसाधन आधार पर दबाव डालते हैं। इस रिपोर्ट ने निष्कर्ष दिया कि उन्नत प्रौद्योगिकी के वरदान विषयक सार्वधिक आशावादी मान्यताओं के अन्तर्गत रहकर भी, विश्व एक ओर वर्तमान आर्थिक व जनसंख्या वृद्धि दरों का तथा दूसरी ओर संसाधन समाप्ति व पारिस्थितिक संकटों का समर्थन करने व उन्हें कायम रखने में असमर्थ है। उन्होंने आगे चेतावनी दी कि यदि उपभोग की वर्तमान प्रवृत्ति कायम रही तो हमारे ग्रह पर संसाधन अब से कुछ दशाकों तक भी नहीं चलेंगे। इसी कारण, उन्होंने इस सन्निकट गतिरोध से निकलने का उपाय भी सुझाया, जो उनके अनुसार सभी समस्याओं से एक साथ निबटने में निहित है, न कि किसी टुकड़े–टुकड़े प्रयास वाले उपगम्य को अपनाने में। तदनुसार, उसी वर्ष स्टॉकहोम में हुए पर्यावरण प्रचलित विकास प्रतिमानों के विषय में गंभीर चिन्ता व्यक्त की गई। सम्मेलन ने प्रचलित विकास रीति के प्रतिमानों का एक विशेष उल्लेख किया जिन्होंने एक ओर पर्यावरण पर अत्यधिक दबाव डाला है। और दूसरी ओर विकसित व विकासशील देशों के बीच खाई को चौड़ा किया है।

5.1.4.3 सतत विकास के सिद्धांत

इस गंभीर स्थिति के अहसास का परिणाम था 'एजेण्डा 21 : ग्रीन पाथ्स टु द्यूचर' यानी रियो रियो घोषणा, 1992। यद्यपि इस घोषणा का अनेक विशिष्टताएँ हैं परन्तु इसका विशोधित सत्व निम्नलिखित सत्ताइस सिद्धांतों में प्रस्तुत है:–

- सतत विकास संबंधी विषय के केन्द्र में मनुष्य ही है। वह प्रकृति से सामंजस्य रख एक स्वस्थकर और उत्पादनकारी जीवन का हकदार है।
- संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र व अन्तरराष्ट्रीय कानूनों के सिद्धांतों के अनुसार राज्य विकास के लिए अपने संसाधन प्रयोग करने हेतु सर्वासत्ताक अधिकार रखता है। यह भी राज्य का ही दायित्व है कि पर्यावरण के प्रति होने वाले किसी भी नुकसान को राके।
- विकास का अधिकार अंतर–पुश्तीय समदृष्टि रखकर ही सिद्ध किया जाना चाहिए।
- सतत विकास लाने के लिए पर्यावरण रक्षा को विकास प्रक्रिया का एक अभिन्न हिस्सा बनना चाहिए।
- दरिद्रता उन्मूलन सतत विकास के लिए एक अपरिहार्य आवश्यकता है। राज्यों व व्यक्ति के बीच सहयोग लोगों के जीवन–स्तर को सुधारने में ज्यादा कारगर सिद्ध हो सकता है।
- अल्पतम विकसित देश भी पर्यावरणीय रूप से सर्वाधिक नाजुक हैं। अन्तराष्ट्रीय समुदायों को विशेष ध्यान देना चाहिए और इन देशों की ज़रूरतें ज़ाहिर करने को प्राथमिकता देनी चाहिए।
- राज्य पृथ्वी के पारितंत्र के स्वास्थ्य व अखण्डता की रक्षा करने व पुनर्प्राप्ति करने हेतु भूण्डलीय भागीदारी की भावना रखते हुए सहयोग करेंगे। विकसित देशों को ज्यादा जिम्मेदारियों का निर्वाह करना चाहिए क्योंकि उनकी गतिविधियाँ भूमण्डलीय पर्यावरण पर ज्यादा दबाव डालती हैं।
- सतत विकास लाने के लिए यह राज्यों की ही जिम्मेदारी है कि सभी लोगों की सदा–वर्धमान उच्च जीवन–गुणवत्ता पर समझौता किए बगैर उत्पादन व उपभोग के असतत प्रतिमानों को कम करें और दूर करें।
- प्रौद्योगिकी में नवीकरण समते उनके वर्धन, अनुकूलन, मिश्रण व हस्तांतरण हेतु उचित वैज्ञानिक मनोदशा बनाकर राज्यों को सतत विकास हेतु अन्तर्वर्धमान क्षमता–निर्माण उपायों को मजबूत करने में सहयोग करना चाहिए।
- पर्यावरण ही हरेक व्यक्ति का चिंतनीय विषय हो और इस मताल्लिक मुद्दे समुचित स्तरों पर संबद्ध नागरिकों की भागीदारी के माध्यम से निबटाये जाएँ। तद्यापि, यह राज्य का दायित्व है कि संकटमय वस्तुओं के खतरों व उनके लिए संभाव्य उपायों को लेकर लोगों के बीच समुचित सूचना मुहैया कराये और जागरूकता को प्रेरित करें।
- हर राज्य प्रभावी पर्यावरणीय विधान बनाये। वह यह भी निर्णय करें कि क्या कुछ देशों द्वारा अपनाये गए विद्यमान विभेदकारी विधान का औचित्य है, खासकर ज्यादा गरीब देशों के खिलाफ।
- आर्थिक वृद्धि सतत विकास से जुड़ी हो। राज्य सुनिश्चित करें कि भूमण्डलीय आर्थिक प्रणाली खासकर विश्व बाजार संबंध व व्यापार नीतियाँ जो गरीब देशों के खिलाफ विभेदकारी हैं, सतत विकास लाने के लिए बदली जाएँ।
- राज्य उनको दण्डित करने के लिए कानून बनाए जो पर्यावरणीय प्रदूषणों व पर्यावरणीय हानि के लिए उत्तरदायी हैं और पर्यावरणीय अवनति के पीड़ितों को समुचित रूप से क्षतिपूर्ति हेतु प्रावधान रखे।

- राज्य उन पदार्थों के हस्तांतरण को सक्रिय रूप में निरूत्साहित करें जो मनुष्य के लिए हानिकर पाये जाते हैं और पर्यावरणीय अधःपतन के कारण बनते हैं।
- हर राज्य को अपने क्षमताओं पर निर्भर रहकर अपने पर्यावरण की रक्षा के ऐतिहाती उपाय करने होंगे। तथापि, वैज्ञानिक तकनीक का अभाव और तकनीकी पिछड़ापन उन गतिविधियों को चलाने के लिए बहाना नहीं होंगे जो पर्यावरण के प्रति एक आनन्ददायक घटना होती हैं और अनिवार्य हानियों में परिणत होती हैं।
- राष्ट्र प्राधिकरणों को कुल उत्पादन लागत के हिस्से के रूप में पर्यावरण लागतों के अन्तरराष्ट्रीयकरण हेतु काम करना चाहिए।
- पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन राष्ट्रीय आर्थिक नीति का एक अभिन्न हिस्सा बन जाएगा।
- प्राकृतिक आपदा के समय यह राज्य का दायित्व है कि ऐसे अन्य राज्यों से सूचना का आदान–प्रदान करे जो इस प्रकार की आपदाओं से प्रभावित होने की संभावना रखते हैं। इस प्रकार प्रभावित राज्यों की मदद को अन्तरराष्ट्रीय समुदायों को आगे आना चाहिए।
- राज्यों के बीच पर्यावरणीय मुद्दों के संबंध में सूचना का आदान–प्रदान उन राज्यों के बीच नेकनीयती जगाने पर आधारित होगा।
- पर्यावरणीय प्रबंधन, सतत विकास एवं लैंगिक सशक्तीकरण अन्तर्निर्भर हैं। इन तीनों में महिलाओं को केन्द्र में रखा जाए।
- दुनियाभर के युवा सतत विकास को लागू करने हेतु ज्यादा जिम्मेदारी रखते हैं क्योंकि यह मुख्यतः उन्हीं की पीढ़ी है, जो पारिस्थितिक आपदाओं की आसन्न–पीड़ित और भुक्तभोगी होने वाली है।
- व्यक्ति की पहचान की रक्षा संबंधी अधिकार ही सतत विकास का आधार होना चाहिए। यह विशेष रूप से देशज समुदायों हेतु प्रयोज्य है। हर राज्य को देशज ज्ञान व प्रथाओं को मान्यता देने के समुचित उपाय करने चाहिए और इस समुदायों को सतत विकास की सफलता में शामिल करना चाहिए।
- लोगों की स्वतंत्रता में उत्पीड़कों द्वारा उनके आधिपत्य, प्रग्रहण व उत्पीड़न की समाप्ति तथा उनका पर्यावरण शामिल होंगे। पर्यावरण व प्राकृतिक संसाधनों पर सम्पूर्ण अधिकारों की पुनर्प्राप्ति ही स्वतंत्रता की संकल्पना का हिस्सा होना चाहिए।
- युद्ध व सतत विकास परस्पर विरोधी हैं। हर राज्य को सुनिश्चित करना चाहिए कि युद्ध के समय पर्यावरण की कम से कम हानि हो।
- शांति, विकास एवं पर्यावरण रक्षा अन्तर्निर्भर और अविभाज्य हैं।
- सभी राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र के अनुसार ही शांतिपूर्ण तरीकों से अपने पर्यावरणीय विवाद हल करेंगे।
- अन्ततः यह हर व्यक्ति व राज्य से सतत विकास लाने के लिए सहयोग करने व नेकनीयती पर आधारित भागीदारी विकसित करने हेतु अपील करता है।

इक्कीसवीं शती हेतु विकास कार्यसूची निर्धारित करना विश्व समुदाय की ओर से किए जा रहे सर्वाधिक गंभीर व समेकित प्रयासों में से एक था। कुछ बातों के लिहाज से यह एक महत्त्वपूर्ण एवं साहसपूर्ण निर्णय था क्योंकि यह राष्ट्रों के उच्च रूप से विषमांगी समुदाय के बीच मतैक्य के बिना काम चलाने में सफल रहा था।

5.1.5 सतत विकास : संसृत दृष्टिकोण

उक्त सम्मेलन की कार्यवाहियों में भाग लेने वाले 160 से भी अधिक देश थे और सम्मेलन–स्थल पर प्रसार में निश्चित रूप से कम से कम 480 से भी अधिक कार्यसूची मदे थीं। अपने–अपने राज्यों के सरकारी प्रतिनिधियों द्वारा पटल पर रखे गए 160 प्रस्ताव थे। तदोपरांत 160 ऐस प्रस्तावों का एक सेट और था जो संबद्ध राज्यों में मतभेद के स्तर से खुल्लम–खुल्ला अथवा गुप्त रूप से व्यक्त किए गए। अभी 160 ऐसे प्रस्तावों का एक सेट और था, जो हर देश के गैर–सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) द्वारा पेश किए गए थे। अतः, यह निर्धायक रूप से इस प्रकार` किसी विवादग्रस्त विषय पर सर्वसम्मति पर पहुँचने हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने सर्वाधिक कठिन कार्यों में से एक था। तथापित, मतभेद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारा सतत विकास पर विकसित एवं विकासशील देशों के संदर्शों के बीच फूटी।

5.1.5.1 विकसित विश्व का परिदृश्य

विकसित देशों ने अपनी विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति बरकरार रखी और वे किसी भी चीज पर समझौता करने को राजी नहीं थे क्योंकि उनका विचार था कि इन देशों में उच्च जीवन–स्तर कायम रखने के लिए यह हानिकारक सिद्ध होगा। दरअसल, उन्होंने भूमण्डलीय पर्यावरण हेतु एक गंभीर खतरे के रूप में ज्यादा देशों में बढ़ती जनसंख्या पर अधिकतर दोष थोपा। वे सतत विकास को एक स्वस्थकर जीवन हेतु प्रदूषण–मुक्त पर्यावरण की पुनर्प्राप्ति के दृष्टिकोण से देखते हैं।

5.1.5.2 विकासशील विश्व का परिदृश्य

इसके विरोध में विकासशील देशों के संदर्श ने एक नाटकीय रूप से विपरीत तस्वीर दिखाई। इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यापार, पर्यावरण, संसाधनों, अर्थव्यवस्था, प्रौद्योगिक, ज्ञान व नीतियों, आदि पर विकसित विश्व का आधिपत्यपूर्ण नियंत्रण ही भूमण्डलीय पर्यावरण, शांति एवं विकास के प्रति एकमात्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण खतरा है। उन्हें एक सुरक्षित एवं संरक्षित पर्यावरण की आवश्यकता है क्योंकि यही उनकी वैयक्तिक एवं सामाजिक उत्तरजीविता का आधार है। यह महसूस किया गया है कि अधिकांशतः विकसित विश्व द्वारा शुरू की गई वर्तमान विकसित परियोजनाओं के कारण ही पर्यावरण के वर्धमान विनाश के साथ, उपनिवेश–पश्चात् देशों में ग़रीबी, भुखमरी व लालसा की घटनाओं में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। विकसित देशों के बीच एक आशंका व्याप्त है कि उदारीकरण, भूण्डलीकरण एवं निजीकरण के नाम पर, विश्व पूँजीवाद उपनिवेश बनाने में लगा है। परंतु अब ये नए उपनिवेश सिर्फ भौगोलिक स्थानों तक ही सीमित नहीं है वरन् जैविक ढाँचे एवं स्वयं जीवन के औपनिवेशीकरण प्रक्रियाओं को भी अपने में शामिल करते हैं। पर्यावरण और उपनिवेश–पश्चात् देशों में रहने वाले देशज समुदायों के भी उन्हें उपलब्ध समुचित प्रौद्योगिकी की इच्छा हेतु नई एकस्वकृत शासन–प्रधाली में खतरा है। इस प्रकार, विकासशील देशों के मामले में पर्यावरण एवं सतत् विकास का प्रश्न जटिल रूप से अपनी स्वतंत्रता, पहचान एवं आस्तित्व कायम रखने से जुड़ा है।

5.1.6 सतत विकास संबंधी संकेतों की कार्य सूची

उपर्युक्त मुद्दों से परे, दूसरा विवादग्रस्त मुद्दा था, सतत विकास की पैमाइश कैसे करें? अथवा दूसरे शब्दों में, सतत विकास के संकेतक क्या हैं? पुनः सतत विकास को मापने हेतु चुने जाने वाले संकेतकों की प्रकृति के साथ–साथ उनकी संख्या विषयक किसी सर्वसम्मति पर पहुँचना मुश्किल था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में एशिया व प्रशांत आर्थिक एवं सामाजिक आयोग ने सतत विकास के संकेतकों की एक कार्यसूची तैयार की। यह काम सतत विकास आयोग (सी.एस.डी) के सतत विकास संकेतों पर कार्यक्रम के तहत किया गया।

तालिका 1 : सी.एस.डी. विषय संकेतक ढाँचा

समाजिक		
विषय	**उप–विषय**	**संकेतक**
समदृष्टि	दरिद्रता	गरीबी–रेखा से नीचे रहने वाली जनसंख्या का प्रतिशत
		आय असमानता की गिनी इण्डैक्स
		बेरोज़गारी दर
	लैंगिक समानता	औसत नारी वेतन के प्रति पुरुष वेतन का अनुपात
स्वास्थ्य	पोषण–संबंधी स्थिति	बच्चों की पोषण–संबंधी स्थिति
	नैतिकता	5 वर्ष की उम्र से कम की मृत्यु पर
		जन्म के समय जीवन–प्रत्याशा
	स्वच्छता	उचित मलव्ययन सुविधाओं वाली जनसंख्या का प्रतिशत
	पेयजल	सुरक्षित पेयजल प्राप्त जनसंख्या
	स्वास्थ्य–रक्षा प्रसव	प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा सुविधाएँ प्राप्त जनसंख्या का प्रतिशत
		रोगों के खिलाफ प्रतिरक्षा
		गर्भ निरोधक प्रचलन दर
शिक्षा	शिक्षा–स्तर	प्राथमिक शिक्षा के कक्षा 5 तक पहुँचने वाले बच्चे
		वयस्क अनुपूरक शिक्षा प्राप्ति स्तर
	साक्षरता	वयस्क साक्षरता दर

आवास	निर्वाह–योग्य दशाएँ	प्रति व्यक्ति फर्श क्षेत्रफल
सुरक्षा	अपराध	प्रति 100,000 जनसंख्या दर्ज अपराधों की संख्या
जनसंख्या	जनसंख्या परिवर्तन	जनसंख्या वृद्धि दर
		शहरी औपचारिक एवं अनौपचारिक रिहाइशों की जनसंख्या

पर्यावरण–संबंधी		
विषय	**उप–विषय**	**संकेतक**
वातावरण	जलवायु परिवर्तन	हरित–गृह गैसों का उत्सर्जन
	ओज़ोन परत क्षय	ओज़ोन क्षयकारी पदार्थों की खपत
	वायु गुणवता	शहरी क्षेत्रों में वायु–प्रदूषण का परिवेशी संकेन्द्रण
भूमि	कृषि	जोत्य व स्थायी फसल भूमि क्षेत्र
		उर्वरकों का प्रयोग
		कृषीय कीटनाशकों का प्रयोग
	वन	भूमि क्षेत्र के प्रतिशत रूप में वन क्षेत्र
		काष्ठ उपज प्रचण्डता
	मरूस्थलीकरण	मरूस्थलीकरण द्वारा प्रभावित भूमि
	शहरीकरण	शहरी औपचारिक एवं अनौपचारिक रिहाइशी क्षेत्र
महासागर, समुद्र एवं तट	तटीय क्षेत्र	तटीय समुद्र में शैवाल संकेन्द्रण
		तटीय क्षेत्रों में रहने वाली कुल जनसंख्या का प्रतिशत
	मत्स्य क्षेत्र	प्रमुख प्रजातियों के अनुसार वार्षिक पकड़
ताजा जल	जल मात्रा	कुल उपलब्ध जल प्रतिशत के रूप में भूमिगत व सतही जल का वार्षिक दोहन
	जल गुणवत्ता	जल निकायों में बी.ओ.डी. ताजे जल में फीकल कोलाइफॉर्म का संकेद्रण
जैव–भिन्नता	पारितंत्र	चुनींदा मुख्य पारितंत्रों का क्षेत्र
		कुल क्षेत्र प्रतिशत के रूप में संरक्षित क्षेत्र
	प्रजातियाँ	चुनींदा मुख्य प्रजातियों की प्रचुरता

आर्थिक		
विषय	**उप–विषय**	**संकेतक**
आर्थिक सुधार	आर्थिक निष्पादन	प्रति व्यक्ति जी.डी.पी.
		जी.डी.पी. में निवेश का हिस्सा

	व्यापार	माल व सेवाओं में व्यापार संतुलन
	वित्तीय स्थिति	जी.एन.पी. अनुपात के प्रति देनदारी
		जी.एन.पी. प्रतिशत रूप में प्रदत्त या प्राप्त कुल ओ.डी.ए.
उपभोग एवं उत्पादन प्रतिमान	भौतिक खपत	भौतिक प्रयोग की प्रचण्डता
	ऊर्जा–प्रयोग	प्रति व्यक्ति वार्षिक ऊर्जा खपत
		पुनर्नव्य ऊर्जा संसाधनों के उपभोग का भाग
		ऊर्जा प्रयोग की प्रचण्डता
	कचरा उत्पादन एवं प्रबंधन	हानिकारक कचरे का उत्पादन
		रेडियाधर्मी कचरे का प्रबंधन
		कचरा पुनर्नवीकरण एवं पुर्नप्रयोग
	परिवहन	परिवहन के साधन द्वारा प्रतिव्यक्ति तय की गई दूरी

संस्थागत		
विषय	**उप–विषय**	**संकेतक**
संस्थागत ढाँचा	एस.डी. की रणनीतिक अभिपूर्ति	राष्ट्रीय सतत विध्य रणनीति
	अंतरराष्ट्रीय सहयोग	पुष्टीकृत भूमण्डलीय समझौतों का परिचालन
संस्थागत क्षमता	सूचक उपगम्य	प्रति 1000 निवासी इंटरनेट ग्राहकों की संख्या
	संचार ढाँचा	प्रति 1000 निवासी मुख्य दूरभाष लाइनें
	विज्ञान एवं प्रौद्योगिक	जी.डी.पी. प्रतिशत के रूप में अनुसंधान एवं विकास पर व्यय
	आपदा तत्परता व प्रत्युत्तर	प्राकृतिक आपदाओं के कारण आर्थिक एवं मानवीय क्षति

ऊपर दी गई संकेतक–सूची से यह स्पष्ट है कि सतत विकास केवल एक सम्पूर्ण बहु–फलक उपगम्य के माध्यम से ही संभव है। अनेक विद्वानों द्वारा सुझावित किसी भी उपगम्य में उस बात की कमी है जो जीवन की गुणवत्ता और पर्यावरण संपन्नता कायम रखने के लिए कम से कम जरूरी है। उदाहरण के लिए परिसम्पत्तियों के स्टॉक की देख–रेख करते समय आय के अधिकतम प्रवाह विषयक हिक्स–लिण्डाल द्वारा प्रतिपादित सतत विकास हेतु आर्थिक उपगम्य को लेते है। इस उपगम्य में अनतनिर्हित धारणा उन संसाधनों की आर्थिक क्षमता को सुधारना है जो दुर्भभ रूप से प्राप्य है। यह दिए गए दूसरे संबद्ध कारकों को भी लेता है। इसके विपरित पर्यावरणीय उपगम्य जैविक व भौतिक समवायों की स्थिरता और सर्वोपरि एक भूमण्डलीय पारितंत्र के सातत्य, जैव–भिन्नता का संरक्षण आदि पर जोर देता है। यह उपगम्य अन्य मध्यस्थ कारकों को भी उपान्तिक महत्त्व देता है। सामाजिक–सांस्कृतिक उपगम्य के नाम से प्रसिद्ध एक और भी उपगम्य है जो विनाशात्मक संघर्षों को घटाना शामिल करते हुए सामाजिक–सांस्कृतिक प्रणालियों के रख–रखाब पर ज़ोर देता है। इस उपगम्य के सूत्रधार के अनुसार भूमण्डल पर सांस्कृतिक वैविध्य का संरक्षण सतत विकास हेतु एक पूर्वशर्त है। पुनः यह उपगम्य भी अपनी समग्रता में विषय को समाविष्ट करने में विफल रहा।

इन सभी उपगम्यों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि इसीलिए यह सुझाव देती है कि ''एक उपागम्य की बजाय हमें उपगम्यों के सेट की बात करनी चाहिए क्योंकि प्रौद्योगिक पीढ़ी बदलती रही है''। इस प्रकार, सभी बातों को ध्यान में रखते हुए, संयुक्त राष्ट्रसंघ के आर्थिक एवं सामाजिक आयोग द्वारा सुझावित संकेतन–सूची अन्य किसी की उपगम्य से अधिक स्वीकार्य लगती है।

5.1.7 सारांश

''सतत विकास'' एक नारा बन चुका है क्योंकि यह मनुष्यों, उनकी सभ्यता एवं उस नितांत पर्यावरण जिसका वह अभिन्न भाग है, से सीधे जुड़ा है। तथाकथित विकास के नाम पर हुआ है वृहद–स्तरीय वनोन्मूलन, वातावरणीय परिवर्तन जैसे जीवन–रक्षक ओज़ोन परत का पतला होना, जैव वैविध्य में कमी, उस कचरे की बढ़ती माता जो दिन प्रति दिन काबू से बाहर होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त, मानवीय कृत्यों ने हमारे पर्यावरण के जीवनधार समवायों को विषैला कर दिया है, नामतः मृदा, वायु, जल एवं जीव। इन सब में ज्यादा हैरत में डालने वाली बात यह है कि इस प्रकार की सामाजिक एवं पर्यावरणीय लागत पर किए गए आर्थिक लाभ दुनिया की आबादी के महज एक छोटे से तक ही सीमित हैं। संसार की आबादी का बड़ा हिस्सा अब भी शाश्वत दरिदता, क्षुधा एवं भुखमरी में जी रहा है। संसार भर में हर वर्ष लाखों लोग अपने जीवन की बुनियादी ज़रूरतों की इच्छा लिए मर रहे हैं। बहुतायत और गंदगी का एक साथ और एक ही समय सहअस्तित्व भी सामाजिक तनावों एवं हिंसा के नए रूप को जन्म दे रहाा है। आतंकवाद, हिंसा का एक प्रचण्डतम रूप, एक–पक्षीय भूमण्डलीय नियंत्रण के पीड़ितों की अनिवार्यतः एक ग़ैरकानूनी गतिविधि है। इसी कारण, सतत विकास ही, यदि समुचित रूप से लिया जाए, सामाजिक न्याय एवं पर्यावरणीय संरक्षण के साथ विकास की कुंजी है। यह मानव मात्र के लिए सुरक्षित भविष्य की भी कुंजी है।

5.1.8 अभ्यास प्रश्नावली

1) सतत विकास से आप क्या समझते हैं?
2) सतत विकास की अवधारणा ने कैसे जन्म लिया?
3) विकसित एवं विकासशील विश्व के संदर्श सतत विकास की संकल्पना के लिहाज से किस प्रकार भिन्न हैं?
4) सतत विकास के संकेतक क्या हैं?

अध्याय–2
आर्थिक सुधार और भूमण्डलीकरण

सरंचना

5.2.1 – उद्देश्य
5.2.2 – प्रस्तावना
5.2.3 – बाजार के उपयोग अथवा नियोजन व सरकारी नियंत्रण संबंधी सैद्धांकिवाद–विवाद
5.2.4 – भारत में विकास नियोजन
5.2.5 – भारत में व्यापार नीति – 1991 से पूर्व
5.2.6 – 1991 का संकट, उदारीकरण और उसके आर्थिक परिणाम
5.2.7 – उदारीकरण और लोकतंत्र
5.2.8 – सारांश
5.2.9 – अभ्यास प्रश्नावली

5.2.1 – उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य भूमण्डीकरण की अवस्था को स्पष्ट करते हुए यह बताना है कि किस तरह 1991 के पश्चात यह परिवर्तन आर्थिक सुधार लाते हुए विकास में साकल रहा। उदारीकरण के इस युग में आर्थिक नीतियों के क्रियान्वयन में राज्यों की सकारात्मक भूमिका की महती आवश्यकता है तभी सही मायने में आर्थिक विकास संभव हो पाएगा। अतः विकास को अवरूद्ध करने वाले उपायों को खोजना इस अध्याय को उद्देश्य है।

5.2.2 प्रस्तावना

नीति निर्धारण की कला सिद्धांत और भौम यथार्थताओं के बीच सामंजसय में निहित है। यदि सिद्धांत विकसित होता है अथवा भौम यथार्थताएँ बदलती है तो नीति को समायोजित करना पड़ता है। इस कझ में हम भारत में विकास रणनीति और नीतियों के बदलते स्वरूप का इन द्वियुग्म परिवर्तनों के अन्तर्गत विश्लेषण करेंगे 7 सिद्धांत में परिवर्तन और राजनीतिक यथार्थता में परिवर्तन। भारतीय नीति में अनेक परिवर्तन भुगतान–अतिशेष संकटों की वजह से हुए–1957, 1965–66, 1973–74, 1980–81 में तथ 1990–91 में। साथ ही, वर्षों विभिन्न देशों के अनुभव पर दृष्टि डालते हुए, सैद्धान्तिक व आनुभाविक दोनों प्रकार से बहुत अनुसंधान हुआ, और इस अनुसंधान ने भारतीय नीति–निर्माताओं को प्रभावित किया।

हम सैद्धान्तिक रूप से इस विषय पर विचार–विमर्श करेंग कि क्या नीति–निर्माताओं को पण्यक्षेत्र पर निर्भर रहना चाहिए या फिर नियोजन और सरकारी हस्तक्षेप चाहिए। प्रारम्भतः सहमति इस ओर दिखाई दी कि एक नियोजित अर्थव्यवस्था एक पण्य अर्थव्यवस्था से बेहतर परिणाम दे सकती है। परन्तु आर्थिक सिद्धांत में घटनाक्रम और समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं का अनुभव इस दृष्टि से एक अत्यन्तिक परिवर्तन में फलीभूत हुए और नीति–निर्माता पण्यक्षेत्र पर अधिक भरोसा करने लगे। हमारा तर्क है कि साठ के दशकमध्य तक भारतीय योजनाकारी के उद्देश्यों, आर्थिक सिद्धांत और भारत की आर्थिक व राजनीतिक स्थिति की वास्तविकताओं के बीच सामंजस्य था। परन्तु साठ के दशकमध्य से यह सामंजस्य असफल होना शुरू हो गया, उदारीकरण नीति–निर्धारण के इन पहलुओं के बीच अननुरूपता को और अधिक तीव्र रूप में सामने ले आया है।

5.2.3 बाजार के उपयोग अथवा नियोजन व सरकारी नियंत्रण संबंधी सैद्धांतिक वाद–विवाद

बीसवीं शती में, विशेषतः सोवियत संघ की स्थापना के बाद, किसी अर्थव्यवथा के प्रबंधन में सरकार व बाजार की आपेक्षिक भूमिका पर अर्थशास्त्रियों के प्रश्न ने पहले ही घेर रखा था। पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं तथा विकास को तेज करने व अपनी जनता के लोगों का जीवन स्तर सुधारने के लिए नए–नए स्वतंत्र हुए उपनिवेशों द्वारा किए गए प्रयासों को विफल करते हुए इस प्रश्न को तीसवें दशक के अवसाद के सहारे उत्तरोत्तर प्रसिद्धी मिली। हाल के वर्षों में सरकार की और बाजार की भूमिकाओं के बची यह बहस भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का रूप ले चुकी है। सामान्यतया वे जो बाजार का पक्ष लेते है। उदारीकरण का भी पक्ष लेते हैं, और वे जो एक बंद अर्थव्यवस्था का पक्ष लेते है अधिक सरकारी हस्तक्षेप का भी पक्ष लेते है, यद्यपि युद्ध रेखा कोई स्पष्ट रूप से नहीं खिंची है।

किसी अर्थव्यवस्था को चलाने के बारे में मुख्य रूप से मान्यताओं के तीन समूह है। पहले समूह का मानना है कि बाजार एक वांछित परिणाम की ओर प्रवृत्त रकते है, जिसे तकनीकी भाषा में पैरेटा ऑप्टिमल (पी.ओ.) परिणाम कहा जाता है। अतः यहाँ सरकारी हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं होती। एक अन्य समूह का मानना है कि जब एक पण्य अर्थव्यवस्था को चलाने में खामियाँ हो तो सरकार को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली नहीं सुधर सकती। इस समूह में और अधिक निराशावादियों का मानना है कि सनकारी हस्तक्षेप अर्थव्यवस्था की कार्यवाही को सुधार सकता है, हालाँकि इस समूह के सदस्यों में हस्तक्षेप के विस्तार और स्वभाव के बारे में आपस में ही मतभेद हो सकते है।

इन मुद्दों की जाँच करने से पहले हम आर्थिक विश्लेषण में एक पी.ओ. परिणाम और उसके महत्त्व की मूल संकल्पना को विस्तार से परिभाषित करते है।

ऐसी स्थिति पी.ओ. कहलाती है जिसमें किसी और को नुकसान पहुँचाए बगैर किसी को भी सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। यदि विनोद और कमल दो व्यक्ति है तो विनादे को कमल को नुकसान पहुचाँए बगैर सम्पन्न नहीं बनाया जा सकता है। हमें एक पी.ओ. बेहतर स्थिति प्राप्त होगी यदि कमल और विनोद दोनों को सम्पन्न बनाया जाए। अतः यदि एक स्थिति पी.ओ. है तो हम उत्पादन कारकों के पुनर्निधारण द्वारा अथवा व्यक्तियों के बीच वस्तुओं को पुनर्वितरित करके नहीं सुधार सकते है। परन्तु एक पैरेटो सुधार इस बारे में कुछ नहीं कहता कि लाभ कैसे वितरित किए जाते है। उदाहरण के लिए यदि अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन 100 है और कमल सभी 100 प्राप्त कर लेता है और विनोद को कुछ भी नहीं मिलता, तो यह एक पी.ओ. स्थिति है क्योंकि हम विनोद को कुछ नहीं दे सकते, यथा कमल को प्राप्त राशि कम किए बगैर यानि उसे हानि पहुँचाए बगैर विनोद की स्थिति नहीं सुधार सकते। पी.ओ. संकल्पना की कमज़ोरियों में से एक यह है कि यह वितरणीय प्रश्नों की उपेक्षा करती है।

इसकी शक्ति क्या है ? इसकी शक्ति उनसे उत्पन्न होती है जिन्हें कल्याणकारी अर्थशास्त्र की दो आधारभूत प्रमेय कहा जाता है। पहल कहती है कि प्रत्येक पूर्णतः प्रतिस्पर्धात्मक व्यवस्था का परिणाम पी.ओ. होता है। अतः यदि हमारे पास पूर्णतः प्रतिस्पर्धात्मक पण्यक्षेत्र है और यदि उपभोक्तागण उन्हें उपभोग से मिलने वाली संतुष्टि को अधिक से अधिक करने का प्रयास करते है और उत्पादकगण अपने लाभों को अधिक से अधिक करने का प्रयास करते है तो परिणाम कि हमने ऊपर देखा, यदि कमल को सब कुछ मिल जाता है और विनोद को कुछ भी नहीं तो यह एक पी.ओ. परिणाम है। परन्तु कुछ लोगों का मानना है कि इस प्रकार का परिणाम वांछनीय होता है। यह कमजोरी दूसरी प्रमेय द्वारा दूर की जाती है, जो कहती है एक उचित आरम्भिक आय वितरण हो तो एक पूर्णतः प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था द्वारा किसी भी पी.ओ. पर पहुँचा जा सकता है। अतः समाज विपणन कार्य होने दे सकता है और किसी भी मनचाहे परिणाम तक पहुँचकर तब तक बना रहने दे सकता है जब तक कि वह आरंभिक आय वितरण को समायोजित कर सके। अतः स्वार्थपूर्ण व्यवहार एक सामाजिक रूप से वांछित व्यवहार की ओर ले जाता है। दूसरी प्रमेय का अभिप्राय यह है कि सरकार को एक वांछित आरंभिक आय वितरण अस्तित्व में आने के लिए ही हस्तक्षेप करना चाहिए और तदोपरांत विपणन कार्य होने देना चाहिए।

ये दो प्रमेयें उस विपणन व्यवस्था की कारगरता में अधिकतर विश्वास हेतु आधार प्रदान करती है जो अनेक देशों में हाल के उदारीकरण के मूल में है। परन्तु समस्या यह है कि बिना अच्छी तरह समझा–बूझा विश्लेषण इस सीमाकारक की उपेक्षा करता है कि विपरणन व्यवस्था वांछित पी.ओ. पर अभी पहुँचेगी जब आय वितरण उचित होगा। विपणन व्यवस्था की एक दूसरी कमजोरी यह है कि अर्थव्यवस्था में बचत व निवेश की एक उचित दर की गारण्टी देने वाला कोई माध्यम नहीं है। आय और रोजगार में धीमी वृद्धि की ओर उन्मुख असार्वजनिक व्यक्ति जो सामाजिक रूप से वांछित है उससे भी कम बचत और निवेश कर सकते है ताकि गरीबी कायम रहे, इसके अलावा, यदि बचतें और निवेश समान नहीं होंगे तो मंदी अथवा मुद्रास्फीतिकारी घटनाएँ हो सकती है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था को चाहिए बचतों व निवेश का एक उचित स्तर, ताकि वृद्धि–दर तेज हो और उसकी जनता का जीवन स्तर सुधरे।

एक बाजार अर्थव्यवस्था का कार्यनिष्पादन किसी नियोजित अर्थव्यवस्था से बेहतर होता है अथवा उससे खराब ? यह प्रश्न सर्वप्रथम सोवियम संघ में नियोजन विषयक वाद–विवाद के संदर्भ में उठाया गया था। लेन्ज एवं टेलर ने, एक पण्य अर्थव्यवस्था साम्य की स्थिति में कैसे पहुँचती है, अर्थशास्त्रियों के अंदाज वाले इस संकल्पीकरण का प्रयोग करके यह दर्शाया कि एक नियोजित अर्थव्यवस्था साम्य अवस्था में वैसे ही पहुँच सकती है जैसे कि एक पण्य अर्थव्यवस्था। एक स्वायत्त नीलामकर्त्ता को दायित्व सौंपा जाता है, और वह एक मूल्य उद्धृत करता है। लोग उसे उस मूल्य पवर अपनी माँगें और आपूर्तियाँ बदलाते है। यदि माँ आपूर्ति से अधिक होगी तो फिर वह अगली बार से दाम बढ़ा देगा और यदि आपूर्ति माँ से अधिक होगी वह दाम घटा देगा। लोग अपनी माँगें और आपूर्तियाँ नए मूल्य पर करेंगे और दोबारा यदि माँग आपूर्ति से अधिक होगी तो नीलामकर्त्ता दाम बढ़ा देगा, और यदि आपूर्ति माँग से अधिक होगी तो वह दाम घटा देगा। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक एक ऐसा मूल्य तय नहीं हो जाता जहाँ माँग व आपूर्ति समान होंगे, नामतः साम्म्यावस्था प्राप्त हो। वास्तविक लेन–देन तभी होगा जब हम साम्यावस्था पर पहुँच जाएँगे। लेन्ज और टेलर ने तर्क

प्रस्तुत किया कि एक नियोजित अर्थव्यवस्था में यथार्थ–जीवन योजना बोर्ड पण्य मामले में प्राक्कल्पना–आधारित नीलामकर्त्ता की भूमिका निभा सकता है और इसलिए सुनिश्चित कर सकता है कि साम्यावस्था प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त, एक नियोजित अर्थव्यवस्था में राज्य पण्य अर्थव्यवस्था में इन दो खामियों को दूर कर सकता है। यह एक वांछनीय आय वितरण अस्तित्व में लाएगा। साथ ही, राज्य अपने स्वयं के निवेशों द्वारा सामाजिक रूप से वांछित वृद्धि–दर सुनिश्चित कर सकता है। इस प्रकार, एक नियोजित अर्थव्यवस्था एक पी.ओ. स्थिति में पहुँचेगी, और वास्तव में एक अच्छी पी.ओ. स्थिति में पहुँचने की उसकी अधिक संभावना होगी। अतः पहला दौर उनके द्वारा जीत लिया गया प्रतीत हुआ जो एक नियोजित अर्थव्यवस्था के पक्ष में तर्क देता था।

परवर्ती विश्लेषण ने इस समस्या पर सूचना प्रवाहों का सहारा लेकर ज़ोर दिया है। योजना बोर्ड उचित निर्णय तभी ले सकता है जब उसके पास सही सूचना हो। परन्तु इसके पास कोई माध्यम नहीं कि वह अपने आप सूचना पैदा कर सके। उसे सूचना उपलब्ध कराने के लिए सार्वजनिक उद्यम में कर्मचारियों व प्रबन्धकों पर निर्भर रहना पड़ता है। हो सकता है कि उन्हें यह सूचना उपलब्ध कराने के लिए कोई प्रोत्साहन न मिलता हो। उदाहरण के लिए, योजना बोर्ड को उद्यम हेतु एक उत्पादन लक्ष्य निर्धारित करने की आवश्यकता हो सकती है। योजनाकार की अपेक्षा कर्मचारी और प्रबंधक कहीं बेहतर जानते है कि किसी चीज का उत्पादन किया जा सकता है। परन्तु वे पूरे तौर पर वर्णन करने मं असमर्थ हो सकते हैं कि किसी चीज का उत्पादन किया जाए या तो मानदण्ड से अधिक उत्पादन करने के लिए, ताकि वे बोनस पा सकें, अथवा इस कारण कि यदि वे इस वर्ष अधिक उत्पादन देंगे तो उनसे अगले वर्ष भी अधिक उत्पादन की अपेक्षा की जाएगी और वे अगले वर्ष के लिए यह ऊँचा लक्ष्य नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक व्यक्ति के पास विशेष ज्ञान होता है, जो किसी केन्द्रीय निकाय में स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता है, और एक केन्द्रीकृत व्यवस्था में यह निजी ज्ञान खो जाता है। केवल इसी के सहारे एक बेहतर सिद्ध नियोजित अर्थव्यवस्था (स्टिगलिट्ज) के विरूद्ध हयेक की आपत्तियों का महत्त्व था।

उम्मीद यह थी कि एक ''समाजवादी अर्थव्यवस्था'' में व्यक्ति भिन्न रूप से व्यवहार करेगा। परन्तु अने कारणों से, नियोजित अर्थव्यवस्थाएँ उस वैरभाव को दूर करने में समर्थ नहीं थी जिसने पूँजीवादी के अधीन कर्मचारियों पर मुसीबत डाली और नया ''समाजवादी आदमी'' बनाया। आगे, इसलिए ये अर्थव्यवस्थाएँ सूचना की समस्या से उब्रने में समर्थ नहीं थी और यह व्यवस्था अन्ततोगत्वा ढह गई।

कुछ हद तक इन अर्थव्यवस्थाओं ने अपनी समस्याओं को खुद जम्म दिया। जैसा कि हमने ऊपर देखा, एक नियोजित अर्थव्यवस्था निवेश के अनुचित स्तरों और एक पण्य अर्थव्यवस्था को बरबाद करती एक अंसतोषजनक आय वितरण की समस्याओं से उबर सकती है। परन्तु दर्भाग्यवश ऐसे कारणों से जो पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, किसी भी समाजवाीद अर्थव्यवस्था ने पण्यक्षेत्र का प्रयोग नहीं किया। इसकी बजाय उन्होंने योजना बोर्ड से लेकर विभिन्न अभिकरणों से प्राप्त मात्रात्मक निर्देशों पर भरोसा किया। उदाहरण के लिए, राज्य सरकारी दुकानों के माध्यम से सभी के लिए खाद्य आपूर्ति कर सकता है अथवा सभी को एक आय प्रदान कर सकता है और उन्हें उनके मनचाहे खाद्य खरीदने दे सकता है। परवर्ती उदाहरण में सरकार सभी को उचित पोषण प्रदान करने के लिए पण्यक्षेत्र का प्रयोग करेगी जबकि पूर्ववर्ती उदाहरण में सरकार को पता लगाना होगा कि हर व्यक्ति कौनसा खाद्य पदार्थ पसंद करता है, साथ ही यह जोखिम लेना ही होगा क्योंकि हो सकता है आपूर्ति किया गया खाद्य पदार्थ खाया ही न जाए। अतः पण्यक्षेत्र को उन अनेक साधनों में से एक के रूप में देखा जाना चाहिए जिनका प्रयोग सरकार अपने उद्देश्यां की प्राप्ति हेतु कर सकती है।

5.2.4 भारत में विकास नियोजन

जब भारत ने अपना योजना अभियान शुरू किया, उसकी अर्थव्यवस्था मूलतः कपास और पटसन उद्योगों तक सीमित एक बहुत छोटे औद्योगिक क्षेत्र और लगभग 10 प्रतिशत की एक छोटी सी बचत दर वाली एक कृषि–प्रधान अर्थव्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त, उद्यमी वर्ग का कार्यशील औद्योगिक उद्यमों के साथ अनुभव सीमित था, भारतीय उद्यम मुख्य रूप से व्यापारिक गतिविधियों में लिप्त थे और सिर्फ वस्त्र उद्योग में काम करने का अनुभव रखते थे। देश में व्याप्त गरीबी को कम करने और जनता का जीवन–स्तर सुधारने के लिए एक ऊँची वृद्धि दर की आवश्यकता थी। परन्तु विकास को तेज करने के लिए अधिक निवेश और ऐसे पूँजीगत माल के अधिक आयात की आवश्यकता होगी जो माल घरेलू रूप से उत्पादित नहीं किया जा सकता है। ऐसे आयातों की और अधिक कृषिगत माल के निर्यातों से भरपाई नहीं की जा सकती थी, क्योंकि अधिक कृषिगत निर्यात किया जाना व्यापार शर्तों की दुर्गति की ओर प्रवृत्ति करता जिससे निर्यात से होने वाली कमाई अधिक नहीं बढ़ती। इसके अतिरिक्त, भारत में प्रतिकूल भूमि–मनुष्य अनुपात के कारण, विकास को औद्योगीकरण–आधारित होना पड़ा (चक्रवर्ती)। एक मंथर–गति विश्व अर्थव्यवस्था, विकसित देशों मं संरक्षणवाद (नुर्कसे) तथा प्रतिस्पर्धात्मकता के अभाव के भय से यह औद्योगीकरण बाहय पण्यक्षेत्र की ओर उन्मुख नहीं हो सका क्योंकि भारतीय कामगार औद्योगिक रूप से अनुशासनबद्ध नहीं थे और न ही भलीभाँति प्रशिक्षित। इसी कारण विकासशील उद्योगों द्वारा औद्योगीकरण आयातों को रोककर किया जाना था। अतः भारत द्वारा औद्योगीकरण–के–बदले–आयात (आई.एस.आई.) की

नीति अपनाए जाने को सिद्धांततः भारतीय आर्थिक दशा का समर्थन मिला और उसे अधिकांश विकासशील देशों द्वारा अपनाई गई विकास नीतियों से सम्बद्ध किया गया।

भारत में राज्य की इस औद्योगीकरण को शुरू करने हेतु अभिकरण था। (बाद में इस इकाई में हम एक अधिक उदारीकृत अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका की चर्चा करेंगे।) ऐसा इसलिए था क्योंकि मूल उद्योगों में आयात प्रतिस्थापन भारत की आदत बन गई थी। सैद्धान्तिक प्रतिमानों ने दर्शाया कि ऐसा आयात प्रतिस्थापन एक उच्चतर वृद्धि दर की ओर ले जा सकता था। (अधिक चर्चा के लिए देखें भगवती और चक्रवती, 1969 तथा चक्रवर्ती, 1978)। मूल उद्योगों का विकास अर्थव्यवस्थ को आयातों पर निर्भरता से मुक्ति दिलाएगा और इस प्रकार स्वावलम्बन में मदद करेगा जो एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। विशेष रूप से, एक रक्षा उद्योग का विकास सरल हो जाएगा और इस प्रकार रक्षा उत्पादन में भारत का स्वावलम्बन सुनिश्चित हो जाएगा। असार्वजनिक पूँजी ऐसे उद्योगों में निवेश करने की इच्छुक नहीं थे क्योंकि इन उद्योगों में निवेश स्तर विशाल था और अनेक वर्षों तक कोई उत्पादन नहीं होना था। इसके अतिरिक्त, इन मूल उद्योगों में राजकीय निवेश अनुचित धन–संकेन्द्रण से भी बचाता। अधिकतर अन्य विकासशील देशों ने आयात प्रतिस्थापन जिन्स उद्योगों में करने का बीड़ा उठाया। इन उद्योगों में निवेश उन पारदेशीय निगमों (टी.एन.सी.) द्वारा किए गए जो पहले सही ही विकसित देशों में इन वस्तुओं का उत्पादन कर रहे थे और उन्हें विकासशील देशों में निर्यात कर रहे थे (देखें अग्रवाल–रोड्रिक, 1996 तथा रोड्रिक एवं रोड्रिग्ज, 2001)।

बस कुछ ही वर्षों तक विकासशील देशो ने तेज़ी से उन्नति, फिर वे समस्याओं से घिर गए, न सिर्फ वे जिन्होंने जिन्सों में आयात प्रतिस्थापन अपनाया था बल्कि वे भी जिन्होंने पूँजीगत वस्तुओं में आयात प्रतिस्थापन अपनाया था। ये समस्याएँ खुद–ब–खुद सामने आयीं क्योंकि विशाल भुगतान अतिशेष (बी.ओ.पी.) घाटों को अपनी निर्यात आयों के रूप में चलाने वाले देश अपनी आयात देयताओं के सामने बहुत छोटे थे और इसलिए अपने आयातों का मूल्य चुकाने में अब सक्षम हो चले थे। अतः विकासशील देशों की समझौता करना पड़ा।

अनेक देशों ने निर्यातों पर और अधिक दबाव डालने के लिए अपनी व्यापार नीतियों में समायोजन किया। ब्राजील और कोलम्बिया जैसे देशों ने अपनी–अपनी विनियम दर से आवधिक रूप से अवमूल्यन की अनुमति दे दी जिससे उनके निर्यात प्रतिस्पर्धा में डटे रहें और वृद्धि करें। भारत जैसे अन्य देशो ने निर्यात–व्यापार को बढ़ावा देने के लिए निर्यात पर आर्थिक सहायता प्रदान की। पूर्वी एशिया के देशों, कोरिया, ताइवान, सिंगापुर और हांगकांग, ने निर्यातों को बढ़ावा देने के लिए और अधिक परिवर्तनकारी कदम उठाए – और उसके बाद यह कहा जाता था कि उन्होंने एक निर्यातोन्मुखी विकास रणनीति अपनायी।

5.2.5 भारत में व्यापार नीति–1991 से पूर्व

भारत ने भी, जैसा कि हमने ऊपर देखा, एक 'आई–एस–आई' रणनीति नीति को चुना था। उसने भुगतान अतिशेष में भी समस्याओं का सामना किया – एक संकट 1757–58 में था और उसके बाद 1965–66 में। भुगतान अतिशेष की समस्याओं को देखते हुए भारतीय नीति–निर्माताओं ने निधियों हेतु नए स्रोत तलाशे और कुछ समंजनकारी उपायों का बीड़ा उठाया। उदाहरण के लिए 1957–58 के संकट के बाद भारत ने मदद की लिए विश्व बैंक का रास्ता देखा और विश्व बैंक ने 'भारत सहायता संघ' की स्थापना की। इस सहायता संघ से मिलने वाली मदद ने दूसरी व तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक निवेशों में काफी वित्तीय योगदान दिया – लगभग एक–तिहाई। योजना का आकार भी घटा दिया गया – इस बात पर लम्बी बहस चली कि योजना का आकार कैसे समायोजित किया जाए। इसके उपरांत, तीसरी योजना (1961–65) में सरकार ने निर्यात आयों को बढ़ाने के लिहाज से विभिन्न निर्यात प्रोत्साहन प्रदान किए।

सन् 1965–66 का संकट और अधिक दूरगामी परिवर्तनों में परिणत हुआ। कृषि नीतियाँ बदली गई क्योंकि इस संकट के कारणों मं से एक था खाद्यान्न का बढ़ता आयात, और हरित क्रांति का पदार्पण भी हो चुका था। कृषि नीतियों में परिवर्तन कृषि उत्पादन की वृद्धि–दर बढ़ाने और खाद्य उत्पादन में भारत को स्वावलंबी बनाने में सफल थे। व्यापार नीतियाँ भी बदली गई, इसमें रूपये का अवमूल्यन भी शामिल था। परन्तु व्यापार नीतियों में परिवर्तनों हेतु समर्थन कृषि नीतियों में परिवर्तनों हेतु समर्थन की अपेक्षा काफी कम था और यह क्रम शीघ्र ही उलट गया। दानदाताओं के साथ विवाद विश्व बैंक तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मिलने वाली मदद के रोके जाने में परिणत हुआ। भारत सरकार ने यह कटौती कुछ वर्षों तक 'योजना अवकाश' रखकर और घरेलू बचत–दर बढ़ाने हेतु उपाय करने का काम हाथ में लेकर समायोजित की (अग्रवाल, बोल्स)।

इन वर्षों के अनुभव का भारतीय नीति–निर्माताओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था। समंजनकारी उपाय, प्राधारिक समंजन का एक पूर्व अनुभव, प्रति व्यक्ति आय में ह्रास में परिणत हुए। 1960 के आते–आते भारतीय नीति–निर्माताओं को गंभीर चिंता यह थी कि विकास पर्याप्त रोज़गार पैदा नहीं कर रहा था और इस प्रकार गरीबी से हार जाने की ओर प्रवृत्त कर रहा था। स्थिति का अध्ययन करने नीति–समंजनों की अनुशंसा हेतु एक समिति गठित की गई। 1966 के संकट उपरांत वृद्धि

में मंथर गति वाले दरिद्रता हसन हेतु निहितार्थ सख्त थे और प्रश्न था कि श्रीमती गाँधी का ''गरीबी हटाओ'' का वायदा कैसे पूरा हो।

चौथी योजना की प्राविधिक टिप्पणी ने विकल्पों की बहुत विस्तार से जाँच की। उन्होंने माना कि अधिक उपभोग करने वाले वर्गों की उपभोग की मात्रा कम करना राजनीतिक रूप से संभव नहीं था। इसकी बजाय यह मानकर चला गया कि उच्च–उपभोक्ता वर्गों की आय स्थिर रखी जाएगी और सम्पूर्ण अतिरिक्त उपभोग मात्रा गरीबों को प्रदान की जाएगी। इन पूर्वानुमानों के अधीन भी उन्होंने पाया कि एक अल्प समय में प्रभावशाली रूप से गरीबी घटाने के लिए सात प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक की एक उच्च वृद्धि–दर आवश्यक होगी। इन प्राविधिक टिप्पणी में दिया गया विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि अस्सी व नब्बे के दशक में गरीबी घटाना क्यों इतना महत्त्वपूर्ण रहा जबकि इस 20–वर्षीय अवधि के दौरान अर्थव्यवस्था में लगभग छहः प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से विकास हुआ।

1973–74 का बी.ओ.पी. संकट वित्त के नए स्रोतों तथा समायोजनों का प्रयास करती एक मिली–जुली प्रतिक्रिया में भी परिणत हुआ। विश्व कोष की तेल सुविधा से तथा कोष की न्यास सुविधा से ऋण प्राप्त करने का काम हाथ में लिया गया। साथ ही, तेल आयातों पर अपेक्षाकृत कम निर्भरता की ओर प्रवृत्त करते तेल दोहन और शोधन में भी निवेश किए गए। इस काम हुई निर्भरता ने सत्तर के दशक मं, तथा अस्सी के दशक और अधिक, अर्थव्यवस्था चलाने में उस वक्त मदद की जब निर्यात उपार्जन स्थिर थे। 1980–81 का बी.ओ.पी. संकट भारत द्वारा कोष से ऋण माँगे जाने में परिणत हुआ और तदोपरांत अस्सी के दशक में भारत में धन हेतु अप्रवासी भारतीयों और वाणिज्यिक बैंकों को प्रयोग में लाना शुरू कर दिया। परन्तु इस पूरी अवधि के दौरान भारत अपनी आई–एस–आई की मूल नीति पर डटा रहा। हालाँकि एक समस्या थी कि सरकारी निवेश जो पहले कृषि की ओर उन्मुख था और फिर तेल दोहन व शोधन की ओर हुआ, के साथ एक कठिन परिस्थिति थी – एक तो आधारित–संरचना क्षेत्र में निवेश पर, जिसके दीर्घकालीन परिणाम हुए, और दूसरे विनिर्माण में निवेश पर ताकि निजी क्षेत्र पर ज्यादा भरोसा करना पड़े और ज़ोर मूल उद्योगों से हटकर जिन्स उद्योगों पर पड़ा। सत्तर व अस्सी के दशक में व्यापार नीति में समायोजन किए गए ताकि माध्यमिक वस्तुओं व कलपुर्ज़ों का निर्यात आसान हो गए क्योंकि कठोर निर्यात–नियंत्रण प्रणाली अवधि के दौरान इनके अभाव ने प्रयोज्य क्षमता के बेहतर उपयोग में बाधा पहुँाई थी। अधिक माध्यमिक निर्यातों ने प्रयोज्य क्षमता के बेहतर उपयोग का रास्ता खोल दिया और इस प्रकार कार्य–कुशलता में सुधार किया।

5.2.6 1991 का संकट, उदारीकरण और उसके आर्थिक परिणाम

साठ के दशक–मध्य से अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक निष्पादन पर व्यापार नीति के प्रभाव का गहनता से अध्ययन शुरू कर दिया। यद्यपि इन अध्ययनों से निकाले गए निष्कर्षों पर कोई मतैक्य नहीं है, अधिकतर व्यापार विशेषज्ञ यह निष्कर्ष निकालते है कि बहिरोन्मुखी नितियाँ अपनाने वाली अर्थव्यवस्थाएँ आई–एस–आई नीतियाँ अपनाने वाले देशों की अपेक्षा बेहतर प्रदर्शन करती है ख्इन विषयों पर एक चर्चा के लिए देखें भगवती (1978)। भारतीय उदाहरण के एक विश्लेषण के लिए देखें भगवती एवं श्रीनिवासन,। ये अध्ययन अनेक ऐसे कारकों की भी पहचान करते है जो आई–एस–आई नीतियाँ अपनाने वाले देशों में आर्थिक कुशलता को कम करते है। उदाहरण के लिए, भारत में विदेश विनिमय नियंत्रण प्रणाली को कच्चा–माल निर्यात उद्योग में लगी कम्पनियों के बीच विदेश विनिमय नियंत्रण करना पड़ा। व्यवसाय प्रतिष्ठानों की दक्षता को आँकना बहुत ही मुश्किल काम है। अतः सरकारी अधिकारीगण विदेश विनिमय को उत्पादन अथवा, अधिक प्रायिक रूप से, क्षमता के अनुपात में नियत करने को ओर प्रवृत्त हुए। इसका अर्थ है कि दक्ष और अदक्ष व्यापार प्रतिष्ठानों के बीच अंतर करने हेतु कोई प्रयास नहीं किया गया। यदि नियतन क्षमता के आधार पर किया गया तो उसने व्यापार प्रतिष्ठानों को ज्यादा क्षमता हासिल करने के लिए प्रेरित किया ताकि क्षमता उपयोग कम हो और एक ऐसे देश में पूँजी का अपव्यय किया जा रहा था जो पूँजी अभाव से ग्रस्त था। जिस वक्त विस्तारण के विषय में निर्णय लिए जाने थे, दक्षता पर ध्यान दिए बगैर सभी आवेदकों के बीच अनुज्ञा–पत्र बाँट दिए गए। पुनः इसी कारण दक्ष और अदक्ष व्यापार प्रतिष्ठानों ने लगभग एक ही दर से वृद्धि की। इस प्रकार के नियतन नियम भारतीय उद्योगों में उत्पादकता की धीमी वृद्धि हेतु एक मुख्य कारण था जो कि अनेक शोधकर्त्ताओं द्वारा प्रलेखों से सिद्ध किया गया है।

अर्थशास्त्रियों के बीच आम राय यह है कि बहुत ऊँची शुल्क दरें अदक्षता की ओर प्रवृत्त करती है और उनसे बचा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, भारत में यदि किसी माल पर 400 प्रतिशत का शुल्क वसूला जाता है तो इसका अर्थ हुआ कि भारतीय उत्पादक विदेशी उत्पादकों की अपेक्षा 400 प्रतिशत कम दक्ष हो सकते है और लागत बेचारे भारतीय उपभोक्ताओं द्वारा वहन की जाती है। भावी लाभ, जैसे कि कालांतर में अधिक दक्ष हो जाना आदि, शायद ही इतने पर्याप्त होते है कि इस वर्तमान वृहद् लागत को सही ठहरा सकें। परन्तु इस बात पर कोई पूर्ण सहमति नहीं है कि शुल्क का स्तर क्या हो। कुछ अर्थशास्त्री पूरी तरह से मुक्त व्यापारके पक्ष में हैं, अधिकांश 10 से 25 प्रतिशत चुनेंगे, और कुछ 35–45 प्रतिशत तक भी जा सकते है। कुछेक शुल्क दरों का पक्ष सभी लेंगे। यह नितान्ततः प्रशासनिक कारणों से है। यदि दरें अनेक होगी तो ढेर साराा समय इस बात को तय करने में जाया हो सकता है कि एक वस्तु–विशेष हेतु क्या दर प्रयोज्य हो और भ्रष्टाचार के लिए अवसर पैदा होता है। साथ ही, अर्थशास्त्री सामान्यतौर पर नियतांश (कोटा) के पक्ष में नहीं है।

आर्थिक निष्पादन पर व्यापार नीति के प्रभाव किए गए शोध की अत्यधिक मात्रा तथा बैंक व विश्व कोष ऋण से जुड़ी प्रतिबंधितता का परिणाम यह रहा है कि अधिकांश विकासशील देशों ने वह आइ–एस–आई प्रणाली जो उन्होंने पहले अपनाई थी, छोड़ दी। अधिकांश देश कोटा नहीं रखते – केवल सात छोटे देश अभी तक कोटा रखते है। विकासशील देश शुल्क लगते है जिसका औसत चार प्रतिशत है। यह द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर लगभग 40 प्रतिशत की औसत दर से मुकाबले है। उन देशों में से लगभग 50 प्रतिशत देश आयात–शुल्क मुक्त थे।

वस्तुतः विकासशील देशों के दृष्टिकोण से यह तस्वीर इतनी लुभावनी नहीं है क्योंकि विकसित देश विकासशील देशों द्वारा निर्यात किए जाने वाले माल पर कहीं अधिक शुल्क लगाने को प्रवृत्त रहते है। विकासशील देशों ने आयातों में शुल्क भी घटाये हैं। अधिकतर विकासशील और परिवर्तनशील अर्थव्यवस्थाओं में औसत आयत शुल्क अब लगभग दस प्रतिशत है।

भारत के नीति–निर्माताओं ने, 1991 के संकट को जूझते हुए, यह दृष्टिकोण अपनाया कि व्यापार नियामकता कोई उचित नीति नहीं है, तथा यह भी कि अर्थव्यवस्था और खुली होनी चाहिए। साथ ही, वे उद्योग नियमन जो किसी उद्योग में प्रवेश को नियंत्रित करते थे कि एक कम्पनी कितना उत्पादन करे, अपनी उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक काल तक जीवित रखे रहे। भारतीय नीति–निर्माताओं ने अर्थव्यवस्थाओं में संरक्षण स्तर प्रभावशाली रूप से घटा दिया है। अधिकतम शुल्क प्रायः 400 प्रतिशत 40–50 प्रतिशत तक घटा दिया गया और औसत शुल्क लगभग 100 प्रतिशत से लगभग 20 प्रतिशत तक। विश्व व्यापार संगठन में विवाद निपटारा बोर्ड के समक्ष भारत के एक विवाद में हारने के बार विनिर्माण आयातों पर से सभी नियतांश समाप्त कर दिए गए। इससे पहले कृषि आयातों पर सभी नियतांश समाप्त कर दिए गए थे जो कि 'उरूग्वे दौर' के नाम से जाने गए बहुपक्षीय व्यापर समझौता में हुए करार का एक हिस्सा था। हालाँकि, भारत अपनी व्यापार प्रणाली को काफी हद तक उदारीकृत कर चुका है, इसकी प्रणाली अन्य देशों के मुकाबले कहीं अधिक प्रतिबंधात्मक है। औद्योगिक निवेश कर आन्तरित नियंत्रण भी हटा दिए गए है और विदेशी पूँजी के अन्तप्रर्वाह को उदार बनाया गया है।

उदारीकरण के बाद का आर्थि निष्पादन पूर्व काल के आर्थिक निष्पादन से नाटकीय रूप से भिन्न नहीं है इसने काफी विवाद को जन्म दिया है। कृषि व विनिर्माण की वृद्धि दरों के साथ–साथ कुल सकल–घरेलू–उत्पाद लगभग एक ही रहे है। इस बात का कोई साक्ष्य प्रमाण नहीं लगता कि उदारीकरण के बाद भारतीय उद्योग में उत्पादकता की वृद्धि–दर बढ़ी है। अस्सी के दशक में गरीबी नितान्त तीव्रता से बढ़ी। उदारीकरण के बाद नब्बे के दशक में गरीबी कम होना जारी रहा हालाँकि कुछ धीमी गति से।

5.2.7 उदारीकरण और लोकतंत्र

उदारीकरण ने तथापि गरीबी घटाने, सशक्तीकरण तथा लोकतंत्र हेतु अपने निहितार्थों के विषय में एक जोरदार बहस को जन्म दिया है। नियोजन प्रारंभ होने के बाद से भारतीय नीति–निर्माताओं का ध्येय वह प्राप्त करना रहा जिसे आज ''न्यायसंगत विकास'' कहा जाता है, यथा वह विकास जो गरीबी घटाता है व आय के और अधिक समान वितरण हेतु प्रवृत्त करता है तथा लोकतंत्र के साथ चलता है। लोकतंत्र तथा एक और अधिक समतावादी आर्थिक व्यवस्था परस्पर जुड़े माने जाते हैं – राजनीतिक अधिकारों की गारण्टी आर्थिक अधिकारों के बगैर और घटी असमानता के बीच कोई असंगति नहीं दिखाई पड़ती है। 1971 में श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा ''गरीबी हटाओ'' का नारा दिए जाने के बाद से जनता गरीबी घटाने और आय असमानता कम करने की आवश्यकता के प्रति बहुत सचेत रही है। संविधान ने स्वयं इसे अपने कर्त्तव्य के रूप में पहचाना था और एक अधिक न्यायसंगत समाज साधित करने के लिए आरक्षण हेतु प्रावधान किए थे। अलाभांवितों की मदद हेतु राजकीय कार्रवाई का एक बार संकेत मिलते ही दावेदारों की संख्या बढ़ने लगी, और विभिन्न लोगों ने अपने मंतव्य का अधिक प्रभावशाली रूप से समर्थन किए जाने के लिए गुटा बना लिए। आरक्षण का कार्यक्षेत्र गत वर्षों बढ़ाया गया है तथा गरीबों की स्थिति सुधारने के साथ–साथ उनको अधिक शक्ति प्रदान करने के लिए भी अनेक कार्यक्रम बनाए गए है। वर्धमानतः, संसाधनों को अनेक व्यक्त एवं अव्यक्त परिदानों की ओर मोड़ दिया गया है। इन परिदानों का एक प्रभाव केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों का बढ़ता बजट घाटा रहा है। इन घाटों ने सार्वजनिक क्षेत्र में और अधिक रोज़गार हेतु बहुत थोड़ी संभावना छोड़ी है – सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार बढ़ाना अलाभांवित समूहों को प्रणाली के अन्तर्गत लाने के तरीकों में से एक था।

यद्यपि काई व्यक्ति ऐसा दावा नहीं करता कि उसके सभी अभाव दूर हो गए हैं, गरीबी घटाने की दिशा में काफी प्रगति की गई थी। संसद में कमजोर वर्गों से आए प्रतिनिधियों की संख्या या मंत्रालयों में अथवा मुख्यमंत्रियों के बीच भी भागीदारी को यदि देखा जाए तो सशक्तीकरण में प्रगति हुई है। परन्तु इस प्रगति की निरन्तरता के विषय में एक बहुत ही यथार्थपरक प्रश्न है। गंभीर अवरोध पैदा हुए है। सार्वजनिक क्षेत्र में जरूरत से अधिक आदमी सरबराह किए गए है जिसने सार्वजनिक निवेश तथा भावी विकास व रोजगार को घटाया है। सरकारी निवेश का अभाव बहुत ही जर्जर व पुराने पड़ चुके आधारभूत ढाँचे में परिणत हुआ है जो तीव्रतर विकास में एक अवरोध है। शिक्षा व स्वास्थ्य की उपेक्षा हुई है और वर्धमानतः लोगों की महँगी निजी शिक्षा व स्वास्थ्य पर निर्भर होना पड़ रहा है। इस समय तेजी से बढ़ने की आवश्यकता और एक बेहतर वितरण रखने के बीच एक बहुत ही यथार्थपरक विवाद है। उदारीकरण वृद्धि–दर बढ़ाकर और आगे के

पुनर्वितरण हेतु अन्य साधन मुहैया करा सकता था। परन्तु, दुर्भायवश उदारीकरण से और अधिक लाभ उठाने के लिए आधारभूत ढाँचे में औन मानव पूँजी में निवेशों की आवश्यकता है।

परन्तु फिलहाल ऐसा नहीं हो रहा है। रोज़गार वृद्धि का अभाव निजी क्षेत्र में आरक्षण हेतु माँगों को भी प्रेरित कर रहा है। यह देश पाना मुश्किल है कि इस प्रकार के आरक्षण को पण्यक्षेत्र पर ज्यादा भरोसे की नीति के साथ किस प्रकार जोड़ा जा सकता है। यदि समाज को समुचित विकास प्रदान करने में सफल होना है तो उनके सामने गंभीर चुनौतियाँ तो आएँगी।

समुचित विकास भूमण्डीकरण से फलीभूत हो सकता है, बशर्तें उसका उचित रूप से प्रयोग किया जाए। उदारीकरण की वजह से भूमण्डीकरण विभिन्न राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण को बढ़ा रहा है, क्योंकि प्रतिबंधों की समाप्ति माल व पूँजी–प्रवाह दोनों के बृहत्तर प्रवाहों में परिणत हुई है। उदारीकरण गरीबी घटाने में मदद कर सकता है। एक अधिक उदार व्यापार नीति भारत को श्रम–साधित वस्तुओं को निर्यात करने में मदद कर सकती है, यथा वे वस्तुएँ जिनके उत्पादन में काफी श्रमिक लगाए जाते है। इस बात के संकेत का प्रमाण है कि यह उदारीकरण के बाद से हो रहा है। श्रम–साधित निर्यातों के विस्तार का निहितार्थ है रोज़गार में वृद्धि और सवेतन रोजगार की व्यवस्था की एक गरीब आदमी को गरीबी से उबरने के लिए सबसे पुख्ता रास्ता है। परन्तु सर्वोत्तम परिणामों के लिए रोजगार जो पैदा किया जाए ऊँचे वेतनों पर हो। वेतन तब ऊँचे होंगे जब कौशल–सम्पन्न नौकरियाँ पैदा की जाएँगी। परन्तु सुदक्ष रोजगार पाने के लिए उन लोगों को शिक्षित होना होगा। इस समय एक प्रबल आवश्यकता सरकार के लिए यह है कि वह अच्छी शिक्षा मुहैया कराए। बदकिस्मती से, जन शिक्षा का स्तर गिरता रहा है, और निजी शिक्षा की लागत बढ़ती रही है। इस स्थिति को तत्काल सुधारे जाने की आवश्यकता है यदि समाज को उदारीकरण प्रदत्त अवसरों का अधिक–से–अधिक लाभ उठाना है और समुचित विकास लाना है। दुर्भाग्यवश, इस बात के प्रमाण है कि भूमण्डीकरण आय समानता बढ़ाने की ओर अभिमुख है। अतएव, भूमण्डलीकरण गरीबी घटाने और आय असमानता कम करने के बीच एक संभव संघर्ष सामने लाता है, एक संभव व्याघात जिसको भारत में पहले नकार दिया गया था। भूमण्डलीकरण राज्य की भूमिका में परिवर्तन करता है, आवश्यक नहीं कि वह उसमें कमी की ओर भी प्रवृत्त करे। बजाय इसके कि राज्य उत्पादन में सीधे–शीधे शामिल हो, राज्य को भौतिक व मानवीय दोनों पूँजी मुहैया करानी पड़ती है। उसको गरीबों को आर्थिक प्रणाली में लाने और उनकी स्थिति सुधारने हेतु कार्रवाई करनी होती है। इसके अतिरिक्त, राज्य को निजी उद्यम को नियमित करने के लिए कार्रवाई करनी होती है। उत्पादन बढ़ाने की बजाय, राज्य नियातक संस्थाएँ स्थापित करता है। यह स्पष्ट नहीं है कि क्या इसकी मदद से नियामक अभिकरणों को राजनीतिक हस्तक्षेप और तदनुसार अदक्षता की ओर प्रवृत्त होने से बचाना किसी तरह आसान होगा। उदारीकरण समुचित विकास लाने के लिए राज्य की भूमिका के बारे में नए प्रश्न उठाता है।

5.2.8सारांश

नब्बे के दशकरंभ में भारतीय आर्थिक नीतियों में एक महती परिवर्तन देखा गया। भुगतान–अतिशेष संकट ने भारतीय अर्थव्यवस्था के आर्थिक उदारीकरण की नीति की ओर प्रवृत्त किया। एक उच्चतर वृद्धि–दर की आवश्यकता थी, जिसके लिए न सिर्फ उच्चतर निवेशों की वरन् पूँजीगत वस्तुओं के बृहत्तर निर्यातों की भी आवश्यकता थी। निर्यात–के–बदले–औद्योगिकरण की नीति जो विकास नीति का पूरक है एक व्यवहार्य विकल्प दिखाई पड़ता है, एक ऐसा विकल्प जो आरम्भिक वर्षों मं अनेक विकासशील देशों द्वारा अपनाया गया। परन्तु निर्यात उपार्जनों की राशि उसके आयात भुगतानों की अपेक्षाकृत कम रहने के कारण, विकासशील देशों को अपनी आर्थिक नीतियों को तदनुसार समायोजित करना पड़ा। भारत के नीति–निर्माताओं को व्यापार प्रतिबंधता के नुकसानों का बोध हुआ। परिणामतः विदेशी पूँजी और औद्योगिक निवेश के अन्तगप्रर्वाह को शक्य बनाते हुए अर्थव्यवस्था को खोल दिया गया।

ध्यानकर्षण केन्द्र ''समुचित विकास'' की ओर खिसकगया है जहाँ कए लोकतांत्रित व्यवस्था में आय का एक समान वितरण सुनिश्चित होता है, जिसके द्वारा राजनीतिक व आर्थिक अधिकार जुड़ते है। यद्यपि उदारीकरण के लाभों के बारे में दावे होते रहे है, सरकारी निवेश के अभाव ने एक पुराने पड़ चुके आधारभूत ढाँचे की ओर अभिमुख किया है जिससे विकास अवरूद्ध हुआ है। प्रतिबंधों की समाप्ति तदनुरूप लाभों को पैदा करने में असफल रही है। वक्त का तकाजा है कि भूमण्डलीकरण/उदारीकरण प्रदत्त अवसरों का अधिक–से–अधिक लाभ उठाया जाए। राज्य की भूमिका, इस सन्दर्भ में, निर्णायक है न सिर्फ वर्तमान स्थिति को सुधारने में बल्कि अदक्षता–उन्मुख चालों को निष्काम करने में भी। इस प्रकार राज्य उदारीकरण नीतियों का एक सकारात्मक परिणाम सुनिश्चित कर सकता है और समुचित विकास ला सकता है।

5.2.9 अभ्यास प्रश्नावली

1) बाज़ार अर्थव्यवस्था क्या है? इसके लाभ हानि स्पष्ट करें।
2) एक नियोजित अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते है?
3) 1991 से पूर्व भारत के आर्थिक परिदृश्य पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
4) भारत में उदारीकरण के आर्थिक परिणाम क्या हुए है?
5) न्यायशील वृद्धि'' सुनिश्चित करने में उदारीकरण कैसे मदद करता है।

अध्याय– 3 : धार्मिक राजनीति

संरचना

5.3.1 उद्देश्य
5.3.2 प्रस्तावना
5.3.3 धार्मिक राजनीति का अर्थ एवं महत्त्व
5.3.3.1 धार्मिक राजनीति : विविध दृष्टिकोण
5.3.4 धार्मिक राजनीति का विकास
5.3.5 हिन्दू पुनर्जागरणवाद
5.3.5.1 राजनीतिक असंतोष में बढ़ोतरी
5.3.6 इस्लामिया दृष्टिकोण
5.3.7 धार्मिक राजनीति : एक पर्यवेक्षण
5.3.8 सारांश
5.3.9 अभ्यास प्रश्नावली

5.3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य धार्मिक राजनीति के अर्थ व महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उसके विभिन्न दृष्टिकोणों का अध्ययन करना है। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ उदित इस अवधारणा ने स्वतन्त्रता के पश्चात अनेकानेक कप धारण किए है। हिन्दू राष्ट्रवाद और इस्लामिया दृष्टिकोण इसके प्रमुख बिन्दु बने जिनका दुष्परिणाम समय–समय पर भारतीय लोकतन्त्र के विकास पर प्रश्नचिन्अ बना। अतः धार्मिक राजनीति के मसले को सुलझा कर लोकतान्त्रिक विकास की प्रक्रिया को सुदृढ़ करना आवश्यक है यही इस अध्याय का उद्देश्य है।

5.3.2 प्रस्तावना

धार्मिकराजनीति की अवधारणा ने समसामयिक भारत में एक अतिशयोक्तिपूर्ण महत्त्व अर्जित कर लिया है। यद्यपि धर्म एवं राजनीति दो भिन्न संकल्पनाएँ मानी जाती हैं, पारम्परिक समाज में उनका एक संश्लिष्ट अस्तित्व है और आधुनिक समाज में वे एक–दूसरे को प्रभावित करने में लगी हैं। एक साथ लिए जाने पर वे एक–दूसरे पर एक गहरा प्रभाव डालने हेतु असीम संभावना रखती हैं। मानवजाति की सामाजिक प्रक्रिया को प्रभावित करने में धर्म एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और ऐसा विलोमतः भी सत्य है। जन सघटन में यह एक महत्त्वर्पूण कारक रहा है, न सिर्फ राष्ट्रीय आन्दोलनों के दौरान बल्कि आधुनिकता की और अभिमुख अल्पकालिक चरणों में भी। भारत जैसे लोकतांत्रिक राज्य में, धर्म परम्परागत समाज के सारभाग का निर्माण करता है और जनमानस पर अपने प्रभाव का उपयोग जारी रखे है। प्रायः विभिन्न समुदायों के बीच संघर्ष को प्रवृत्त करते हुए यह घनिष्ट संबंध सामाजिक असामंजस्य एवं अनैक्य में भी परिणत होता है। धार्मिक संगठन राजनीतिक समूहों से अन्तक्रिया करते है और जनता के किसी वर्ग विशेष पर अधिकार जताते हुए अपने समर्थनाधारों को बढ़ाने का प्रयास करते हैं। इन धार्मिक समूहों का समर्थन अक्सर राजनीतिक राज्य–प्रणाली की शक्ति को निर्धारित करता है। यह इकाई राजनीति की संकल्पना, तथा उससे जुड़े अनेक आयामों, जैसे हिन्दू पुनर्जागरणवाद व इस्लामिया पहलू, की परी जानकारी प्रस्तुत करती है।

5.3.3 धार्मिक राजनीति का अर्थ एवं महत्त्व

धार्मिक राजनीति का अर्थ दो बातों में से एक हो सकता है। प्रथम, यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ धर्म स्वयं राजनीतिक अभिव्यक्ति एवं राजनीति के उद्देश्य को स्पष्ट करने का आधार बन जाता है। यह धर्म स्वंय ही एक प्रकार की राजनीति बन जाता है, उदाहरण के लिए, राष्ट्रवाद को परिभाषित करने के लिए अथवा किसी राजनीतिक कार्य–योजना का प्रारूप तैयार करने के लिए धार्मिक परम्परा की पुनर्व्याख्या। इनमें अनेक भिन्नताएँ हो सकती हैं, जैसा कि हम आगे इस इकाई में पढ़ेंगे। दूसरे, धार्मिक राजनीति के शर्त भी होता है।

जहाँ धर्म को लोगों के राजनीतिक संघटन हेतु आधार रूप में प्रयोग किया जाता है। संस्थाएँ अथवा पर्व एवं धर्म से जुड़ी अन्य बातें लोगों से राजनीतिक अपील करने का आधार बन जाती हैं। उदाहरण के लिए, लोगों की सियासी लामबन्दी हेतु मन्दिरों एवं मस्जिदों का प्रयोग अथवा गणेश पूजा किसी धार्मिक पर्व का प्रयोग धार्मिक राजनीति का एक अन्य रूप है। ये

दोनों ही प्रकार की धार्मिक राजनीतियाँ हमारे समाज में बड़ी आम है। दरअसल, इनका इतिहास सौ साल से भी पुराना है परन्तु आज के जमाने में, इनको मुख्यधारा राजनीति का दर्जा प्राप्त है।

धर्म और राजनीति संबंधी संकल्पना का भिन्न संदर्भ है। यह इस समस्या की ओर इशारा करती है कि इन दोनों के बीच क्या संबंध होना चाहिए, यथा एक और धर्म और दूसरी और राजनीति के बीच। इसमें, अतएव, धर्मनिरपेक्षता और हम उसे किस प्रकार पूर्वाभिमुख है संबंधी प्रश्न भी शामिल है। यदि हम धर्म निरपेक्षता को स्वीकार करते हैं, जैसा कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने किया, तब प्रश्न उठता है कि कैसे और किस तरीके से राजनीति को स्वायत्त अथवा धर्म–मुक्त रखें: यह किसी प्रदत्त समाज, मान लीजिए हमारे ही समाज की भाँति, हेतु धर्मनिरपेक्षवादर के किसी रूप को विकसित करने का सवाल भी है। उपयुक्त दो नियत स्थितियाँ कभी एक जैसी नहीं होतीं। प्रोटैस्टैण्ड चर्चों के प्रचुरोद्भव वाले अमेरिका जैसी स्थिति में, धर्मनिरपेक्षवाद को भारत के मुकाबले एक विभिन्न प्रकार के समस्या–समूह से निबटना होता है, जहाँ हमारा समाज एक प्राचीन बहु–धार्मिक समाज है। अतः यह प्रश्न कि धर्म व राजनीति स्वयं को किस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, समाज–समाज में एवं समय–समय पर भिन्न–भिन्न होता है।

स्वतंत्रता के प्रथम 30 वर्षों में, राजनीति और धर्म के बीच संबंध अब से एक भिन्न प्रकार का था। धर्म राजनीति के लिए उपांतिक महत्त्व का था और राजनीति धर्म से स्वतः मुक्त थी। 1980 के दशक–मध्य से यह प्रभावशाली रूप से बदल गया है इस लिहाज से एक विचारधारा के रूप में हिन्दुत्व समाज व राजनीति में और 1998 से सरकार में भी एक प्रभावी बल बन गया है। अतः सांवैधानिक आदर्शों की भाषा में धर्म व राजनीति के बीच संबंध को किस नजर से देखा जाए संबंधी प्रश्न बदल चुका है। धर्मनिरपेक्षता, नागरिक अधिकार, नागरिकत, लोकतंत्र, आदि पर केन्द्रित विषय हिन्दुत्व से उस प्रकार के प्रत्युत्तर का आह्वान नहीं करते जैसा कि उनका आशय स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान था। स्पष्टता की खातिर इस भेद को स्थापित करके हम सिर्फ ऊपर परिभाषित धार्मिक राजनीति पर नजर डालेंगे। चूँकी राजनीति एवं धर्म के बीच भेद एक प्रकार के राष्ट्रवाद और राजनीतिक अपलीलों में सिमट चुका है, अब हम देश में धार्मिक राजनीति का प्राधान्य पाते हैं।

5.3.3.1 धार्मिक राजनीति : विविध दृष्टिकोण

धार्मिक राजनीति, जैसा कि हमने देखा, राजनीति का वास्तविक अर्थ और कार्यसूची प्रदान करती है, यथा, राजनीति की विषयवस्तु किसी न किसी धर्म अथवा धर्मिक समुदाय द्वारा स्वयं निर्धारित की जाती है। यह, इसी कारण, सिर्फ उस धार्मिक समुदाय से संबंध रखने वालों को ही अच्छी लग सकती है। धार्मिक राजनीति एक ही साथ हिन्दओं, मुसलमानों व ईसाइयो की राजनीति नहीं हो सकती। वह सिर्फ किसी एक अथवा दूसरे धर्म के अनुयायियों से संबंध रख सकती है या उन्हें अच्छी लग सकती है। वह राजनीति जो उस बात का पक्ष लेने का प्रयास करती है जिसको मुस्लिम पहचान माना जाता है अथवा वह राजनीति जो हिन्दुओं के लिए एक नई और भिन्न पहचान बनाने की दिशा में काम करती है, जैसा कि अब हो रहा है, जाहिर तौर पर दूसरे समुदाय को अच्छी नहीं लग सकती है। यह बात तब भी रहती है जब वह अपने आप को राष्ट्रवाद के रूप में पेश करती है, मसलन हिन्दुत्व स्वंय को ''सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'' कहता है। सारतः यह बहुमतवादी धार्मिक राजनीति बन रहती है। धार्मिक राजनीति, इसीजिए, हमेशा साम्प्रदायिक राजनीति अथवा सम्प्रदायवाद के रूप में रहती है, जैसा कि इसे हमोर देश में लिया जाता है। ऐसा सिफ भारत ही नहीं ; पाकिस्तान में मुत्तेहदा कौमी महज अथवा इस मन्तव्य हेतु किसी अन्य देश के साथ भी ऐसी ही बात है।

इससे पहले कि हम आगे बढ़े, एक स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है। कोई धर्माग्रह मात्र धार्मिक राजनीति की ओर प्रवृत्त नहीं करता। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति हिन्दू हो सकता है परन्तु हिन्दुत्व की व्याख्या अथवा अर्थ निर्णय जो वह स्वीकार करता हैं, ही राजनीति के तात्पर्य को निर्धारित करेगा। चलिए, अपने हाल ही के इतिहास से एक उदाहरण लेते हैं। गाँधी और सावरकर दोनों ही यह मानते थे कि धर्म राजनीति को सूचित करे। परन्तु उनकी हिन्दू होने का अर्थ क्या है संबंधी व्याख्याएँ इतनी भिन्न थीं कि इसने राजनीति की दो बिल्कुल भिन्न संकल्पनाओं को जन्म दिया। गाँधीजी के विचार में आत्मिक मूल्यों को राजनीति पर प्रभाव डालना चाहिए अथवा अन्यथा राजनीति निरुपाय हो जाएगी। उन्होने राजनीति व धर्म, दोनों का एक अन्तर्भूत दृष्टिकोण अपनाया। उन्होने, दरअसल, हिन्दुत्व से अपने बहुत से मूल्यों को अर्जित किया परन्तु उसने उनके आत्मिक स्त्रोतों को समाप्त नहीं किया। ईसायत व इस्लाम एवं अनेक विसामान्य भक्ति उनके लिए एक समान रूप से प्रामाणिक स्त्रोत थे। राजनीति, उनके अनुसार, एक उद्धारक आस्थाओं का गठन है। उन्होने, इसी कारण, किसी भी धार्मिक पर्व अथवा सिद्धांत का प्रयोग राजनीतिक लामबन्दी हेतु नहीं किया यद्यपि उन्होने अपनी शब्दावली का अच्छा–खासा भाग भारतीय धार्मिक स्त्रोतों से प्राप्त किया था। इसकी तुलना में, सावरकर का सोचना था कि राजनीति के हिन्दू दृष्टिकोण का आधार आत्मिक मूल्यों की बजाय प्रजाति एवं वंशक्रम, इतिहास एवं परम्परा, तथा हिन्दुओं की भूमि–पवित्रता (पुण्य भूमि) होना चाहिए। उनका विचार यह भी था कि केवल वही व्यक्ति जिनके धर्म का मूल भारत में है, ही राजनीति के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर सकते हैं। अन्य लोग, जैसे मुस्लिम अथवा ईसाई, भारत के प्रति अपनी निष्ठा कभी नहीं रख सकते; दुसरे शब्दों में, ये दूसरे लोग भारत को अपनी पुण्य

भूमि मान ही नहीं सकते। सावरकर ने इस हिन्दूकृत राजनीति को ही हिन्दुत्व नाम दिया; उनके लेखों की सभी मुख्य बातें इस नाम की ही पुस्तक में उपलब्ध हैं। जैसा कि पहले निरूपित किया गया।

5.3.4 धार्मिक राजनीति का विकास

भारत में धार्मिक राजनीति का एक लम्बा इतिहास है, और अनन्यवादी होते हुए भी, यह एक सम्पन्न वंशावली रखती है। बहुत विस्तृत बुद्धि–प्रसार वाले कुछ महान् धार्मिक विचारकों ने भी धार्मिक राजनीति के निर्माण में योगदान किया, हालाँकि वे इस प्रकार की राजनीति के अनुयायियों में वर्गीकृत नहीं है। धार्मिक पुनर्जागरणवाद का इतिहास, जो कि धार्मिक राजनीति निर्माण का मध्य मार्ग है, सौ वर्षो से भी अधिक पुराना है। 19 वी. सदी के अंतिम दशकों के आसपास पुनर्जागरण भावनाओं पर आधारित राजनीति देशभर पर प्रभावी होती जा रही थी, खासकर बंगाल व महाराष्ट्र में जो उस समय तक समाज–सुधार आन्दोलनों का स्थान लेता जा रहा था जो हिंदुत्व के भीतर अनेक प्रथाओं पर प्रश्न करने का प्रयास करते थे, जैसे बाल–विवाह, बलात् वैधव्य, महिलाओं को शिक्षा से इंकार, आदि। यह बात दिलचस्प है कि संसूचित सुधारों में से अधिकांश महिलाओं के लिए जीवन को अधिक जीने योग्य बनाते हुए, उनके प्रारब्ध से ही जुड़े थे। पुनर्जागरणवाद के उत्कर्ष और सुधार आन्दोलन के अपकर्ष का एक उदाहरण था भारत के भिन्न–भिन्न भागों से विभिन्न समाज–सुधार आन्दोलनों के एक रक्षाछत्र संगठन के रूप में, रानाडे द्वारा आरम्भ नैशनल सोशल कॉन्फ्रेंस को मिला प्रतिपादन। इसका उद्देश्य था पूरे भारतवर्ष में सुधार आन्दोलन पर चर्चा करना और उसे समन्वयन एवं प्रोत्साहन प्रदान करना एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों के समान्तर ही, अपनी वार्षिक बैठक किया करती थी। एक उग्र प्रभाव वाली कार्रवाई में, कांग्रेस के 1885 के पूना अधिवेशन में बालगंगाधर तिलक ने इसकी बैठकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया और इसे अधुना लुप्त करने का प्रयास किया। तिक के दृष्टिकोण में इस बदलाव पर उंगलियाँ उठीं क्योंकि आम रुझान को देखते हुए अब वह बदल चुके थे और समाज–सुधारो के खिलाफ उन्होने एक स्पष्ट रुख अपना लिया था। जल्द ही तिलक ने सार्वजनिक गणेश पूजा को उपनिवेशवाद के खिलाफ जन–संघटन की एक मुख्य पद्वती के रूप में स्थापित कर दिया।

धर्म के समर्थन में हमारे समान में पढ़े–लिखे लोगों के बीच बदलते मिजाज का दूसरा उदाहरण था विवाह–योग्य आयु विधेयक (एज ऑव कॅन्सैंट बिल) के खिलाफ बहुत चीत्कारपूर्ण, यद्यपि अल्पकालिक, अभियान। इस विधेयक ने एक साधारण–सा कदम उठाने का प्रस्ताव किया था कि लड़कियां के लिए विवाह–योग्य आयु को दस से बढ़ाकर बारह वर्ष कर दिया जाए। आज हम भौंचक्के रह जाएँगे यदि कोई व्यक्ति कुछ भी तर्क देकर इसका विरोध करे। परन्तु इसने तब जो तूफान उठाया यदि आज हम पीछे मुड़कर देखें तो चौंका देने वाला है। बंकिमचन्द चटर्जी एवं बालगंगाधर तिक जैसे गणमान्य विभूतियों एवं राष्ट्रवादियों तथा ऐसे ही दूसरे लोगों ने विरोध सहगान में स्वर मिलाया। तर्क यह था कि विदेशी शासकों, अंग्रेजों को हिन्दुओं की धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है। यह तर्क मिथ्या लगता है क्योंकि यह कभी स्पष्ट नहीं किया गया कि क्या लड़की का शिशु–विवाह हिन्दू प्रथा का एक आन्तरिक अभिलक्षण था अथवा तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित महज एक सामाजिक प्रथा इसकी तुलना गाँधीजी के दृष्टिकोण से करे जब अंग्रेजो ने अस्पृश्यता उन्मूलन हेतु एक प्रस्ताव रखा था। उन्होने अविरोधी रूप से 1933 व 1935 के बीच ब्रिटिश कार्रवाई का साथ दिया। 27 जनवरी 1935 को केन्द्रीय विधायिका के कुछ सदस्यो को सम्बोधिक करते हुए, गाँधीजी ने कहा, ''...अगर हिन्दू मत का पूरा निकाय अस्पृश्यता उन्मूलन के खिलाफ भी हो तो भी वह असेम्बली सरीखी एक धर्मनिरपेक्ष विधायिका को सुझाव देंगे कि उस प्रवृत्ति को बर्दाश्त न करे। ''उनका विचार था कि धार्मिक मामलो में केवल अनुचित हस्तक्षेप से बचा जाना चाहिए। परन्तु इन्हीं लोगों ने, जिन्होने धर्म से संबंधित मामलों में हस्तक्षेप करने के विषय में अंग्रेजों का विरोध किया, गौ–वध पर प्रतिबंध की माँग की। मापदण्डों में कोई सुसंगति और एकरूपता इस लिहाज से नहीं थी कि औपनिवेशिक सरकार द्वारा प्रस्ताावित विधायी कदमों का विरोध हो अथवा उनकी माँग हो। हिन्दू कट्टरपंथी समूह जो अब प्रभावी हो रहे थे, सिर्फ हिन्दू धार्मिक भावनाओं की भाषा में बात करते थे।

उठते पुनर्जागरणवाद को अप्रत्याशित स्थानों से समर्थन मिला। विवेकानन्द जो विश्व धर्म संसद में अपने प्रदर्शन के बाद अत्यंत प्रसिद्ध हो गए थे, उनही में से एक थे। उन्होने सुधार बनाम विकास व सेवा पर आधारित एक दिलचस्प तर्क प्रस्तुत किया। उन्होने घोषणा की, कि मैं सुधार में विश्वास नहीं रखता; मै विकास में विश्वास रखता हूँ। मैं स्वयं को ईश्वर के स्थान पर रखने और हमारे समाज को यह आदेश देने की धृष्टता नही करता : 'तुम इस तरह चलो और उस तरह नहीं।' ... इस अद्भुत राष्ट्रीय यन्त्र ने युगों–युगों का काम लिया है; यह अद्भुत नदी हमारे सामने बह रही है। कौन जानता है और कहने की हिम्मत रखता है कि क्या यह अच्छी है और यह कैसे चलेगी? (के.पी. करुणाकरण, रिलीजन एण्ड पॅलिटिकॅल अवेकनिंग इन इण्डिया, 1969 संशोधित संस्करण में परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत ''ट्रेडीशन्स एण्ड सोशल रिफॉर्म''में।) उनके द्वारा अपनाया जाने वाला दृष्टिकोण यह था कि समाज–सुधार आन्दोलन अभिजात वर्गवादी और भारतीय परम्परागत के अननुरूप थे। इस चटर्जी, अपने वन्दे मातरम् के लिए मशहूर, ऐसे सुधारों के खिलाफ एक प्रमुख आवाज थ। भारत के अन्य भागों में ब्रह्मविद्या (थियोसोफिकल) आन्दोलन ने भी इसी प्रकार का स्थान ग्रहण किया। याद

यह रखने की आवश्यकता है कि ये विभूतियाँ बहुत प्रसिद्ध राष्ट्रवादी स्वर थे और उनका प्रयास भारतीय राष्ट्रवाद को एक नया और भिन्न रूप प्रदान करना भी था।

इन सब बातों के भीतर घुसने का तात्पर्य यह दर्शाना है कि यद्यपि धार्मिक राजनीति का उदय क्षेत्र–क्षेत्र में भिन्न–भिन्न आधार लेकर हुआ था, इसने एक अचूक अन्य प्रकार की राजनीति के खिलाफ समरूप स्थित ग्रहण कर ली थी जो राममोहन राय से आरम्भ शुरू के चरणों में प्रबल रही। पहले ही राजनीति इस अभिशंसा द्वारा पहचानी जाती थी कि भारतीय समाज उन बुरी प्रथाओं को छोड़कर स्वयं ही अपने को पुनर्जीवनयुक्त कर सकता है, जो हिन्दू समाज में अतिक्रमण कर आए है, और कि इनको विधान तथा कानूनन मंजूरी के बिना दूर नहीं किया जा सकता है। धार्मिक राजनीति राममोहन राय की बपौती का विरोध करने में अपने दावों को प्रमाणित करती है। यह उस अपील के स्थान पर भारतीय परम्परा एवं हिन्दू प्रथा के विभिन्न महत्त्वपूर्ण विचारों की रखती है।

5.3.5 हिन्दू पुनर्जागरणवाद

हिन्दू पुनर्जागरणवाद की कोई सर्वमान्य विषयवस्तु नहीं है। यह व्यक्ति–व्यक्ति के साथ क्षेत्र–क्षेत्र के लिहाज से भी बहुत भिन्न–भिन्न थी। हम भारत में तीन क्षेत्रों पर नजर डालेंगे हिन्दू पुनर्जागरणवाद किसी न किसी रूप में उच्चरित हुआ–बंगाल, महाराष्ट्र एवं उत्तरी भारत, यथा तीन क्षेत्र जहाँ पुनर्जागरणवाद काफी लम्बा चला।

बंगाल में यह सर्वाधिक व्यापक था, साथ ही प्रचुण्ड भी, परन्तु इसने असाधारण रूप से एक असामान्य रूप ले लिया। यह एक बहुत, सुमित सरकार के शब्दों में, ''बौद्धिकृत पुनर्जागरणवाद'' में उभरा। इसका मतलब है कि इसने ऊँची भौं वाले, मूर्धन्य प्रकार के बुद्धिजीवियों के बीच बहस का रूप ले लिया। पढ़े–लिखे लोगों के बीच यह चर्चा का विषय था। जब भी पत्रिकाएँ एवं समाचार–पत्र इसमें लिप्त होते थे, शब्द और अर्थ ऐसा होता था कि यह आम आदमी को कम ही अच्छा लगता था। बंकिमचन्द्र चटर्जी व अन्य, उदाहरणार्थ, जैसे प्रमुख सदस्यों के बीच इसकी तीन मुख्य प्रेरणाएँ थीं। प्रथम, भारत की कुछ स्मरणातीत परम्पराओं पर जोर देना और पश्चिम के मुकाबले अपने आत्मिक श्रेष्ठता सिद्ध करना, य़द्यपि हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि हम भौतिक रूप से कमजोर हैं। दूसरे, इन शब्दों में पूछना कि भारतीय (वस्तुतः) कौन है? हर व्यक्ति जो बंगाल में रहता है आवश्यक नहीं कि बंगाली ही हो। ऐसी ही बात भारत के साथ है। इस तरीके से व्यवहार कि जो भारत में रहता है क्षेत्रीय राष्ट्रवाद है। हमे कुछ सहजगुण भी अवश्य धारण करने चाहिए और कुछ भावनाएँ–विशेष व्यक्त करनी चाहिए, जो फिर हमें कुछ सहजगुण भी अवश्य धारण करने चाहिए और कुछ भावनाएँ–विशेष व्यक्त करनी चाहिए, जो फिर हमे एक भारतीय होने हेतु योग्यता प्रदान करेगी। यह शब्द गढ़ा नहीं गया वरन् यह उस दिशा में पहला कदम था जिसे बाद में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहा जाने लगा; यथा, कोई व्यक्ति भारतीय तथी है जब वह कुछ निश्चित सांस्कृतिक अभिलक्षण दर्शाये। अन्ततः असीम बौद्धिक श्रम जीजस क्राइस्ट के मुकाबले भगवान् श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता दर्शाने में खर्च हो गया; अत्यंत महत्त्वपूर्ण रूप से एक देशभक्त भारतीय हेतु एक आदर्श भी। परन्तु विलक्षण रूप से, बंगाल मे जो कुछ हुआ उसका बहुत ही थोड़ा बंगाल में विद्यमान है, बावजुद इसके कि भारत के अन्य भागों में यह गुंजायमान है, अपवाद रूप में, शायद, 'वन्दे मारतम्', और सिर्फ एक गीत के रूप में, न कि देशभक्ति की परीक्षा के तौर पर जैसा कि उत्तर में है।

महाराष्ट्र में धार्मिक पुनर्जागरणवाद का एक अधिक भिन्न आधार था। वहाँ निश्चित रूप से बुद्धिजीवी घटक विद्यमान था। और इसने, हालाँकि चालाकी से, एक ब्राह्मणवादी पुनर्कथन का रूप ले लिया। यह बात निम्न जातियों के बीच जागरण और दावों का प्रत्युत्तर देने के प्रयासों में सबसे अच्छी तरह देखी जा सकती है, यथा इन्होने ज्योतिबा फुले के व्यक्तित्च से स्पष्ट और नियत आकार पाया। दूसरे, यहाँ बात बंगाल से कुछ भिन्न भी थी। धार्मिक प्रतीक–चिह्न एवं पर्व 'सार्वजनिक' बनाए गए आम अखाड़े में प्रेरित किए जाते थे ताकि राष्ट्रवाद के उद्देश्यसे जन–समाज के संघटक पर प्रभाव पड़। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध गणेश पूजा, अब तक एक घरेलू घटना, का 'गणेश उत्सव'`के रूप में जाने वाले एक जन समारोह में रूप–परिवर्तन। आज यह भारत के कई अन्य भागों में फैल चुका है, और इस नजरिए से साम्प्रदायिक तनावों का एक स्त्रोत बन चुका है जो तरीका 'संघ परिवार' द्वारा अपनाया जाता है। गणेश सफलता के देवता हैं और 'परिवार' के कार्यकर्त्ता यह सोचते हैं कि गणेश को विशेषाधिकार प्रदान करके वे पूरे भारत में राजनीतिक सफलता हासिल कर लेंगे। यही जन संघटन का रास्ता बन गया और बना भी हुआ है। तीसरा रूप जो इसने अख्तियार किया वो था श्रीकृष्ण – एक धार्मिक प्रतिमा से भिन्न, एक पक्की ऐतिहासिक आकृति और एक महान् योद्धा शिवाजी महाराज के सम्प्रदाय का निर्माण। उसको ''हमेशा'' मुस्लिम शासन से लड़ने वाले एक आदर्श हिन्दू व्यक्तित्व के रूप में बनाया गया। तत्कालीन और तदोपरांत भारत में स्थान लेते क्षेत्रीय जागरणों में शिवाजी निस्संदेह एक महान् महत्त्त वाली विभूति थे परन्तु उन्हे एक हिन्दु पंथ के रूप में स्थापित करना जनचेतना का साम्प्रदायीकरण था, जो तब संघटित हो रहा था। महाराष्ट्र मे धार्मिक पुनर्जागरणवाद ने जन–संघटन की दिशा में करवट ली थी, और इस बात में वह उससे भिन्न था जो बंगाल में हुआ था।

उत्तरी भारत एक और अधिक कौतुहल उत्पन्न करती तस्वीर प्रस्तुत करता है। यहाँ अधिकतर बुद्धि–संबंधी बहसें समाज में फैली और जनप्रिय संघर्ष–विषयों के मुद्दे बन गई और जो संघर्ष–विषय के मुद्दे बने उसमें से अधिकांश लोकप्रिय प्रथाओं व

आस्थाओं के निकट थे। उत्तर भारत में दो भिन्न रूपान्तर उभरे। एक सिन्धु–गंगाई मैदानों में और दूसरा उत्तर–पश्चिमी भारत में, जो अब पंजाब, हरियाणा व पश्चिमी उत्तर–प्रदेश है। सिन्धु–गंगाई मैदान में वे मुद्दे थे जिनके माध्यम से हिन्दु पुनर्जागरणवाद ने अपना हक़ क़ायम किया, गौ–वध तथा देवनागरी लिपि में हिन्दी से जुडे मुद्दे। ज्ञान पाण्डेय ने ''मोबिलाइजिंग दि हिन्दु कॉम्यूनिटि'' तथा दोनों ''हिन्दी, हिन्दु, हिन्दुस्तान'' (उनकी कॉन्स्ट्रक्शन ऑव कॅम्यूनलिज़्म इन कॅलोनिअल नार्थ इण्डिया, 1990 में दोनों अध्याय 5 व 6 के रूप में) में दर्शाया है कि दैनिक जीवन में गाय और मुसलमानों द्वारा उसकी हत्या और खासकर बक़रीद के मौंके पर, हिन्दुओं की भावनाओं को भड़काने तथा मुसलमानों को गायों का वध करने से रोकने के लिए आन्दोलनार्थ उन्हे संघटित करने के प्रयासों ने मुद्दों का रूप ले लिया। इसी तरीके से हिन्दी व देवनागरी, यथा फ़ारसी लिपि में उर्दू के विरूध का मुद्दा जनतेचना के तहत हिन्दु–मुस्लिम विवादों के विषय बन गए। उत्तर–पश्चिमी भारत में इस प्रकार के मुद्दे अन्य मुद्दों के साथ एक अलग तरीके से उठाए गए। यही था स्वामी दयानन्द के 'आये समाज' आन्दोलन का उदय और प्रसार। एक स्थर पर यह एक ''आपत्तिकारक आन्दोलन'' था परन्तु दुसरे स्तर पर यह हस उस चीज़ के खिलाफ एक निन्दात्मक प्रहार भी था जो उचित रूप से 'वेदों' से मेल न खाता हो। इसने सफलतापूर्वक अनेक हिन्दु प्रथाओं, जैसे बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, एवं जन्म पर आधारित जाति, पर एक तीखा प्रहार किया तथा अन्तर्जातीय एवं विधवा–पुनर्विवाह व अन्य ऐसी ही प्रथाओं की वक़ालत की। दयानन्द ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में ग़ैर–वैदिक धर्मों जैसे इस्लाम, ईसाइयत, सिखधर्म, आदि प्रत्येक पर एक–एक अध्याय लिखते हुए, एक निंदात्मक प्रहार भी किया, और इस्लाम व उसके पैगम्बर पर प्रहार सर्वाधिक निन्दापूर्ण था। उनके अनुयायी तदोपंरात सिखों व मुसलमानों, इस क्षेत्र के दो अन्य प्रमुख धर्मो, के साथ अनावश्यक शास्त्रार्थ में लग गए। कैनेथ जोन्स अपनी पुस्तक आर्यधर्म में दर्शाते हैं कि किस प्रकार यह आन्दोलन तेजी से पंजाब में, खासकर खत्री जैसी व्यापारी जातियों के बीच, फैल गया। प्रमुख धर्मान्तरित व्यक्ति थे लाला लाजपत राय (विख्यात् राष्ट्रवादी नेता), लाला हन्स राज, लाला मुन्शीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानंद) व अन्य कई। तब से ही, उसने विशेष रूप से दो कार्यों पर ध्यान केन्द्रित किया– एंगलो–वैदिक विद्यालय खोलना और एक 'शुद्धि' अभियान – उन लोगों का हिन्दू धर्म में फिर से धर्मान्तरण जिन्होने अन्य धर्मो को अपना लिया था। यह परवर्ती कार्यक्रम जो मुसलमानों के बीच तंज़ीम और तबलीग कहे जाने वाले कामों से जुडा था, साम्प्रदायिक माहौल को खराब करने में बहुत सहायक था।

5.3.5.1 राजनीतिक असंतोष में बढ़ोतरी

धार्मिक पुनर्जागरणवाद व सांस्कृतिक राष्टवाद पर आधारित प्रकट होती राजीनितक खीज ने विवेकानन्द व अरबिन्दों जैसे अत्यंत सम्मानित व विवेकी विचारकों के लेखों से, एक अखिल भारतीय स्तर पर, संशक्त बौद्धिक प्रबलन व नैतिक वैधीकरण प्राप्त कर लिया। उनके कैनवास विशाल थे, क्षितिज बहुत व्यापक, और कार्य बहुत बड़ा। दोनों ही के अनुसार भारत के पास विश्व कि लिए एक दूतकार्य है, भौतिकवादी पश्चिम को भारत के महान् आध्यात्मिक संसाधन उपलब्ध कराना और इस प्रकार अपनी दरिद्र संभ्यता को सम्पन्न बनाना। इस दूतकार्य के अन्तर्गत उन्होने प्राचीनउ भारत के गौरव, भारतीय धर्म व दर्शन का स्मरणातीत्य, 'वेदान्त' की श्रेष्ठता, भारतीय सहिष्णुता की अनुपम प्रकृति, इत्यादि का स्तुतिपूर्वक आह्वान किया। यह सब अब भी भली–भाँति चल सकता है। परन्तु तुलना करने की एक प्रवृति विद्यमान है, खासकर अन्य धर्मों के साथ–विवेकानन्द, हिन्दु–वेदान्ति परम्परा में उच्चरित। वह हिन्दु सहिष्णुता की मुस्लिम ''असहिष्णुता'' के साथ तुलना करने और मुस्लिम धर्म की पूरे विश्व में मांसार्थ पशुवध से तुल्यता दिखाने, तथा इस्लाम के पैंगम्बर को यह मानने के बड़े आदी थे कि उन्होने विश्व की भलाई कम थी और हानि अधिक पहुँचाई (कॅलैक्टिड वर्क्स, खण्ड–1) 1 अरविन्दों अक्सर भारतीय राष्ट्रवाद की तुल्यता सनातन धर्म से दिखाते थे। लघुतर हाथों में, अंतर–साम्प्रदायिक संबंधों के लिए बहुत हानिकारक तथा बदतर होते साम्प्रदायिक तनावों को बिगाड़ने में ये व ऐसे ही अन्य कथन सिद्ध हुए। मुसलमानों के साथ जो हो रहा था उससे जोड़कर देखे जाने पर, इन सब बातों का भारत के लिए अनर्थकारी परिणाम हुए।

5.3.6 इस्लामिया दृष्टिकोण

मुसलमानों के बीच हस्तेक्ष, मोटे तौर पर 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध से आरम्भ, भी उनके लिए कोई एकरूप लक्षण नही रखता था। भारत में मुसलमानों के दृष्टिकोण से, इनमें से कुछ अधिकतर आदिम विविधताओं वाले पारम्परिक अथवा रूढ़िवादी इस्लाम में अवसर–ग्रहण को दर्शाते थे। बरेली के शाह वलीउल्लाह अथवा सय्यद अहमद तथा उनके कम जाने जाने वाले अनुयायी जैसे बंगाल में फ़रैज़िस के हाजी शरीयतुल्लाह अथवा फ़ैजाबाद के मौलवी अथवा जौनपुर के मौलवी करामत अली, सभी 19वीं सदी के पूर्वार्ध में, वहाबी आन्दोलन से प्रभावति थे और उन्होने अपना ध्यान मुसलमानों के बीच प्रचलित ''अन–इस्लामिक'' प्रथाओं पर केन्द्रित किया, जैसे एक–दूसरे के त्यौहारों में शरीर होने की लोक प्रथाएँ, अभिवादन एवं शुभकानाओं के तरीकें, आसपास के हिन्दु लोकाचार से प्रभावित आम रीतियाँ व शिष्टाचार, और सर्वोपरि, शिर्क (अन्य शक्तियों को अल्लाह के साथ जोड़ना) के रूप में संतों की पूजा, इत्यादि। वे मुसलमानों, खासकर नए धर्मान्तरितों का, अवशिष्ट हिन्दु प्रथाओं से उद्धार चाहते थे और उसके स्थान पर ''बाह्य प्रभावों'' से अदूषित इस्लाम का एक शोधित रूप लाना चाहते थे। हस्तक्षेप का दूसरा रूप बाद में 19वीं सदी के उत्तरार्ध में देखने में आया। इस दृष्टिकोण के सर्वोच्च

प्रतिनिधि थे सर अहमद खान। अतीत की ओर किसी प्रत्यावर्तन और पैगम्बर मोहम्मद व उनके निकट सहयोगियों के युगोन्मुखक्षेपी व्याख्याओं की बजाय, सर सैय्यद का दृष्टिकोण एक मुस्लिम सम्प्रदाय संबंधी था, ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ उठते संघर्ष से दूर रहकर तर्क व विज्ञान तथा आधुनिक युग की माँगों से सामञजस्य रखकर एक इस्लामिक अवधारणा के साथ तेजी से आधुनिकीकरण लाना।

भिन्नताएँ चाहे जो हों, जो कि ऐतिहासिक काल, आन्तरिक दबाव तथा अभिप्रायों अथवा प्रयोजनाओं के लिहाज से पहचानी जा सकती है, ऊपर से हस्तक्षेपों के कुछ सामान्य अभिलक्षण व परिणाम भी देखने में आते है। ज़्यादा सुप्रकट अभिलक्षण है, प्रथम, इस्लाम की रक्षार्थ अदालत अथवा अभिजात–तंत्र पर भरोसा करने अथवा उससे गुहार करने की बजाय सीधे लोगों को सम्बोधित करने की दिशा में एक सुविचारित और सुनियोजित कार्रवाई, जैसा कि, उदाहरण के लिए, स्वधर्मनिष्ठा ने औरंगज़ेब और दारा शिकोह के बीच संघर्ष में किया। कुछ ने सम्प्रदाय–विशेष में टिकाऊ संचार माध्यम उपलब्ध कराने के लिए मुस्लिम भद्रजन और छोटे तबके के मुसलमानों के बीच दरार पाटने का काम किया। दूसरे, इन हस्तक्षेपों ने राजनीतिक अपीलों हेतु पढ़े–लिखों को सॅम्बोधित धर्मतात्त्विक तर्कों के स्थान से हटकर व्यापक विषयों पर कुछ–कुछ लोगों की लामबन्दी का रूप लेने का प्रयास किया। तीसरे, इस्लाम को आधार मानकर उसकी एक ''अधिक स्वास्थ्य–प्रद'' व्याख्या के पुननिर्माण का सुसंगत प्रयास किया जा रहा था, जिस पर मुसलमानों को मिली नई पहचान कायम रह सके। सह समझना ग़लत नही हो सकता कि ये दो प्रवृतियाँ ''परम्परावादी'' एवं ''आधुनिकतावादी'' के रूप में इन हस्तक्षेपों के करण ही उत्पन्न हुई। दिलचस्प रूप से, उन्होने राष्ट्रवादी आन्दोलन की ओर पूरी तरह उल्टा रूख अपनाया ठीक जबकि मुसलमानों को एक भिन्न सांस्कृतिक सम्प्रदाय के रूप में देखा जा रहा था। परम्परावादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन किया जबकि आधुनिकतावादियों ने मुसलमानों को स्वतंत्रता आन्दोलन से तटस्थ रहने की दलील दी।

इन सब बातों में शामिल विवादास्पद परिणाम गौ़रतबल है। जबकि ये घटनाएँ मुस्लिम समुदाय को धीरे–धीरे बाक़ी समाज से दूर खींच रही थी, ये उन्हे धीरे–धीरे एक राष्ट्र में से सक्रिय भागीदारों के तौर पर जो अपनी बात सुनी जाने पर आमादा थे, जन रंगमंच पर भी ला रही थी। ये लोग स्वंय को हिन्दुओं से अलग करते हुए, सर्वाजनिक कार्यक्षेत्र में सक्रिय होते जा रहे थे। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यिप, यह स्वंय में बँटवारे का कोई कारण नही था, जहाँ राजनीतिक चंगाई तथापि संभव थी, परन्तु यह फिर भी एक अशंदायी कारक बन गया।

5.3.7 धार्मिक राजनीति : एक पर्यवेक्षण

विभाजन के संकट के बाद, अब हम भारत में है जहाँ हिन्दुकुल जनसंख्या का 83 प्रतिशत है। दूसरा बड़ा धार्मिक समुदाय मुसलमानों का ही है जो जनसंख्या के लगभग 11 प्रतिशत का निर्माण करते है। हिन्दुओं के बीच होने वाली घटनाएँ भारत के भवितव्यार्थ इसीलिए अन्य धर्मिक सम्प्रदायों के बीच होने वाली घटनाओं की बजाय अधिक मायने रखती है। ऊपर चर्चित अनेक घटनाओं एवं व्याख्यात्मक परिवर्तनों की, एक तीन या चार निष्कर्षों में सूक्ष्मदृष्टि हमारी वर्तमान राजीति के समझने के लिए आवश्यक है।

इनमें प्रथम था हिन्दू समुदाय, धर्मशास्त्रीय समग्रता में संयोजी गई शिक्षाओं के एक निकाय, को ठीक उसी प्रकार जैसे अन्य धर्म है, अखंड एकता प्रदान करना। हिन्दुत्व को अस्थायी सीमाओं वाले एक धर्म बतौर किसी भी विपत्ति की सूरत में एक उत्तरदायित्व के रूप में देखा जाता था। दूसरे, हिन्दुत्व को मांसल बल प्रदान करने का एक संगठित प्रयास भी होता था। पुनर्जागरणवाद के अलोक में, सिर्फ गाँधीजी को छोडकर, सभी धार्मिक विचारक यह महसूस करते थे कि हिन्दुत्व दुर्बल व निर्बल है और इसी कारण इस पर पहले मुसलमानों द्वारा बलपूर्वक अधिकार कर लिया गया और उसके बाद अंग्रेजों द्वारा उसे उपनिवेश बना लिया गया। इसको, इसीलिए, बलिष्ठ बनाने की आवश्यकता है। अन्यथा भारत पर बाहरी शक्तियों एवं आतरिंक शत्रु का खतरा मंडराता ही रहेगा। इस दृष्टिकोण ने ऐसे अनेक विचारकों को संगठित किया, जैसे बंकिमचंद्र, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती व अन्य कई। भारत की एकता व अखण्डता हिन्दुओं की एकता व बलिष्ठता में ही समझी गई। हिन्दू इतिहास को मुसलमानों के आगमन से पिछले हज़ारों वर्षों से भी अधिक से, पराज्यों व दुर्भाग्य की एक व्यक्ति का ही कर्त्तवय है, तीसरा अभिलक्षण प्रस्तुत है, जिसने हर व्यक्ति को इन विचारकों से जोड़ा कि उस सुनहरे युग को फिर से लाए। सिर्फ इसे लाने के उनके साधनों में फ़र्क था। राजनीतिक रूप से वे एक थे परन्तु सामरिक रूप से बहुत अधिक भिन्न।

पुनर्जागरणवादी विचार में निहित अन्तिम महत्वपूर्ण लक्षण था हिन्दुत्व के उन अभिलक्षणों की गहरी आशंका जो अन्य कोई विवेकी हिन्दुओं, जैसे गाँधी अथवा टैगोर उदाहरणार्थ, के अनुसार हिन्दुत्व की सुन्दरता व शक्ति थे। उसकी अपनी विविधता और प्रवर्तनकारी वैविध्य को उत्पन्न करने की क्षमता की काफी थी। किसी अन्य धर्म के पास इतना सामर्थ्य नही था। उपर्युक्त विचारकों प आन्दोलनों, जिन पर हमने पहले विचार किया, का हिन्दुत्व संबंधी इस नैतिक गुण विशेष के विषय में गहरा अविश्वास था। इसीलिए स्थानीय मतभेदों, क्षेत्रीय, विसामान्यताओं, निगूढ़ पूजा–पद्धतियों अथवा 'भक्ति' आन्दोलनों के प्रति संदिग्धचित्त थे। इनको दुर्बलीकारक के रूप में देख्सा जाता था और इसलिए इनसे परहेज़ और लड़कर तय किया जाना था। यह अपने चरम बिन्दु पर सावरकर के हिन्दुत्व (1923 में रचित, 'संघ परिवार' की सर्वाधिक महत्वपूर्ण

पुस्तक) में पहुँचा जिसमें सिद्धांत स्वंय सदेहास्पद है और उसके स्थान पर प्रजाति, वंश और इस पावन धरती – 'पुण्य भूमि' का साझा इतिहास है। इस वंश और परम्परा की साझेदारी से बाहर के लोग, जैसे बाहरी देश की धरती के धर्मों वाले मुसलमान और ईसाइ, भारत को कभी भी पूरी निष्ठा प्रदान नही कर सकते; वे भारत को कभी अपनी 'पुण्य भूमि' नही मान सकते। मुसलमान इस प्रकार भारत में एक संदेहास्पद विद्यमानता है। यह इसीलिए, निष्कर्ष निकलता है कि एक अच्छा हिन्दू बनने के लिए, हमें मुसलमानों से लडना चाहिए और ईसाइयों से भी। विचारणीय प्रश्न तष यह है : क्या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद साम्प्रदायिक नही है?

हिन्दुत्व जो करता है वो है अल्पसंख्यकों की नकारात्मक समरूपता के साथ हिन्दुओं की प्रत्यक्ष पहचान का सामना करना। अब हम पाते है कि हिन्दु 'अहं' अन्य की शाश्वत संघर्षशील विद्यामानता में खडा है। सिर्फ 'अन्य' की भलाई करके की यह होगा कि 'अहं' अपनी प्रयोगक्षमता का अहसास करे। यही वह बात है जिसमें धार्मिक राजनीति की पराकाष्ठा निहित है। यही है जो कुछ भी अन्ततः हिन्दुत्व है।

यह सब सभी तक कल्पना के क्षेत्र, विचार की दुनिया में ही है। कोई इसे कैसे वास्तविक, आज की राजनीति बनाता है? कल्पित और वास्तविक के बीच जो खडा है वो संगठन, ऐसा हेडगेवार – राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) के संस्थापक सोचते थे। हेडगेवार ने वी.डी सावरकर द्वारा हिन्दुत्व के प्रकाशन के दो वर्ष पश्चात् 1925 में नागपुर में आर.एस. एस. की स्थापना की। इस शताब्दी के आरम्भ से ही संगठन निर्माण के अनेक प्रयास किए गए। सबसे पहले थी आर्य समाज, जिसने अपनी 1875 में की, की 'प्रतिनिधि सभाएँ। बीसवी सदी के आरम्भ में ''हिन्दु सभा'' की स्थापना हुई। बाद में 1915 में 'हिन्दु महासभा' बनी। प्रयास हमेशा हुए परन्तु कोई बडी सफलता हाथ नही लगी।

आर.एस.एस ने महाराष्ट्र के एक प्रान्तीय कस्बे में जहाँ अब तक उसका मुख्यालय है, एक सन्तुलित शुरूआत की। यह सहज रूप से ही बेजोड़ और प्रवर्तनकारी थीं। इसका संगटनात्मक सिद्धांत तीन चीजों पर आधारित था। एक युद्धप्रिय दृष्टिकोण प्रदान करने के लिए एक वर्दी (एक निक्कर और कमीज़), एक अभिवादन (आर.एस.एस.को, न कि राष्ट्रीय ध्वज को) और एक क़वायद (लाठियों के साथ) आवश्यक है।

इसेक बाद की जानी होती थी एक स्वयंदेवक के साथ बात, उन विषयों पर जो उसके द्वारा ''देशभक्तिपूर्ण'' कहे जाते थे। परन्तु इसकी तह में छुपा एक महत्वपूर्ण विचार यह था कि यह आपके जीवन का एक नियतिम हिस्सा होना चाहिए। सामान्य संवर्ग, सेवक राष्ट्र के हित में एक सैनिक होता है। सेना की भाँति, कठोर पदानुक्रमिक व्यवस्था में, वह अनुशासनबद्ध होता है। यद्यपि शुरूआत में हास्यास्पद लगा, इसके दूसरे तानाशाह, गोवलकर के अधीन रहकर इसको पर्याप्त सफलता मिली। इससे सम्बद्ध अनेक संस्थाएँ है जैसे विश्व हिन्दु परिषद, बजरंग दल, दुर्गावाहिनी, हिन्दु तथा मानिनी। पहले अनेक वर्षों तक हिन्दु महासभा के साथ काम करने के बाद आर.एस.एस. ने अपना एक राजनीतिक दल बना लिया – जनसंघ। 1980 में, भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के रूप में इसका पुनर्जन्म हुआ, जो अब ' राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन', देश में शासक दल, नामक एक गठजोड़ में शामिल है।

5.3.8 सारांश

इस इकाई में आपने धार्मिक राजनीति के अर्थ व महत्तव तथा उसके विविध दृष्टिकोणों का अध्ययन किया। यह अपनी पृष्ठभूमि के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ, 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों से धीरें–धीरें जन्मी। इसका आरम्भ सामाजिक सुधारों के साथ किया गया और उसने तदोपरांत विद्वानों व राष्ट्रवादियों का एक–सा ही समर्थन पाया, यद्यपि उनके तरीके महत्वपूर्ण रूप से भिन्न थे। हिन्दु पुनर्जागरणवाद ने अपनी जड़े बंगाल, महाराष्ट्र और उत्तर–भारतीय क्षेत्र में जमायी। राष्ट्रवादी नेताओं ने अपनी प्रेरणाएँ धार्मिक प्रतिमाओं व पूजा–पद्धतियों एवं वेदों से प्राप्त की; उन्होने अपनी–अपनी आस्थाओं से संबंधित सुधारों व कर्मकाण्डों की वक़ालत करते हुए अपने–अपने समुदायों की भावनाओं को भड़काया। इस्लामिक पहलू ने अपने स्त्रोत इतिहास के अतीत से निष्कर्षित किए और इस्लाम की एक अधिक स्वास्थ्यप्रद व्याख्या को कार्यरूप देकर सम्प्रदाय–विशेष की एकता का प्रयास किया। धीरे–धीरे इन मतभेदों ने विवादास्पद पहलुओं की ओर प्रवृत्त किया; तिस पर भी धार्मिक समुदायों ने एक प्रमुख भूमिका निभानी शुरू कर दी है, जिससे धार्मिक राजनीति का मसला एक सतत दृश्यघटना बनता जा रहा है।

5.3.9 अभ्यास प्रश्नावली

1) धर्म व राजनीति के विषय से धार्मिक राजनीति किस प्रकार भिन्न है?
2) धार्मिक राजनीति के सारभाग को स्पष्ट करे।
3) धार्मिक राजनीति के विकास पर चर्चा करें।
4) हिन्दु पुनर्जागरणाद से आप क्या समझते है?
5) धार्मिक राजनीति के इस्लामिक दृष्टिकोण पर एक टिप्पणी लिखें।

अध्याय 4
नृजातीयता तथा राष्ट्र–राज्य

संरचना

5.4.1 उददेश्य
5.4.2 प्रस्तावना
5.4.3 नृजातीयता तथा राष्ट्र–राज्य अवधारणा
5.4.4 नृजातीयता अध्ययन हेतू दृष्टिकोण
5.4.5 नृजातीयता का आविर्भाव
5.4.6 राज्य की प्रतिकिया
5.4.7 भारत में नृजातीयता के मुख्य मामले
5.4.7.1 उतर पूर्वी भारत
5.4.7.2 तमिलनाडु
5.4.7.3 पंजाब
5.4.7.4 जम्मू व कश्मीर
5.4.8 सारांश
5.4.8 अभ्यास प्रश्नावली

5.4.1 उददेश्य

उददेश्यः– प्रस्तुत अध्याय का उददेश्य राष्ट्र राज्य की संकल्पना को स्पष्ट करते हुए उसे सफलतापूर्वक कियान्वित करने की चुनोतियो का उल्लेख करना है जिसमे सबसे प्रमुख चुनोती नृजातीयता है नृजातीयता का आविर्भाव और तमिलनाडु पंजाव ,जम्मू कश्मीर में इससे संबधित समस्याओ का अध्ययन कर राज्यो की इसमें क्या प्रतिकिया रही यह स्पष्ट करना इस अध्याय का प्रमुख उददेश्य है

5.4.2 प्रस्तावना

भारत औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात तीसरी दुनिया के अन्य किसी देश की ही भॉति राष्ट्र निर्माण की परिकल्पना में लगा था उस वक्त देश के नेताओ का मानना था कि समाज क सम्पूर्ण विकास की लक्ष्यप्राप्ति का एकमात्र रास्ता देश में लोंकतात्रिक राजनीतिक व्यवस्था कायम करना ही है जो कि धर्मनिरेपेक्षता,स्वतंत्रता,समानता व समाजवाद के उन सिद्वांतो पर आधारित हो जिसकी देश के संविधान में गारण्टी दी गई है। इन सिद्वान्तो की निष्पति हेतु राज्य ने विकास का नेहरूवियन अथवा महालनेबिस मॉडल सामने रखा। परन्तु लोकतन्त्र व विकास की लक्ष्यप्राप्ति हेतु मुख्य उददेश्य के साथ राष्ट्र निर्माण की परिकल्पना को देश की नृजातीय विविधताओ के बीच ही पूरा करना पडा। जातीय धामिक व जनजातिय समूहो से परे भारत में विविधताएँ संस्कृति भाषाओ व क्षेत्रीय विकास के शब्दो में व्यथ्त थी। देश में विकास व इतिहासो के विभिन्न स्तरो विभिन्न धमो तथा सांस्कृतिक समूहो ने राष्ट्र निर्माण के सामने एक प्रत्यक्ष चुनोती खडी कर दी इसके अलावा उतर पूर्व तमिलनाडु पंजाब तथा जम्मू व कश्मीर की अन्तराष्ट्रीय सीमाओ पर युद्वनीतिके स्थिति ने राष्ट्र निर्माण का लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश के नेताओ की सवोच्च प्राथमिकता थी उस समय यह माना जाता था कि लोकतात्रिक राजनीतिक व्यवस्था और सम्पूर्ण विकास की स्थापना होने के बाद भारत में नृजातीयता अथवा राष्ट्र निर्माण में कोई समस्या खडी नही करेंगी राष्ट्र निर्माण की प्रकिया में नृजातीयता को पीछे धकेल दिया जाएगा।

ज्बकि स्वतन्त्रता उपरांत प्रथम दो दशको में भारत का एक राष्ट्र राज्य के रूप में निर्माण करने की दिशा में प्रयास मूल रूप से आधुनिकरण अथवा विकासात्मक/ पाश्चयत्यमक मॉडल पर आधारित था 1980 के दशक व उसके बाद से भाजपा तथा उसके मित्रवत संगठनो के नेतृत्व वाले देश में हिन्दू दक्षिणपंथी ताकते भारत की छवि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के सिंद्वातो पर आधारित एक राष्ट्र राज्य अथवा एक हिन्दू राज्य के रूप में बनाने का प्रयास कर रही है नेहरूवियन अथवा विकासात्मक मॉडल के आलोचक व इस प्रकार की समक्ष वाले उन्हे हटा देने पर आमदा है जिन्हे वे राज्य की नीतियो में विकृतियॉ मानते हैं। खान–पान की आदतों धामिक प्राथमिकताओ के संबंध में विधान बनाने हेतु उनके प्रसाय हिन्दू धर्म/संस्कृति/आस्था को प्राथमिकता दिए जाने का सकंते है इस परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र को ऐसा हिन्दू राष्ट्र माना जाता है

जहाँ अन्य धर्मो आस्थाओ की स्थिति द्वितीयक होती है यह बात राष्ट्र राज्य को दो तरीको से चुनौती देती है एक यह उन दूसरी आस्थाओ के अस्तित्व को मान्यता नही देती है जो इससे असहमत है और हिन्दू वर्ण व्यवस्था पर आधारित सामाजिक पदानुकम को वैधता प्रदान करती है दूसरे इसकी प्रतिकिया में धार्मिक व जातिय विचारो पर आधारित नृजातीय समूहो का संघटन होता रहा है यह बात धर्म परिवर्तन जातीय दंगो तथा एक विचारो पर आधारित नृजातीय समूहो का संघटन होता रहा है यह बात धर्म परिवर्तन जातियो दंगो तथा एक वैकल्पि विचारधारा की तलाश के रूप में साम्प्रदायिक संघषो आतंकवाद निम्न जातियो के विरोध प्रदर्शन में परिणत हुई है जो सामाजिक परिवर्तन को प्रकट करती है। द्रविड आन्दोलन का उदय भी हिन्दू राष्ट्रवाद के खिलाफ एक प्रतिकिया ही था जैसा की दक्षिण भारत की द्रविडियन पार्टियो द्वारा माना जाता है।

5.4.3 नृजातीयता तथा राष्ट्र–राज्यः अवधारणा

सामान्यता नृजातीयता को उन लोगो के एक समृह का संघटन माना जाता है जो संस्कृति,भाषा धर्म,इतिहास आदि के लिहाज से सर्वमान्य सहज गुण रखते है और जो ऐसे किसी अन्य समूह से भिन्न होते है जो अपने अलग सर्वमान्य सहज गुण रखते है यह संघटन एकल अथवा अधिक सहज गुणो पर हो सकता है उदाहरण के लिए, भाषा धर्म (भारतीय संदर्भ में सम्प्रदायवाद के रूप में प्रसिद्व) जाति अथवा जनजाति के आधार पर लामबन्दी तथा साम्प्रदायिक लामबन्दी को अदल बदल कर प्रयोग करते है दीपाकर गुप्ता नृजातीय तथा सम्प्रदायवाद के बीच भेद करते है उनका तर्क है कि नृजातीयता अनिवार्य रूप से राष्ट्र राज्य राज्यक्षेत्र व संप्रभुता के सदर्भ में किसी समूह के संघटन की किसी अन्य के साथ संबंध में इगित करती है एक नृजातीय समूह स्वयं को किसी राष्ट्र के राज्यक्षेत्र में आस्था का सच्चा अनुयायी होने की घोषणा करता है ऐसे राष्ट्र राज्य के सहज गुणो का उल्लेख प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता है उनके विचार से वह सामूहिक संघटन जिसकी उल्लेख राष्ट्र राज्य के सहज गुणो का उल्लेख प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता है। उनके विचार से यह सामूहिक संघटन जिसका उल्लेख राष्ट्र–राज्य –राज्यक्षेत्र अथवा संप्रभुता के रूप में नही होता है नृजातीय संघटन नही है। यह मात्र साम्प्रदायिक लामबन्दी है राष्ट्र–राज्य के प्रति किसी समूह की निष्ठा पर संदेह अथवा उसे प्रमाणित नही किया जा सकता है सम्प्रदायवाद में यह सरकार ही है जो सन्दर्भ बिन्दु होती है सरकार पर ही साम्प्रदायिक समूहो के प्रति भेदभाव बरतने अथवा उनका समर्थन करने का दोष लगता है देश व काल के बदलते प्रंसग में सम्प्रदायवाद नृजातीयता में अथवा नृजातीयता सम्प्रदायवाद में परिवर्तित हो सकती ळें

कोई भी राष्ट्र राज्य एक संप्रभु भोगोलिक सता होता है जिसके आधार स्तंभ होते है इतिहास संस्कृति भाषा धर्म राज्य नही मानते है उनका तर्क है कि किसी राष्ट्र राज्य की नीव का आधार एकल राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता होता है। इस प्रकार के समाज में लोग एक ही सर्वमान्य भाषा, संस्कृति अथवा धर्म भी अपनाते है चूँकि भारत में बडी संख्या में ऐसी राष्ट्रीयताएँ है जो भिन्न –भिन्न भाषाएँ बोलती है भिन्न भिन्न सांस्कृतिक सहज गुण इतिहास धर्म आदि रखती है वह एक बहुराष्ट्रीय राज्य जैसे शब्दो का प्रयोग अदल बदलकर किया जाता है।

5.4.4 नृजातीयता अध्ययन हेतु संदर्भ

एक क्षेत्र विशेष की सीमाओ में रहकर संस्कृति भाषा, धर्मो के सर्वमान्य सहजगुणो को अपना कर अथवा विभिन्न क्षेत्रो से बाहर रहकर भी ये लोग एक समूह नृजातीय समूह जो कि ऐसे समूहो से भिन्न होते है केसे बना लेते है उस प्रश्न के उतर में मूल-रूप से तीन पहलू है आदिम धारणा के अनुसार लोगो के वीच नृजातीय भेद प्रदत है वे उन्हे विरासत में मिलते है यह भेद समूहो के बीच नृजातीय संघर्ष का रूप ले लेने की और उन्मुख होते है यत्रवादी धारणा के पक्षघर मानते है कि नृजातीय भेद प्रदत नही होते वे संभ्रातो दवारो पैदा किए जाते है जो कि राजनीतिज्ञ अध्यापक धार्मिक नेता आदि हो सकते है परवर्ती अपने लक्ष्य प्राप्ति हेतू सामाजिक दरारो अथवा भेदो का छलयोजन करते है समाजिक दरारे जो अपने भदो के बावजूद समरसता रखकर कर साथ निभा रही होगी संभ्रातो दवारा नृजातीय भेदो में व्यक्त कर दी जाती है।

विशेष प्रसंगो में ये नृजातीय भेद नृजातीय संघषो दंगो आन्दोलनो अथवा विद्रोह के भी रूप में पराकाष्ठा पर पहूँचते है वे मूल सामाजिक दरारे जो नृजातीय समूहो में बदल दी जाती है हमेशा असली नही होती इनमे से कुछ तो संभ्रातो दवारा ईजाद अथवा निर्मित भी होती है तीसरी धारणा में मानना है कि ये दोनो पहलू आदिम तथा यंत्रवादी दोनो नृजातीय के विषय को स्पष्ट करने में असमर्थ है वे इस विषय को द्वि धुवीयता में बॉटते है यह इन दोनो ही धारणाओ के सम्मिश्रण की वकालत करती है इसके पक्षघरो का तर्क है कि आदिम धारणा यह स्पष्ट नही करती है कि सर्वमान्य सहज गुणो को अपनाने वाले लोग उस संभ्रात वर्ग के आहवान का क्यो प्रत्युतर देते है जो उन्हे नृजातीय समूहो में छलयोजित करते है।

5.4.5 नृजातीयता का आविर्भाव

इस मान्यता पर शीघ्र ही बहस छिड गई थी कि क्या नृजातीयता उस विकास को देखते ही पीछे जा छुपेगी जो कि महालेनोबिस मॉडल राष्ट्र राज्य निर्माण प्रकिया को आगे बढाए के परिणामस्वरूप होगा इससे काफी पहले कि मॉडल के परिणाम सामने आते उस वादे पर जिस पर यह आधारित था संदेह किया जाने लगा। अनेक तर्क प्रस्तुत किए गए इस

प्रकार के राष्ट्र निर्माण के मॉडल ने देश में अपेक्षाकृत छोटी राष्ट्रीयताओ को उपेक्षा की गई है राष्ट्र राज्य निर्माण का यह मॉडल उनके हितो के नितान्त विरूद्व है इस पहलू के पक्षधरो ने राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य के खिलाफ विरोध प्रदर्शन किया उतर पूर्व में नागाओ के विद्रोह से शुरू हुआ यह विरोध दक्षिण में तमिलनाडू तथा उतर में पजाब जम्मू व करमीर तक फैल गया। तभी से जाति धर्म भाषा जनजातियो आदि के नाम पर देश के प्रायः सभी भागो में राष्ट्र निर्माण को नृजातीय चुनौती का सिलसिला चला।

जबकि एकमात्र सहजगुण नृजातीय पहचान में सर्वाधिक स्पष्ट संकेत हो सकता था यह एकल से अधिक संमिश्रण रहा जिसने वास्तव में इसके लिए आधार प्रदान किया इसी प्रकार हिन्दू दक्षिणपथी ताकतो को चुनोती थी इसके आलोचको का तर्क है कि भारत कोई राष्ट्र राज्य नही है यह एक बहु–राष्ट्रीय राज्य है। पॉल आर. ब्रास ने वस्तुतः यह तर्क दिया कि यदयपि व्यवहारतः राष्ट्रीय स्तर के भारतीय नीति निर्माताओ ने महालैनोबिस मॉडल का अनुसरण किया उन्होने सिद्वान्ततः बहुवादी लक्षणो देश की नीतियो के हिसाब से उसके भिन्न भिन्न भाषाओ धार्मिक व अन्य अल्प संख्यको को स्वीकार किया था इस प्रकार का बहुवाद सिर्फ राष्ट्रीय स्तर की नीतियो में अपनाया गया। परन्तु राज्य सरकारो ने अक्सर अल्पसख्यको के प्रति भेदभावपूर्ण व स्वागीकरक नीतिया ही अपनाई । यह दर्शाना कि भारत एक राष्ट्र राज्य है देश में बहुवाद तथा विविधताओ के अस्तित्व को वस्तुतः ठुकराया जाना है।

राष्ट्र निर्माण/राष्ट्र राज्यो के प्रति नृजातीय चुनौती ने भारत में निम्न रूप धारणा कर लिए

1 स्वायतता आन्दोलन

2 पृथक राष्ट्र की मॉग

3 विद्रोह

4 पहचान चिहनो जनजाति जाति भाषा धर्म आदि के आधार पर संघर्ष तथा उपद्रव।

निजातीय आविर्भाव के प्रथम तीन रूपों को स्व–निर्धारण आन्दोलन भी कहा जाता है। यह गौरतलब है कि आविर्भाव के ये तीनो ही रूप देश में कोई एकसमान एक समान घटनाक्रम नही अपनाते है। यह एक किसी रूप में शुरू होकर विभिन्न परिस्थितियो में कोई अन्य रूप ले सकता है 1950 के दशकोपरांत से इन पर आधारित संघर्ष देश के विभिन्न क्षेत्रो में आम रहे है दरअसल सालिग हैरिसन ने देश में हुए भाषायी अथवा साम्प्रदायिक संघषो के प्रंसग में स्वतंत्रता पश्चात प्रथम दो दशको को सर्वाधिक भयावह दशको की सज्ञा दी है। बहुधा राज्यो में ऐसे सघषो की जडे स्थानीय परिस्थितियो में ही जीम थी।

राज्यो के भाषायी पुनर्गठन ने कुछ सर्वमान्य भाषायी विशेषमताओ के आधार पर राज्य बना दिए परन्तु देशे के अनेक भागो में धर्म मूल प्रवासी द्विभाजन भाषिका/भाषाई विवाद के आधार संघषो का सिलसिला चलता रहा राज्यो के भीतर स्वायतता के लिए तथा देश के कुछ हिस्सो को अलग कर सम्प्रभु राज्यो की मॉग उठने लगी। ये अक्सर हिंसा में ही परिणत हुए। जबकि स्वायतता आन्दोलनो विद्रोह तथा पृथकतावादी आन्दोलनो के मामले में पक्षपोषको का मुख्य लक्ष्य केन्द्रीय सरकार के नाम से विशेषतः पहचाने जाने वाली राज्य एजेसियो ही होती है। प्रायः इनमें किसी क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायो के बीच नृजातीय सघंर्ष अथवा उपद्रव भी शामिल होते है परन्तु यदि ये भाषा धर्म जातियो जनजातियो पहचान के आधार पर कोई सघंर्ष/दंगा है तो मुख्यतः विभिन्न समूहो के बीच होता है ऐसे मामलो में राज्य एजेसियो को एक सम्प्रदाय विशेष की पक्षपाती अथवा दूसरे के विरूद्व वस्तुतः वैसा ही माना जा सकता है विद्वानो ने तथापि गौर किया है कि भारत में पृथक्तावादी प्रवृतियॉ राष्ट्रवादी मनोभावो के साथ ही विदयमान है।

5.4.6 राज्य की प्रतिकिया

राज्य की प्रतिक्रिया राजनीतिक परिस्थितियो के प्रसंग पर ही निर्भर होती है भारत में नृजातीय आविर्भाव की और राज्य की प्रतिकिया के सामान्य प्रतिरूपो में शामिल है अवपीडन नृजातीय आन्दोलन के भीतर फूट डालना आन्दोलन के नेतृत्व के एक वर्ग विशेष कि अपतुष्टि व उसको संरक्षण आदि। पॉल आर.ब्रास. का तर्क है कि 1950 व 1960 के दशक में कन्द्रीय सरकार ने नृजातीय संघषो आदि की और अलिखित नियमो का पालन किया था धार्मिक सम्प्रदायो की राजनीतिक मान्यता हेतु मॉग पर विचार न करना भाषायी क्षेत्रीय अथवा अन्य सांस्कृतिक रूप से परिभाषित समूहो की मॉग पर कोई रियायत नही और संघर्ष में सांस्कृतिक समूहो को कोई रियायत नही अब तक कि दोनो पक्ष इसका ठोस रूप से समर्थन न करे। उदाहरण के लिए एक पृथक हिन्दी भाषी क्षेत्र के लिए हरियाण के नेताओ द्वारा जब तक एक पजाबी सूबे हेतु मॉग को भी समर्थन नही मिल गया, पंजाबी सूबा –पंजाब राज्य नही बनाया गया।

5.4.7. भारत में नृजातीयता के मुख्य मामले

भारत के विभिन्न क्षेत्रों नृजातीय आविर्भाव के अनेक उदाहरण है। इस पाठांश में कुछ सर्वाधिक प्रमुख उदाहरणों पर चर्चा की गई है।

5.4.7.1 उत्तर–पूर्वी भारत

टपने विशिष्ट इतिहासों, भौगोलिक स्थिति तथा विविध नृजातीयता संयोजन के साथ उत्तर–पूर्वी भारत के लगभग सभी राज्य नृजातीयता की समस्याओं से घिरे हैं। उन सभी ने स्वातंत्र्योत्तर काल में समय–समय पर घटती बढ़ती प्रचण्डता के साथ विद्रोह, नृजातीय संघर्षों व दंगों तथा स्वायत्तता आन्दोलनों को देखा हैं। सामान्यतः उन्होंने हिंसात्मक रूप लिया है। जबकि, चूँकि विद्रोह के तत्त्व लगभग सभी राज्यों में विद्मान हैं, नागालैण्ड तथा मिजोरम में विद्रोह ने सर्वाधिक तीक्ष्ण रूप लिया। उत्तर–पूर्वी भारत के लगभग सभी राज्यों में ऐसी ताकतें हैं जो मानती हैं कि वे भारतीय नहीं हैं; उनके राज्यक्षेत्र बिना उनकी सहमति के बलपूर्वक भारत में विलय कर लिए गए है। वे अपने स्वयं सर्वसत्ताक राष्ट्र–राज्यों को लेना पसंद करते हैं। नागालैण्ड में विद्रोही समूहों ने, उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान, उत्तर–पूर्व के हितार्थ उसके अनुसूची–टप् को स्वीकार नहीं किया; देश में 1952 में कराए गए पहले आम चुनाव का बहिष्कार किया; और निर्वासन ने अपना स्वयं सर्वसत्ताक राज्य–फेडेरल रिपब्लिक ऑव नागालैण्ड, स्थापित कर लेने की घोषणा कर दी। पिछले दो दशकों में, इस राज्य के लगभग सभी राज्यों में नए विद्रोही समूह उभरे हैं। बाहरी देशों, खासकर सीमा से लगे पड़ोसियों के समर्थन से, इन्होने एन.एस.सी.एन. (नैशनलसोशलिस्ट काउंसिल ऑव नागालैण्ड) के नेतृत्व में एक संरक्षा संगठन बना लिया है। वे भारतीय राज्य की संप्रभुता और राष्ट्र–राज्य की संकल्पना पर संदेह करते हैं। 1960 के दशक में असम के खासी, जैनतिया तथा गारो निवास क्षेत्रों में एक स्वायत्त राज्य हेतु आन्दोलन देखा गया था जो 1972 में एक पृथक् मेघालय राज्य के निर्माण हेतु आन्दोलन हो रहे हैं। विद्रोह में लक्ष्य होता है राज्य की स्वायत्तता – पुलिस, सेना व अन्य संस्थाए; स्वायत्त आन्दोलन राज्य की स्वायत्तता पर संदेह नहीं करते है, बल्कि उनका आक्रमण भी राज्य की एजेंसियो के विरूद्व दिशा में होता है। विद्रोह तथा स्वायत्त आन्दोलन अकसर नृजातीय दंगों में परिणत होते हैं, खासकर जनजातियों व गैर–जनजातियों के बीच अथवा एक या दूसरी जनजाति के बीच अथवा एक या दूसरी जनजाति के बीच। ये सभी घटनाक्रम अन्ततोगत्वा उत्तर–पूर्वी क्षेत्र के संबंध में राज्य–नीतियों से जुड़ जाते हैं।

ऐसे मुख्यतः दो पहलू हैं जो उत्तर–पूर्वी भारत के प्रसंग में नृजातीयता तथा राष्ट्र निर्माण के विषय का विश्लेषण करते हैं। पहला है आधुनिकीकरण–विकास–''राष्ट्र राज्य का निर्माण'' का पहलू। दूसरा है ''संघ–निर्माण'' का पहलू। पूर्ववर्ती पहलू समस्याओं को निम्नलिखित के परिणमस्वरूप मानता है : आधुनिक तथा पारम्परिक के बीच संघर्ष के चलते राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया; आधुनिकीकरण तथा परिवर्तन (लोंकतंत्रीकरण) की प्रक्रिया; आधुनिक तथा पारम्परिक नेतृत्व के बीच संघर्ष; और नई पीढ़ी की आकांक्षाएँ पूरी करने में प्रणाली की अक्षमता। इस पहलू का प्रयोग करने वाले विद्वानों में हैं – एस.के. चौबे, वी.बी. सिंह, बी.जी. वर्घीस, मायरन वीनर तथा हिरेन बुहेन। दूसरा पहलू मूलतः पहले वाले की समीक्षा है। यह पहलू सामान्यतः उन विद्वानों के लेखों में उपलब्ध है जो उत्तर–पूर्वी क्षेत्रों से ही उभरे है। इस पहलू के प्रमुख प्रतिनिधि हैं संजीव बरूआ, सजल नाग, उघन शर्मा, हिरेन गुहेन, सजंय हजारिका तथा बेजबरूआ। दरअसल उर्मिला फड़निस का मत है कि सम्पूर्ण दक्षिण, एशिया में मुख्य नेतृत्व ने प्रबल समूहों के विचारों की धारणा का अपनाया और समाज के अल्पसंख्यक संघटकों की उपेक्षा की। इस पहलू के पक्षधर विद्वानों का तर्क कि उत्तर–पूर्व में समस्याएँ, मुख्यधारा राष्ट्रीय स्तर के नेतृत्व के ''राष्ट्र–राज्य निर्माण'' पहलू का ही परिणाम है। वह आगे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ''राष्ट्र–राज्य निर्माण'' की उनकी खोज में केन्द्रीय सरकार और मुख्यधारा नेताओं के प्रतिनिधित्व वाले देश के प्रबल समूहों ने ''बाहा रेखा'' उत्तर–पूर्व की लघु राष्ट्रीयताओं की उपेक्षा की; उनके साथ ''सौतेला व्यवहार'' किया; अक्खड़ रवैया दिखाया; और देश के अन्य भागों की उपेक्षा उत्तर–पूर्व में मनवाधिकार उल्लंघन के प्रति कम ध्यान दिया। यही कारक उत्तर–पूर्व में विप्लव समस्या में परिणत हुआ। यह पहलू संजीव बरूआ के इस सुझाव में भलीभाँति सुव्यक्त हैं कि इस परिस्थिति से उबरने के लिए देश की मुख्यधारा नेतृत्व को अपनी ''राष्ट्र–राज्य निर्माण'' धारणा के स्थान पर ''असली राज्यसंघ–निर्माण'' का पक्ष लेना चाहिए।

5.4.7.2 तमिलनाडु

एक राष्ट्र–राज्य के रूप में भारत की इच्छा के विरूद्व सर्वाधिक तीक्ष्ण विरोध औपनिवेशिक शासन से देश आजाद होने से काफी पहले दक्षिण भारत में हुआ। तमिलनाडु के द्रविड़ियन आन्दोलन इस क्षेत्र में इसी आशय का प्रतिनिधि बन गया। आत्म–सम्मान आन्दोलन के रूप में जन्म ले कर और बाद में जस्टिस पार्टी, डी.के. तथा डी.एम.के. के रूप उभर कर आने वाले द्रविड़ियन राष्ट्रवाद ने तीन आधारों पर देश में व्याप्त राष्ट्रवाद तथा राष्ट्र–राज्य की इच्छा पर प्रश्न किए – धर्म, भाषा, तथा जाति। द्रविड़ियन राष्ट्रवाद के अग्रणी व ''पेरियर'' के नाम से प्रसिद्व, ई.वी. रामास्वामी नैयर का तर्क था कि भारत में प्रबल राष्ट्रवाद कांग्रेस द्वारा व्यक्त किया गया था जो हिन्दू धर्म अथवा ब्राहाणवाद, हिन्दी भाषा तथा उच्च जातियों, खासकर ब्राह्मणवाद पर आधारित था। यह अनार्य द्रविड़ियन, तमिल भाषा तथा निम्न जातियों पर आधारित द्रविड़ियन राष्ट्रवाद के प्रति विरोधात्मक था। उत्तर भारतीय उच्च जातिवाद के प्रभुत्व स्थापन से द्रविड़ियन पहचान तथा राष्ट्रवाद की रक्षा करना आवश्यक था। राष्ट्रवाद के ये दोनो रूप एक साथ रह सकते थे। पृथक् कर दिए जाने की माँग,

हिन्दी–विरोध आन्दोलन तथा बाद में और अधिक स्वायत्ता हेतु माँग दक्षिण भारत में राष्ट्र को नृजातीयता की चुनौती के अभिप्रायों के उदाहरण थे।

येरियर से मिली विरासत को सी.एम. अन्नादुरई तथा एम. करूणानिधि द्वारा आगे बढ़ाया गया। अन्नादुरई वैसे, परियर से असहमत थे। जबकि येरियर निम्न जातियों की दुर्दशा के लिए केवल ब्राह्मणवाद को जिम्मेदार मानते थे, अन्नादुरई ने कहा– ऐसा औपनिवेशिक नीतियों के कारण भी था कि उत्तर भारतीय उच्च जाति तथा कांग्रेस का प्रभुत्व द्रविड़ों के उपर थोपा गया। अन्नादुरई के अनुसार, दो दमनकर्ताओं – उपनिवेशवाद तथा उत्तर–भारतीय ब्राह्मणों व बनियों से द्रविड़ों को मुक्त कराने का रास्ता भारत हो जाना तथा स्वतंत्र द्रविड़नाडु बना लेना था। उनका दावा था कि एक स्वतंत्र लोकतांत्रिक गणराज्य संबधं–विच्छेद हेतु उनकी माँग का समर्थन करेगा। नरेन्द्र सुब्रह्मण्यम मानते है कि द्रविड़ियन पार्टियाँ ही एक भारतीय राज्य में कांग्रेस के आधिपत्य को चुनौती देने मे अग्रणी थी। द्रविड़ियन नृजातीय अभिकथन की देश में अन्य पृथक्तावादी आन्दोलनों के साथ तुलना करने पर वह पाते है कि यह स्वाभावतः कम हिंसात्मक था। यह मूलतः एक विचारात्मक आन्दोलन था। साठ के दशक में डी.एम.के. कांग्रेस के एक विकल्प के रूप मे उभरी जिसने 1967 मे सत्ता हासिल कर ली। तभी से तमिलनाडु मे सत्ता सहयोगी दलों की मदद से डी.एम.के. और ए.आई.डी.एम.के. के पास ही रही है।

पृथक्करण की इस माँग ने हालाँकि नागालैंड अथवा जम्मू व कश्मीर की भाँति जन–समर्थन नहीं जुटाया। न ही उसने हिंसा का वह स्तर ही अपनाया। पृथक्तावाद की माँग आगे चलकर द्रविड़ियन पार्टियों द्वार छोड़ दी गई। परन्तु उनकी अलग तमिल पहचान का भाव उसके बाद भी छाया रहा। 1960 के दशक में पृथक्तावादी प्रवृतियों ने राज्यों की स्वायत्तता हेतु माँग का मार्ग प्रशस्त किया। तमिलनाडु की द्रविड़ियन पार्टियाँ उन ताकतों की महत्वपूर्ण सहियोगी दल बन गई जो देश मे स्वायत्तता की माँग करती थी।

द्रविड़ियन संस्कृति पर प्रहार ने तमिलनाडु में हिन्दू सम्प्रदाय की तर्ज पर नृजातीयता की बढ़वार को रोक दिया। दक्षिण भारत के अन्य राज्यों से भिन्न, तमिलनाडु मे हिन्दू सम्प्रदाय को चुनौती का आधार सैद्वान्तिक रहा था

5.4.7.3 पंजाब

पंजाब में नृजातीयता मुख्यतः ऐसे स्वायत्तता आन्दोलन तथा विप्लव के रूप में प्रकट हुई जिनका आधार क्षेत्रीय, धार्मिक तथा आर्थिक था। यदा–कदा इसने हिन्दुओं व सिखों के बीच साम्प्रदारिक संघर्ष का रूप भी लिया था। पंजाब में 1950 व 1960 के दशकों के दौरान स्वायत्तता आन्दोलन देखा गया था, जिनकी अगुवाई अकाली दल द्वारा की गई थी। अकाली नेतृत्व का तर्क था कि पंजाब के वे क्षेत्र जहाँ मातृ–भाषा पंजाबी वाले तथा सिख धर्म मानने वाले लोग रहते हैं, का उनको अपना स्वायत प्रान्त दे दिया जाए। बलदेव राज नायर के अनुसार, अकाली नेतृत्व ने समर्थन जुटाने के लिए त्रि–फलक रणनीति तैयार की थी– सांवैधानिक, घुसपैठ और आन्दोलनात्मक। प्रथम में ज्ञापन, रैलियाँ, मार्च, आदि जैसे सांवैधानिक तरीके शामिल थे; दूसरे ने बड़ी संख्या में घुसने और पंजाबी सूबे के पक्ष में भीतर से ही उसके निर्णयो को प्रभावित करने की अनुमति दी; और तीसरे में शामिल थे – तीर्थो को कूच करना, बल–प्रयोग, धमकी देना। आन्दोलनात्मक रणनीति ने अक्सर हिंसा को उकसाया। दरअसल अकाली दल के भीतर दो गुट थ – प्रथम, सामाजिक–आर्थिक स्पष्टीकरण देते संत फतहसिंह के प्रतिनिधित्व वाला; और दूसरा, मास्टर तारा सिंह के प्रतिनिधित्व वाला, जिन्होनें धार्मिक आधार पर पंजाबी सूबे हेतु माँग को जायज ठहराया– सिखों के एक स्वायत्त प्रांत के लिए।

1980 का दशकोपरांत काल पंजाब में स्वायत आन्दोलन को अगले चरण के रूप में जाना गया। पहले वाले से भिन्न, यह भारतीय राज्य की संप्रभुता का चुनौती देते और सिख धर्म के अनुयायियों पर आधारित खालिस्तान(सिख गृहभूमि)की स्थापना हेतु विप्लव आन्दोलन मे उभरा था। इसने पंजाब में हिन्दुओं व सिखों के बीच साम्प्रदायिक विभाजन को भी जन्म दिया। पंजाब में बड़े पैमाने पर हिंसा की पहचान वाले, जो असंख्य मौतों तथा सम्पति की विशाल क्षति मे परिणित हुआ, इस आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्र–राज्य की इमारत को ललकारा। इस चरण में अकाली आन्दोलन का प्रसंग 1950 व 1960 के दशकों से भिन्न था। पंजाब में कांग्रेस के पतन और अकाली दल के एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरने के बाद 1960 के दशकांत से राज्य की राजनीति में रूझान बदल गए। देश की राजनीति, और कांग्रेस संगठन पर अपने नियंत्रण को कायम रखने के प्रयास में इन्दिरा गाँधी ने कांग्रेस का वैयक्तिकरण कर दिया और राज्यों की राजनीति में सीधे हस्तक्षेप किया, खासकर कांगेंस–शासित राज्यों के मुख्यमंत्री के चुनाव में। यह बात राज्यों के अधिक अनुकूल हाने के लिए केन्द्र–राज्य संबंधों में परिवर्तन हेतु बढ़ रही माँग के साथ मेंल खा गई। 1970 के दशक में पंजाब के लिए सिख धार्मिक प्रतीकों के प्रयोग हेतु उकसाया। 1980 के पंजाब विधानसभा चुनाव में, उन्होंने सिखों का समर्थन पाने के लिए एक सिख धार्मिक नेता, सतं जरनैल भिण्डराँवाले की मदद ली। इसके दो परिणाम हुए। एक ओर इसने धार्मिक नेताओं, खासकर भिण्डराँवाले को राजनीतिक नेतृत्व से स्वतंत्र रह कर काम करने और युयुत्सु बन जाने कि लिए प्रोत्साहित किया। विदेशी ताकतों के समर्थन से वह एक बड़ी संख्या में युवाओं को जुटाने और एक पृथक् सिख गृहभूमि – खालिस्तान, की माँग करने में सक्षम था। खालिस्तान आन्दोलन के दौरान व्यापक हिंसा हुई, जो इन्दिरा गाँधी की हत्या में परिणत हुई, जोकि 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' के उपरातं प्रकियाओं की एक श्रृंखला की एक कड़ी भी खालिस्तान आन्दोलन ने भारत राष्ट्र–राज्य

को विधिसंगति और संप्रभुता को चुनौति दी थी। दूसरी ओर, सिख धर्म के प्रयोग और हिन्दुओं पर सिख आचार–संहिता थोपे जानें से पंजाब में सिखों और हिन्दुओं के बीच साम्प्रदायिक विभाजन पैदा हुआ। इसकी पराकाष्ठा यदा–कदा साम्प्रदायिक उपद्रवों व संघर्षो मे दिखाई दी

जिनको सामान्यतया पंजाब समस्या ''पंजाब क्राइसिस'' के नाम से जाना गया। 1970 और 1980 के दशकों के दौरान पंजाब में उल्लेखनीय विकास – सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनीतिक हुए। पंजाब समस्या के दो प्रकार के स्पष्टीकरण है। प्रथम स्पष्टीकरण अर्थशास्त्रियों तथा मार्क्सवादी विद्वानो द्वारा दिया जाता है। इस ढाँचे के मुख्य प्रतिनिधि हैं –सुच्चा सिंह गिल, के.सी. सिंघल, हरीश कुमार पुरी, जॉयसी पैरीग्रिउ, एम.एस. धामी, जावेद आलम और गुरूहरपाल सिंह। उनका तर्क है कि पंजाब समस्या लोगों की सामाजिक व आर्थिक समस्याओं में निहित है, खासकर हरित क्रांति के आलोक में; बढ़ती बेरोजबारी के साथ कृषि की लागत वहन कर पाने में अक्षम, उपभोक्तावाद और आधुनिक मूल्यों के प्रभाव द्वारा पैदा सिख पहचान के संकट ने पंजाब में युद्वप्रियता के उदय हेतु एक विदग्ध आधार तैयार किया। वे विद्वान जिन्होंने राजनीतिक स्पष्टीकरण दीया, उदाहरणार्थ पॉल आर. ब्रास, सामाजिक–आर्थिक स्पष्टीकरण को अपर्याप्त और न्यूनतावादी कहकर निदा करतें है। दूसरी ओर उनका तर्क है कि पंजाब सम्स्या राजनीतिज्ञों द्वारा धर्म तथा लोगों की समस्याओं छलयोजन का परिणाम रही है। ब्रास के अनुसार, वस्तुतः यह केन्द्र–राज्य संबंधों को बदलने के प्रसंग में इंदिरा गाँधी द्वारा भिण्डराँवाले की सेवाओं का छलयोनल ही था जिसने पंजाब मे युयुत्सा को जन्म दिया।

5.4.7.4 जम्मू व कश्मीर

जम्मू–कश्मीर मे स्वायत्तता आन्दोलन तथा विद्रोह (प्देनतहमदबल) भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक कारकों से जुड़ा है। इसके राज्यारोहण से पूर्व राज्य में राजनीतिक नेतृत्व राष्ट्र–राज्य से उसके संबंध के मुद्दे पर विभाजित हो चुका था। जबकि राजा हरि सिंह, जो इसे एक स्वतंत्र राज्य के रूप में बनाए रखना चाहते थे, ने जम्मू–कश्मीर भारत को सौंपें जाने का विरोध करते थे, राज्य के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला इसे भारत में विलय करना चाहते थे। परन्तु जब यह राज्य भारत को सौंप दिया गया और शेख अब्दुल्ला राज्य के प्रधानमन्त्री बन गए, उन्होनं जम्मू–कश्मीर भारत को सौंपें जाने का मुद्दा उछालना शुरू कर दिया। उन्होंने 'प्लेबिसाइट फ्रंट' बनाया, जिसने केन्द्रीय सरकार को उसे पदच्युत करने तथा उन्हें 1953 से 1964 तक कारावास दे देने के लिए मजबूर किया। जम्मू–कश्मीर राज्य के भीतर दो क्षेत्रों से स्वायत्तता हेतु माँगें उठती रही हैं – जम्मू तथा लद्दाख, जहाँ गैर–कश्मीरी कुल जनसंख्या का अच्छा–खासा भाग है। जम्मू–कश्मीर राज्य केन्द्र–राज्य संबंधों में बदलाव क अभिप्राय से क्षेत्रीय स्वायत्ता हेतु अन्य राज्यों में भी शामिल हो गया है। राज्य ने 1980 के दशक से लेकर गत दशकों तक विद्रोह को झेला है, जो राज्य में बड़े पैमाने पर हिंसा और साम्प्रादायिक विभाजन में परिणत हुआ। विद्रोह में पाकिस्तान की लिप्तता ने भारतीय राष्ट्र–राज्य को चुनौती दी हुई है। बलराज पुरी के अनुसार, जम्मू–कश्मीर में विद्रोह के लिए कारण है : केन्द्र सरकार का रवैया, राज्य में विपक्ष का अभाव, राज्य व केन्द्रीय नेतृत्व द्वारा लोकतंत्र का विपथन, बढ़ती बेरोजगारी व लोगों की समस्याएँ, तथा शीत युद्व व पाकिस्तान। उनके विचार से, राज्य में विद्रोह के कारण यद्यपि 1947 से ही विद्मान रहे हैं इनका हाल का चरण जो 1986 में शुरू हुआ, पूर्व काल से ही सम्बद्व नहीं है। केन्द्रीय सरकार ने 1947 में राज्य को अनुग्रहीत स्वायत्तता को कम कर दिया; संविधान संशोधन के माध्यम से उसने जम्मू–कश्मीर राज्य हूतु प्रयोज्य अनुच्छेद 356 व 357 बनाए। केन्द्र सरकार के साथ–साथ शेख अब्दुल्ला ने भी राज्य में विपक्ष नहीं पनपने दिया; राष्ट्रवाद के नाम पर लोकतंत्र को पटरी से उतार दिया गया; राज्य के मामलों में केन्द्र सरकार का हस्तक्षेप तथा राज्य सरकार का गैर–सैद्वान्तिक दृष्टिकोण। इन कारकों ने जम्मू–कश्मीर के लोगों के बीच असहाय स्थिति का जन्म दिया। यह बात बढ़ती बेरोजगारी और लोगों की गिरती माली हालत के साथ मेंल खा गई। इसी वक्त राज्य के भीतर जम्मू व लद्दाख के क्षेत्रों को स्वायत्तता दिए जाने से इंकार ने राज्य के भीतर क्षेत्रीय विभाजन पैदा कर दिया। लोकतान्त्रिक विपक्षी राजनीतिक दलों के अभाव द्वारा रचित ग्रह रिक्त स्थान साम्प्रायिक व रूढ़िवादी ताकतों द्वारा भरा गया। पाकिस्तान द्वारा समर्थित व दुरूत्साहित ये शक्तियाँ राज्य में विद्रोह का स्रोत बन गई। कोई ऐसा हल ढूंढने में सरकार की विफलता जो जम्मू–कश्मीर के लोगों को राष्ट्र–राज्य से जोड़ सके, और इसकी बजाय सशक्त सेनाओं पर भरोसे ने समस्या को और भी गंभीर बना दिया है।

5.4.8 सारांश

कुल मिलाकर, नृजातीयता उन चुनौतियों में से एक है जो भारतीय राष्ट्र–राज्य के सामने है। ग्रह स्वनिर्धारण आन्दोलनों के रूप में व्यक्त होती है – स्वायत्तता आन्दोलन, पृथक्तावदी आन्दोलन, विप्लव तथा नृजातीय संघर्ष का उपद्रव। राष्ट्र–राज्य बनाने के प्रयास में, स्वतंत्रता उपरांत प्रथम दो दशकों में देश में राष्ट्रीय नेतृत्व यह मानता था कि देश का सम्पूर्ण विकास/आधुनिकीकरण नृजातीय चुनौती की अधीनता में ही परिणत होगा। इसने राष्ट्र–राज्य निर्माण हेतु नेहरूवियन/महालैनोबिस मॉडल का प्रादुर्भाव किया। परन्तु स्वायत्ता के कुछ वर्षो में ही, देश भाषायी आन्दोलनों व साम्प्रदायिक हिंसा के गहरे गर्त में समा गया। देश के विभिन्न भागों में लघुत्तर राष्ट्रवादियों द्वारा राष्ट्र–राज्य निर्माण के

मॉडल की सत्यता पर संदेह प्रकट किया गया जिसमें शामिल थे – उत्तर पूर्व में नागा व मिजो, तमिलनाडु में द्रविड़ियन आन्दोलन, जम्मू व कश्मीर तथा पंजाब। देश में नृजातीय संघर्षों की संख्या बढ़ना जारी है।

राष्ट्र–राज्य के विरूद्ध नृजातीय चुनौती के अधिक उग्र होने हेतु स्पष्टीकरण के मुख्यतः तीन सेट बातें हैं – आदिम, यन्त्रवादी तथा आदिम व यन्त्रवादी का एक संमिश्रण। इनमें यंत्रवादी स्पष्टीकरण सर्वाधिक प्रबल है। कुछ विद्वानो का तर्क है कि राष्ट्र–राज्य निर्माण मॉडल लघुत्तर राष्ट्रवादियों को अधीन करने हेतु देश मे प्रबल नेतृत्व का एक प्रयास है। इस स्थिति से उबरने के लिए नीतियों में ''राष्ट्र–राज्य निर्माण'' से पलटकर ''असली राज्यसंघ निर्माण'' की ओर रूख करना होगा।

5.4.9 अभ्यास प्रश्नावली

1) नृजातीयता क्या है? इसके अध्ययन हेतु दृष्टिकोणों पर चर्चा करें।
2) नृजातीयता व्यक्त करने के रूपों की पहचान करें। पंजाब तथा जम्मू–कश्मीर में राष्ट्र–राज्य को नृजातीयता की चुनौती की तुलना करें।
3) उत्तर–पूर्वी भारत के प्रसंग में नृजातीयता की जाँच करें।
4) तमिलनाडु का उदाहराण देते हुए राष्ट्र–राज्य को नृजातीयत चुनौती पर एक टिप्पणी लिखें।

अध्याय–5

भारत में लोकतंत्र और विकास : एक मूल्यांकन

संरचना

5.5.1 उद्देश्य
5.5.2 प्रस्तावना
5.5.3 लोकतंत्र
5.5.3.1 प्रक्रियात्मक लोकतंत्र
5.5.3.2 सत्तावाचक लोकतंत्र
5.5.4 विकास
5.5.5 लोकतंत्र अैर विकास
5.5.6 सारांश
5.5.7 अभ्यास प्रश्नावली

5.5.1 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य लोकतन्त्र शासन प्रणाली को स्पष्ट करते हुए यह मूल्याकंन करना है कि लोकतंत्र और विकास कैसे एक दूसरे के पूरक है। भारत में लोकतन्त्र का विकास क्या आर्थिक विकास का परिचायक है या समृद्ध राजनीतिक व्यवस्था में अवरोध है। इसी पर आंालेचनात्मक मूल्यांकन करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया हैं।

5.5.2 प्रस्तावना

भारत में लोकतंत्र और विकास दोनों पर ही बातचीत अपने मूल्यांकन के विषय में दो परस्पर विरोधी बातों को दर्शाती है, यथा प्रथम, लोकतंत्र व विकास फलीभूत हुए हैं; और द्वितीय, उन्होंने निराश किया है। यह बात तब लागू होती है जब उनसे एक–दूसरे पर अन्योन्याश्रित अथवा स्वतंत्र के रूप में व्यवहार किया जाता है, यानी, वे सुसंगत हैं अथवा नहीं। यह इकाई भारत में लोकतंत्र व विकास के मूल्यांकन का पर्यवलोकन दो भिन्न दृश्यघटनाओं के रूप में तथा साथ, ही एक दूसरे के संबंध में भी प्रस्तुत करती है। भारत में लोकतंत्र के क्रम–विकास के प्रतिरूपों व रणनीतियों पर भारत में लोकतंत्र पर इसके प्रक्रियात्मक एवं सत्तावाचक, दोनों ही रूपों में, चर्चा इस इकाई में की गई है।

5.5.3 लोकतंत्र

स्वतंत्रता पश्चात् भारत ने शासन की एक लोकतांत्रिक प्रणाली अपनायी। भारत में लोकतंत्र की संस्थाएं वस्तुतएं औपनिवेशिक शासन के दौरान ही पनपनी शुरू हो गई थी। वे ब्रिटिश इण्डिया सरकार के विभिन्न कानूनों और भारत व इंग्लैण्ड में एक वर्ग–विशेष के भीतर मांग के फलस्वरूप ही जन्मे। लोकतांत्रिक प्रावधानों ने 1909, 1919 व 1935 के भारत सरकार अधिनियमों में अपना स्थान बना लिया। संविधान सभा के भीतर विचार–विमर्श होने के बाद, 1950 में भारत गणतांत्रिक संविधान के लागू होने के साथ स्वतंत्रयोत्तर भारत में लोकतंत्र लागू कर दिया गया।

भारत में सरकार का संसदीय स्वरूप चुना ताकि वह गांधीवादी सिद्धांतों के आलोक में ग्राम स्तरीय सरकार की तुलना में सार्वभौम वयस्क मताधिकार व आवधिक चुनाव के सिद्धांतों पर आधारित राष्ट्र–राज्य (आधुनिकता) का निर्माण कर सकें।

लोकतंत्र का मूल्यांकन उसे इंगित करने अथवा मापने के लिए प्रयोग किए द्वारा निर्देशकों पर निर्भ्र करता है। लोकतंत्र के संबंध में निर्देशकों के मुख्यतः दो मॉडल हैं– एक संस्थागत, अल्पतम, प्रक्रियात्मक लोकतंत्र से संबंधित, दूसरा सत्तावाचक अथवा प्रभावी लोकतंत्र से संबंधित। पूर्ववर्ती मॉडल लोकतंत्र को लोकतंत्र की संस्थाओं, राजनीतिक दलों व अन्य संघों व संगठनों, आवधिक चुनावों, सार्वभौम व्यस्क मताधिकार, नेतृत्व आदि के रूप में देखता है। परवर्ती मॉडल संस्थागत–प्रक्रियात्मक लोकतंत्र को लोकतंत्र का व्यापक संकेत नहीं मानता। चुनावी लोकतंत्र, दरअसल, न्यूनतम का समर्थक है, जो कि उन अनेक कारकों द्वारा भी इंगित होता है जो लोकतंत्र के प्रति हानिकर होते है।

यह इस बात से विरले ही ताल्लुक रखता है कि सामाजिक स्थान में चुनावों से परे क्या होता है। वैकल्पिक रूप से, सत्तावाचक लोकतंत्र की दृश्यघटना को अपने द्विपृथक्करण व प्रसरणों, पुनर्वितरणकारी न्याय, मानवीय क्षमताओं एवं हकदारियों (शिक्षा, स्वास्थ्य, आधारभूत ढांचा, आदि), सामाजिक पूंजी–संबद्ध कारकों (आस्था, मूल्य, मानदण्ड), सभ्य समाज, मानवाधिकार व प्रतिष्ठानों, शासन (भागीदारी, उत्तरदायित्व, प्रभावकारिता, पारदर्शिता आदि) के आलोक में देखता है। ये

विकास के विषय में प्रांसगिक हैं जिस प्रकार विकास दूसरी ओर लोकतंत्र के विषय में प्रासंगिक है। भारत में लोकतंत्र विषयक बहस की प्रेरणा लोकतंत्र के अवस्थान्तर गमन, दृढ़ीकरण व सघनीकरण के विषम में रही है। प्रथम दो मामले स्वातंत्रयोत्तर काल में लोकतंत्र के प्रथम दो दशकों के दौरान छाये रहे और लोकतंत्र का सघनीकरण अभी हाल ही की अवधि में एक ध्यानकर्षण विषम के रूप में लिया गया हैं। विभिन्न पहचानों/नए सामाजिक आन्दोलनों का दावा–लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया, ने लोकतंत्र सघनीकरण परियोजना में योगदान दिया है। परन्तु यह मतभेदों का ध्यान रखते हुए विभिन्न समुदायों की भागीदारी पर निर्भर है।

5.5.3.1 प्रक्रियात्मक लोकतंत्र

प्रक्रियात्मक लोकतंत्र के अनुपालक आमतौर पर यह मानते हैं कि भारत में लोकतंत्र सफल रहा है। इस मूल्यांकन के मापदण्ड हैं– भागीारी और प्रतिस्पर्धा। ये भारत में चुनावों की प्रायिकता और चुनाव जीतने के लिए राजनीतिक बलों के बीच प्रतिस्पर्धा द्वारा दर्शाये जाते हैं। मतदान प्रतिशत और पार्टियों द्वारा पड़े हुए वोटों की गणना भागीदारी को दर्शाते है। इस उपागम्य के पक्षधर भारत में चुनावी राजनीतिक की इस सफलता के विषय में प्रफुल्ल हैं, जिसको लोकतंत्र की सफलता के व्यापक प्रतिमान के रूप में लिया जाता है। वे लोग जो लोकतंत्र की सफलता को चुनावों – भागीदारी और प्रतिस्पर्धा– की नजर से देखते हैं, लोकतंत्र के मूल्यांकन के लिए सर्वेक्षण विधि अपनाते हैं। वे मतदान प्रतिशत और मत–प्रतिशत अथवा सांख्यिकी विधि प्रयोग – सहसंबंध, सहकारण या समाश्रवण विश्लेषण, की भाषा में प्रतिशत में प्रबल प्रवृत्तियों की उपलक्षित करते हैं। वे मतदान प्रतिशत और निर्वाचन क्षेत्र–विशेष में सामाजिक –आर्थिक आंकड़ों के साथ भागीदारी के बहुपरिवर्तनीय संबंध में विचार करते हैं। इस आधार पर कि यह विश्लेषण सर्वेक्षण पर आधारित होता है, और किसी क्षेत्र–विशेष के सामाजिक–आर्थिक व राजनीतिक कारकों को ध्यान मे रखता है, इसे पारिस्थितिक विश्लेषण भी कहा जाता है। तथापि, कुछ विद्वजन जो सर्वेक्षण आधारित विश्लेषण को अपनाते हैं, यह महसूस करते हैं कि सर्वेक्षण विश्लेषण त्रुटियों से भरपूर होते हैं, और गुणवत्तात्मक आंकड़ों द्वारा समर्थित नहीं होते तथा चुनावों के बीच की अवधि के लिए आंकड़ें भी प्रदान नहीं करते। स्वतंत्रता–पश्चात् प्रथम पंद्रह वर्षों के दौरान, कोठारी, एम. फ्रैण्ड़ा, पॉल आर–ब्रास, फील्ड एवं मायरन वीनर जैसे विद्वानों ने चुनाव अध्ययन कराने के लिए सर्वेक्षण विधि अपनायी। सभी प्रकार के कारक–अपराध, जाति, धर्म, आदि–चुनावों में प्रभावी हो जाते है। सर्वेक्षण विधि को अनेक विद्वानों द्वारा आगे ले जाया गया, और गत दो दशकों के दौरान चुनाव–विश्लेषकों ने भी इसका प्रयोग किया।

प्रक्रियात्मक लोकतंत्र का उद्देश्य भारत में राष्ट्र–निर्माण में योगदान देना था। पूर्व दशकों में भारत में लोकतंत्र विषयक अध्ययनों का ध्यान इस बात की जांच करने पर लगा था कि इसने सार्वभौम वयस्क मताधिकार और आवधिक चुनाव की पुरस्थापना के माध्यम से राष्ट्र–निर्माण, में किस प्रकार मदद की है। इसको आधुनिकीकरण सिद्धांत के रूप में जाना गया। आधुनिकीकरण सिद्धांत का दावा था कि विकासशील देश आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरे हैं– जिनका अन्तिम लक्ष्य स्थिर लोकतंत्र रहा; इसके साथ ही सामाजिक–आर्थिक आधुनिकीकरण आया, यथा शहरीकरण, जनसंचार माध्यमों का प्रसार, शिक्षा, धन–सम्पत्ति तथा समानता। यह माना जाता है कि भारत में विकास लोकतंत्र को मजबूत करेगा और जाति, धर्म, आदि पर आधारित बंटवारे खत्म हो जाएंगे।

प्रक्रियात्मक लोकतंत्र की समीक्षा उन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जो सत्तावाचक लोकतंत्र का अध्ययन करते है। उनके मतानुसार, यह लोकतंत्र को एक सीमित रूप में देखता है। चुनावी लोकतंत्र अल्पतम लोकतंत्र है। स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव, सार्वभौम व्यस्क मताधिकार, राजनीतिक दल, दबाव समूह और संविधान की उपलब्धता आदि लाकेतंत्र के लिए पर्याप्त है शर्ते नहीं है, हालांकि ये आवश्यक हैं लोकतंत्र समाज में तलाशना पड़ता और उसे संस्थागत रीति से बाहर निकलाना होता है। लोकतंत्र की इस वैकल्पिक दृष्टि को सत्तावाचक लोकतंत्र नाम दिया जा सकता है। बीथम ने एक ''लोकतंत्रीकरण–संबंधी सामाजिक कार्यसूची'' हेतु तर्क प्रस्तुत किया। लोकतंत्र को, चुनावों में भागीदारी एवं प्रतिस्पर्धा से परे, समाज की हकीकत में उतारना पड़ता हैं फरीद जाकरिया, हालांकि, सत्तावाचक लोकतंत्र की इस दृष्टि से आलोचना करते हैं कि वह लोकतंत्र को अधिकारों की एक व्यापक श्रृंखला वाले ''उत्तम शासन'' सरीखी मानकी पारिभाषिकी की दृष्टि से देखते हैं, वह व्याख्यात्मक लोकतंत्र पर ध्यान नहीं देते।

5.3.3.2 सत्तावाचक लोकतंत्र

गत दो दशकों, में भारत में सत्तावाचक लोकतंत्र को लोकतंत्र विषयक संकल्प में एक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। सत्तावाचक लोकतंत्र का मूल्यांकन भारत में राष्ट्र–निर्माण से संबंधित विषयों–धर्मनिरपेक्षता, कल्याणवाद एवं विकास–पर राज्य (लोकतंत्र के साथ) की भूमिका के संबंध में एिक जाने का प्रयास किया जाता है; और भूमण्डलीकरण के संदर्भ में इन मुद्दों पर विषय में राज्य की भूमिका के संबंध में भी। नीरजा जयाल का दावा है कि राज्य व लोकतंत्र के बीच संबंध में मताल्लिक दो प्रचार के तर्क हैं: एक, ऐसे प्रभावशाली राज्य के बिना, जो राज्य के सत्तावाद का सामना करने हेतु एक सशक्त सभ्य समाज होते हुए भी अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है, कोई लोकतंत्र नही हो सकता। जयाल का तर्क है कि राज्य व समाज, दोनों लोकतंत्र की स्थापना के संबंध में एक–दूसरे के पूरक हैं। परन्तु नागरिकता–संबंधी सार्वभौम

मापदण्डों के अभाव में अनन्यतावादी स्वार्थ लोकतंत्र की योजना का अपहरण कर सकते हैं। उनके मतानुसार भारतीय राज्य एक हस्तक्षेपवादी राज्य है जिसका भारी प्रयास विकासात्मक रहा है, न कि कल्याणकारी राज्य।

सभ्य समाज भी सत्तावाचक लोकतंत्र का एक अनिवार्य संघटक रहा है। भारत में सभ्य समाज विषयक दो दृष्टिकोण हैं। एक वह उन मुद्दों पर ध्यान दिए बगैर जो वे उठाते हैं, सभी संघों एवं सामूहिक कार्यों को सभ्य समाज के रूप में लेता है; दूसरा, केवल वे संघ जो सार्वभौमिक महत्व के हैं, सभ्य समाज माने जाते हैं। अभी हाल ही में हमारे देश मे एक नई बहस ने जोर पकड़ा है:' साम्यवादियों तथा उदारवदियों के बीच बहस, व्यक्तियो एव समुदायों के बीच संबंध उनके भीतर और उनके बीच।

एकात्म्य राजनीतिक का उदय– दलित, अन्य पिछड़े वर्ग, महिलाएं, जनजातियां, नृजातीयता, पर्यावरणीय विषम, आदि – नए सामाजिक आन्दोलन– तथा उस संलाप की शक्तिहीनता ने, जो लोकतंत्र को चुनाव–संबंधी विशेषाधिकार देता है, सत्तावाचक लोकतंत्र विषयक ध्यान–केन्द्रण को आवश्यक बना दिया है। इसको राष्ट्र–राज्य के सामने एक चुनौती के साथ–साथ देश की लोकतांत्रिक विषयवस्तु में वृद्धि के रूप मे भी लिया जाता है, इस समझ के साथ कि भारत अधिक लोकतांत्रिक होता जा रहा है, एक ऐसी स्थिति जो आशुतोष वार्ष्णेय पंसद करते हैं। राष्ट्र–राज्य परिप्रेक्ष्य की सर्वाधिक तीखी आलोचना उन विद्वानों के लेखों में मिलती है जो देश के उत्तर–पूर्वी भारत जैसी परिधियों को प्रतिनिधित्व करते हैं। संजीव बरूआ की पुस्तक इण्डियन अगेन्स्ट इटसैल्फ इसी पहलू का प्रतिनिधित्व करती है। यह बड़ी संख्या में इन मुद्दों के एक साथ उठने के साथ ही हुआ – शासन, सभ्य समाज, सामाजिक पूंजी, मानवाधिकार, आदि। इन सभी कारकों की विद्यमानता देश में लोकतंत्र के अस्तित्व संबंधी एक संकेतक के रूप में ली जाती है। यहां भी कुछ विपरीत दृश्टकोण हैं जो इन कारकों की अनुपस्थिति और उपस्थिति दोनों का सुझाव देते हैं।

73वें एवं 74वें संविधान संशोधनों के प्रभाव में आते ही, विकेन्द्रीकरण को लोकतंत्रीकृत कर दिया गया है और लोकतंत्र का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया है ताकि उसमें महिलाएं, अन्य पिछड़े वर्ग व तृणमूल स्तर के दलित आ सकें। इससे पूर्व प्रबल सामाजिक समूह ही पूरी तरह से स्थानीय स्व–शासन संबंधी संस्थाओं पर आधिपत्य रखते थे। इसने लोकतंत्र के उद्देश्य मात्र को ही समाप्त कर डाला। स्थानीय निकायों को 29 विषयों के हस्तांतरण ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में मदद की थी। तथापि, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण इस तथ्य के आलोक में अटकता है कि जनसपंर्क संस्थाओं के महिला सदस्यों के अनेक उदाहरण उनके परिवारों के पुरूष सदस्यों के अधिकार–प्राप्त प्रतिनिधि ही होते हैं। अपराध, पैसा, आदि की बढती भूमिका ने स्थानीय स्तर के लोकतंत्र की विश्वसनीयता को नुकसान पहुंचाया है। तिस पर भी, जहां कहीं भी सार्वजनिक कार्य स्थानीय स्व–शासन की संस्थाओं के साथ पड़ा, स्थानीय स्व–शासन संस्थाओं ने लोकतांत्रिक रूप से काम किया है।

सामान्य तौर पर भारत में लोकतंत्र का मूल्यांकन राष्ट्रीय, राज्य अथवा जिला स्तर पर किया गया है और इन स्तरों पर लोकतंत्र की कार्यवाही परस्पर निरपेक्ष रही है। भारत में लोकतंत्र हेतु उपगम्य ''ऊपर–से–नीचे'' रहा है, न कि ''नीचे–से–ऊपर''। अतुल कोहली ने, हालांकि, अपनी पुस्तक, डिमोक्रेसी एण्ड डिसकॅन्टेटः इण्डियाज क्राइसिस ऑव गवर्नेबिलिट में तीन स्तरों को लिया है।

ओ'डॉनेल जैसे विद्वानों ने लोकतंत्र (नागरिकता) के भीतर मतभेदों पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता पर बल दिया है। इस परम्परा का अनुसरण करते हुए, पैट्रिक हैलर ने लोकतंत्र का 'विखण्डन'' किया है ताकि भारत में ''उसकी अवस्थाओं'' पर दृष्टिपात कर सकें। केरल की तुलना बाकी देश से करते हुए, वह मत प्रस्तुत करते हैं कि शेष भारत के मुकाबले केरल में ज्यादा लोकतंत्र है। ''सुगठित सभ्य समाज'' तथा एक ''प्रभावशाली राज्य'' की विद्यमानता से ही ऐसा संभव हुआ है। यहां प्रभावी/सत्तावाचक लोकतंत्र का संकेत शिक्षा, स्वास्थ्य एवं वितरणात्मक न्याय के क्षेत्रों में उन्नति, उनके निम्नस्थ समूहों तक विस्तार में मिलता है।

रजनी कोठारी के मतानुसार, स्वतंत्रता पश्चात् प्रथम दो दशकों में लोकतंत्र–निर्माण में भारतीय राज्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसने कल्याणकारी योजनाएं तथा विकास कार्यक्रम चलाए हालांकि तब यह एक औसत दर्जे का राज्य था, भारतीय लोकतंत्र, इस चरण के दौरान सभी हितों के समायोजन एवं मतैक्य गठन द्वारा सूचति किया गया। परन्तु 1970 के दशक से ही, खासकर भारत में आपत्स्थिति की घोषणा के साथ ही, कार्यपालिका ने सत्ता अपने हाथों में संकेन्द्रित कर ली। इसने राज्य की परिमितिता को हानि पहुंचाई। परिणामतः कार्यपालिका ने लोकतांत्रिक संस्थाओं एवं निजीगत संस्थाओं को गुप्त रूप क्षति पहुंचाते हुए, लोकप्रियतावाद को सहारा लिया। राज्य ने प्रत्यक्षतः लोकतंत्र के खिलाफ काम करना शुरू कर दिया।

अतुल कोहली का दावा है कि भारतीय लोकतंत्र एक शासनीयता–संबंधी समस्या झेल रहा है। इसका संकेत निर्बल होती संस्थाओं एवं बढ़ती मांगों के बीच बढते वियोजन द्वारा मिलता है। राजनीतिक दलों नेताओं की विश्वसनीयता में कमी, और विभिन्न सामाजिक समूहों के अनुशासित राजनीतिक संघटन तथा समाज के भीतर संघर्षों ने भारत में शासनीयता का संकट पैदा कर दिया है। राज्य के अभिजात वर्ग ने राजनीतिक अव्यवस्था –उपायुक्तता–संबंधी संकट की राजनीति में एक निर्णायक भूमिका अदा की है।

एल.आई. एवं एस.एच. रूडोल्फ ने भारत में लोतंत्र के साथ भारतीय राज्य एवं राजनीतिक अर्थव्यवस्था के संबंध में पूरी तरह से समझने का प्रयास किया है। वे लोगों की लामबन्दी को मांग राज्य व्यवस्था के शब्दों में, और राज्य में भूमिका को आदेश राज्य व्यवस्था के शब्दों में विश्लेषित करते हैं। परन्तु राज्य व्यवस्था के प्रकार लोकतांत्रिक अथवा सत्तावादी तथा शासन प्रणाली के प्रकार मांग अथव आदेश, के बीच कोई महत्वपूर्ण सहसंबंध नहीं है। राज्य व्यवस्था की प्रकृति चाहे वह मांग हो अथवा आदेश, अर्थव्यवस्था की प्रकृति पर निर्भर होती है, न कि शासन प्रणाली की प्रकृति पर।

भारतीय लोकतंत्र की उत्तरजीविता ने कुछ पर्यवेक्षकों को विस्मय में डाला है, जिनके अनुसार यह तीसरी दुनिया की राजनीतिक प्रणालियों की एक ''पहेली'' अथवा ''अपवाद'' है; इसने अपनी उत्तरजीविता जाति, धर्म, भाषा, आदि की विविधता के आधार पर कायम रखी है, जो प्रायः हिंसा में फलित होती है। अरैण्ड लिजकर्ट इस पहली को एक मैत्रीपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत कर स्पष्ट करती है। मैत्रीवाद का सिद्धांत इस आधार–वाक्य पर आधारित है कि एक बहु–नृजातीय समाज में, समाज के विभिन्न समूहों के बीच सता का साझा होता है। किसी समाज में मैत्रीवाद चार शर्तों पर प्रांसगिक होता है: (1) गठबंधन सरकार जिसमें सभी नृजातीय समूहों का प्रतिनिधित्व हाता है; (2) मैत्री समूहों की सांस्कृतिक स्वायत्तता; (3) राजनीति एवं नागरिक सेवाओं मे उनका आनुपातिक प्रतिनिधित्व; और (4) अल्पसंख्यक अधिकारों एव स्वायत्तता से संबंधित विषयों पर अलपसंख्यक निषेधाधिकार। लिजफर्ट का दावा है कि कांग्रेस व्यवस्था की सफलता, गठबंधन सरकारें, संघवाद, रक्षात्मक विभेद–संबंधी सिद्धांत, एवं अलपसंख्यकों के धार्मिक व सांस्कृतिक अधिकारों के सांवैधानिक प्रावधान तथा राजनीति दबाव के माध्यम से अल्पसंख्यक निषेधाधिकार एक सांवैधानिक रीति से भारतीय लोकतंत्र की सफलता के संकेत हैं। भारतीय लोकतंत्र ने ''सत्ता–बांट–प्रणाली'' – जैसे कि ऑस्ट्रिया, नीदरलैण्ड्स, सिव्टजरलैण्ड, लैबनान व कुछ अन्य देशों में प्रचलित है, के सिद्धांतों पर अपनी उत्तरजीविता कायम रखी है।

इस प्रणाली में सभी प्रमुख समूह एक संवैधानिक तरीके से सत्ता में साझा करते थे। यह प्रणाली स्वतंत्रता पश्चात् प्रथम दो दशकों के दौरान प्रचलित थी। लिजफर्ट, हालांकि, स्वीकार करती है कि गत कुछ वर्षों के दौरान कांग्रेस व्यवस्था के पतन, और अल्पसंख्यकों पर आक्रमण व भाजपा के उदय के साथ, रूझान मैत्रीपूर्ण सिद्धांत के प्रति विरोध में ही रहे हैं। पॉल आर. ब्रास मैत्रीपूर्ण प्रतिमान की आलाचेना करते है कि यह भारत के लिए कतई व्यवहार्य नहीं हैं। ऐसा आधुनिक इतिहास के साथ–साथ समसामयिक राजनीति के संदर्भ में भी है। यद्यपि विभिन्न समूहों को एक मैत्री अथवा गठबंधन तैयार करने के लिए साथ आना होता है, उनके आंतरिक व्यंग्यबाणों ने हमेशा मैत्री पर खतरा ही पैदा किया है।

5.5.4 विकास

विकास लोकतंत्र एवं सामाजिक परिवर्तन विषयक चर्चा में एक पुनरावर्तक विषय है। यह संकल्पना एक ओर मुख्यतः समाजशास्त्रियों एवं राजनीति–वैज्ञानकों द्वारा अपनायी गई है, और दूसरी ओर अर्थशास्त्रियों द्वारा। समाजशास्त्री एवं राजनीति–वैज्ञानिक इसका एक आधुनिकीकरण प्रतिमान के रूप में प्रयोग करते हैं, जो औपनिवेशिक कौम से आजाद हुए, विकासशील देशों में राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन पर चर्चा हेतु लोप्रिय हो गया। इन परिवर्तनों को विकास एवं आधुनिकीकरण के रूप में लिया गया, जिन्होंने राष्ट्र–निर्माण अथवा राष्ट्र–राज्य निर्माण प्रक्रिया, राजनीतिक संस्थाओं के गठन (राजनीतिक दल, हित समूह आदि), सार्वभौम व्यस्क मताधिकार एवं आवधिक चुनाव के प्रचलितीकरण, लिखित अथवा अलिखित संविधान तथा शहरीकरण के स्तर की ओर संकेत किया। आचरणात्मकवाद द्वारा प्रभावित, आधुनिकीकरण अथवा विकास सिद्धांत मुख्यतः इस प्रश्न से जुडे थे कि व्यवस्था के विभिन्न संघटकों को समायोजित कर कोई प्रणाली स्वयं को किस प्रकार कायम रखे। इसने परिवर्तन की संभावना अथवा अपने भीतर ही चुनौती के चलते व्यवस्था–भंग संबंधी कोई गुजाइश नहीं छोड़ी।

अर्थशास्त्रियों के अनुसार, विकास का अर्थ था प्रति व्यक्ति आय तथा संकल्प राष्ट्रीय उत्पाद के लिहाज के वृद्धि। विकास के आधुनिकीकरण सिद्धान्त ने उपरोल्लिख्ति कारकों में परे, प्रति व्यक्ति आय तथा सकल–राष्ट्रीय उत्पाद सूचकाकों पर भी ध्यान दिया।

अमर्त्यसेन ने विकास का एक वैकल्पिक प्रतिमान प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रति व्यक्ति आय एवं सकल राष्ट्रीय उत्पाद महत्वपूर्ण तो है परन्तु विकास के पर्याप्त सूचकांक नहीं। सच्चे अर्थों में विकास का मतलब है लोगों के बीच मानवीय क्षमताओं को विकसित करना तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, आधारभूत ढांचा और स्वतंत्रता के लिहाज से हकदारियां।

5.5.5 लोकतंत्र और विकास

लोकतंत्र एवं विकास के बीच संबंध विषयक बहस दो सवाल उठाती है: क्या वे एक–दूसरे के प्रति सुसंगत हैं? अथवा वे एक–दूसरे के विरोधी हैं? नीरजा जयाल का दावा है कि भारत में यह बहस ''कुछ–कुछ गलतफहमी की शिकार'' रही है। इसमें मूल रूप से अर्थशास्त्रियों द्वारा उलझाया गया है। दीपक नय्यर का दावा है कि भारत में आर्थिक विकास तथा राजनीतिक लोकतंत्र के बीच तनाव रहा है। लोग खासकर गरीब लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में शामिल हैं परन्तु उन्हें पण्यक्षेत्र से बाहर कर दिया गया है। बाजार में अभिजाज्यों का अनन्य प्राबल्य ही देखा गया। राज्य मुख्यतः अभिभात वर्ग के हितों/विवादों के प्रबंधन से ही संबद्ध रहा है। स्वातंत्रयोतर काल में राज्य की भूमिका की तुलना में विवादों का प्रबंधन

और लोगों, खाकर गरीब के हितों की दिशा में तीन चरण पूरे हुए– 1947, 1966, 1990 एवं 1990 के उपरांत। प्रथम चरण की पहचान थी राज्य की प्रमुख भूमिका जो विभिन्न हितों की सर्वसम्मति प्राप्त करने में समर्थ था। दूसरे चरण में राज्य की प्रभावकारिता एवं मतैक्य प्रतिमान में कोई कमी नहीं थी। राज्य ने धनी किसानों को संयोजित करने के राजनीतिक प्रयास किए, और विभिन्न वर्गों के हितों को साधने के लिए लोकप्रियतावाद एवं प्रश्रय का सहारा लिया। इस चरण में भी कुछ हद तक गरीबी में कमी देखी गई। उदारवाद के चरण के रूप में जाने जाने वाले तीसरे चरण की पहचान है राज्य की विश्वसनीयता में कमी और बाजार की बढती भूमिका। यह उदारवाद की राजनीति के साथ–साथ ही हो रहा है। नय्यर के मतानुसार, भारत में पहली बार उदीकरण का अर्थशास्त्र तथा सशक्तीकरण राजनीति विपरीत दिशाओं में जा रहे हैं। लोगों के पास राजनीतिक अधिकार हैं परन्तु वे बाजार में भागीदारी नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनके पास हकदारियों एवं क्षमताओं का अभाव है। विभिन्न हितों के बीच मध्यस्थता करने अथवा मेल–मिलाप कराने के लिए राज्य का कोई प्रयास नहीं है। एसी स्थिति में जहां राज्य कोई प्रभावी एवं मध्यवर्ती भूमिका नहीं निभा सकता है, उनका सुझाव है कि सभ्य समाज हस्तक्षेप कर सकता है।

प्रणव वर्धन का तर्क है कि लोकतंत्र एवं विकास असंधेय हैं। भारत में मुख्य स्वाम्याधीन वर्ग हैं– औद्योगिक पूंजीपति वर्ग, धनी किसान और निजी क्षेत्र के व्यवसायी। उनके हित में विवादग्रस्त हैं और राज्य उनके बीच एक मध्यस्थ की भूमिका निभाता है। साथ ही, ''नीचे से हलचल'' देखी जाती है– विभिन्न अलाभान्वित समूहों का दावा। उनके हितों तथा धन–सम्पन्न वर्गों के हितों के बीच विवाद है। विभिन्न समूहों के संघटन में एक सुधार–विरोधी प्रवृत्ति भी पायी जाती है। यह बात आर्थिक सुधारों के लिए माहौल खराब करती है । वे लोग जो लोकतंत्र एवं विकास की असंगतता के विषम में तर्क देते हैं, दक्षिण–पूर्वी एशिया के देशों का संदर्भ देते है जहां वास्तविक विकास अलोकतांत्रिक राज्य–व्यवस्थाओं में ही हुआ है।

अमर्त्य सेन ने विकास एवं लोकतंत्र विषयक एक असंदिग्ध संदेश प्रस्तुत किया है। वे असंगत नहीं है जबकि लोकतंत्र एवं विकास एक–दूसरे के पूरक हैं। लोकतंत्र संभव है यदि समाज में लोगों के पास हकदारियां हो और वे ऐसी क्षमताएँ रखते हों जो उन्हें लोकतांत्रिक प्रक्रिया का हिस्सा बनने में मदद करती हैं। स्वतंत्रता, जो लोकतंत्र का एक अनिवार्य घटक है, विकास को लोगों की हकदारियों एवं क्षमताओं के लिहाज से बढ़ावा देती है। विकास लोकतंत्र के विषय में भी प्रासंगिक है।

5.5.6 सारांश

इस अध्याय में हमने इस बात पर चर्चा की कि भारत में लोकतंत्र एवं विकास के मूल्यांकन विषयक दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है– ये सफल हुए है और ये विफल हुए है। लोकतत्रं एवं विकास संबंधी मूल्यांकन इन दृश्यघटनाओं के अर्थ से ही संबंधित है। भारत के संबंध में चर्चित लोकतंत्र के दो प्रकार के प्रतिमान हैं– प्रक्रियात्मक एवं सत्तावाचक। पूर्वाक्त मुख्यतः लोकतंत्र एवं प्रक्रियाओं से संबंधित है। परवर्ती लोकतांत्रिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को सामाजिक जीवन–सभ्य समाज, अधिकार आदि के संदर्भ में देखता है। प्रक्रियात्मक लोकतंत्र का अध्ययन कर रहे विद्वानों की प्रबल धारणा यह मानती है कि भारत में लोकतंत्र सफल रहा है, और वे लोग जो सत्तावाचक लोकतंत्र का अध्ययन करते हैं, सामान्यतौर पर भारत में लोकतंत्र को विफल मानते है। विकास को आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की नजर से भी देखा जाता है; दूसरे, लोगों के वास्ते हकदारियों व क्षमताओं की उपलब्धता की नजर से। विकास एवं लोकतंत्र की सुसंगतता के विषय में भी दो परस्पर विरोधी धारणाएं देखी जाती हैं।

5.5.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. भारत में लोकतंत्र के क्रम–विकास एवं विकास को स्पष्ट करें।
2. लोकतंत्र–संबंधी विभिन्न संकल्पनाओं पर चर्चा करें।
3. लोकतंत्र एवं विकास पर चल रही बहस का मूल्यांकन करें।
4. विकास की संकल्पना तथा लोकतंत्र से उसके संबंध को स्पष्ट करें।